इङ्गलैंड का आर्थिक इतिहास

(English Economic History)

लेखक

जॉर्ज डब्ल्यू० साउथगेट

अनुवादक

सत्यदेव देराश्री

एम० ए० (अर्थशास्त्र), एल एल० बी० (इलाहाबाद)

एम० ए० एल० अर्थशास्त्र (पैन्सलवेनिया)

अर्थशास्त्र के प्राध्यापक और विभागाध्यक्ष

महाराज कुमार कालेज, जोधपुर

नवीन संस्करण

(संशोधित और परिवर्द्धित)

एस० चन्द एण्ड कम्पनी

दिल्ली—जालन्धर—लखनऊ

प्रथम संस्करण की प्रस्तावना

इस रचना का उद्देश्य पाठकों के सम्मुख इङ्गलैण्ड के आर्थिक इतिहास का ऐसा वर्णन प्रस्तुत करना है जो निरी रूपरेखा न हो और साथ ही इस विषय को प्रथम बार पढ़ने वाले विद्यार्थी के लिए अत्यधिक क्लिष्ट भी न हो।

यह बतला देना आवश्यक है कि प्रस्तुत पुस्तक इस विषय की अन्य पुस्तकों से भिन्न है; क्योंकि इसमें इङ्गलैंड के समूचे आर्थिक इतिहास का वर्णन करने का प्रयत्न किया गया है। प्राचीन पाठ्य-पुस्तकों में औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् के विषय का यथेष्ट वर्णन नहीं मिलता। विगत शताब्दी में इङ्गलैंड की आर्थिक प्रक्रियाएँ अत्यधिक पेचीदा हो गई हैं और प्राचीन पुस्तकों में इनका जितना वर्णन किया गया है उससे बहुत अधिक इनकी कई विशेषताओं का विवेचन आवश्यक है। दूसरी ओर विगत वर्षों में कतिपय उत्तम पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं जो प्रस्तुत विषय के विशेष पहलुओं या सीमित कालखण्डों का वर्णन करती हैं। इसलिए विद्यार्थी को अनेक स्रोतों से सामग्री इकट्ठी करने के लिए विवश होना पड़ता है यह आशा की जाती है कि पुस्तक से आँग्ल आर्थिक इतिहास के परीक्षार्थियों को आवश्यक सामग्री उपलब्ध हो सकेगी। यद्यपि प्रस्तुत पुस्तक मुख्यत: स्नातक-पूर्व षष्ठ वर्ग के विद्यार्थियों के लिए लिखी गई है तथापि आशा की जाती है कि यह, आवश्यकता होने पर, पंचम वर्ग के विद्यार्थियों के लिए भी अधिक कठिन नहीं होगी। इसी प्रकार साधारण पाठकों के लिए भी जो इस विषय का साधारण ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, अधिक विशिष्ट नहीं होगी।

लेखक अपनी "आधुनिक आँग्ल इतिहास की पाठ्य पुस्तक" और "आधुनिक यूरोपीय इतिहास की पाठ्य पुस्तक" की भाँति इस पुस्तक में विभिन्न अध्यायों का साराँश देना ठीक नहीं समझता। इस प्रकार के सारांश अन्य रचनाओं की अपेक्षा इस रचना में कम आवश्यक हैं, क्योंकि साधारणत: माध्यमिक शालाओं के षष्ठ वर्ग में आँग्ल आर्थिक इतिहास के अध्ययन के लिए आँग्ल या यूरोपीय इतिहासों के लिए निम्न वर्गों में निर्धारित समय से अधिक समय दिया जाता है। इसके अतिरिक्त सारांश समाविष्ट करने में पुस्तक

के आकार और परिणामस्वरूप मूल्य में यथेष्ट वृद्धि हो जाएगी। लेखक अपने दो सहयोगियों और मित्रों के प्रति हार्दिक धन्यवाद प्रकट करना चाहता है जिन्होंने लेखन और संशोधन में सहायता की है। श्री टी. एल. डी. पोर्टर, बी. ए., बी. एस सी, को कतिपय विशिष्ट और वैज्ञानिक मुद्दों पर जानकारी देने के लिए; और श्री डब्ल्यू. जी. मेकफर्सन, बी. ए. को हस्त-लिपि पढ़ने और अनेक बहुमूल्य सुझाव देने के लिए।

जनवरी, १९३४। लेखक

(अनेक निवेदनों के प्राप्त होने से सन् १९३६ में संक्षेप सहित संस्करण प्रकाशित किया गया था)

संशोधित संस्करण की प्रस्तावना

सन् १९३४ में इस पुस्तक के प्रकाशन होने के पश्चात् अनेक घटनाएँ घट चुकी हैं और यह महसूस किया जाता है कि इसे पूर्णतः दोहराने का समय आ गया है। कुछ प्रारम्भिक अध्यायों में छोटे-छोटे परिवर्तन किए गए हैं और पुस्तक के उत्तरार्द्ध के अध्यायों में यथेष्ट परिवर्तन किया गया है। बीमा और युद्धोत्तरकाल में राजकीय प्रयत्नों पर दो नये अध्याय जोड़े गए हैं। छापा दुबारा जमाया गया है।

लेखक डा. सी. आर. फे, एम. ए., केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में आर्थिक इतिहास के प्रपाठक, को कतिपय बहुमूल्य सुझावों के लिए और श्री डब्ल्यू. ए. डिन्सडेल, बी. काम, चार्टर्ड इन्श्योरैन्स इन्स्टीट्यूट के शिक्षाध्यक्ष को बीमा के अध्याय में दी गई जानकारी के लिए धन्यवाद प्रदर्शित करना चाहता है।

सितम्बर, १९४८। लेखक

इङ्गलैण्ड के आर्थिक इतिहास के विद्यार्थियों के लिए कुछ सुझाव

(१) यदि संभव हो तो, आर्थिक इतिहास के अध्ययन के साथ ही सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए। आर्थिक सिद्धान्तों के ज्ञान के बिना आर्थिक विकास की प्रगति को समझना संभव नहीं होता। उदाहरणार्थ वाणिज्यवादी सिद्धान्त की त्रुटियों को समझने या साधारण मूल्य-स्तरों में होने वाले परिवर्तनों को समझने के लिए मौद्रिक सिद्धान्त से परिचित होना आवश्यक है। इसी प्रकार भाटक के सिद्धान्त के ज्ञान से विद्यार्थी को उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भू-स्वामियों की सम्पन्नता का कारण समझने में सहायता मिलती है।

(२) सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र के साथ-साथ अध्ययन से एक और लाभ यह होता है कि अर्थ-विज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली का ज्ञान हो जाता है। आर्थिक इतिहास के अध्ययन में यह वांछनीय है कि शब्दों को उसी अर्थ में प्रयुक्त किया जाए जिस अर्थ में साधारणतः अर्थशास्त्री कहते हैं। उदाहरणार्थ "पूँजी" "सम्पत्ति" "वितरण" आदि शब्दों को उनके स्वीकृत अर्थों में प्रयोग करने से मानसिक उलझन से बचा जा सकता है। अर्थशास्त्रियों द्वारा "भूमि" शब्द इसके साधारण अर्थ से भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। दोनों अर्थों में वास्तविक विरोधाभास नहीं है, किन्तु एक अर्थ दूसरे से कुछ अधिक व्यापक है। कृषि का वर्णन करते समय भूमि का साधारण (संकीर्ण) अर्थ ही प्रायः प्रधान होता है परन्तु इस शब्द का आर्थिक अर्थ भुलाया नहीं जा सकता।

(३) आर्थिक विकास में अधिक एकरूपता की आशा नहीं की जा सकती। यही कारण है कि जल्दी में नियम बनाते समय सावधानी रखनी चाहिए। तर्कशास्त्र का अटल सिद्धान्त है कि नियमों का विश्वास तभी किया जा सकता है जब वे अनेक निश्चित तथ्यों पर आधारित हों। अपवादरहित आर्थिक नियमों के प्रतिपादन के लिए यथेष्ट आर्थिक तथ्य प्राप्त करना कठिन होता है। अतएव अपवादों की संभावना पर सदा ध्यान देना पड़ता है। जब आधे दर्जन देशों में उतने ही गाँवों के अभिलेखों की परीक्षा की जाने पर उनमें

विनिमय की अवस्थाओं में समानता पाई जाए तो यह कल्पना करने का प्रलोभन होता है कि सर्वत्र वैसी ही अवस्थाएँ पाई जाती हैं। इस प्रकार के साधारण कथन की अतिरिक्त प्रमाण प्राप्त होने पर पुष्टि नहीं होगी। यह कथन कि "अनेक देहाती कस्बों में हाट का दिन शताब्दियों से अपरिवर्तित रहा है" अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि अनेक स्थानों पर ऐसा ही पाया गया है। परन्तु यह कथन कि सभी देहाती कस्बों में ऐसा ही होता है केवल एक विपरीत उदाहरण प्राप्त होने पर अस्वीकार करना होगा। इसी प्रकार ऐसा कहने की अपेक्षा कि "इस देश में नार्मन विजय से पूर्व कोई "वणिक् श्रेणी नहीं थी" यह कहना अधिक सुरक्षित होगा कि "इस देश में नार्मन विजय से पूर्व 'वणिक् श्रेणियों' के प्रचलित होने के स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते हैं।"

(४) जल्दी में निकाले गए नियमों और निरपेक्ष कथनों के विरोध में चेतावनी देने का अर्थ अस्पष्टता को क्षमा करना नहीं है। स्पष्ट और यथार्थ कथनों के लिए निरपेक्ष होना आवश्यक नहीं है, यथार्थ कथनों में विचारों की यथार्थता और स्पष्टता झलकती है। पारिभाषिक शब्दावली के प्रयोग में परिशुद्धता विशेषतः वांछनीय है। उदाहरणार्थ "औद्योगिक" और "व्यापारिक" ऐसे शब्दों का समुचित अर्थों में प्रयोग होना चाहिए और उनको कभी निमेय नहीं मानना चाहिए।

(५) प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने अनेक स्थानों पर बार्किंग (Barking) की स्वामि-भू का उदाहरण दिया है जो मध्यकालीन युग में बार्किङ्ग के गिरजाघर के अधिकार में थी। विद्यार्थी के लिए अपने पड़ोस के धार्मिक संस्थानों के अभिलेखों से समानान्तर उदाहरणों की खोज करना एक उपयोगी अभ्यास होगा। इस उद्देश्य के लिए किसी अच्छे स्थानीय पुस्तकालय का उपलब्ध होना आवश्यक है। विक्टोरिया काउन्टी के इतिहास से ऐसे विषयों पर बहुत कुछ सामग्री प्राप्त हो सकती है।

(६) प्रारम्भ में विद्यार्थी के लिए ज्यादा आँकड़े व संख्याएँ याद करना उपयुक्त नहीं होगा। कुछ आँकड़ों पर ध्यान देना चाहिए, किन्तु साधारणतः आर्थिक इतिहास के अनुभवहीन विद्यार्थी को आँकड़ों का सावधानी से प्रयोग करना चाहिए। उदाहरण के लिए भिन्न-भिन्न स्रोतों से प्राप्त आँकड़ों की तुलना करने से पूर्व यह पता लगाना चाहिए कि वे समान सिद्धान्तों के अनुसार

संकलित किए गए हैं। साधारणतः ऐसा नहीं होता है। आँकड़ों के सही-सही उपयोग के लिए उन सिद्धान्तों को काम में लाना पड़ता है जिनको मिलाकर सांख्यिकी की रचना की गई है। निस्संदेह इन बातों पर विद्यार्थियों को आगे चलकर ध्यान देना होगा।

(७) इङ्गलैण्ड के आर्थिक इतिहास का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि मध्यम आकार की पाठ्य पुस्तक के उपयोग से केवल विषय का साधारण परिचय हो सकता है और इसके क्षेत्र का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। आगे चलकर अन्य पुस्तकों का पूरक अध्ययन करना चाहिए। इस पुस्तक में वर्णित अनेक विषयों का उन इतिहासज्ञों ने सविस्तार वर्णन किया है जिन्होंने कतिपय दिशाओं में विशिष्टता प्राप्त की है। उदाहरण के लिए वाणिक् श्रेणियों पर प्रोफेसर ग्रोस का कार्य प्रतिष्ठित है। औद्योगिक क्रान्ति के समय श्रमिकों की दशा का वर्णन जे. एल. और बारबरा हेमौण्ड द्वारा अनेक पुस्तकों में किया गया है। सिडनी और बेट्रिस वेब श्रमिक-संघवाद के इतिहासज्ञ हैं। इङ्गलैंड के आर्थिक इतिहास के अनेक विषयों पर प्रसिद्ध पुस्तकों की लम्बी सूची बनाई जा सकती है। अनेक कारणों से लेखक ने इस पुस्तक में ऐसी सूची नहीं देने का निश्चय किया है। यह निश्चय करना कठिन है कि किसे सम्मिलित किया जाए और किसे बाहर रखा जाये। अनेक पुस्तकों की उत्तमता के विषय में मतभेद भी हो सकता है। लेखक की राय में प्रत्येक विद्यार्थी को स्वयं अपनी संदर्भ सूची बनाना चाहिए जिससे समय-समय पर अध्यापकों तथा प्रवक्ताओं द्वारा बतलाई हुई पुस्तकों के नाम जोड़े जा सकें और जो पुस्तकें उसने पढ़ी हैं उनमें उल्लिखित पुस्तकों के नाम और ऐसी नई पुस्तकों के नाम भी जोड़े जा सकें जिनकी अनुकूल समालोचना की गई है।...........इस सुझाव का एक लाभ यह है कि संदर्भ सूची का उस दिशा में अधिक विकास किया जा सकता है जिसमें विशिष्टीकरण करने की विद्यार्थी की प्रवृत्ति हो।

परिचय

आँग्ल इतिहास में आर्थिक कारण

बहुत प्राचीन समय से—वास्तव में लेखन कला के आविष्कार के समय से—मनुष्यों ने अपने और अपने पूर्वजों के कार्यों का लेखा साहित्य के रूप में सुरक्षित रखने के प्रयत्न किये हैं। अपनी जाति की प्रतिष्ठा बढ़ाने, अपने पड़ोसियों पर इसकी शक्ति और वीरता का प्रभुत्व जमाने और नवयुवकों को अपने बड़ों के जैसे कार्य करने की प्रेरणा देने के उद्देश्य से प्राचीन इतिहासकार अपनी जाति की गौरव-गाथाओं को लिखा करते थे और चारण-भाट इनको गाया करते थे।

कालान्तर में यह माना जाने लगा, यद्यपि इसको खुले रूप से व्यक्त नहीं किया गया हो, कि जातीय या राष्ट्रीय गौरव प्रदर्शित करने के अतिरिक्त भी इतिहास के अध्ययन की स्वतः उपयोगिता है। बुद्धिमानों ने मानव प्रक्रियाओं में (नियमितता) और कारण-सम्बन्ध खोज निकाले। उन्होंने बतलाया कि समान परिस्थितियों से समान परिणाम निकलते हैं। अतएव मानव-जाति के संचित अनुभव से नई समस्याओं का हल निकालने के लिए भूतकाल की घटनाओं का अध्ययन उपयोगी समझा जाने लगा। इस प्रकार इतिहास के दर्शन का विकास हुआ और भौमिक प्रलोभन, धार्मिक कट्टरता, सैनिक गौरव जैसे मानव-व्यवहार के प्रयोजनों का पृथक्करण और विश्लेषण किया गया।

विगत वर्षों में यह अधिकाधिक माना जाने लगा है कि उपर्युक्त कारण सम्पूर्ण मानव-प्रयत्नों की व्याख्या करने के लिए यथेष्ट नहीं है। चौदहवें लुई की लड़ाइयाँ अंशतः सीमाओं को बढ़ाने की इच्छा के कारण हुई कही जा सकती हैं, फिलिफ द्वितीय की धार्मिक कट्टरता के कारण और नेपोलियन की गौरव प्राप्त करने की इच्छा के कारण। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि ये प्रयोजन सर्वत्र और सर्वदा पाये जाते हैं। कभी-कभी ये बलवान ही नहीं अपितु अरोध्य भी होते हैं; बहुधा ये शान्त होते हैं और कभी-कभी तो विद्यमान ही नहीं होते हैं। केवल महायुद्धों के समूहों से मानव-प्रयत्नों का सम्पूर्ण क्षेत्र समाप्त नहीं हो जाता। राष्ट्र सदा विद्यमान रहते हैं, और मनुष्य सदा केवल

युद्ध या ईश-प्रार्थना ही नहीं करते वरन् परिश्रम और व्यापार करते हैं तथा खेत जोतते हैं और फसल काटते हैं। इसलिए यदि किसी राष्ट्र के विकास का पूर्ण और समुचित वर्णन करना है तो आर्थिक कारणों को यथेष्ट महत्त्व देना होगा।

मनुष्यों की भौतिक आवश्यकताएँ अनेक और विभिन्न होती हैं और उन को कभी पूर्णतः तृप्त नहीं किया जा सकता; सभ्यता के विकास के साथ इनकी संख्या और विभिन्नता बढ़ती जाती है। किसी एक आवश्यकता की पूर्ति होते ही उसके स्थान पर दूसरी आ खड़ी होती है। जिस लड़के को आज एक साइकिल दी जाती है कालान्तर में वह एक मोटर साइकिल लेना चाहेगा; जब वह बड़ा होगा तो वह मोटरगाड़ी की इच्छा करेगा और एक मोटर गाड़ी रखने वाला सदा दूसरी अधिक विलासमय, अधिक शक्तिशाली और अधिक गतिशील गाड़ी की इच्छा कर सकता है। एक मकान का मालिक सदा एक बड़े मकान में जाना चाहता है; यदि वह धन कमा लेता है तो वह एक मकान शहर में और एक देहात में बना लेता है और संभवतः एक समुद्रतटीय बंगला और शिकारघर भी बना लेता है। सदा कुछ और प्राप्त करने की इच्छा रहती है। मनुष्य भौतिक उन्नति के पथ पर जितना आगे बढ़ता है उतना ही क्षितिज पीछे हटता जाता है। मानव-प्रकृति का ऐसा होना अच्छा है। मानव आवश्यकताओं की अपरिमितता ही मानव जाति की भौतिक उन्नति का कारण है; यदि मनुष्य संतुष्ट हो जाए तो आगे प्रयत्न करने के लिए प्रयोजन नहीं रहेगा। और क्योंकि मानव की स्थिति कभी स्थिर नहीं रहती इसलिए यदि उन्नति रुक गई तो अवनति आरम्भ हो जाएगी। एक संतुष्ट जाति अवनति की ओर जाती हुई होगी।

जिन उपयोगी भौतिक पदार्थों को प्राप्त करने के लिए मानव प्रयत्न या त्याग करना होता है उनको सम्पत्ति कहते हैं और सम्पत्ति के उत्पादन, वितरण और उपभोग के सिद्धान्तों का अर्थ-विज्ञान में अध्ययन होता है। आर्थिक इतिहास का सम्बन्ध भूतकाल में मनुष्य द्वारा अपनी आवश्यकताओं की तृप्ति के हेतु किये गये प्रयत्नों और उन संस्थाओं, संगठनों और आविष्कारों से है जिनमें मानव के आर्थिक प्रयत्नों के विभिन्न पहलुओं की विशेष झलक पड़ती है।

मनुष्य की आधारभूत आवश्यकताएँ भोजन, वस्त्र और निवास-स्थान की होती हैं। आज का सभ्य मनुष्य अपना रेडियो, अपनी मोटरगाड़ी, अपना

समाचारपत्र, अपना कैमरा, अपना साहित्य, अपनी गोल्फ-क्लब और ऐसी ही अनेक वस्तुएँ चाहता है, परन्तु इनमें से कोई भी वस्तु जीवन-रक्षा के लिए अनिवार्य नहीं है। परन्तु वह भोजस, वस्त्र और निवास-स्थान के बिना जीवित नहीं रह सकता—ये वस्तुएँ मानव के आदिवासी पूर्वजों के लिए भी समान रूप से आवश्यक थीं। इनमें भी भोजन सब से अधिक आवश्यक है, यद्यपि ग्रीष्म ऋतु और जलवायु में शीतकाल और जलवायु की अपेक्षा कम भोजन की आवश्यकता होती है। वास्तव में कतिपय उष्ण कटिबन्ध के क्षेत्रों में जहाँ भोजन प्रचुर मात्रा में होता है और अल्प श्रम से प्राप्त किया जा सकता है और जहाँ वस्त्रों तथा शरण की आवश्यकता भी कम होती है और सुगमतापूर्वक तृप्त की जा सकती है, मनुष्यों को प्रकृति से ऐसे संग्राम के लिए विवश नहीं होना पड़ा है जैसा उनको अन्यत्र करना पड़ा है। वे लोग असभ्य या अर्द्ध-सभ्य अवस्था में रह गए हैं और उनका आर्थिक इतिहास बहुत छोटा या नगण्य है।

क्योंकि भोजन मानव-जाति की सब से महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है किसी देश के आर्थिक इतिहास का बड़ा भाग भूतकाल में खाद्य-पदार्थों की उत्पत्ति के उपायों से सम्बन्धित होता है। कुछ देशों ने, जिनमें अब बृहत् ब्रिटेन की गणना भी होती है. अपनी आवश्यकता का सम्पूर्ण भोजन प्राप्त करने का प्रयत्न त्याग कर अपना ध्यान अन्य वस्तुओं की उत्पत्ति पर लगाया है जिनको वे भोजन के विनिमय में ऐसे लोगों को भेजते हैं जो इस अत्यावश्यक वस्तु की अतिरिक्त मात्रा उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार विशाल निर्माण-उद्योगों और विस्तृत विदेशी व्यापार का विकास होता है।

एक सौ पचास वर्ष पूर्व तक कृषि इङ्गलैण्ड का सब से महत्त्वपूर्ण उद्योग था। लोगों का भोजन देश ही में उत्पन्न किया जाता था और कभी-कभी बचत निर्यात के लिए उपलब्ध होती थी। तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या और उस जनसंख्या का बड़ा भाग यांत्रिक उद्योग और कोयले की खान खोदने में लगा होने से उन्नीसवीं शताब्दी में बृहत् ब्रिटेन में भोजन का आयात आवश्यक हो गया। अतएव कुछ समय से आँग्ल आर्थिक प्रयत्नों की कहानी अधिकाधिक पेचीदा हो गई है। कृषि, जिसका अब भी बड़ा महत्त्व है (और संभवतः भावी वर्षों में और भी अधिक महत्त्व होगा) बड़ी मात्रा के उद्योगों और व्यापार के

सामने फीकी पड़ गई है। इङ्गलैंड से निर्मित वस्तुओं और कोयले का निर्यात किया जाता है और बड़ी मात्रा में भोजन, कच्चा माल और अन्य देशों की निर्मित वस्तुएँ भी विनिमय में प्राप्त होती हैं। राष्ट्रों के बीच में इस प्रकार बड़ी मात्रा में उत्पत्ति का विनिमय यांत्रिक यातायात से सम्बन्ध रखने वाली निर्माण-कला की उन्नति से है जिसने स्वयं आर्थिक कार्यों की नई शाखाओं को जन्म दिया है।

इस देश के व्यापक आर्थिक हितों को दृष्टि में रखते हुए आँग्ल आर्थिक इतिहास से परिचय प्राप्त करने पर एक विद्यार्थी ऐसा विचार कर सकता है कि उसको अपना ध्यान मुख्यतः आँग्ल उद्योग और वाणिज्य पर लगाना चाहिए और कृषि को गौण मानकर अध्ययन करना चाहिए। परन्तु यह दोहरा देना आवश्यक है कि औद्योगिक क्रान्ति तक कृषि का महत्त्व अन्य सब प्रकार के आर्थिक प्रयत्नों से अधिक था। शताब्दियों तक आँग्ल जीवन का प्रतिनिधित्व कृषक करता था न कि शिल्पी, या व्यापारी या नाविक। आज भी "पंच" (एक प्रसिद्ध व्यंग-पत्र) का जॉन बुल (John Bull) कुछ प्राचीन ढंग का ग्रामीण भूपति-सा है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक अंग्रेजों का मुख्य धन्धा भूमि पर खेती करना था। आँग्ल आर्थिक इतिहास का अध्ययन कृषि के वर्णन से आरम्भ होना चाहिए और पाठ्य-क्रम के अन्त तक इसका महत्त्व सदा ध्यान में रखना चाहिये।

विषय-सूची

पहला अध्याय

स्वामि-भू पद्धति

मध्य काल में अधिकांश इंगलैंड में स्वामि-भू ग्रामीण संगठन की इकाई थी। नार्मन विजय से पूर्व भी इङ्गलैंड में स्वामि-भूमियां थीं और इस घटना के समय कृषि की स्वामि-भू पद्धति सुप्रचलित थी।[1] यह इस देश तक ही सीमित नहीं थी; वास्तव में यह समस्त केन्द्रीय और पश्चिमी यूरोप में भी पाई जाती थी। इंगलैंड में इसके विकास का इतिहास अन्धकारमय और विवादग्रस्त है। कतिपय अन्वेषण-कर्ताओं ने यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि स्वामि-भू 'विल' (Vill) का विकसित रूप है जो रोम के साम्राज्य के दिनों में दासों से जोती जाने वाली भूमि को कहते हैं। अन्य लोगों ने इसका प्रारम्भ जर्मनी के 'मार्क' (Mark) से बतलाया है जो स्वतन्त्र मनुष्यों की समाज द्वारा अधिकृत और कर्षित क्षेत्र होता था। वर्तमान समय में अधिकांश विद्वानों का मत है कि मध्यकालीन स्वामि-भू पद्धति के विकास में रोम और जर्मनी दोनों का प्रभाव पड़ा है। परन्तु इस प्रश्न का अभी तक अन्तिम निश्चय नहीं हुआ है। यह संभव है कि स्वामि-भू पद्धति के जन्म और प्रारम्भिक विकास संबंधी अनेक समस्याओं का सर्वसम्मत हल कभी भी नहीं निकलेगा।

स्वामि-भू एक बड़ी भू-सम्पत्ति[2] होती थी जिसमें प्रायः एक गाँव और इसके चारों ओर की भूमि समाविष्ट होती थी। बहुधा स्वामि-भू के 'टन'

---

१. नार्मन काल में स्वामि-भू पद्धति का अधिकांश ज्ञान "डूम्स डे बुक" से मिलता है जो १०१६ में पूरी की गई थी। यह ध्यान देने की बात है कि "डूम्स डे" में स्वामि-भू शब्द उस क्षेत्र के लिए प्रयोग किया गया है जो कर लगाने के लिए इकाई माना जाता था। यह सदा आर्थिक इकाई के रूप में "स्वामि-भू" के सदृश नहीं होता था, जोकि इस अध्याय का विषय है।

२. स्वामि-भूमियों का आकर भिन्न-भिन्न होता था। कुछ एक "हाइड" (१२० एकड़) से भी छोटी होती थीं। इसेक्स में स्थित बारकिंग की स्वामि-भू ३० हाइड लम्बी चौड़ी थी और कुछ इससे भी बड़ी होती थी।

(Tan) नामक झाड़ी की बाड़ होती थी जिससे इसके क्षेत्रफल का पता चलता था और इसकी रक्षा होती थी। ऐसी बाड़ यदि अच्छी दशा में रक्खी जाए तो डाकुओं, निर्वासितों और वन्य पशुओं का आगमन रोक सकती थी, परन्तु यह एक सुव्यवस्थित सेना का प्रस्थान नहीं रोक सकती थी। घने बसे हुए क्षेत्रों में स्वामि-भूमियाँ एक दूसरे से लगी हुई होती थीं और इनके बीच में बाड़ होती थी। दूर के प्रदेशों में विस्तृत वन और दलदल होते थे जो स्वामि-भू का अंग नहीं माने जाते थे और जिनमें भेड़िये और सूअर, डाकू और निर्वासित व्यक्ति रहा करते थे।

प्रत्येक स्वामि-भू का एक स्वामी होता था, यद्यपि यह कथन कि स्वामि-भू स्वामी की सम्पत्ति थी, गलत होगा। भूमि पर राजा के अतिरिक्त किसी का पूर्ण स्वामित्व नहीं होता था, सब भूमि राजा की, या राजा द्वारा प्रदत्त, मानी जाती थी। स्वामि-भू का स्वामी एक प्रकार का "भूधारी" माना जाता था न कि पूर्ण स्वामी। परन्तु यह भूधारण आजकल के भूधारण से भिन्न था। भूस्वामी जिसको अपनी भूमि सीधी राजा से या राजा द्वारा दिये गये किसी अन्य स्वामी से मिलती थी, अपने अधिकार में सुरक्षित था और जब तक वह राजद्रोह का दोषी नहीं हो उसे वैधानिक रूप से अपनी भूमि से वंचित नहीं किया जा सकता था।

राजा स्वयं स्वामि-भू का स्वामी हो सकता था और उसके पास अपने प्रजाजनों से अधिक ऐसी जागीरें होती थीं। ये **राजा की भूमियाँ** थीं और इनको 'शाही जागीर' कहते थे। कभी २ शाही जागीर का क्षेत्र घट जाता था, उदाहरण के लिए जब सम्राट् कुछ भूमि अपने अनुयायियों को दे देता था। कभी-कभी यह बढ़ भी जाता था, उदाहरणार्थ, जबकि स्वामि-भू के स्वामी के निःसन्तान मर जाने पर स्वामि-भू स्वतः सम्राट् को मिल जाती थी या राजद्रोह के अपराध में दंडित भू-स्वामियों की स्वामि-भू जब्त कर ली जाती थी। बड़े सामंत कई स्वामि-भूमियों के स्वामी होते थे जो प्रायः देश भर में बिखरी रहती थीं। विजयी नार्मन की नीति सेवा को उदारता-पूर्वक पुरस्कृत करने परन्तु साथ ही साथ फ्रांस की तरह बड़े सामन्ती प्रान्त नहीं बनने देने की थी। अनेक छोटे भू-स्वामी ऐसे होते थे जिनके पास केवल एक[1] छोटी स्वामि-भू

१. कहा जाता है कि केवल एक स्वामि-भू वाले स्वामियों की संख्या थोड़ी थी।

होती थी या अधिक से अधिक दो या तीन होती थी। ऐसे भू-स्वामी वर्तमान छोटे भू-स्वामियों के समरूप होते थे। अनेक स्वामि-भूमियाँ चर्च (Church) की होती थीं और उनके स्वामी बिशप (Bishop), एबोट (Abbot) या अन्य धर्माधिकारी होते थे। क्योंकि चर्च को बहुधा भेंट प्राप्त होती थी और यह अपनी भूमि कभी किसी को नहीं बेचती थी, धार्मिक भूमियों का क्षेत्र निरन्तर बढ़ता रहता था।[1]

देश के अधिकांश भाग में स्वामि-भूमियों के संगठन में सादृश्य पाया जाता था, परन्तु नितान्त एकरूपता नहीं थी और अब यह माना जाने लगा है कि कुछ वर्षों पूर्व जितनी विभिन्नता मानी जाती थी उससे अधिक विभिन्नता

---

१. किसी एक धर्म-स्थान की अधिकृत भूमि के आकार का लेखा रुचिकर होगा। "डूम्सडे" के संकलन के समय बारकिंग की एबे की भूमि में निम्नांकित समाविष्ट थे :—

इसेक्स में बारकिंग (३० हाइड), मकिंग (७ हाइड), बलफेन (७ हाइड), पानर्डिन (½ हाइड), विसबारो (११½ हाइड) वारले (३ हाइड), इंगटे-स्टन (३½ हाइड), हाक्ले (७½) और टालसबरी (८ हाइड) की स्वामि-भू।

मिडलसेक्स में, टाइबर्न की स्वामि-भू।

बकिंघमशायर में, क्लैयटन की स्वामि-भू।

बेडफोर्डशायर में, लिडलिंगटन की स्वामि-भू।

सरे में, वेलिंगटन की भूमि।

बारकिंग एबे, अपनी समस्त सम्पत्ति सहित, १४ नवम्बर, १५३९, को सरकार को दे दिया गया था। इस समय इसके पास उपर्युक्त भूमियों के अतिरिक्त निम्नाँकित भूमियाँ थीं :—

इसेक्स में, एबोट के रुथिंग, लीडन, रुथिंग, फोबिंग, दक्षिण बेनफ्लीट, वाल्थमस्टो, हैडफील्ड, डगनहेम और वेस्टबरी की जागीरें तथा वेस्टहेम, लेटन और वानस्टीड के भाटक।

मिडलसेक्स में, मेरिलीबोन की भूमि।

कैम्ब्रिजशायर में, फुलबूने की स्वामि-भू।

लन्दन में, आल हैलोज बार्किंग और सैन्ट मारग्रेट की लोथबरी के अधिकार।

पाई जाती थी। इंगलैंड के उत्तर और पश्चिम में ऐसे गांव थे जिनमें एक स्वामि-भू में प्रायः पाई जाने वाली त्रि-खेत पद्धति नहीं थी और पूर्वी आंगल गांवों में भी इस पद्धति का प्रचार सिद्ध नहीं किया जा सकता। तथापि देश के अधिकांश भाग में एक स्वामि-भू दूसरे से इतना सादृश्य रखती थी कि हम एक प्रारूपिक स्वामि-भू का वर्णन कर सकते हैं।

एक स्वामि-भू के मकान प्रायः एक सन्निकट गांव की तरह होते थे।[१] और अकेले मकानों का होना कभी-कभी ही पाया जाता था और ऐसा पूर्वी और दक्षिण पूर्वी इंगलैंड की अपेक्षा पश्चिमी इंगलैंड में अधिक पाया जाता था। गांव में सबसे मुख्य मकान स्वामि-भू-भवन होता था जो साधारण लोगों की कुटियाओं की अपेक्षा अधिक ठोस बना हुआ होता था। साधारण लोगों की कुटियाएँ लकड़ी या डंडों की होती थीं जिन पर फूस की छतें होती थीं और इनमें एक या दो कमरे होते थे जो सब काम आते थे। स्वामि-भू-भवन इमारती लकड़ी या बहुधा पत्थर का होता था। इसमें एक से अधिक मंजिलें होती थीं और इसमें कई कमरे होते थे जिनमें सबसे बड़े कमरे या हाल में स्वामि-भू की अदालत लगती थी। इसके साथ कोठे और अन्य बाह्यकक्ष लगे होते थे। यदि भू-स्वामी स्वामि-भू पर रहता था तो इसी में रहता था; यदि वह अनेक स्वामि-भूमियों का स्वामी कोई बड़ा सामन्त होता तो उसका मुख्तार इसमें रहता था। यदि स्वामि-भू और धार्मिक क्षेत्र एक ही होते, जैसा प्रायः होता था, तो इसमें एक गिरजाघर होता था जिस के पास पादरी के लिए एक मकान होता था। नाले के किनारे एक पनचक्की होती थी और यदि कोई सुविधानुकूल नाला नहीं होता तो पहाड़ी पर वायु-चक्की बना दी जाती थी।[२]

स्वामि-भू पद्धति का आदर्श स्वावलम्बन था। यह माना जाता था कि स्वामि-भू पर रहने वालों की आवश्यकता की सब वस्तुएं वहीं पैदा होनी

---

१. आज कल का देहात प्रायः क्षेत्र में मध्यकालीन स्वामि-भू के बराबर होता है।

२. इस प्रकार साधारणतः गांव की चक्की सबसे नीचे या सबसे ऊंचे स्थान पर स्थित होती थी। १२ वीं शताब्दी से ही वायु-चक्कियों का प्रयोग चला आया है।

चाहियें और उनको इस पर पैदा होने वाली प्रत्येक वस्तु का उपयोग करना चाहिये। यद्यपि पूर्ण स्वावलम्बन की प्राप्ति कभी नहीं होती थी परन्तु बाह्य व्यापार अवांछनीय माना जाता था और इसे कम से कम किया जाना चाहिये था। वास्तव में एक स्वामि-भू अधिकाँश में स्वावलम्बी होती थी। स्वामि-भू पर पैदा किया हुआ गेहूँ चक्की पर पीसा जाता था और इसकी रोटियां पकाई जाती थीं। जौ को अंकुरित होने तक पानी में भिगो दिया जाता था और इससे यव्य तैयार किया जाता था जिससे शराब निकाली जाती थी। गौ मांस और बकरे का मांस, दूध और अंडे भी स्वामि-भू में ही पैदा किये जाते थे। भेड़ बकरियों की ऊन कुटियों में काती जाती थी और इसी का मोटा कपड़ा बुन लिया जाता था। मवेशियों की खालों को कमाकर जूते बनाये जाते थे। प्रत्येक स्वामि-भू में मकान बनाने के लिए प्रचुर मात्रा में इमारती लकड़ी मिलती थी और कभी-कभी इस कार्य के लिए पत्थर भी मिल जाते थे। तथापि कोई स्वामि-भू पूर्णतः आत्म-निर्भर नहीं होती थी। स्वामि-भू-भवन की महिलाओं के लिए रेशमी वस्त्र और मलमलें, कसें और फीते मंगवाने पड़ते थे। लकड़ी के काम के लिए कीलों की आवश्यकता होती थी। लौह और इस्पात के औजारों और शस्त्रों की आवश्यकता होती थी। भोजन की रक्षा करने के लिए नमक की आवश्यकता होती थी और भेड़ों को रोगों की मार से बचाने के लिए विराल की आवश्यकता होती थी। यदि विभिन्न प्रकार की वस्तुएं बाहर से मंगानी पड़ती थीं तो उनके बदले में स्वामि-भू की अतिरिक्त उत्पत्ति देनी पड़ती थी। कभी-कभी समीपवर्ती नगर इतने बड़े होते थे कि अपनी आवश्यकता का सम्पूर्ण खाद्य उत्पन्न नहीं कर सकते थे और उनको अपने चारों ओर के गांवों से आने वाली पूर्ति पर निर्भर करना पड़ता था। यद्यपि पूर्ण स्वावलम्बन एक अप्राप्य आदर्श था तथापि बाह्य संसार से व्यापार को न्यूनतम सीमा पर रखना कुशल प्रबन्ध का द्योतक माना जाता था।

मध्यकालीन स्वामि-भू पर "प्राकृतिक अर्थ व्यवस्था" थी। वस्तुओं का सीधा विनिमय वस्तुओं से होता था और जैसा कि नीचे दिखाया गया है चक्की वाले, गाड़ी वाले, लोहारों आदि अन्य ग्रामीण कारीगरों की सेवाओं के बदले में अनाज, ऊन, अण्डे या अन्य उत्पत्ति दी जाती थी। स्वामि-भू पर होने

वाले व्यापार में मुद्रा का बहुत कम प्रयोग होता था। किन्तु जब अतिरिक्त उत्पत्ति को समीपवर्ती मंडियों में ले जाने की प्रथा ने उन्नति की तो मुद्रा का उपयोग बढ़ गया होगा। यह भी असंभाव्य है कि गांवों में आने वाली मंडलिओं से बिना मुद्रा के व्यापार होता होगा।

स्वामि-भू की भूमि को दो भागों में बांटा जाता था, यथा, हवाला या स्वामी की भूमि और अन्य भूमि जो दासों को दी जाती थी। दासों का भूमि पर कोई अधिकार नहीं होता था, उनको भूमि देने का दस्तूर था और वैज्ञानिक दृष्टि से उनकी भूमि का स्वामित्व भू-स्वामी के हाथों में होता था। वह उनको बेदखल कर सकता था। यद्यपि ऐसा करना उसके हित में नहीं था क्योंकि वे हवाले पर भी काम करते थे। जो स्वामी अपने दासों को निकाल देता था वह अपनी भूमि का नाश करता था। फिर भी मध्यकालीन विधिवेत्ता की दृष्टि में दासों की सम्पत्ति भी भू-स्वामी की सम्पत्ति ही का भाग मानी जाती थी और स्वामि-भू में पाए जाने वाले विस्तृत ऊसर, वन और गोचर क्षेत्र भी इसी में सम्मिलित माने जाते थे।[1] वास्तव में "हवाला" शब्द व्यापक अर्थों में स्वतंत्र मनुष्यों के खेतों को छोड़ कर सम्पूर्ण स्वामि-भू तक फैलाया जा सकता था। पूर्वी जिलों में इनकी (स्वतन्त्र मनुष्यों की) संख्या कुल जनसंख्या का बड़ा भाग थी, अन्यत्र उनकी संख्या कम थी।

स्वामि-भू की भूमि के विभिन्न उपयोग होते थे। क्योंकि लोगों का मुख्य आर्थिक कार्य खेत जोतना था। कर्षित भूमि बड़ी महत्वपूर्ण थी। इसके दो या तीन बड़े बड़े खेत होते थे।[2] प्रत्येक खेत को चौड़ी पाटियों में बांट दिया जाता था जिनको "फरलोंग", "शोट" या "प्लेट" विभिन्न नामों से पुकारा जाता था और इनको छोटी टुकड़ियों में बांटा जाता था। एक पाटी की चौड़ाई, या टुकड़ी की लम्बाई एक फर्लाङ्ग या हलाव होती थी अर्थात् इतनी दूरी जो किसी दल द्वारा बिना विश्राम के जोती जा सकती थी। दल चिकनी भूमि की

१. स्वामि-भू के अन्दर भूमि के स्वामित्व का वैधानिक पहलू महत्त्व-पूर्ण था और अठारहवीं शताब्दि के विशाल बाड़ा-आन्दोलन के समय इसका भूमि के बँटवारे पर गहरा प्रभाव पड़ा।

२. बड़ी स्वामि-भूमियों में खेतों की वास्तविक संख्या तीन का गुणात्मक होती थी।

अपेक्षा हल्की मिट्टी की भूमि को अधिक जोत सकते थे इसलिए फर्लांग की लम्बाई भी अलग-अलग होती थी परन्तु कालान्तर में यह चालीस डंडों के बराबर मानकीकृत हो गई। टुकड़ी की चौड़ाई अलग-अलग स्वामि-भूमियों पर अलग-अलग हो सकती थी परन्तु किसी एक स्वामि-भू पर इनकी चौड़ाई समान होती थी। यह एक, दो या चार डंडे हो सकती थी ताकि एक टुकड़ी का क्षेत्रफल एक चौथाई एकड़, आधी एकड़ या एक एकड़ हो सकता था।[1] इन बड़े कर्षित खेतों पर बाड़ें नहीं होती थीं। टुकड़ियों के बीच में केवल पत्थरों की पंक्तियां या एक हलाव घास की मेंड[2] होती थी जो जोती नहीं जाती थी। पाटियों के बीच में घास की चौड़ी मेड़ें होती थीं। ये अवश्य इतनी चौड़ी होती थीं कि हल के बैलों की जोड़ी मोड़ी जा सके।[3]

कुछ पाटियां भू-स्वामी की होती थीं और कुछ ग्रामवासियों की। प्रत्येक व्यक्ति की भूमि तीनों खेतों में बांटी हुई होती थी। इस पद्धति के विषय में अनेक अनुमान हैं। सबसे साधारण सिद्धान्त यह है कि भूमि तोड़ने में कई मनुष्यों ने मिलकर कार्य किया होगा। किसी ने हल दिया होगा तो किसी ने बैल भेजे होंगे और कुछ ने श्रम किया होगा। एक दिन की जुताई से एक एकड़ पाटी प्राप्त होती थी और प्रत्येक व्यक्ति को बारी बारी से एक पाटी मिली

---

१. यह माप पूर्णतः सही नहीं थे परन्तु दस्तूर के अनुसार थे। लम्बाई और चौड़ाई में कुछ अन्तर पाये जाते थे। इसके अतिरिक्त माप दंड की कोई सामान्य रूप से स्वीकृत लम्बाई नहीं थी। यह दो बैलों के बीच में लगे हुए जूड़े के बराबर मानी जाती थी। मध्यकाल के अन्तिम दिनों में यह वस्त्रों के गज की साढ़े पांच गुनी के बराबर मानीकृत की गई। इस प्रकार जहां एक ही स्वामि-भू में "एकड़" समान होते थे वहां एक स्वामि-भू का एकड़ दूसरी स्वामि-भू के एकड़ से भिन्न होता था।

२. यह मत कि कर्षित भूमि की टुकड़ियों के बीच में घास की मेड़ होती थी, आजकल सर्वमान्य नहीं है। कुछ अधिकारी इसको सर्वथा आधार-रहित बतलाते हैं। यह कथन स्वीकार नहीं किया जा सकता। निस्संदेह इंगलैंड के भिन्न २ भागों में भिन्न २ व्यवहार था और पाठक को इस प्रश्न पर निष्पक्ष रहना चाहिये।

३. भूमि का विभाजन इतना समान नहीं होता था जितना इस वर्णन से जान पड़ेगा। इस पर भूमि के साधारण आकार से बड़ा अन्तर पड़ जाता था। पाटियों के सिरों पर टेढ़े मेढ़े त्रिकोण युक्त टुकड़ों को "गोर" (gore) कहते थे।

होगी। इस मत को बिना फेर बदल के स्वीकार करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं।[१] यदि यह सिद्धान्त पूर्णतः सत्य होता तो जैसे दशमलव के अंकों की पुनरावृत्ति होती है उसी प्रकार खेतों में पहली कुछ पाटियों के स्वामित्व की बार बार पुनरावृत्ति मिलनी चाहिये थी। परन्तु प्रायः ऐसा नहीं पाया जाता।[२] और जिस व्यक्ति के पास अपना हल और अपनी बैलों की जोड़ी थी उसका खेत एक खण्ड में होना चाहिये था, परन्तु ऐसा नहीं था। यद्यपि कोई संतोपजनक सिद्धान्त इस पद्धति की सब विशेषताओं की व्याख्या करने योग्य अब तक प्रतिपादित नहीं हुआ है इसके उद्देश्य स्पष्ट हैं। भूमि की उत्तमता सर्वत्र समान नहीं होती। यदि प्रत्येक व्यक्ति के खेत एक ही मिले हुए खंड में होते तो किसी की भूमि दूसरे से बहुत अच्छी हो सकती थी। जिस काल में ऊसर भूमि के सुधार के तरीके ज्ञात नहीं थे यह एक महत्वपूर्ण बात थी। किसी एक व्यक्ति की भूमि उसके घर के पास हो सकती थी तो दूसरे की एक या दो मील दूर हो सकती थी। पाटी पद्धति से लाभ-हानि की समानता रहती थी और संभव है आरंभ में पाटियां दैवयोग से बांटी गई हों।

अधिकांश स्वामि-भूमियों में एक बीड़ होता था। बीड़ उस चरागाह को कहते हैं जिसमें से घास काटने के लिए मवेशियों को चरने नहीं दिया जाता था। शरद् ऋतु में घास ही मवेशियों का प्रधान भोजन होता था और प्रत्येक ग्रामवासी को अपने बैलों की संख्या के अनुपात में घास की फसल में भाग मिलता था। बीड़ बाड़ों से टुकड़ों में बँटा हुआ होता था। प्रत्येक व्यक्ति अपनी घास स्वयं काटता था। संभव है टुकड़ों का वार्षिक पुनर्विभाजन होता हो। शरद ऋतु से दुबारा घास कट जाने के पश्चात् बीड़ मवेशियों के चरने के लिए खोल दिया जाता था।

किसी किसी उन्नत स्वामि-भू में भू-स्वामी के बाड़ लगे हुए खेत होते थे जो अपेक्षाकृत सम्पन्न ग्रामवासियों को ऊँचे लगान पर जोतने को दिए जाते थे।

---

१. सीबोम बंटवारे के इस सिद्धान्त को स्वीकार करता है परन्तु विनोग्रेडोफ इसका खंडन करता है। विनोग्रेडोफ के अनुसार मिली हुई पाटियों का कारण समान विभाजन की इच्छा है।

२. कभी कभी पाटियों के स्वामित्व में क्रम पाया जाता है।

ये बाड़ लगे हुए खेत कर्षित भूमि के या चरागाह के होते थे। जो खेत कर्षित भूमि के थे ध्यानपूर्वक जोते जाते थे और संभवत: खुले खेतों की अपेक्षा औसतन अधिक अच्छी फसल देते थे। शायद ये ऐसी स्वामिभूमियों में बनाए जाते थे जिनकी जन्म-संख्या बढ़ रही होती थी। ऊसर भूमि पर अतिरिक्त बाड़ लगे हुए खेत बनाए जा सकते थे। सन् १२३५ के मरटन अधिनियम के अधीन सैनिकों और आत्म-धारियों की आवश्यकताओं के लिए यथेष्ट भूमि छोड़ कर शेष ऊसर के बाड़ लगाने की अनुमति थी।

शेष स्वामि-भू ऊसर होती थी। पाठक इस शब्द का अर्थ मूल्यहीन से नहीं समझें। इसमें अधिकांश सामूहिक चरागाह होती थी जिस पर बैल और भेड़ें चरती थीं। सामूहिक चरागाह के बिना स्वामि-भू पद्धति नहीं चल सकती थी। कुछ स्वामि-भूमियों में यथेष्ट चरागाह नहीं होता था और ग्रामवासी सीमित संख्या में मवेशी चरने को भेज सकते थे। परन्तु बहुधा चरागाह इस प्रकार सीमित नहीं होता था। माने हुए सामूहिक चरागाह के अतिरिक्त स्वामि-भू के सुदूर भागों में खाली भूमि होती थी जो चूंटने या घास-फूस काटने के काम आती थी। ऊसर में स्वामि-भू का जंगल भी शामिल था जिसमें से मकान या गाड़ी बनाने के लिए लकड़ी काटी जा सकती थी और जलाने के लिए ईंधन इकट्ठा किया जा सकता था। इस अधिकार को आवश्यक पूर्त्ति का समानाधिकार कहते थे।

स्वामि-भू के निवासियों को स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है और दूसरे वर्ग के मनुष्यों की संख्या अधिक होती थी।[1] स्वतन्त्र व्यक्तियों में स्वयं भू-स्वामी,[2] उसका मुख्तार, गांव का पुजारी और प्राय: अनेक "स्वतन्त्र मनुष्य" होते थे। किन्तु अस्वतन्त्र लोगों का आर्थिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण वर्ग था क्योंकि स्वामि-भू पर श्रम की सकल या लगभग सकल पूर्त्ति

१. "डूमस्डे बुक" में दी हुई सूचना से पता चलता है कि इसके संकलन के समय ग्रामीण जनता का ७०% दास थे, जिसमें ३८% आसामी (Villein) और ३२% हाली या कुटीरवासी (Bondars or Cottars) थे। परन्तु पूर्वी जिलों में स्वतन्त्र मनुष्यों का अनुपात काफी ऊँचा था।

२. भू-स्वामी के लिए वहां निवास करना आवश्यक नहीं था।

वे ही करते थे। वे अपने खेतों[1] के अतिरिक्त भू-स्वामी की भूमि पर भी कार्य करते थे और यह बात इतनी सर्वव्यापक थी कि हवाले पर अस्वतन्त्र श्रम द्वारा खेती स्वामि-भू पद्धति की आधारभूत विशेषता मानी जाती है। कुछ गुलाम भी थे और बारहवीं शताब्दि के मध्य तक वास्तविक गुलामी समाप्त हो गई थी।[२] अस्वतन्त्र व्यक्ति दास थे, उनको खेतों पर काम करना होता था और उनको खेतों को छोड़ने का अधिकार नहीं था तथा अपने भू-स्वामी के लिए कार्य करना पड़ता था।[3] इनमें से कुछ आसामी और अन्य हाली या कुटीरवासी कहलाते थे। इन दलों में कोई वैज्ञानिक अन्तर नहीं था परन्तु उनकी आर्थिक स्थिति भिन्न थी—आसामियों की आर्थिक दशा हालियों से अच्छी थी।

दासों को अपने स्वामी के खिलाफ वैधानिक अधिकार नहीं थे परन्तु उनको अन्य लोगों के खिलाफ निश्चित वैधानिक अधिकार थे। एक दास अपने स्वामी के खिलाफ सम्राट् के न्यायालय में अभिभोग नहीं चला सकता था[४] (सिवाय निम्नांकित मामले में) परन्तु वह किसी अन्य व्यक्ति पर दावा कर सकता था परन्तु मध्यकालीन समाज पर विधि की अपेक्षा रिवाज का शासन अधिक था

---

१. आसामियों के खेतों को उनके श्रम की मजदूरी या उनके कार्य को भूमि का श्रम-लगान मानने का प्रलोभन होता है। परन्तु ऐसा करना मध्यकालीन रीति-रिवाजों के "इकरार" के वर्तमान विचार लगाना होगा। यह निश्चित है कि न तो भू-स्वामी ही और न दास ही इस व्यवस्था को इस दृष्टि से देखते थे।

२. गुलामों को हालियों के वर्ग में मिला दिया गया था।

३. इस अस्वतन्त्र आसामियों के वर्ग के विकास के प्रश्न पर बहुत धैर्य से अन्वेषण किया गया है। इस विषय का इस पुस्तक में विवेचन करना असंभव है परन्तु प्रचलित मत का संक्षेप में उल्लेख किया जा सकता है—आरंभिक आंगल सैक्सन काल में स्वतन्त्रता अधिक साधारण थी परन्तु ज्यों ज्यों संरक्षण की आशा में लोग भू-स्वामी पर आश्रित हुए धीरे धीरे यह समाप्त हो गई, नार्मन विजय के पश्चात् स्वतन्त्र मनुष्यों का और पतन हुआ और विजय के पश्चात् कुछ काल के लिए यह प्रवृत्ति जारी रही। चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों के बीच में विरोधी आन्दोलन चला और जैसा कि आगे चलकर समझाया जाएगा दास-प्रथा धीरे-धीरे समाप्त हो गई।

४. यदि उसने ऐसा किया तो स्वामी का उत्तर "यह आदमी मेरा आसामी है" न्यायालय द्वारा यथेष्ट माना जाएगा और दावा रद्द कर दिया जाएगा।

और दास को निश्चित रिवाज के अधिकार प्राप्त थे जो व्यवहार में उतने ही सुरक्षित थे जितने वैधानिक अधिकार हो सकते थे। रिवाज के अनुसार उसको अपने घर और बाग पर, अपने खेत पर और घास की फसल में अपने भाग पर अधिकार था। वह सामूहिक चरागाह पर अपने मवेशी चरा सकता था और अपने सूअरों को जंगल में फलों के लिए जमीन खोदने को छोड़ सकता था। वह अपने घर, गाड़ी या हल की मरम्मत के लिए लकड़ी काट सकता था और यद्यपि उसको काम करना पड़ता था तथापि वह स्वामि-भू के रिवाज के अनुसार निश्चित पवित्र पर्वों पर छुट्टी का अधिकारी था।

पूर्ण आसामी के पास खुले खेतों में प्रायः तीस एकड़ अर्थात् प्रत्येक खेत में १० एकड़ भूमि होती थी जिसे 'विरगेट' या 'यार्डलैण्ड' कहते थे और इसीलिए उसको साधारणतः 'विरगेटर' या 'यार्डलिंग' कहा जाता था। अर्द्ध आसामी के पास पन्द्रह एकड़ होती थी जिसे 'बोवेट' या 'ओक्स गैन्ग' कहते थे। हालियों के पास बहुत कम—एक से पांच एकड़ तक—होती थी। खेत प्रायः पैतृक होते थे। मध्य युग के बाद के दिनों में खेत इतने व्यवस्थित नहीं थे परन्तु उनका आकार प्रारम्भिक विरगेट के सरल अनुपात में होता था, उदाहरणार्थ २२½ एकड़, ३७½ एकड़, ४५ एकड़ इत्यादि। अत्यधिक उपविभाजन को हतोत्साहित किया जाता था। स्वामी का हित इसी में था कि खेत अक्षुण्ण रहें ताकि उत्तरदायित्व लागू करने में सुगमता रहे, बहुत छोटे खेत वाले आसामी को, यदि वह बैलों को नहीं रख सकता था, हल जोतने में कठिनाई होती थी।

आसामी को अपने स्वामी की रिवाजी सेवाएँ करनी पड़ती थीं; उसको स्वामी की भूमि पर प्रत्येक सप्ताह दो या तीन दिन काम करना पड़ता था। प्रति सप्ताह काम के दिनों की संख्या स्वामि-भू से स्वामि-भू में अलग-अलग थी। किन्तु संभव है कि साधारण संख्या तीन थी, सिवाय सम्राट् की स्वामि-भू में जहां यह साधारणतः दो थी। इङ्गलैण्ड में विरले ही दासों को सप्ताह में तीन दिन से अधिक नौकरी देनी पड़ती थी[1] यद्यपि यूरोप के कुछ भागों में दासों को अपने स्वामियों के लिए सप्ताह में छः दिन भी काम करना पड़ता

---

१. उदाहरण ज्ञात है जहां पर आंगल दासों के अपने स्वामियों के लिए सप्ताह में चार या पांच दिन भी काम करना पड़ता था परन्तु ये अपवादस्वरूप हैं।

था । आसामी के द्वारा अर्पित की गई सेवाओं की प्रकृति अनिश्चित है । उससे हल चलाने, बीज छांटने, फसल काटने, गाड़ी, चलाने, लकड़ी काटने, भेड़ों को धोने या ऊन कतरने, बाड़ की मरम्मत करने या स्वामि-भू की खेती मे सम्बंधित कोई अन्य कार्य लिया जा सकता था । हल चलाने के लिए उसको अपनी बैलों की जोड़ी लानी पड़ती थी । एक एकड़-पाटी को हांकना एक दिन का काम माना जाता था और साधारण "काम" कहलाता था । इसमें सदा पूरा दिन नहीं लगता था और जब यह पूरा हो जाता तब आसामी अपने खेत को वापस जाने को स्वतन्त्र होता था । यह संभव है कि उसको अपना सप्ताह का काम करने के लिए अपना सहायक भेजने की अनुमति थी, वह अपना प्रतिनिधित्व करने के लिए अपने पुत्र को या किसी मजदूर को भेज सकता था । वर्ष भर में काम के दिनों में जैसे बीज छांटने या फसल काटने के समय आसामी को अतिरिक्त कार्य करना पड़ता था जिसको उपहार-कार्य कहते थे । यह उसको स्वयं करना पड़ता था क्योंकि ऐसे समय स्वामि-भू का लगभग प्रत्येक व्यक्ति स्वामि-भू की नौकरी में होता था । उपहार-दिवस पर आसामी की पत्नी के सिवाय उसके परिवार के सब सदस्यों को उसके साथ स्वामी की भूमि पर उपस्थित होना पड़ता था । उपहार श्रमिकों को भोजन स्वामी की ओर से दिया जाता था । इसके अतिरिक्त आसामी को अपने काम से छुड़ा कर स्वामी के लिए गाड़ी हांकने को बुलाया जा सकता था, परन्तु इसकी मात्रा और वर्ष भर में उपहार-दिवसों की संख्या रिवाज से निश्चित थी । अन्ततः आसामी को जिन्स या मुद्रा में स्वामी को कुछ देना पड़ता था—मिचेलमस (Michaelmas) पर एक कलहस, ईस्टर (Easter) पर अण्डे इत्यादि । ये छोटे उत्तरदायित्व स्वामि-भू से स्वामि-भू में अलग-अलग थे ।

आसामी को अनेक अयोग्यताएँ सहन करनी पड़ती थीं । वह स्वामी की आज्ञा के बिना, जो साधारणतः नहीं दी जाती थी, स्वामि-भू छोड़कर नहीं जा सकता था और यदि वह भाग गया तो पीछा करके और कैद करके वापस लाया जा सकता था । यदि वह किसी कारण स्वामि-भू को छोड़कर अन्यत्र रहता था तो सेवाएं अर्पित करते रहने पर भी उसको स्वामी की स्वीकृति प्राप्त करनी पड़ती थी और इसके लिए उसको एक चुकारा करना पड़ता था जिसको 'चेवेज' (प्रवास-दण्ड) कहते थे । उसको अपना अनाज गाँव की चक्की

पर पिसाना पड़ता था जिसका मालिक भू-स्वामी होता था और जिसको चक्की वाला भाड़ा चुकाता था; स्वामी को दासों की तलाशी लेकर उनके चक्की के पाट जब्त करने का अधिकार था। स्वामी की अनुमति के बिना आसामी न बैल और न घोड़ा बेच सकता था। न वह और न उसका पुत्र पढ़ सकते थे।[१] (शिक्षा केवल उन लोगों तक सीमित थी जो पादरी बनने की महत्वाकांक्षा रखते थे। किन्तु पादरी स्वतन्त्र मनुष्य थे और यदि कोई आसामी पादरी नियुक्त कर दिया जाए तो उसका स्वामी उसकी सेवाओं से वंचित हो जाएगा) जब आसामी की पुत्री का विवाह होता था तो स्वामी को विवाह-दंड (Merchet) चुकाना पड़ता था।[२] जब आसामी की मृत्यु हो जाती थी तो उसका पुत्र जुर्माना चुकाए बिना उसकी भूमि का उत्तराधिकारी नहीं हो सकता था और न (उत्तराधिकार-कर) हेरियट (heriot) (एक प्रकार का कर जिसमें स्वामी को आसामी की पशुशाला में से सर्वोत्तम पशु लेने का अधिकार होता था) चुकाए बिना उसकी अन्य सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हो सकता था। आसामी अपने स्वामी पर सम्राट के न्यायालय में अभियोग नहीं चला सकता था। (सिवाय उसके "वेनेज" (Wainage) के विषय जिसमें संभवतः उसके खेती के सब औजार और संभवतः फसल भी संयुक्त थे) और वह स्वामि-भू के न्यायालय के अधीन था। अन्ततः, स्वामी अपने आसामियों पर कर लगा सकता था परन्तु उसको महाद्वीपीय सामन्तों की भाँति अपने दासों के जीवन-मरण के अधिकार नहीं थे।

हाली या कुटीरवासी वे दास थे जो वैधानिक स्थिति में तो नहीं परन्तु आर्थिक स्थिति में आसामियों से नीचे थे। देश के कुछ भागों में इनको 'बोर्डर्स' (हाली)

---

१. लेकिन १४०६ की शिल्पियों की विधि से यह नियम बना दिया गया था कि "प्रत्येक स्त्री-पुरुष, चाहे किसी स्थिति में हो, अपने पुत्र या पुत्री को राज्य में अपनी इच्छानुसार किसी पाठशाला में भेजने को स्वतन्त्र होगा।'

२. कुछ स्वामि-भूमियों में यह दण्ड केवल तब ही देना पड़ता था जब कि कन्या का विवाह किसी अन्य स्वामि-भू के आदमी से होता था। कभी-कभी यह आसामी के पुत्र के विवाह के अवसर पर भी मांगा जाता था।

और अन्य भागों में 'कोटर्स' (कुटीरवासी) कहते थे। [1] कुछ यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि ये शब्द विभिन्न श्रेणियों के लिए प्रयोग किए जाते थे और हाली कुटीरवासियों की अपेक्षा अच्छे थे। परन्तु यह सम्भव है कि ऐसी एक ही श्रेणी थी और यद्यपि यह सिद्ध करना कठिन है तथापि ये दोनों शब्द पर्यायवाची माने जा सकते हैं। हालियों के पास न बैल होते थे और न हल ही उनके पास आसामियों की अपेक्षा कम भूमि होती थी, [2] और उनको सप्ताह में केवल एक दिन स्वामी के लिए कार्य करना पड़ता था। अतएव उनको कभी-कभी सोमवारी आदमी कहा जाता था। यह स्पष्ट है कि उनके पास खेती के लिए अपनी भूमि कम होने और स्वामी के प्रति उत्तरदायित्व कम होने के कारण उनको कुछ अवकाश था जिसमें वे मजदूरी पर काम कर सकते थे। वे इस प्रकार स्वामी के यहां या अधिक सम्पन्न आसामियों के यहां नियुक्त हो जाते थे और खेतीहर मजदूरों के स्रोत के रूप ही में वे आर्थिक और ऐतिहासिक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। स्वामि-भू के शिल्पी भी, बढ़ई, पहिया बनाने वाला, लोहार और दूसरे, इसी वर्ग में से आते थे। ऐसे कर्मियों को समाज को अपनी सेवाओं के बदले में उत्पत्ति की निश्चित मात्रा मिलती थी। यह भी जोड़ा जा सकता है कि आसामियों के सम्बन्ध में उपर्युक्त वर्णित प्रतिबन्ध और उत्तरदायित्व हालियों पर भी समान रूप से लाग थे।

एक दास के लिए अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करना शक्य था। स्वामि-भू का स्वामी दास को स्वतंत्रता प्रदान कर सकता था, यद्यपि वह ऐसा बहुत कम करता था। बहुधा छुटकारा ख़रीद कर प्राप्त किया जा सकता था। कठोर वैधानिक दृष्टि से आसामी की सारी सम्पत्ति पर स्वामी का अधिकार माना जाता था ताकि जो आदमी अपनी स्वतन्त्रता खरीदने के लिए यथेष्ट मुद्रा संचित कर लेता था स्वामी उसकी मुद्राएं लेकर छुटकारा देने से इन्कार कर

१. कभी-कभी कहा जाता है कि हालियों के पास पांच एकड़ भूमि होती थी और कुटीरवासी भूमि-हीन लोग थे जिनके पास केवल अपनी कुटियाएं थीं। किन्तु ऐसे प्रमाण विद्यमान हैं कि कम से कम कुछ कुटीरवासियों के पास भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े थे।

२. यह अनिश्चित है कि क्या हालियों के छोटे-छोटे खेत खुले मैदानों में होते थे। विनोग्रेडोफ ऐसा नहीं मानता; एशले का मत विपरीत है।

सकता था । किन्तु ऐसा बहुत कम होता था और किसी तीसरे आदमी, जैसे कि गांव के पादरी, के पास मुद्राएं जमा करके इसकी पुनरावृत्ति का भय न्यूनतम किया जा सकता था । यदि कोई आसामी बड़े पादरी द्वारा नियुक्त किया जाता था तो वह स्वतन्त्र हो जाता था । और यद्यपि स्वामि-भू छोड़ कर भाग जाने वाला आसामी पीछा करके जबरदस्ती वापस लाया जा सकता था, यह एक वर्ष और एक दिन के भीतर करना पड़ता था । यदि वह इस अवधि से अधिक स्वतन्त्र रह जाता तो वह वापस नहीं लाया जा सकता था ।

जो कुछ लिखा गया है उससे कल्पना की जा सकती है कि दासों की स्थिति सुखदायक नहीं थी । फिर भी व्यवहार में उन पर अनुचित दमन नहीं किया जाता था । उनका जीवन-स्तर वर्तमान श्रमिक वर्गों की तुलना में निम्न था । फिर भी वे उन दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं के शिकार नहीं थे जिनका प्रभाव आज के श्रमिक के आराम पर पड़ता है । बेकारी का भय नहीं था और न वृद्धावस्था और न बीमारी ही उनके लिए आर्थिक संकट थे । यदि कोई आसामी छोटे बच्चों को उत्तराधिकारी छोड़ कर मर जाता तो भी खेत हाथ से नहीं जाता था । उसकी विधवा को, प्रायः परिवार स्वामी की जो भी सेवाएं कर सकता था उनके बदले में, खेत रखने की अनुमति दे दी जाती थी । एक दास स्वामि-भू छोड़ कर नहीं जा सकता था, परन्तु वह छोडना भी बहुत ही कम चाहता था । आसामी की स्थिति सर्वथा अपमानजनक नहीं थी, क्योंकि वैधानिक दृष्टि से, अपने स्वामी के सम्बन्ध को छोड़कर, एक दास के साथ एक स्वतंत्र मनुष्य का बर्ताव किया जाता था । अपने दासों को सताना स्वामी के हित में नहीं था । जो स्वामी रिवाज की परवाह नहीं करता था और अपने वैधानिक अधिकारों पर अत्यधिक कठोरतापूर्वक जोर देकर अपने अधीन लोगों को सताता था उसको अपनी करनी का फल स्वयं भोगना पड़ता था, क्योंकि स्वामि-भू की सम्पन्नता सन्तुष्ट दासों के अस्तित्व पर निर्भर करती थी जो आवश्यक श्रम की पूर्ति करते थे ।[1]

---

१. रूस में अलैग्जेन्डर द्वितीय द्वारा दासों की मुक्ति करने से पूर्व इस बात का महत्व पूर्णतः स्वीकार किया जाता था । बड़े भू-स्वामी अपनी जागीरों का विस्तार बतलाते समय सदा उनमें निवास करने वाली "आत्माओं" की संख्या बतलाया करते थे ।

कई स्वामि-भूमियों पर, विशेषतः पूर्वी जिलों में, कई "स्वतंत्र मनुष्य" थे।[1] इनको डूम्सडे और अन्य अभिलेखों में प्रजाजन (सोकमैन) या "स्वतंत्र मानव" कहा गया है। आजकल इनको प्रायः मित्र वर्ग माना जाता है, यद्यपि यह किसी कारण से निश्चित नहीं है। यह कहा गया है कि "स्वतंत्र मानव" प्रजाजनों से ऊँचे थे क्योंकि प्रजाजनों को स्वामी की अनुमति के बिना भूमि बेचने का अधिकार नहीं था और वे स्वामि-भू के न्यायालयों में उसके अधीन थे जब कि "स्वतंत्र मानवों" को इन बातों में पूर्ण स्वतंत्रता थी। किन्तु विपरीत उदाहरण भी मिलते हैं, और इनमें ठीक ठीक अन्तर का प्रश्न अनिश्चित है। स्वतंत्र मनुष्यों को अपनी भूमि के लिए स्वामी को लगान देना पड़ता था और यह मुद्रा, जिन्स या श्रम में हो सकता था।[2] उन पर आसामियों की भाँति दंड भी किया जा सकता था और उत्तराधिकार के समय "हेरियट" (उत्तराधिकार कर) भी लिया जा सकता था। इसलिए दासों और स्वतंत्र मनुष्यों का अन्तर बतलाना कठिन है परन्तु यह कहा जा सकता है कि स्वतंत्र मनुष्य अपना खेत और स्वामि-भू छोड़ सकते थे, स्वामी पर अभियोग चला सकते थे और साधारणतः उनसे विवाह-दंड (merchet) नहीं लिया जाता था।[3] इन वर्गों

---

१. ये स्वतंत्र व्यक्ति उन डेनमार्क के प्रवासियों की सन्तान थे जिन्होंने अपनी स्वतंत्रता की रक्षा की थी या वे ऐसे मनुष्य (या ऐसे मनुष्यों की सन्तान) थे जिनको विशेष सेवाओं के बदले में भूमि प्रदान की गई थी। डूम्सडे में १२,००० "स्वतंत्र मानवों" के अतिरिक्त २३,००० प्रजाजनों का वर्णन है। "स्वतंत्र मानव" नोरफोक, सुफोक और ईसैक्स जिलों के बाहर कठिनाई से मिलते हैं।

२. स्वामि-भू के एक स्वतंत्र मनुष्य के श्रम-लगान और दास की बेगार के काम में प्रधान अन्तर इसकी प्रकृति और मात्रा दोनों की निश्चितता है। साधारणतः यह भूमि के मूल्य के अनुपात में मात्रा में बहुत कम होता था।

३. आसामीपन की साधारण कसौटी "मरचेट" (विवाह-दंड) और "चेवेज" (प्रवास-दंड) की देनदारी, स्वामी कि इच्छा पर "टेलेज" (कर) देना, स्वामी की अनुमति के बिना बैल नहीं बेच सकता, नौकरी की देनदारी और अनिश्चितता—आसामी किसी भी दिन यह नहीं जानता था कि उससे कल क्या काम कराया जाएगा—थे। केवल 'मरचेट' (विवाह-दंड) की देनदारी ही आसामीपन की अपवादरहित कसौटी नहीं थी क्योंकि यह जो लोग निश्चित रूप से आसामी थे उनमें सार्विक नहीं थी और दूसरी ओर प्रजाजनों में भी अज्ञात नहीं थी।

में अन्तर बतलाने की कठिनाई इस तथ्य से भी बढ़ जाती है कि आसामी के दर्जे का मनुष्य ऐसी भूमि भी रख सकता था जिसके लिए उसको लगान देना पड़ता था और स्वतंत्र मनुष्य भी आसामी की तरह खेती करते थे और फिर भी अपना स्वतंत्र दर्जा बनाए रखते थे। अपेक्षाकृत सम्पन्न आसामियों और स्वतंत्र मनुष्यों की आर्थिक स्थिति अन्तर-रहित थी।

स्वामि-भू के न्यायालयों का प्रसंग ऊपर आ चुका है। ये भू-स्वामी उसके कामदार[1] द्वारा वर्ष में दो या तीन बार या कभी कभी और अधिक बार लगाए जाते थे और स्वामी के अधीन सब लोगों को इनमें उपस्थित रहना पड़ता था। छोटे अपराधों के लिए सजा दी जाती थी, भूमि का हस्तान्तरण और उत्तराधिकार न्यायालय की पंजी में लिखे जाते थे, कर्त्तव्य की उपेक्षा करने और रिवाज को तोड़ने पर जुर्माने वसूल किए जाते थे। इन न्यायालयों के निर्णय स्वामि-भू के रिवाजों पर आधारित थे और किसी झगड़े के विषय पर क्या रिवाज था इसकी घोषणा करने के लिए जूरी बैठाए जा सकते थे।[2]

आरम्भ में स्वामि-भू की कृषि द्वि-खेत व्यवस्था के अधीन की जाती थी, कालान्तर में त्रि-खेत व्यवस्था ने इस का स्थान ले लिया। इस बाद की व्यवस्था के अन्तर्गत हर वर्ष दो खेतों पर खेती की जाती थी और एक परती रखा जाता था, त्रिवर्षीय चक्कर में प्रत्येक खेत को एक वर्ष का विश्राम मिल जाता था। पहले खेत पर निवारिका (rey) या गेहूँ पैदा किया जाता था; दूसरे पर जौ, जविका (oat) या सेम। लौंग, आलू, जमीकन्द जैसे शलजम आदि अज्ञात थे। गेहूँ या निवारिका शरद ऋतु में बोई जाती थी और आगामी ग्रीष्म ऋतु में काट ली जाती थी; जौ बसन्त में बोए जाते थे और शरत्काल में काट लिये जाते थे।

---

१. जिस स्वामी के बहुत सी स्वामि-भूमियाँ होती थीं वह समय समय पर उनका दौरा करने के लिए एक कामदार (Steward) रखता था। मुख्तार के हिसाबों को जाँच करने के अतिरिक्त स्वामि-भू के न्यायालय में बैठना और न्यायालय की पंजी में लिखना उसके कर्त्तव्यों में सम्मिलित थे।

२. ऐसा मालूम होता है कि स्वामि-भू के न्यायालयों की कार्यवाही में आसामियों की सेवाएँ अधिक निश्चित करने की प्रवृत्ति थी।

इस प्रकार गेहूँ की फसल जौ की फसल के पहले होती थी। गेहूँ और जौ हँसिया[1] से काटे जाते थे और अधिकांश तिनके खेत में खड़े रहने दिए जाते थे। उत्पत्ति बहुत कम होती थी और प्रति एकड़ छः से आठ बुशल से अधिक नहीं होती थी। खाद देने की प्रथा अज्ञात थी।

गेहूँ की फसल इकट्ठी करने के बाद खेत खुला छोड़ दिया जाता था ताकि मवेशी पौधों की खूँटियां या घास-पात आदि चर सकें। कर्षित भूमि पर फसल काटने के बाद चरने को मिचेलमस-घास कहते थे। चरागाह पर भी घास काटने के बाद मवेशी चराए जाते थे; इस को लामाज-घास कहते थे। कर्षित भूमि पर मवेशी चराने का गाँव वालों का अधिकार फूहड़ का साधारण अधिकार कहलाता था।

साथ में दिए हुए चित्र पर विचार करने से प्रकट होगा कि त्रिवर्षीय काल में वास्तव में भूमि पर लगभग अठारह महीनों तक खेती होती थी। क्या फसल बोई जाएगी और कब बोई तथा काटी जाएगी आदि बातें रिवाज से निर्धारित थीं और सब पार्टी वालों से ऐसा ही करने की आशा की जाती थी; कम से कम इस बात में रिवाज इतना प्रबल था कि यह कल्पना की जा सकती है कि वे कभी इसके विपरीत जाने की नहीं सोचते थे।

हवाले की फसल का मालिक भू-स्वामी होता था, जो, यदि उसके अनेक स्वामि-भूमियां होतीं, अपने अनुचरों के साथ उसका उपभोग करने को आ सकता था। अन्यथा यह स्वामि-भू-भवन भेज दी जाती थी और यदि स्वामी का वहां निवास होता तो वह, उसका परिवार और उसके निकट आश्रित व्यक्ति इसका उपयोग करते थे। यदि उसका निवास अन्यत्र होता तो यह उसको भेजी जा सकती थी, इसको आसामियों को ले जाना पड़ता था, या यह निकट के नगर की मण्डी में बेची जा सकती थी। अपनी स्वामि-भूमियों की पैदावार की बिक्री से प्राप्त मुद्रा से बड़े भू-स्वामी को आय होती थी और सम्राट् की आय का बड़ा भाग भी इसी प्रकार प्राप्त होता था।

---

1. घास हँसुए से काटी जाती थी।

सबसे महत्त्वपूर्ण और सबसे कठिन कृषि क्रिया हल चलाने की थी। बड़ा हल आठ बैलों के दल द्वारा खींचा जाता था; छोटे हल के लिए चार बैल यथेष्ट होते थे। यह संभव है कि बड़ा हल नई भूमि तोड़ने के काम में लिया जाता था। और छोटे वाला पहले से कर्षित भूमि को ।मिट्टी पलटने के लिए। दूसरा मत यह है कि बड़ा हल हवाले पर काम लिया जाता था और छोटा हल आसामी की भूमि पर। क्योंकि साधारण आसामी के पास बैल की एक जोड़ी
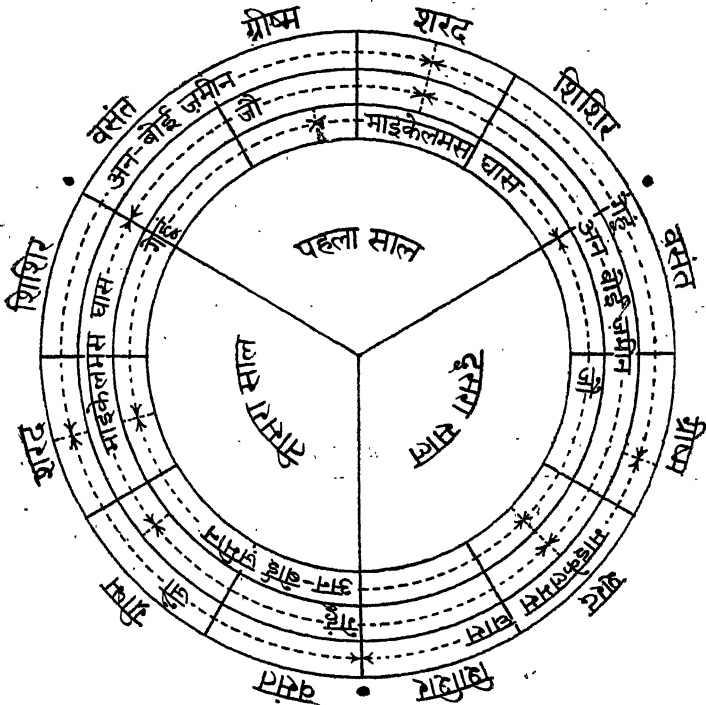
होती थी इसलिए हल चलाने में लोगों को सहयोग करना होता था। परती भूमि पर कर्षित भूमि की अपेक्षा अधिक हल जोता जाता था, इसकी मिट्टी एक वर्ष में दो बार और संभवतः तीन बार उलटी जाती थी।

स्वामि-भू के पशु आज की पशुशालाओं के पशुओं की तुलना में छोटे और निकृष्ट थे। कुपोषण, छुआछूत के रोगों के प्रचलन और नस्ल सुधार के अभाव में सुधार रुका हुआ था। बैल दुबले और पुष्ट थे: उनका मूल्यांकन उनकी खींचने की शक्ति से होता था न कि मांस की मात्रा से। भेड़ों में एक प्रकार का रोग हो जाता था जिसको खुट्टी कहते हैं जिससे कई मर जाती थीं और स्वस्थ पशु भी एक से डेढ़ पौंड से अधिक ऊन नहीं देते थे। सुअर और मुर्गे-मुर्गियां बहुत थे। स्वामि-भू पद्धति के अन्तर्गत पशुओं को सरदी भर खिलाने-पिलाने की समस्या कभी यथेष्ट रूप से हल नहीं हुई थी। वर्ष में कई महीनों तक जानवरों को केवल थोड़ी सूखी घास ही का भोजन उपलब्ध होता था। शरद ऋतु में अतिरिक्त पशु मार डाले जाते थे ताकि शेष मवेशियों को भोजन की अतिरिक्त पूर्ति की जा सके। मारे हुए पशुओं का मांस नमक लगाकर रखा जाता था ताकि शरत्काल में भोजन का काम दे सके। परन्तु नमक सीमित और मँहगा था और माँस का बहुधा अपूर्ण संरक्षण किया जाता था। बिगड़े हुए मांस को स्वादिष्ट बनाने के लिए पूर्व से आयात किए गए गरम मसाले प्रयोग किए जाते थे। (पश्चिमी और केन्द्रीय यूरोप में सर्वत्र गरम मसालों की मांग ने वेनिस्क और बाद में इगंलिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सम्पन्नता की नींव डाली थी।)

स्वामि-भू का प्रबन्ध मुख्तार (bailiff) के हाथों में था जिसका काम दासों के उत्तरदायित्व निभवाना था। इस कार्य में गाँव का सहना (reeve) और बीड़ का सहना (hayward) उसकी सहायता करते थे। ये आसामी दर्जे के आदमी होते थे जिनको साधारण नीच कार्यों से छुट्टी दे दी जाती थी ताकि वे निरीक्षण कार्य में मुख्तार के साथ काम कर सकें। गाँव का सहना सप्ताह-कार्य में लगे हुए दासों पर नियंत्रण रखता था; बीड़ का सहना उपहार-कार्य पर ध्यान देता था और जंगलों तथा चरागाहों का प्रबन्ध करता था। छोटी स्वामि-भू पर कोई गाँव का सहना नहीं होता था। मुख्तार को हिसाब रखने पड़ते थे और समय समय पर जब स्वामी का कामदार स्वामि-भू का दौरा करता था इस अधिकारी के निरीक्षण के लिए अपनी बहियाँ अर्पित करनी पड़ती थीं।

इस अध्याय को समाप्त करते समय स्वामि-भू पद्धति की अनिवार्य विशेषताओं का संक्षिप्त वर्णन करना ठीक होगा। सबसे पहले, अपने प्रचलन के समय और क्षेत्र में यह सार्विक थी। भूमि के ऐसे भागों को छोड़ कर जो जंगली और बीरान थे यह सारे देश में फैली हुई थी; इसके साथ-साथ और कोई पद्धति नहीं थी।[1] मध्यकालीन नगर भी केवल अधिक विकसित स्वामि-भूमियाँ थे। दूसरे, स्वामि-भूमियों के संगठन और कार्य-प्रणाली में बहुत समानता थी। रिवाज और व्यवहार की तफसील में वास्तव में असीमित विभिन्नता थी, परन्तु संगठन की मुख्य बातों में सब स्वामि-भूमियाँ बहुत कुछ समान थीं। स्वामि-भू का मालिक एक भू-स्वामी होता था जिसको निवासियों पर निश्चित अधिकार प्राप्त थे। देश के अधिकाँश भाग में यह प्राथमिकतः कृषि के लिए संगठित थी और कृषि खुला-खेत पद्धति के अनुसार की जाती थी। कृषि जीविका के लिए की जाती थी न कि बिक्री के लिए, यद्यपि उत्तर मध्यकाल में अतिरिक्त उत्पत्ति का कुछ भाग बेचा जाता था। स्वामि-भू का उद्देश्य स्वावलम्बन था और यह आदर्श परिस्थिति के अनुसार न्यूनाधिक अंश तक प्राप्त हो जाता था। स्वामि-भू का प्रधान सिद्धान्त रिवाज था, किन्तु यद्यपि रिवाज शक्तिशाली था यह सर्व-शक्तिमान नहीं था। अन्तिम, और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस पद्धति की मूल विशेषता स्वामी के हवाले पर दासों के श्रम से खेती की थी। जब तक यह चली स्वामि-भू पद्धति अपरिवर्तित रही; जब कृषि की यह प्रणाली समाप्त हो गई सच्चे अर्थों में स्वामि-भू पद्धति का अन्त हो गया।

स्वामि-भू पद्धति के दोष देखना और बढ़ाकर कहना सरल है। रिवाज द्वारा नियंत्रित सामुदायिक कृषि मे बुद्धिमान और साहसी आदमियों द्वारा प्रयोग करने में रुकावट पड़ती थी। सब को रिवाज के अनुसार काम करना पडता था और सुधार असंभव था। भूमि घास-फूस से साफ नहीं की जा सकती थी क्योंकि यह आलसी व्यक्तियों की पाटियों से परिश्रमी लोगों की पाटियों में फैल जाते थे। सीमा सम्बन्धी झगड़े साधारण थे, पड़ोसियों पर मेड काटने के लांछन लगाए जाते थे। एक पाटी से दूसरी पाटी को जाने में समय नष्ट होता

---

१. हाल की जाँच से इस नतीजे पर कुछ सन्देह होने लगा है।

था। फिर भी यह पद्धति समय की आवश्यकताओं के अनुकूल था। भोजन उत्पन्न किया जाता था और ग्रामीण लोग साधारण आराम से जीवन व्यतीत करते थे। खुले-खेतों की खेती का तरीका, हालांकि दासों के श्रम से नहीं, देश के कुछ भागों में उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक रखा गया। संभवतः इसके बने रहने का प्रधान कारण इसके स्वाभाविक गुण नहीं होकर इसको बदलने की कठिनाई थी। यह इसकी उपयोगिता से अधिक जीवित रही और एक कण्टक बन गई; फिर भी एक पद्धति जिसने कई शताब्दियों तक देश की सेवा की उसमें अवश्य बहुत कुछ सराहनीय होगा और इसकी अति शीघ्र निन्दा नहीं की जानी चाहिए।

दूसरा अध्याय

'मध्य-युग में नगर और व्यापार'

मध्य-युग में इंगलैंड के नगर न बहुत बड़े ही थे और न संख्या में ही अधिक थे।[1] मध्यकालीन लंदन की जनसंख्या २५,००० से ३०,००० तक होने का अनुमान लगाया जाता है और योर्क तथा ब्रिस्टल ही केवल ऐसे नगर थे जिनमें १०,००० से अधिक मनुष्य रहते थे। कुछ और नगर ऐसे थे जिनकी संख्या ५,००० से १०,००० तक थी, शेष बहुत छोटे थे और कुछ तो ऐसे थे कि जिनके निवासियों की संख्या हजारों में न होकर सैकड़ों में गिनी जाती थी। कुछ स्थानों का आकार आधुनिक नगरों के समान न होकर बड़े गांवों के समान था और कुछ अन्य बातों में भी वे शहरी न होकर देहाती थे। अधिकांश मध्य-कालीन नगर वास्तव में केवल ग्रामीण स्वामि-भूमियाँ[2] थीं जिनमें किसी कारण से कुछ और लोग आकर बस गये थे और कुछ शहरी विशेषताएं उत्पन्न हो गई थीं परन्तु शताब्दियों तक उनमें ग्रामीण चिह्न बने रहे।

विभिन्न कारणों से देहाती गांव बढ़ कर नगर बन गए और प्रायः अनेक अनुकूल परिस्थितियों के कारण नगरों का विकास हुआ। रोम काल के ब्रिटेन

---

१. यह अनुमान लगाया गया है कि डूम्सडे (Domesday) में लगभग अस्सी नगरों का वर्णन है। इनमें सन् १३७७ में लगभग चालीस नगर ऐसे थे जिन की जनसंख्या एक हजार से अधिक थी।

२. शहरी विकास में निम्नांकित अवस्थाएं पाई जाती हैं—

(क) बड़े गांव जिनमें कुछ ऐसे व्यक्ति हों जिनका खेती से कोई सम्बन्ध न हो।

(ख) यथेष्ट जनसंख्या और सम्पत्ति जिससे पुर-निवासी भू-स्वामी से अधिकार पत्र प्राप्त कर सके। वणिक श्रेणी की स्थापना।

(ग) अधिक उन्नति और संगठन में अधिक पेचीदगी। शिल्प श्रेणियों की स्थापना।

(घ) पूंजीवादी उद्योगों का विकास और श्रमिक वर्गजन्म।

में भी नगर विद्यमान थे और यद्यपि सैनिक टुकड़ियों के प्रस्थान के पश्चात् उत्पन्न होने वाली गड़बड़ में अनेक नगर नष्ट हो गये या उन्हें भारी क्षति पहुँची तथापि जिन कारणों से रोम वालों ने नगर बसाने के लिए कोई स्थान चुना उन कारणों के पीछे आने वाली जातियों पर भी प्रभाव पड़ा। इसलिए रोमकाल के नगरों के स्थान पर ही या उनके समीप नए नगर बसाए गए। भवन निर्माण की सामग्री उपलब्ध होने से भी सेक्सन और रोमन लोगों को इन स्थानों पर अपने गिरजाघर और किले बनाने का अतिरिक्त आकर्षण हुआ।

कई दूसरे नगरों की जगहों पर उनकी स्थिति का बड़ा प्रभाव पड़ा। दो सड़कों के मिलने या एक सड़क और नदी के मिलने या दो नदियों के संगम के कारण आभ्यन्तरिक व्यापार के लिए अनुकूल स्थिति मिल गई। जहां अच्छे बन्दरगाह थे वहां भी तटीय नगर (पत्तन) बस गए। बहुधा जो पत्तन समुद्र तट पर नहीं थे वे नदी के किनारे ऐसे स्थान पर स्थित थे जो तत्कालीन नौकाओं के लिए नौतरण का केन्द्र था। जो पत्तन इस प्रकार समुद्र तट से पन्द्रह बीस मील दूर था उस पर समुद्री आक्रमण का भय कम रहता था और ऐसी स्थिति अन्तर्देशीय स्थानों में वस्तुएं संग्रह करने और वितरण करने में अनुकूल रहती थी।

कई नगर किसी बड़े गिरजाघर के निकट बस गए। इन नगरों के निवासी अधिकांश गिरजाघर में रहने वाले सन्तों या पादरियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने और यदि गिरजाघर में किसी प्रसिद्ध सन्त का मन्दिर होता तो यात्रियों की सुविधाएँ जुटाने में लगे रहते थे। कुछ नगरों का जन्म सम्भवतः इसलिए हुआ कि वहां समीपवर्ती ग्रामीण वर्ग के निवासियों के लिए विपत्ति काल में सुरक्षित स्थान मिल जाता था।

प्राचीन काल से नगर के कुछ निवासी व्यापार करते थे। वहां व्यापार की वस्तुएँ संग्रहीत की जाती थीं और नगर के चारों ओर मिट्टी या चूने-पत्थर

की दीवार[1] होती थी क्योंकि एक स्वामि-भू के चारों ओर पाए जाने वाले बाड़े नगर की सुरक्षा के लिए यथेष्ट नहीं होते थे। एक गांव (जिसे कभी कभी पुर भी कहते हैं) और एक नगर में यह अन्तर पाया जाता है कि नगर शब्द उस स्थान के लिए उपयुक्त होता है जो इतना बट गया हो कि उसके लिए किसी न किसी प्रकार की दीवार या परकोटा बनाया जा सके।

स्वामि-भू से बढ़कर नगर बन जाने से भू-स्वामी के अधिकारों का अन्त नहीं होता था परन्तु नगर के निवासी ग्रामीण स्वामि-भू के दासों की अपेक्षा संख्या और सम्पन्नता में अधिक होते थे और वे भू-स्वामी की आवश्यकताओं का लाभ उठा कर अपने लिए अधिकार प्राप्त कर लेते थे। जो नगर राजकीय क्षेत्र में होते थे वे प्रायः राजा से अधिकार-पत्र खरीद लेते थे क्योंकि राजा छोटे २ कस्बों के आभ्यन्तरिक मामलों में ध्यान देने की अपेक्षा युद्धों और धर्म-युद्धों के लिए धन संग्रह करने में अधिक रुचि रखता था। अन्य स्वामियों के अधीन नगर भी प्रायः ऐसा ही करते थे और उन्हें भी इसी प्रकार सफलता मिलती थी। धार्मिक भू-स्वामी अपने अधिकारों से अधिक चिपटे रहते थे और जो अभागे नगर किसी गिरजाघर या पादरी के अधीन होते थे वे अन्य नगरों की अपेक्षा नगर के स्वायत्त शासन से सम्बन्धित अधिकारों में अधिक पिछड़े हुए रहते थे।

नगर-वासियों के द्वारा अधिकार-पत्र प्राप्त करने का साधारण उद्देश्य बाह्य नियंत्रण से स्वतन्त्र होना था। सभी अधिकार जिन के लिए प्रयत्न किए जाते थे सदा एक ही अधिकार-पत्र के द्वारा प्रदान नहीं किए जाते थे। यह भी कल्पना नहीं करनी चाहिये कि सभी नगरों को समान अधिकार प्राप्त थे, फिर भी कई अधिकार साधारणतः सभी अधिकार-प्राप्त नगरों में समान रूप से पाए जाते थे। वे अपने कर सीधे राज्य कोष में जमा कराते थे न कि शेरिफ

१. आँगल सेक्सन 'टन' (Tun) शब्द जिससे 'टाउन' (Town) शब्द निकला है; बाड़ या बाड़ा का द्योतक है; जैसे—स्वामि-भू। 'बर' (Burh) जिससे बोरो (Borough) शब्द बना है का अर्थ परकोटा युक्त या सुरक्षित स्थान से होता है।

(Sheriff) के द्वारा[1] नगर द्वारा दी जाने वाली राशि निश्चित होती थी और इसे 'फर्माबर्गी' (Firma Burgi) कहते थे। प्रत्येक नगर में एक नगरीय न्यायालय होता था जो केवल वैधानिक मामलों मे ही सम्बन्ध नहीं रखता था लेकिन नगर के सभी मामलों का संचालन करता था। इसका अध्यक्ष 'मेयर' (Mayor) कहलाता था। नगरीय न्यायालय से दो लाभ होते थे, बाहर वाले नगर के मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे और जमीनों आदि से होने वाली आमदनी नगर में ही रहती थी। नगरीय अधिकार पत्रों में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकार भी स्पष्ट रूप से दिया जाता था परन्तु इस अधिकार का क्षेत्र भिन्न-भिन्न था। कुछ नगरों में यह सभी नगर-वासियों को प्राप्त था या उन सब को जो एक वर्ष और एक दिन के लिए नगर के परकोटे के अन्दर रह चुके हों (इस प्रकार शरणार्थी दास की स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली हो) कुछ नगरों में यह अधिकार केवल वणिक् श्रेणी सदस्य को प्राप्त था या और कोई दूसरी शर्त पूरी करने वाले लोगों तक ही सीमित था। वणिक् श्रेणी की स्थापना भी एक महत्त्वपूर्ण अधिकार था, इसका वर्णन आगे किया जावेगा। अन्तिम नगरीय अधिकार पत्र में कभी कभी मण्डी या मेला लगाने का अधिकार भी समाविष्ट होता था।

अधिकांश मध्यकालीन नगरों में मण्डियां होती थीं[2] किन्तु वे सदा नगर के नियंत्रण में नहीं होती थीं। मण्डी लगाने का अधिकार सम्राट् द्वारा प्रदान किया जाता था और यद्यपि यह बहुधा नगर के अधिकारियों को दिया जाता

---

१. 'शेरिफ' (Sheriff) का कार्य शायर (Shire) में रहने वाले लोगों से कर, लगान, इत्यादि संग्रह करके वेस्ट-मिनिस्टर के राज्य-कोष में जमा कराना होता था। प्रत्येक शायर से वसूल की जाने वाली रकम निश्चित होती थी और इसे शायर का 'कर' (Ferm) कहते थे। ऐसा विश्वास था कि शेरिफ लोग प्रायः इससे अधिक रकम इकट्ठी करते थे और अपने पास रख लेते थे। अतएव एक नगर के लिए शेरिफ के द्वारा कर नहीं देकर सीधा राज्य कोष में कर देना अधिक लाभप्रद होता था।

२. केवल मण्डी की स्थापना से ही नगर नहीं बन जाता और 'सम्मेलित नगरों' (Corporate towns) और 'मण्डी के नगरों' (Market towns) का अन्तर ध्यान देने योग्य है।

था तथापि कभी कभी किसी व्यक्ति विशेष को भी प्राप्त होता था। कोई कोई मण्डियां गिरजाघर के अधिकार में होती थीं और कभी कभी यह अधिकार सम्राट् स्वयं रखता था। मण्डियां उनके स्वामियों को लाभदायक थीं क्योंकि विक्रेताओं से और कभी कभी क्रेताओं से मार्ग-कर लिये जाते थे, थड़ियों और दुकानों पर भी कर होता था जिसे पण्य-कर (Stallage) कहते थे।[१] जिन दिनों वस्तुओं के विनिमय के अन्य अवसर बहुत कम मिलते थे मण्डियों का बड़ा महत्त्व था और इनके कारण साक्षियों की उपस्थिति में सौदा करने की मध्यकालीन-रीति में सुविधा रहती थी। इससे भविष्य में झगड़ा होने पर सौदे की शर्तों के सबूत में गवाह उपस्थित करने में सुविधा रहती थी। लंदन के अतिरिक्त जहां मण्डियाँ प्रत्येक दिन खुलती थीं, वे सप्ताह में एक दिन[२] लगा करती थीं और मण्डी का दिन प्रायः बदला नहीं जाता था। अनेक देहाती नगरों में आज तक मण्डी का दिन शताब्दियों से अपरिवर्तित चला आ रहा है।[३]

मेले, जो मण्डियों से भिन्न होते हैं, प्रति वर्ष लगा करते थे। कभी २ एक ही नगर में, एक ही वर्ष में, दो या अधिक मेले लगते थे, परन्तु वे एक दूसरे से भिन्न माने जाते थे और प्रत्येक वर्ष में एक ही बार उपयुक्त समय पर लगता था। जहाँ मण्डियां नगरवासियों और नगर के समीप रहने वालों की सुविधा के लिए होती थीं, मेलों में देश के सभी भागों से, कभी २ अन्य देशों से भी, दर्शक आते थे। वे प्रायः किसी सन्त के उत्सव के दिन आरंभ होते थे और मन्दिर के समीप लगते थे। सम्भवतः अनेक मेलों का प्रारम्भ सन्तों के मन्दिरों के दर्शनार्थ आने वाले यात्रियों के समूहों से हुआ होगा। प्रसिद्ध मन्दिरों

---

१. कभी कभी सरकार की ओर से तकों का प्रबन्ध होता था।

२. लिन्कन और कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण नगरों में मण्डियाँ एक दिन से अधिक लगती थीं।

३. समीपवर्ती नगरों में प्रायः भिन्न २ दिनों को लगा करती थीं। सम्भवतः इस रिवाज का उद्देश्य एक से अधिक मण्डियों के समीप रहने वाले लोगों को भिन्न मण्डी के दिनों भिन्न २ नगरों को जाने की सुविधा देना था।

की पूजा करने के लिए दूर २ से यात्री आते होंगे और सम्भवत: वे अन्य यात्रियों को बेचने के लिए वस्तुएं भी साथ में लाकर भक्ति और व्यापार दोनों एक साथ करते होंगे। इस प्रकार आरम्भ होने से, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि मेलों को गिरजाघरों द्वारा सुरक्षा और विशेष संरक्षण प्रदान किया जाता था। यद्यपि अनेक प्रसिद्ध मेलों का आरम्भ इस प्रकार हुआ, मेले लगाने का अधिकार सम्राट् द्वारा प्रदान किया जाता था; सम्भवत: इस प्रकार के अनेक अधिकार-पत्रों में पहिले से होने वाले जन-समूहों को केवल सरकारी मान्यता दे दी जाती थी।

साधारणत: मेलों में विविध प्रकार का व्यापार नहीं होता था; प्रत्येक मेले का संबंध मुख्यत. ऊन, खालें, वस्त्र, घोड़े इत्यादि किसी एक वस्तु से होता था। फिर भी अनेक मनुष्यों के एक ही स्थान पर एकत्रित होने से अन्य दिशाओं में व्यापार को प्रोत्साहन मिलता था। प्रत्येक मेले में खाद्य और पेय पदार्थों का बड़ी मात्रा में व्यापार होता था और वस्त्रों की तेजी से बिक्री होती थी। साथ ही ज्योतिषी, जादूगर, नट और मदारी अपने खेमे लगाए रहते थे और लोगों की भीड़ से लाभ उठाते थे।[1]

कोई २ मेला केवल एक दिन के लिए लगता था परन्तु साधारणत: यह एक सप्ताह तक चलता था और कभी २ यह अवधि बढ़ा दी जाती थी। मेले के दिनों में नगर के अधिकारी अपने अधिकार मेले के अधिकारियों के हाथों में सौंप देते थे जिससे नगर में व्यापार पर लगाए हुए साधारण प्रतिबन्ध उठा लिये जाते थे। शान्ति की स्थापना, व्यापार की शर्तों और झगड़ों के निपटारों के सम्बन्ध में घोषणा कर दी जाती थी। क्योंकि मेले में आने वाले दर्शक दूर दूर के भागों के होते थे इसलिए झगड़ों के निपटाने में तनिक भी विलम्ब होने का प्रभाव, न्याय के न मिलने के बराबर होता था। एक विशेष न्यायालय, जिसे "पाईपाउडर कोर्ट" (Piepowder Court) कहते थे अभियोगों का निपटारा करने के लिए स्थापित किया जाता था। इस प्रकार के न्यायालय योर्क, विन्चेस्टर, लीन, ब्रिस्टल जैसे दूर २ स्थानों पर लगते थे और सम्भवत:

१. मेलों का यह पहलू मनोरंजन और दिल बहलाव ही केवल आजकल के मेलों में रह गया है।

वे ही व्यापारी जो समय समय पर मेलों में जाते थे इनमें उपस्थित होते थे। अपने व्यापार की आवश्यकताओं के आधार पर उन्होंने व्यापारिक रीति-रिवाजों (व्यापार विधि) का एक ऐसा समूह निकाला जो व्यापारी समाज पर लागू माना जाने लगा यद्यपि यह किसी देश के परिनियम या साधारण नियम पर आधारित नहीं था।[1]

मध्यकालीन युग में मेले अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के महत्त्वपूर्ण साधन थे। इनसे दूर-दूर के देशों की वस्तुओं के यातायात में, जो अन्यथा उपलब्ध नहीं होती थीं, बड़ी सुविधा रहती थी। फिर भी अनेक मेलों के महत्त्व के बारे में अतिरंजित अनुमान लगाए जा सकते हैं। यद्यपि अनेक मेले लगते थे तथापि केवल कुछ ही अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त थे और सम्भवतः यह समझना कठिन है कि कुछ मेले इतने महत्त्वपूर्ण क्यों हो गए कि उनमें दूर-दूर से दर्शक आते थे और अन्य मेले केवल स्थानीय ख्याति वाले रह गए। सम्भवतः सबसे प्रसिद्ध मेलों का महत्त्व अंशतः उनकी स्थिति के कारण और अंशतः उनके लगने की तिथियों के कारण था और[2] निश्चय ही जो व्यापारी मेलों में जाते थे चारों ओर फिरा करते थे इसलिए जिन स्थानों की स्थिति सुविधा-जनक नहीं होती या जहां पर मेले असुविधाजनक समय पर लगते थे, उनमें बहुत कम दर्शक जाते थे।

प्राचीन काल से व्यापारियों का एक अलग सामाजिक और आर्थिक वर्ग था।[3] उनका उद्देश्य वस्तुओं का उत्पादन नहीं वरन् विनिमय करके

---

१. सन् १३५० के बाद पाइपाउडर न्यायालयों का महत्त्व कम हो गया और उनका स्थान स्टेपल (Staple) के न्यायालयों ने ले लिया।

२. इंगलैंड के सबसे प्रसिद्ध मेले निम्नलिखित थे—सेन्टईज, विन्चेस्टर, (सेन्ट जाइल्स) स्टूअर-ब्रिज और सेन्ट बर्थोलोम्यू, स्मिथ फील्ड।

३. विजय-पूर्वकाल में भी थोड़ा बहुत समुद्र-पार व्यापार होता था। इंगलैंड के नोर्मण्डी के साथ सम्बन्ध से दक्षिण-पूर्व और महाद्वीप के बन्दरगाहों के बीच व्यापार को प्रोत्साहन मिलता था। पूर्वी समुद्रतट के बन्दरगाह स्कैंडिनेविया और बाल्टिक सागर से व्यापार करते थे और चेस्टर तथा ब्रिस्टल आयरलैंड से मुख्यतः दासों का व्यापार करते थे।

जीविकोपार्जन करना या धन कमाना होता था और उनमें नगरों में रहने की स्वाभाविक प्रवृत्ति पाई जाती थी। केवल नगरों में ही व्यापारिक क्रियाओं के अवसर मिलते थे और केवल नगरों की चहारदीवारी के पीछे ही व्यापारियों की वस्तुओं की यथेष्ट सुरक्षा हो सकती थी।

सभी दिशाओं में मध्यकालीन जीवन सामुदायिक और सहकारी होता था।[1] अतएव यह स्वाभाविक था कि जो व्यापारी एक ही नगर मे रहते थे वे पारस्परिक लाभ, सुरक्षा और विशेष अधिकारों की प्राप्ति के लिए अपना एक संघ बना लें। ऐसे संघ को वणिक् श्रेणी कहते थे। प्रायः यह कल्पना की जाती है कि श्रेणी में नगर के सभी अधिकार-प्राप्त नागरिक सम्मिलित होते थे या, दूसरे शब्दों में, केवल श्रेणी के सदस्यों को ही नागरिक अधिकार प्राप्त होते थे। यह मानना ठीक होगा कि प्रत्येक नागरिक प्रवेश शुल्क देकर श्रेणी का सदस्य बन सकता था किन्तु सम्भवतः नगर में ऐसे लोग भी होते थे जिनको नागरिक अधिकार प्राप्त थे, परन्तु जो व्यापार नहीं करते थे और श्रेणी की सदस्यता के लिए प्रयत्न नहीं करते थे। साथ ही श्रेणियां ऐसे बाहर के व्यक्तियों को सदस्य बना लेती थीं जिनको नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं होते थे।

इस देश में नार्मन विजय से पूर्व वणिक् श्रेणियों के अस्तित्व का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है, परन्तु १२वीं और १३वीं शताब्दियों में इङ्गलैण्ड के अधिकांश नगरों में श्रेणियां पाई जाती थीं और वे नागरिक जीवन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग बन गई।[2] ऐसी कल्पना की जाती है कि इङ्गलैंड में इनका प्रारम्भ महाद्वीप पर चलने वाली एक पुरानी संस्था की नकल के रूप में हुआ था। इनके जन्म की यह व्याख्या अनावश्यक है; यह स्वीकार करना

---

१. श्रेणियां और अन्य प्रकार के भ्रात्र विशेष कर धार्मिक भ्रात्र इंगलैंड में प्राचीनकाल से विद्यमान थे और मध्यकाल में भी चलते रहे।

२. जिन नगरों में कोई वणिक् श्रेणी नहीं थी उनमें लन्दन चिन्क्यूबन्दर और सम्भवतः नोरविच और कोलचेस्टर सम्मिलित थे। लंदन और चिन्क्यू बन्दरों को प्राचीन काल से व्यापार के अधिकार प्राप्त थे अतएव उनके लिए श्रेणिक अधिकारों के लिए प्रयत्न करना अनावश्यक था।

यथेष्ट होगा कि इनकी स्थापना मध्यकालीन जीवन की प्रवृत्ति के अनुकूल थी और यह कल्पना की जा सकती है कि जिन कारणों से उनका महाद्वीप पर जन्म हुआ वे इस देश में भी समान रूप से प्रबल थे।

वणिक् श्रेणी के अधिकार एक अधिकार-पत्र द्वारा प्राप्त किए जाते थे जो कि सम्राट् या भू-स्वामी द्वारा प्रदान किया जाता था। साधारणतः श्रेणी के सदस्यों को पुर में व्यापार का एकाधिकार होता था।[1] केवल वे ही बिना मार्ग कर दिए हुए थोक या फुटकर क्रय-विक्रय कर सकते थे। किन्तु बाहर वालों को बहुधा नगर में थोक की बिक्री के लिए अनुमति दी जाती थी और मार्ग-कर देने पर[2] वे श्रेणी के सदस्यों को भी माल बेच सकते थे। परन्तु वे फुटकर बिक्री नहीं कर सकते थे और न गैर-सदस्यों से ही व्यापार कर सकते थे; ऐसी रियायतों से श्रेणी का एकाधिकार समाप्त हो सकता था।[3] पुरवासी जो श्रेणी के सदस्य न थे नगर में क्रय-विक्रय कर सकते थे। कभी कभी एकाधिकार के और भी अपवाद पाए जाते थे क्योंकि वणिक् श्रेणियों के अधिकार देश में सर्वत्र समान नहीं थे।

श्रेणी का आदर्श रूढ़ मूल्यों पर उचित व्यापार स्थापित करना और लागू करना था। और जो आचरण इस आदर्श के प्रतिकूल थे उनको निषेध करना या कम करना था। व्यापारी अपने वर्ग के अनुकूल सुविधाएं प्राप्त करने के लिए उचित लाभ ले सकता था लेकिन अत्यधिक लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करना ईसाई धर्म के अनुसार अनैतिक माना जाता था। क्रेता और विक्रेता दोनों के प्रति उचित व्यवहार करने के लिए न्यायोचित मूल्य में घटा-बढ़ी नहीं होनी चाहिए। अभाव के दिनों में मूल्य बढ़ाकर दूसरों की आवश्यकता से लाभ उठाना ईसाई धर्म के प्रतिकूल माना जाता था; इसी प्रकार अतिप्रदाय के

१. यह एकाधिकार कभी कभी नगर के बाहर निर्दिष्ट दूरी तक होता था।

२. गैर-सदस्यों को नगर में व्यापार करने की अनुमति देने पर मार्ग-कर इसलिए लगाया जाता कि वे "फर्माबर्गी" (Firma burgi) नहीं देते थे जो कि कर के स्थान पर सम्राट् को दिया जाता था।

३. गैर-सदस्य अनाज, ऊन, चमड़ा जैसी वस्तुओं में व्यापार नहीं कर सकते थे।

परिणामस्वरूप मूल्य घटाकर ईमानदार व्यापारियों को हानि पहुँचाना गलत माना जाता था।[१] किसी मंडी में माल खरीद कर उसके मूल्यों में वृद्धि के बिना उसी मण्डी में अधिक मूल्य पर बेचने की प्रथा निषिद्ध थी। इसी प्रकार मण्डी को जाती हुई वस्तुओं को मार्ग में खरीदने या मण्डी के खुलने से पूर्व माल के मण्डी में पहुंचते ही सस्ते भाव पर माल खरीदने की प्रथा निषिद्ध थी। किसी वस्तु का अधिकांश या सम्पूर्ण भण्डार खरीद कर मूल्य बढ़ाने की दृष्टि से माल मुट्ठी में करने की प्रथा भी निषिद्ध थी। इन कुरीतियों का एक दूसरे से घनिष्ठ संबंध था और सदा इन में अन्तर बतलाना भी सम्भव नहीं था। ये बहुत साधारण थीं और शिकायतों की भरमार तथा तत्सम्बन्धी नियमों की प्रचुरता से ज्ञात होता है कि मध्यकालीन व्यापारियों का आचरण श्रेणी के आदर्श से बहुत नीचे था।

व्यापार का नियंत्रण वणिक् श्रेणी का एक प्रधान कार्य था। बिक्री के लिए रखी गई वस्तुओं का श्रेणी के अधिकारी निरीक्षण करते थे और जो माल उत्तमता के उचित स्तर के नीचे पाया जाता था, जब्त कर लिया जाता था और उसके मालिक पर जुर्माना किया जाता था या बार बार अपराध करने पर उसे श्रेणी से निकाल दिया जाता था। खाद्य पदार्थों और अन्य वस्तुओं के नाप-तोल, उत्तमता और मूल्यों के संबन्ध में "मान नियमों" (Assizes) का प्रसारण किया जाता था और यद्यपि बहुधा इन नियमों का अपवंचन होता था तथापि यह स्पष्ट है कि क्रेताओं को बेईमान व्यापारियों द्वारा ठगे जाने से बचाने का प्रयत्न किया जाता था।

ढेर के अधिकार पर ध्यान देने से ज्ञात होगा कि वणिक् श्रेणी एक सामुदायिक संस्था थी। यदि श्रेणी का कोई भी सदस्य फायदे से माल खरीद लेता था तो उसे दूसरे सदस्यों को सौदे में हिस्सा देना पड़ता था। ढेर के अधिकार पर अनेक प्रतिबन्ध थे जो भिन्न-भिन्न नगरों में भिन्न-भिन्न थे। कुछ स्थानों पर यह रिआयत उनको मिलती थी जो सौदे के समय उपस्थित होते थे, अन्य

१. यदि कोई व्यापारी सामान्य मूल्य पर अपना माल नहीं बेच सकता था तो श्रेणी के अन्य बंधुओं की अनुमति के बिना मूल्य नहीं घटा सकता था; किन्तु अनुमति प्राप्त न होने पर वह अतिरिक्त माल उनको दे सकता था।

स्थानों पर ये अधिकार माल की सीमित मात्रा पर लागू होता था और माल का अधिकांश भाग प्रारम्भिक क्रता के पास रहता था, कुछ और स्थानों में प्रारम्भिक क्रेता अन्य साथियों को बेचे हुए माल पर केवल सीमित लाभ ले सकता था। इससे संबन्धित और इसी से निकली हुई रीति के अनुसार श्रेणी बड़ी मात्रा में माल खरीद लेती थी जो बाद में सदस्यों को ऐसे मूल्यों पर दे दिया जाता था कि श्रेणी को भी लाभ रहे और श्रेणी के सदस्य फुटकर में बेच कर उचित लाभ उठा सकें। इन साधनों से श्रेणी के सब सदस्यों को समान अवसर मिलता था और धनाढ्य लोगों की व्यापार पर एकाधिकार प्राप्त करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति पर प्रतिबन्ध रहता था। इस प्रकार बाहरी व्यापारियों के स्थान पर श्रेणी को भी लाभ मिलता था। उपर्युक्त रीतियों में प्रमण्डलीय व्यापार का बीज नजर आ सकता है।

एक व्यापारी के लिए कर्जा वसूली में श्रेणी की सुरक्षा और सहायता का बड़ा मूल्य था। कानूनी कार्रवाई धीमी, खर्चीली और अनिश्चित होती थी और क्षतिपूर्ति के अन्य साधन विद्यमान होने पर श्रेणी वालों से इसको अपनाने की आशा नहीं की जाती थी। श्रेणी अपने सदस्यों के बीच ऋणों के चुकाने की व्यवस्था करती थी किन्तु जब ऋणी और ऋणदाता भिन्न-भिन्न नगरों में रहते थे या भिन्न-भिन्न श्रेणियों के सदस्य होते थे तो मामला इतना सरल नहीं होता था। जब ऋणी ऋण चुकाने में असमर्थ होता था या ऐसा करने से इन्कार कर देता था तो ऋणदाता अपना मामला अपनी श्रेणी के सम्मुख रखता था। श्रेणी ऋणी की श्रेणी से आपत्ति उठाती थी और वह ऋणी पर दबाव डालती थी और प्रायः यही यथेष्ट होता था। आवश्यकता होने पर ऋणदाता की श्रेणी ऋणी की श्रेणी के अन्य सदस्यों का माल छीन लेती थी। वे केवल अपने संगठन से शिकायत कर सकते थे और वह ऋणी को क्षतिपूर्ति के लिए बाध्य करती थी, इस प्रकार चक्करदार तरीके से न्याय मिलता था।

ऐसी प्रक्रिया आपत्ति योग्य थी। जिन व्यक्तियों पर ऋण का दायित्व नहीं था और जो प्रतिभू नहीं थे बिना किसी दोष के उनका माल लूट लिया जाता था और इसकी क्षति-पूर्ति की संभावना भी अनिश्चित थी। कालान्तर

में नगरों के लिए सम्राट् से इस प्रकार के अधिकार-पत्र प्राप्त करना साधारण हो गया जिनके अधीन इनकी श्रेणी वाले अन्य लोगों के ऋणों के लिए अपने माल की जब्ती से मुक्त थे। सन् १२७५ के वैस्ट मिनिस्टर के प्रथम प्रविधान के अधीन किसी व्यापारी के माल की जब्ती उसके व्यक्तिगत दायित्व के ऋणों के अतिरिक्त अन्य ऋणों के लिए निषिद्ध कर दी गई। इस प्रविधान का कड़ाई से पालन नहीं किया गया, यह लोकमत से बहुत आगे बढ़ी हुई विधि को लागू करने की कठिनाई का एक उदाहरण है और यह कल्पना की जा सकती है कि कम से कम चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक जब्ती का पुराना रिवाज समय समय पर बरता जाता था।

भिन्न-भिन्न श्रेणियों के सदस्यों के बीच भुगतान लागू करने की कठिनाई कभी-कभी नगरों के बीच सन्धियों द्वारा दूर की जाती थी। ऐसी व्यापार-सन्धियां मध्यकालीन युग के उत्तर काल में बहुधा होती थीं और उनमें व्यापारिक सम्बन्धों से उत्पन्न होने वाली अनेक बातें जैसे मार्ग-कर आदि तय होती थीं। लन्दन अनेक महत्त्वपूर्ण नगरों से पृथक्-पृथक् संधियों द्वारा बन्धा हुआ था और यही हाल साउदमटन का था। ऐसी संधियां विभिन्न देशों के नगरों में भी हो सकती थीं[1] और दोनों ओर की राष्ट्रीय सरकारों को पूछा भी नहीं जाता था।

वणिक् श्रेणी का कार्य वाणिज्य सम्बन्धी बातों तक ही सीमित नहीं होता था; इसके धार्मिक और परोपकारी पहलुओं पर भी ध्यान आकर्षित करते हैं। रोग-ग्रस्त और अभाव-ग्रस्त सदस्यों की सहायता की जाती थी और दुर्दैव-ग्रस्त सदस्यों की भी सहायता की जाती थी। श्रेणी का कर्त्तव्य था कि अपने स्वर्गीय सदस्यों की आत्माओं के हितार्थ की गई प्रार्थनाओं का खर्चा उठावे और आवश्यकता पड़ने पर विधवाओं तथा अनाथों की व्यवस्था करे।

श्रेणी का अध्यक्ष "एल्डरमैन" होता था और प्रबन्ध कार्य में उसकी सहायता करने के लिए दो या चार 'वार्डन' या प्रायः एक परिषद् होती थी। बड़ी श्रेणियों में विशेष कार्यों के लिए अन्य अधिकारी होते थे। इनकी संख्या और वास्तव में श्रेणी की प्रबन्ध-व्यवस्था स्वभावतः श्रेणी के आकार पर

---

१. लन्दन और बयोनी के बीच एक सन्धि थी।

निर्भर करती थी। श्रेणी की समय समय पर होने वाली सभाओं में नए सदस्य बनाए जाते थे, अध्यादेश स्वीकार किए जाते थे और अन्य कार्रवाई की जाती थी। सभा के बाद भोज भी होते थे।

सदस्यों के झगड़ों का निपटारा करने और श्रेणी के अध्यादेशों के विरोध में किए गए अपराधों की जाँच के लिए श्रेणी का न्यायालय बैठता था। ऐसे मामलों की जाँच कभी कभी पौर-न्यायालय में भी होती थी और इन दो न्यायालयों में सदा अन्तर बतलाना सुगम नहीं है।

वणिक् श्रेणी और नगर का सम्बन्ध एक बहुत रुचिकर विषय है और इस पर काफी वाद-विवाद हुआ है। श्रेणी और नगर शासन को एक ही मानना सही नहीं होगा। फिर भी श्रेणी एक वर्तमान "व्यापार मण्डल" के समान निजी संस्था नहीं थी; निस्सन्देह इसका पौर-शासन से घनिष्ठ सम्बन्ध था। मध्य-कालीन जीवन के अन्य पहलुओं की भाँति इस विषय पर सारे नगरों में एक सी स्थिति बतलाने का प्रयत्न करना गलत होगा।[१] किन्तु यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि अधिकांश श्रेणी के सदस्य अधिकार-प्राप्त नागरिक थे और अधिकार-प्राप्त नागरिकों में बहुमत श्रेणी के सदस्यों का था। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति श्रेणी में सक्रिय थे वे ही नगर में भी थे। सब से धनी-मानी नागरिक दोनों में पदाधिकारी होते थे। श्रेणी और नगर के हितों में किसी प्रकार का विरोध नहीं था; एक की सम्पन्नता में दूसरे की सम्पन्नता थी, और यह कल्पना करना उचित है कि नगर का शासन और श्रेणी का शासन एक दूसरे से मिले हुए थे।

---

१. व्यवहार में यथेष्ट विभिन्नता थी; अन्तःसंवाद की वृद्धि और राष्ट्र-व्यापी स्तरों की स्थापना पर ही नगर शासन में समानता की आशा की जा सकती थी।

तीसरा अध्याय

शिल्प श्रेणियाँ

यह बतलाया जा चुका है कि प्रत्येक मध्यकालीन नगर के निवासियों में कुछ लोग ऐसे होते थे जो व्यापार करते थे और लगभग प्रत्येक नगर में व्यापारी वणिक् श्रेणी में संगठित होते थे। कालान्तर में वस्तुओं के उत्पादन में लगे हुए दक्ष श्रमिक भी ऐसे संगठनों में बन्ध गए जिनको श्रेणियाँ कहते थे।[1] बहुत छोटे नगरों को छोड़कर सब नगरों में प्रत्येक शिल्प की एक श्रेणी थी। ऐसा कहा गया है कि आरम्भ में शिल्प-श्रेणियाँ नगरों में नीचे दर्जे वालों की थीं जिनके पास कोई सम्पत्ति नहीं थी और जो वणिक् श्रेणी और नगर-शासन पर नियंत्रण रखने वाले धनाढ्य अधिकार-प्राप्त नागरिकों का प्रभुत्व पसन्द नहीं करते थे। इस कल्पना से प्रकट होता है कि शिल्प श्रेणियों का आरम्भ वणिक् श्रेणियों के विरोध में हुआ था और यद्यपि महाद्वीप के कुछ नगरों में इस प्रकार के विरोध के प्रमाण मिलते हैं तथापि इङ्गलैण्ड में इस प्रकार की शत्रुता का कोई प्रमाण नहीं मिलता है। वणिक् श्रेणी की भाँति यहाँ भी यह याद रखना काफी होगा कि मध्यकालीन जीवन की सारी प्रवृत्ति सहकार की ओर थी और एक से पेशों में काम करने वालों के लिए एक संगठन के नीचे आकर मिलना स्वाभाविक था।

वास्तव में दो कारण थे जिनसे उद्योग-धन्धों में श्रेणी-व्यवस्था की पूर्ण स्थापना की प्रवृत्ति उठी। समान उद्देश्यों और पेशों में काम करने वालों की समुदाय बनाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति और नगर के अधिकारियों द्वारा अनुरोध;

---

१. बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में शिल्प-श्रेणियाँ विद्यमान थीं। सन् ११३० में लन्दन, लिन्कन, और ऑक्सफोर्ड में बुनकरों की श्रेणियाँ थीं और कुछ वर्षों के पश्चात् लन्दन में नानबाई की श्रेणी, ऑक्सफोर्ड में मोचियों की श्रेणी और विन्चेस्टर में कलफ़ लगाने वालों की श्रेणी थी।

दोनों ने एक दूसरे के पूरक का कार्य किया।[1] वे उच्चाधिकारी जो प्राय: सब ही वणिक् श्रेणियों से सम्बन्धित होते थे चाहते थे कि बिक्री के लिए प्रस्तुत की गई वस्तुएँ उत्तम पदार्थों और बढ़िया कारीगरी की बनी हुई हो और वे चाहते थे कि प्रत्येक शिल्प या धन्धे में उत्तमता का एक निश्चित स्तर कायम रहे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने यह अनिवार्य कर दिया कि प्रत्येक शिल्प-वाले ऐसे अधिकारी नियुक्त करें जो शिल्पीशालाओं के माल का निरीक्षण करें। और कालान्तर में इससे औद्योगिक नियंत्रण की पूरी व्यवस्था स्थापित हो गई। प्रत्येक शिल्प[2] का एक संगठन, शिल्प श्रेणी, स्थापित हो गया और क्योंकि शिल्प श्रेणी को बाहर वाले लोगों की दक्षता और ईमानदारी के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता था, सदस्यता अनिवार्य हो गई।[3]

इस प्रकार किसी शिल्प या उद्योग का नियंत्रण शिल्प-श्रेणी के हाथों में था किन्तु श्रेणी स्वयं निश्चित रूप से नगर-शासन के अधीन होती थी।[4] यदि श्रेणी अपने कर्त्तव्यों का यथेष्ट रूप से पालन नहीं करती या इस पर सार्वजनिक हितों से आगे अपने सदस्यों के हितों को रख कर स्वार्थवश कार्य करने का सन्देह होता तो नगरपालिका बिना किसी हिचकिचाहट के इसके अध्यादेशों को रद्द कर देती थी या पूरक अध्यादेश निकाल देती थी। किन्तु श्रेणी ने स्वयं

---

१. कोई कोई शिल्प श्रेणियाँ बिना अधिकार के स्थापित कर दी जाती थीं। ये नकली श्रेणियाँ कहलाती थीं और इनका दमन किया जा सकता था।

२. सब से महत्त्वपूर्ण धन्धे वे थे जिनका सम्बन्ध वस्त्र-निर्माण से था जैसे कि बुनकर, दर्जी, टोप बनाने वाले और चमड़े का काम करने वाले ; जैसे काठियाँ बनाने वाले। सोने चान्दी का काम करने वाले, कवच बनाने वाले, जीनें बनाने वाले भी महत्त्वपूर्ण थे। भवन-निर्माण में काम करने वाले कारीगर जैसे राज, खाती कम संगठित थे क्योंकि इनको बार-बार स्थान-परिवर्तन करना पड़ता था।

३. इस नियम का उद्देश्य कि श्रेणी से बाहर वाला कोई व्यक्ति वह धन्धा नहीं कर सकता था कुछ लोगों को एकाधिकार देना नहीं था वरन् गैर-सदस्यों को सदस्य बनने के लिए बाध्य करके अपने कार्यों पर निरीक्षण स्वीकार कराना था।

४. तथापि कुछ महत्त्वपूर्ण शिल्प-श्रेणियों को सम्राट् से अधिकारपत्र प्राप्त थे और वे नगरपालिका के नियंत्रण से मुक्त थीं।

एक ऐसा आदर्श अपनाया जिसको कार्यान्वित करने पर उच्च अधिकारी का हस्तक्षेप अनावश्यक हो जाता था। इसका उद्देश्य उत्तम कोटि का उत्पादन करना और न्यायोचित व्यवहार के लिए ख्याति प्राप्त करना था। यह देखती थी कि मूल्य उचित हैं और अभाव या अतिप्रदाय के फलस्वरूप बढ़ाए घटाए नहीं जाते। शिल्पी संरक्षण का अधिकारी था और यह स्वीकार किया जाता था कि उसे आरामदायक जीविका मिलनी चाहिए किन्तु श्रेणी के किसी सदस्य के व्यक्तिगत हितों की रक्षा करने की अपेक्षा श्रेणी की उत्तम कारीगरी और उचित व्यवहार करने की ख्याति की रक्षा करना अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था।

शिल्प-श्रेणी का संगठन कुछ अंशों तक वणिक्-श्रेणी के समान था। प्रत्येक शिल्प श्रेणी के अध्यक्ष कुछ[1] वार्डन होते थे जो सदस्यों द्वारा निर्वाचित किये जाते थे या जिनकी नियुक्ति नगर का मेयर करता था। बड़ी श्रेणियों में एक परिषद् होती थी जो श्रेणी के दैनिक कार्यों का संचालन करती थी और इनके सदस्यों के लिए नियम बनाती थी। समय समय पर सदस्यों की सभा होती थी जिसमें महत्त्वपूर्ण विषय निश्चित किए जाते थे। श्रेणी के संगठन में काफी विभिन्नता पाई जाती थी, किसी-किसी श्रेणी में वार्डनों का चुनाव साधारण सभा करती थी और किसी में परिषद्। कुछ श्रेणियों में परिषद् साधारण सभा के अधीन होती थी जिसकी केवल यह समिति थी; कहीं-कहीं परिषद् का श्रेणी पर पूर्ण नियंत्रण था और साधारण सभा गौण मानी जाती थी।

वार्डनों का प्रधान कार्य सदस्यों द्वारा उत्पादित वस्तुओं का निरीक्षण करना होता था ताकि उत्तम कोटि और कारीगरी की वस्तुएं तैयार हों। इस कार्य के लिए उन्हें शिल्पिशालाओं का दौरा करने और निर्मित पदार्थों तथा निर्माण क्रिया में लगे हुए पदार्थों का निरीक्षण करने का अधिकार था। जो वस्तुएं घटिया कारीगरी या निम्न कोटि के पदार्थों के कारण सदोष पाई जाती थीं, जब्त कर ली जाती थीं। दोषी व्यक्तियों पर जुर्माने किए जाते थे और बार-बार तथा गम्भीर कसूर करने वालों को शिकंजों में कस दिया जाता था और श्रेणी से बाहर निकाल दिया जाता था।

---

१. इनकी संख्या श्रेणी के आकार के अनुसार दो, चार या अधिक होती थी।

श्रेणी शिल्प के सम्बन्ध में नियम बनाती थी और वार्डन इनको लागू करते थे।[1] इनमें से अनेक व्यावसायिक होते थे और प्रत्येक शिल्प के लिए भिन्न होते थे और कुछ साधारण होते थे। रात को काम करना निषिद्ध था क्योंकि प्रभावोत्पादक कृत्रिम प्रकाश के अभाव में कार्य सन्तोषजनक नहीं होता था और निरीक्षण में कठिनाई रहती थी। भृति (मजदूरी) नियमित थी और कुछ अंशों तक मूल्य भी निश्चित थे, यद्यपि मूल्यों का निरीक्षण बहुधा वणिक् श्रेणी या नगर के अधिकारियों द्वारा किया जाता था। जिन शिल्पों में खाद्य पदार्थों का क्रय-विक्रय होता था शिल्प श्रेणी के अधिकारी मण्डी से माल हटाने को, माल मुट्ठी में करने को और एकाधिकार को करने में वणिक् श्रेणी के समान ही सक्रिय होते थे।

मध्यकालीन युग में कारीगर तीन भिन्न-भिन्न वर्गों के होते थे—उपाध्याय, प्रशिक्षित श्रमिक और शिशिक्षु। शिल्पी-उपाध्याय के एक शिल्पिशाला होती थी जिसमें वह स्वयं अपने अधीन व्यक्तियों के साथ-साथ कार्य करता था। प्रशिक्षित-श्रमिक सुयोग्य शिल्पी होते थे जो मजदूरी पर रखे जाते थे, जबकि शिशिक्षु ऐसे लड़के या युवक होते थे जो शिल्प की शिक्षा पाने के लिए रखे जाते थे। इन तीन श्रेणियों से सामाजिक स्थिति का अन्तर प्रकट नहीं होता; ये जीविकोपार्जन की तीन भिन्न-भिन्न अवस्थायें प्रकट करती हैं। किसी शिल्प में नये प्रवेश करने वाले से यह आशा की जाती थी कि वह एक सुयोग्य शिल्पी बनने के लिए शिशिक्षुता अपनाए। उसको अधिकार था कि प्रशिक्षण की सफलतापूर्वक समाप्ति पर वह श्रेणी की पूर्ण सदस्यता प्राप्त कर ले और यदि वह चाहें तो शिल्पी-उपाध्याय के रूप में व्यवसाय चला कर प्रशिक्षित श्रमिकों और शिशिक्षुओं को रखे। परन्तु नवयुवक सदस्य साधारणतः कुछ वर्षों तक जिस उपाध्याय से प्रशिक्षण प्राप्त करते थे उसके अधीन प्रशिक्षित श्रमिक[2] के रूप में

---

१. ब्योरेवार निरीक्षण और अनेक नियमों के होने से पता चलता है कि बेईमान और अदक्ष शिल्पियों की कमी नहीं थी।

२. १४वीं शताब्दी में और उसके पश्चात् श्रेणी ने प्रायः प्रशिक्षण समाप्त कर लेने वाले शिशिक्षु को शिल्पी-उपाध्याय के रूप में मान्यता देने से पूर्व कुछ काल के लिए एक प्रशिक्षित श्रमिक के रूप में सेवा करना अनिवार्य कर रखा था।

कार्य करते थे ताकि उस शिल्प में अभ्यास और अनुभव प्राप्त कर सकें और अपनी शिल्पशाला[1] प्रारम्भ करने के लिए थोड़ी पूँजी एकत्रित कर सकें। प्रशिक्षित श्रमिक इस अवस्था को अपने जीविकोपार्जन की अन्तिम अवस्था नहीं मानता था; वह कालान्तर में ऐसे समय की प्रतीक्षा करता था जब वह एक उपाध्याय[2] के रूप में कार्य आरम्भ कर सकेगा। इस कारण से श्रेणी व्यवस्था के दिनों में मजदूरी का प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं था। प्रशिक्षित श्रमिक अधिक मजदूरी प्राप्त करने के लिए कोई कार्य नहीं करते थे क्योंकि वे जानते थे कि उपाध्याय बनने पर उनको भी अधिक मजदूरी देनी होगी। प्रशिक्षित श्रमिक और शिशिक्षु प्रायः उपाध्याय के घर में ही रहते थे और उसी के यहां भोजन करते थे और वे आचरण तथा शिल्प संबन्धी नियमों में उसके नियन्त्रण में रहते थे।

१२६० ई० में शिशिक्षुता की प्रथा विद्यमान थी और शीघ्र ही यह शिल्प श्रेणी व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गई। यद्यपि प्रारम्भिक काल में शिल्पी शिशिक्षु रहे बिना भी अपनी दक्षता का सन्तोषजनक प्रमाण देने पर श्रेणी के सदस्य बना लिये जाते थे तथापि कालान्तर में किसी शिल्प में[3] प्रवेश करने का यही एक स्वाभाविक मार्ग बन गया। यह माना जाता था कि किसी श्रेणी की बढ़िया कारीगरी के लिए ख्याति तभी कायम रह सकती थी जब कि नए सदस्यों का प्रशिक्षण इस के निरीक्षण में हो। शिशिक्षुता प्राद्यौगिक प्रशिक्षण व्यवस्था से अधिक व्यापक थी; इसका उद्देश्य किसी एक युवक को एक उत्तम कारीगर के साथ ही साथ उत्तम नागरिक और उत्तम ईसाई बनाना

---

१. शिल्पी-उपाध्याय के पास अपने औजारों और काम में आने वाली सामग्री के अतिरिक्त बहुत कम पूँजी होती थी। वह बहुधा ग्राहकों द्वारा दी गई सामग्री पर आदेशानुसार कार्य करता था। वह ग्राहकों से परिचित होता था और उनका संरक्षण बनाए रखने के लिए अपनी व्यक्तिगत ख्याति पर आश्रित था।

२. शिल्पी-उपाध्याय बनने से पूर्व एक प्रशिक्षित श्रमिक को कोई बढ़िया वस्तु बनाकर श्रेणी के वार्डनों को अपनी योग्यता के प्रति सन्तुष्ट करना होता था; परन्तु यह व्यवहार सार्वदेशिक नहीं था।

३. तथापि श्रेणी व्यवस्था के दिनों में कभी २ ऐसे उदाहरण मिलते हैं जब दक्ष शिल्पियों को शिशिक्षु रहे बिना भी श्रेणियों में प्रवेश दे दिया जाता था।

था। उपाध्याय शिशिक्षुओं की कार्य शक्ति के साथ ही साथ उनके नैतिक और धार्मिक प्रशिक्षण के लिए भी उत्तरदायी होता था। यही कारण है कि उसको शिशिक्षुओं पर पूर्ण नियन्त्रण रखने का अधिकार प्राप्त था।

शिशिक्षु काल की अवधि शिल्प-शिल्प और नगर-नगर में भिन्न थी, परन्तु कालान्तर में लंदन की श्रेणियों ने सात वर्ष की उपयुक्त अवधि निश्चित कर दी और अन्य नगरों की श्रेणियों ने उनका अनुकरण किया; अन्ततः यह सामान्य अवधि मानी जाने लगी और ऐलिजाबेथ के सन् १५६३ के शिल्पी परिनियम के अधीन यह सर्वत्र लागू कर दी गई। साधारणतः शिशिक्षुओं का प्रवेश नगर के अधिकारियों के अभिलेखों में होता था; इससे इस बात का प्रमाण मिल जाता था कि शिशिक्षुता वास्तव में हुई है। नगरपालिकाएं शिशिक्षुओं का पंजीयन करने के लिए शुल्क लेती थीं और इस कारण से कभी-कभी पंजीयन से बचने का प्रयत्न किया जाता था। कभी-कभी शिशिक्षुओं को अपना उपाध्याय बदलने की अनुमति प्रदान की जाती थी; उपाध्याय की मृत्यु या लम्बी बीमारी से इसकी आवश्यकता होती थी या शिशिक्षु के प्रशिक्षण में उपाध्याय द्वारा प्रसंविदा में अपना भाग पूरा करने से बार-बार इन्कार करने पर श्रेणी इसकी स्वीकृति प्रदान कर देती थी।

उद्योगों के प्रारम्भिक इतिहास में ऐसा कोई वर्णन नहीं है कि शिशिक्षुओं की संख्या सीमित होनी चाहिए। उस समय में जबकि कृषि देश का प्रधान व्यवसाय था और दस्तकारी गौण थी शिल्प श्रेणियों के लिए प्रवेशार्थी प्राप्त करना कठिन था। परन्तु मध्यकाल के अन्तिम दिनों में उद्योगों के विकास की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई और उद्योगों में अधिकाधिक संख्या में प्रवेशार्थी आने लगे। अतएव कुछ नियंत्रण आवश्यक हो गया और इस दृष्टि से शिशिक्षुता के लिए योग्यताएं निर्धारित कर दी गईं। कुछ नगरों में केवल श्रेणी के सदस्यों या नागरिकों के लड़कों को ही प्रवेश दिया जा सकता था और इसी समय शिशिक्षुओं से शुल्क लेने की प्रथा भी चल पड़ी। एक दूसरे प्रकार से भी इस समस्या का हल निकाला गया। श्रेणी के नियमों के अन्तर्गत एक उपाध्याय के अधीन रहने वाले शिशिक्षुओं की संख्या निर्धारित कर दी। यह

नियंत्रण शिल्प के अन्तर्गत सभी वर्गों के हित में था। यह स्वयं शिशिक्षुओं के हित में था कि उनकी संख्या सीमित हो क्योंकि एक उपाध्याय अनेकों की अपेक्षा एक या दो को ही उत्तम प्रशिक्षण दे सकता था। यह प्रशिक्षित श्रमिकों के हित में था क्योंकि यदि अनेक शिशिक्षु हों और उपाध्याय प्रशिक्षित श्रमिकों को दिया जाने वाला कार्य एक या दो वर्षों के प्रशिक्षण के पश्चात् शिशिक्षुओं से कराने लगे तो प्रशिक्षित श्रमिकों में बेकारी हो सकती थी। यह प्रथा उपाध्यायों के हित में भी थी क्योंकि यदि वे बहुत अधिक संख्या में प्रवेशार्थी लेने लगें तो उनको अपने समकक्ष लोगों से प्रतियोगिता का सामना करना पड़ेगा।

श्रेणियों के कार्यों का धार्मिक और परोपकारी पहलू भी था। श्रेणी के सदस्य एक ही गिरजाघर में जाते थे और शिल्प के संरक्षक सन्त की वेदी की पूजा करते थे। कई श्रेणियों में बाईबल की कहानियों पर आधारित व्यावसायिक नाटक प्रदर्शित करने की प्रथा थी और प्रायः श्रेणी नाटक का विषय कोई ऐसी घटना को बनाती थी जो किसी रूप में उस शिल्प से संबंधित होती थी। उदाहरणार्थ, जहाज बनाने वाले आर्क (Ark) की कहानी प्रदर्शित कर सकते थे और शराब बेचने वाले कना(Cana)के विवाहोत्सव की कहानी प्रदर्शित कर सकते थे। जो सदस्य रोगी या दुःखी होते थे उन्हें अपनी श्रेणी के बन्धुओं से सहायता मिलती थी और यह सामान्य प्रथा थी कि यदि कोई श्रेणी का सदस्य बीमार हो जाता तो दूसरे सदस्य उसके अधूरे कार्य को पूरा कर देते थे जिससे कि उसको अपने किए हुए कार्य के पारिश्रमिक की हानि नहीं उठानी पड़े। स्वर्गीय सदस्यों की विधवाओं और अनाथ बच्चों की सहायता की जाती थी, लड़कों को स्कूल भेज दिया जाता था और बाद में शिल्प का प्रशिक्षण दिया जाता था और लड़कियों को विवाह या साध्वी-शाला में प्रवेश के समय दहेज दिया जाता था। सम्पन्न श्रेणियाँ सदाव्रत-शालाएं और पाठशालाएं स्थापित करती थीं। निर्धन, वृद्ध और रोगी मनुष्यों को सहायता पहुँचाने का खर्चा श्रेणियां उठाती थीं; कभी-कभी इस कार्य के लिए श्रेणी के अन्तर्गत एक पृथक् संगठन होता था जिसका अपना अलग कोष होता था। धनाढ्य सदस्य मृत्यु के समय अपनी सम्पत्ति का एक भाग श्रेणी के परोपकारी कोष को दे जाते थे।

श्रेणी के सदस्यों से एक दूसरे के प्रति भ्रातृत्व की भावना रखने की आशा की जाती थी। वे अपने अन्य बन्धुओं से किसी प्रकार का लाभ नहीं उठाते थे। दूसरों से कम मूल्य पर बेचना या काम का अनुचित भाग हथिया लेना, या दक्ष श्रमिकों को फुसलाकर काम से छुड़ाना बन्धुत्व की भावना के खिलाफ माना जाता था। श्रेणी के सदस्यों के आपसी झगड़े श्रेणी द्वारा निपटाने होते थे और न्यायालयों को नहीं ले जाए जाते थे। कम से कम श्रेणी के झगड़े निपटाने में असफल होने तक और तब भी केवल इसकी अनुमति से[1] इन मामलों में श्रेणी का उद्देश्य एक न्यायालय के समान काम करना नहीं था बल्कि आपसी रजामन्दी से झगड़े का निपटारा करना था। श्रेणी के बन्धुओं के आपसी झगड़ों की सार्वजनिक जानकारी देना अवांछनीय माना जाता था।

जिस भ्रातृ-तुल्य प्रेम की भावना की श्रेणी के सदस्यों से आपस में आशा की जाती थी वह भिन्न-भिन्न श्रेणियों के सम्बन्धों में नहीं पाई जाती थी। झगड़े का एक साधारण कारण विभिन्न उद्योगों का आपसी क्षेत्र था। दर्जियों और वस्त्र विक्रेताओं, कुम्हारों और राजों (मकान बनाने वालों), चमारों और मोचियों के[2] पेशों में होड़ की प्रवृत्ति होती थी और फलस्वरूप श्रेणियों में झगड़ा पैदा हो जाता था। कभी कभी सम्बन्धित पेशों के बीच अटल सीमाएं निर्धारित करके और कभी शिल्पियों को दोनों श्रेणियों के सदस्य बनने की अनुमति देकर झगड़े के प्रश्नों का हल किया जाता था। परन्तु सोलहवीं शताब्दी तक कुछ नगरों में यह स्वीकार करने की प्रवृत्ति पाई जाती थी कि जो मनुष्य "एक श्रेणी से स्वतंत्र था वह सब श्रेणियों से स्वतंत्र था।"

शिल्प श्रेणियों और वणिक् श्रेणियों का सम्बन्ध बहुत कुछ कल्पना और अनुसन्धान का विषय बन गया है। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है यह कल्पना की गई है कि शिल्प श्रेणियों का आरम्भ निर्धन श्रमिकों द्वारा धनी

---

१. १५०४ के अधिनियम ने (जिसका अन्यत्र उल्लेख आया है) इस नियम को ढीला कर दिया। परन्तु यह प्रभावोत्पादक नहीं था।

२. मोची जूते बनाते हैं। चमार फटे पुराने जूतों की मरम्मत करते हैं।

व्यापारियों के विरोध में हुआ है । जहां तक आंगल श्रेणियों का सम्बन्ध है इस मत की पुष्टि में बहुत कम प्रमाण है ।[१] किन्तु शिल्प श्रेणियाँ नगर के अधिकारियों के अधीन थीं, उनका उद्देश्य रिआयतें या अधिकार प्राप्त करना था जब कि नागरिक अधिकारी नियंत्रण बनाए रखना चाहते थे । और क्योंकि नगर के शासन और वणिक् श्रेणी, यदि भेद रहित नहीं थे, तो घनिष्ठ सम्बन्धित थे, यह मानना पड़ेगा कि दोनों प्रकार की श्रेणियों में कभी कभी मतभेद हो जाता था चाहे यह गुप्त रूप ही में क्यों नहीं हो । इस प्रश्न पर दूसरा मत यह है कि शिल्पी अपनी बनाई हुई वस्तुएं बेचता था इसलिए वह कारीगर भी था और व्यापारी भी और अनिवार्यतः वह दोनों श्रेणियों का सदस्य होता था ।[२] दोनों संगठनों के सम्बन्धों पर तीसरा मत इस तथ्य पर आधारित है कि वणिक् श्रेणियां शिल्प श्रेणियों की अपेक्षा अधिक पुरानी हैं । वणिक् श्रेणियां बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में प्रचलित थीं और चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों में जब शिल्प श्रेणियां सर्वाधिक सम्पन्न थीं वे कम महत्त्वपूर्ण थीं । इस दृष्टिकोण से इनका सम्बन्ध एक प्रकार से उत्तराधिकार का कहा जा सकता है । शिल्पियों की संख्या में वृद्धि और नये शिल्पों के जन्म के साथ-साथ वणिक् श्रेणी के लिए पहले की तरह नगर की आर्थिक प्रक्रियाओं पर पूर्ण निरीक्षण रखना असंभव हो गया और यह स्वाभाविक था कि प्रत्येक उद्योग के लिए एक पृथक् श्रेणी स्थापित कर दी गई । यह भी कहा जा सकता है कि विभिन्न उद्योगों के अनुसार वणिक् श्रेणी भिन्न-भिन्न भागों में विभाजित हो गई, यह परिवर्तन आर्थिक संगठन की बढ़ती हुई पेचीदगी के अनुसार था । कुछ नगरों विशेषतः इप्सविच और केण्डल के अभिलेखों में इस मत की पुष्टि होती है । इस प्रकार वणिक् श्रेणी के अधिकार शिल्प श्रेणियों द्वारा अपना लिये जाने पर इसका क्रमशः ह्रास हो गया, कहीं-कहीं यह केवल धार्मिक

---

१. आरम्भ में इंगलैंड में विदेशों से आकर बसे हुए शिल्पियों की श्रेणियों का वणिक् श्रेणियों ने विरोध किया । इनमें कुछ संघ ऐसे थे जिन्होंने सम्राट् को कर देकर अधिकार-पत्र प्राप्त कर लिये थे और वे वणिक् श्रेणियों के अधिकार में नहीं थे । इस विरोध का एक कारण जातीय भेदभाव भी था ।

२. ग्रोस और पालग्रेव इस प्रश्न के इस पहलू पर ध्यान आकर्षित करते हैं ।

बन्धुत्व के रूप में बच रही। उपर्युक्त मत एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं हैं, प्रत्येक में सत्य का कुछ अंश है। मध्यकालीन आर्थिक इतिहास के अन्य प्रश्नों की भाँति इस पर भी एक व्यापक सामान्य करण सब के लिए लागू होने की आशा नहीं की जा सकती।

जब तक श्रेणी व्यवस्था सफलतापूर्वक चली उपाध्यायों और प्रशिक्षित श्रमिकों में किसी प्रकार का विरोध नहीं था। आधुनिक पारिभाषिक शब्दावली में इन वर्गों को नियोक्ता और नियुक्त कहना एक ऐसा हितों का विरोध प्रकट करना है जो वास्तव में नहीं था। वे अपनी आजीविका की विभिन्न अवस्थाओं में थे और जब तक प्रत्येक प्रशिक्षित श्रमिक कालान्तर में शिल्पी-उपाध्याय बनने की आशा रखता था उनमें कोई आवश्यक विरोध नहीं था। परन्तु कालान्तर में यह स्थिति बदल गई। व्यापार और उद्योग की उन्नति के साथ-साथ पूंजी का महत्त्व बढ़ गया और श्रेणी के कुछ धनी सदस्य शिल्पी नहीं रहे और शिल्पियों के नियोक्ता बन गए। अनेक प्रशिक्षित श्रमिक समझने लगे कि उनके लिए स्वतन्त्र उपाध्याय बनने के अवसर घट रहे थे और वे आजीवन श्रमिक ही रहेंगे। ज्योंही अधिकांश प्रशिक्षित श्रमिकों की ऐसी धारणा बन गई हितों में विरोध समझा जाने लगा और वे कहने लगे कि उनको अपने उपाध्यायों का अनेक प्रकार से दमन सहन करना पड़ता था। मजदूरी और काम के घण्टों के प्रश्न उठाए गए और प्रशिक्षित श्रमिक उपाध्यायों द्वारा शर्तनामों में शिशिक्षुओं पर लगाई गई पाबन्दियों की शिकायत करने लगे जिससे नवयुवक योग्यता प्राप्त करने पर उपाध्याय की प्रतियोगिता में खड़े नहीं हो सकते थे और कुछ उपाध्यायों द्वारा बड़ी संख्या में शिशिक्षुओं को रखने पर आपत्ति की गई क्योंकि इससे शिल्प में आवश्यकता से अधिक कर्मी हो जाते थे और योग्य व्यक्तियों को नियुक्ति नहीं मिलती थी। प्रशिक्षित श्रमिक श्रेणी में अपनी निम्न स्थिति पर भी क्षोभ करते थे जहां पर सब महत्त्वपूर्ण पदों पर उपाध्यायों का एकाधिकार था। उपाध्याय अपनी ओर से शिकायत करते कि उनके प्रशिक्षित श्रमिक आलसी, ढीले और शराबी थे और वे बहुधा अपने काम पर नहीं जाते थे।

कई नगरों में प्रशिक्षित श्रमिकों ने अपने पृथक् हितों की रक्षा करने के लिए अपने स्वतन्त्र संगठन स्थापित कर लिये जिनको प्रशिक्षित श्रमिक श्रेणियां कहते थे। ये संगठन कभी बहुत सफल नहीं हुए। आरम्भ ही से उनको शिल्प-श्रेणियों का गुप्त या खुला विरोध सहन करना पड़ा और जो जीवित रह सकीं और ईर्ष्या-पूर्ण मान्यता प्राप्त कर सकीं उनको मुख्य श्रेणी के अधीन स्थिति स्वीकार करनी पड़ी, उनका उद्योग पर कोई नियन्त्रण नहीं था और अधिकांश प्रशिक्षित श्रमिकों पर भी बहुत कम प्रभाव था। श्रमिक संगठन के इन प्रारम्भिक प्रयत्नों को असफलता के कारण ज्ञात करना कठिन नहीं है। शिल्प श्रेणियां शक्तिशालिनी और धनवान थीं जबकि प्रशिक्षित श्रमिक श्रेणियां संख्या और साधन दोनों में कम थी। यह असुविधा कुछ समय पश्चात् दूर हो सकती थी; प्रशिक्षित श्रमिक श्रेणियों की आधारभूत कमजोरी दूसरी दिशा में थी। इसमें मुख्यतः अनुत्तम आदमी थे। यदि यह स्वीकार किया जाता है कि इस संगठन के अस्तित्व का कारण प्रशिक्षित श्रमिकों में उनकी स्थिति और आशाओं के प्रति असंतोष था तो यह याद रखना चाहिए कि यह बात सब श्रमिकों के लिए लागू नहीं होती। यह निश्चित था कि कुछ प्रशिक्षित श्रमिक उपाध्याय बन जाएंगे, ये सब बातों को देखते हुए अधिक योग्य और परिश्रमी आदमी होंगे जिनको उनसे नीचे दर्जे के आदमियों द्वारा चलाए गए आन्दोलन से बहुत कम सहानुभूति होगी। सर्वोत्तम आदमियों की सहानुभूति का अभाव, जो अपनी स्थिति में सुधार करने की अपेक्षा इससे ऊपर उठने के लिए उत्सुक थे, आन्दोलन की सफलता की आशा के लिए घातक थी।

उपाध्यायों और प्रशिक्षित श्रमिकों के बीच में कलह उस परिवर्तन का केवल एक लक्षण था जो मध्यकाल के अन्त के दिनों में श्रेणी-व्यवस्था में आ रहा था। ज्यों-ज्यों श्रेणियां धनवान बनती गईं और ज्यों-ज्यों आधुनिक स्पर्धा की भावना के सामने मध्यकालीन सहयोग की प्रवृत्ति पीछे हटती गई, श्रेणियां संकीर्ण और पृथक् हो गईं, शिल्प का जनता के साथ उचित व्यवहार की ख्याति पर ध्यान घटता गया और केवल स्वार्थ की लालसा बढ़ गई। श्रेणी का एकाधिकार कठोरतापूर्वक बना रखा गया और नव प्रवेशार्थियों पर प्रतिबन्ध लगा दिए गये। श्रेणियों के सदस्यों के पुत्रों के अतिरिक्त दूसरों से

भारी प्रवेश शुल्क लिया जाता था और कहीं कहीं तो प्रशिक्षित श्रमिकों का उपाध्याय बनना निषिद्ध कर दिया गया। श्रेणी के अन्दर एक "पोशाक" स्वीकार की जा सकती थी, जो केवल अधिक धनी और महत्त्वपूर्ण सदस्य ही पहिन सकते थे। इस प्रकार "पोशाकवालों" और दूसरों में अन्तर पड़ गया। ये पोशाक वाले कभी-कभी श्रेणी की उपज जनता को बेंचने का एकाधिकार हथिया लेते थे जिससे अन्य सदस्यों को, जो नाम मात्र के लिए शिल्पी-उपाध्याय थे, अपना माल इनको बेंचने और फलस्वरूप मजदूरी पाने वाले बनने के लिए बाध्य होना पड़ता था। और भी अन्तर बढ़ गए और कहीं-कहीं केवल पोशाक वालों में से चुना गया एक भीतरी "सहायकों का अधिकरण" श्रेणी का शासक दल बन गया।

सुदृढ़ ट्यूडर शासन की स्थापना के साथ श्रेणियों ने अपनी अवनति के काल में प्रवेश किया। उनकी संकीर्णता और उनके दृष्टिकोण की स्वार्थपरता के कारण जिन नगरों में उनका अधिकार था वहां के औद्योगिक विकास में बाधा पड़ने लगी। नये नगर, जो श्रेणियों के प्रतिबन्धों से मुक्त थे स्थापित हो गए और उनमें उद्योगों की उन्नति हुई। कुछ शिल्पियों ने पुराने नगर छोड़ दिए और शहर-कोट के बाहर या पास के गांवों में बस गये; अब देश भर में शान्ति की स्थापना और सामन्तों की शक्ति के विच्छिन्न हो जाने से ऐसा करना संभव हो गया। साधारणतः श्रेणियों के अधिकार शहर-पनाह के भीतर सीमित थे और जो शिल्पी बाहर बस गए उनके नियंत्रण से मुक्त थे। इसका प्रभाव सदा अच्छा नहीं हुआ। ऐसे आदमी बहुधा श्रेणीवालों की अपेक्षा कम दक्ष होते थे, उनमें शिशिक्षुता पर जोर नहीं दिया जाता था और कारीगरी का स्तर घट गया। वे दिन बीत गए थे जब श्रेणियों द्वारा लगाया गया उद्योगों का स्थानीय नियंत्रण यथेष्ट था। ट्यूडर काल में औद्योगिक नियमन राज्य के हाथों चला गया था और राष्ट्रीय आधार पर संगठित किया गया था।[1]

---

१. सन् १४३७ के एक संसदीय अधिनियम के अधीन श्रेणियों को अपने अध्यादेश शान्ति अधिकरणिकों को उपस्थित करने पड़ते थे। यह सम्भव है कि यह विशेषतः उन श्रेणियों के लिए लागू किया गया था जो सम्राट् से अधिकार-

सोलहवीं शताब्दी के मध्य में एडवर्ड षष्ठ के संरक्षक सोमरसेट के ड्यूक के हाथों से श्रेणियों को भारी क्षति पहुँची। उनकी सम्पत्ति का एक बड़ा भाग इस बहाने छीन लिया गया कि उनके धार्मिक उत्सवों में अन्ध-विश्वास का पुट था। उनकी सम्पत्ति का केवल वह भाग जो धार्मिक कार्यों के लिए लगाया जाता था जब्त किया जा सकता था, परन्तु यह अन्तर डालना कि कौन सी वस्तु धार्मिक उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त होती थी और कौनसी नहीं, सरल नहीं था और यह संभव है कि जिन आयुक्तों ने सम्राट् के आदेशों को कार्यान्वित किया उन्होंने उदारता की ओर झुकने की गलती नहीं की। श्रेणियाँ इस आघात के बाद भी जीवित रहीं परन्तु उनका महत्त्व घट गया।[1]

लन्दन की कम्पनियों में[2] प्रान्तीय श्रेणियों के प्राति किए जाने वाले व्यवहार की अपेक्षा अधिक उचित व्यवहार प्राप्त करने की यथेष्ट शक्ति थी; उन्होंने सम्राट् को एकमुश्त रकम दे दी और उनको अपनी अधिकांश सम्पत्ति का सेवन करते रहने को अनुमति दे दी गई। वे आज भी लन्दन की अर्थ व्यवस्था में महत्त्व रखती है परन्तु उनमें से बहुत कम का अब व्यापार से सम्बन्ध है। वे बहुत धनवान हैं; वे पाठशालाएँ चलाती हैं और अनेक प्रकार के परोप-कारी कार्य करती हैं और उनके सार्वजनिक कार्य अपनी बड़ी महिमा के लिए प्रसिद्ध हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में शिल्प श्रेणियों और बाद के श्रमिक संघों में ऐति-

---

पत्र प्राप्त होने के आधार पर नगरपालिकाओं के नियंत्रण से मुक्त होने का दावा करती थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि योर्कवादियों का प्रभाव बढ़ जाने के बाद यह लागू नहीं किया गया। सन् १५०४ में एक नया अधिनियम पारित हुआ जिसके अनुसार श्रेणियों के नए अध्यादेश न्यायालय के अधिकरणिकों की स्वीकृति के बिना वैध नहीं माने जाते थे।

१. उनके जो कुछ अधिकार कायम रहे वे १८३५ में औपचारिक रूप से समाप्त कर दिए गए।

२. चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों ही से कई शिल्प श्रेणियाँ "कम्पनियां" या "पोशाकी कम्पनियाँ" कहलाने लगीं और यह नाम आगे चलकर साधारण हो गया।

हासिक अविच्छिन्नता बतलाने का प्रयत्न[1] किया गया था। यह प्रयत्न असफल रहा क्योंकि कोई ऐसी अविच्छिन्नता नहीं थी। फिर भी दो प्रकार के औद्योगिक संगठनों में सादृश्य और अन्तर की बातों पर ध्यान देना रुचिकर होगा; यद्यपि एक का जन्म दूसरे से नहीं हुआ तथापि उनमें साधारणतः मानी गई से अधिक समानता है। केवल ऊपरी तुलना से ज्ञात होगा कि श्रेणी एक छोटे क्षेत्र में कार्य करती थी जब कि श्रमिक-संघ राष्ट्र-व्यापी होता है; कि श्रेणी में शिल्प से सम्बन्धित सब व्यक्ति चाहे उपाध्याय हो या श्रमिक सम्मिलित होते थे जब कि श्रमिक-संघ में केवल नियुक्त व्यक्ति होते हैं; कि श्रेणी का आधार नियोक्ता और नियुक्त में एकहितता थी जबकि श्रमिक-संघ हितों में विरोध तान कर चलता है; कि श्रेणी, श्रमिक-संघ के विपरीत, दूसरी बातों के साथ-साथ, धार्मिक और परोपकारी उद्देश्यों से सम्बन्धित थी; और, कि श्रेणी का उद्देश्य शिल्प की ख्याति बनाए रखना था जब कि श्रमिक-संघ का उद्देश्य केवल इसके सदस्यों के हितों को आगे बढ़ाने से होता है। किन्तु कार्यक्षेत्र में अन्तर अर्थ-व्यवस्था के स्थानीय से राष्ट्रीय में परिवर्तन होने के स्वाभाविक फल से अधिक नहीं है और यह मान कर चलना कि श्रमिक-संघ सदा नियोक्ताओं से विरोध के आधार पर कार्य करते हैं अकाट्य नहीं है। कभी-कभी औद्योगिक कलह उत्पन्न हो जाता है और समाचार पत्रों में जनता का ध्यान आकर्षित करता है किन्तु बड़े श्रमिक संघों के कार्यालयों में प्रतिदिन होने वाले कार्य का हड़तालों के प्रोत्साहन से सम्बंध नहीं होता; साधारणतः नियोक्ताओं और उनके संगठनों से पूर्ण मैत्री के आधार पर अनेक मामलों का निपटारा होता है। इसके अतिरिक्त एक श्रमिक-संघ के सदस्य बहुधा महसूस करते हैं कि नियोक्ताओं से शत्रुता के स्थान पर उनसे सहयोग करने से अधिक लाभ हो सकता है और कि उद्योग की सम्पन्नता से दोनों वर्गों को लाभ और इसमें मन्दी से दोनों वर्गों को हानि होती है। श्रेणियों द्वारा शिल्प में शिशिक्षुओं की संख्या सीमित रखने का आग्रह और श्रमिक संघों द्वारा किसी व्यवसाय में प्रवेशार्थियों की संख्या सीमित

---

१. ब्रेन्टानों की "हिस्ट्री एण्ड डैवलपमेन्ट ऑफ गिल्डस" में और हावल की "कानफ्लिक्ट ऑफ केपीटल एण्ड लेबर, एण्ड ट्रेड यूनियनिज्म, न्यू एण्ड ओल्ड" में भी।

रखने के प्रयत्न करने की नीति दोनों समान रूप से किसी उद्योग में श्रम की मांग और पूर्ति में साम्य उत्पन्न करने के प्रयत्न हैं। श्रेणियों के परोपकारी कार्य के प्रतिरूप राष्ट्रीय सुरक्षा योजना की स्थापना से पूर्व कई श्रमिक संघों द्वारा "प्रीति" लाभ थे। और एक श्रमिक संघ को अपनी "शिल्प" की ख्याति के प्रति उदासीन समझना उतना ही सही नहीं होगा जितना कि कम से कम बाद के दिनों में श्रेणियों में स्वार्थपरता के तत्वों के प्रति आँखें मूंदना। राष्ट्रीय रेल-कर्मचारी संघ जैसा बड़ा संघ रेल-कर्मचारियों की कार्यशक्ति और विश्वसनीयता की निन्दा पर तीव्र क्रोध करेगा, जिनकी यथायोग्य ख्याति बहुत ऊँची है। ब्रिटिश चिकित्सक संघ और अध्यापकों का राष्ट्रीय संघ जैसे संगठन जो सारांशतः चिकित्सकों और अध्यापकों के श्रमिक संघ हैं केवल अपने सदस्यों के भौतिक हितों की रक्षा ही के लिए नहीं बने हुए हैं; वे क्रमशः स्वास्थ्य और शिक्षा के अपने क्षेत्रों में लोक-कल्याण की वृद्धि के लिए भी उत्सुक हैं। भूतकाल में मध्यकालीन औद्योगिक संगठन को आदर्श बनाने की प्रवृत्ति रही है; यह मानना अच्छा होगा कि इसकी कुछ उत्तम विशेषताएँ आज के औद्योगिक संगठन में पुनः उत्पन्न हो गई हैं।

चौथा अध्याय

स्वामि-भू पद्धति की अवनति

स्वामि-भू पद्धति, जिसकी सब से महत्त्वपूर्ण विशेषता दासों द्वारा भू-स्वामी के हवाले की खेती की थी, कुछ शताब्दियों तक चली। यह लम्बी अवधि बिना परिवर्तन के नहीं निकली; स्वामि-भू के रिवाजों और व्यवहार में रूपान्तर हुए, यद्यपि वे इतनी मन्द गति से हुए कि उन पर ध्यान भी कठिनता से गया। मध्य युग के अन्त के दिनों में अधिक निश्चित परिवर्तन हुए, परिवर्तन जिनका आघात पद्धति की जड़ों तक पहुँचा। दासों का स्वामी की भूमि से सम्बन्ध कमजोर पड़ गया और अन्ततः टूट गया, खेती की खुले खेत की प्रणाली (जो उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक पूर्णतः अदृश्य नहीं हुई) के स्थान पर बाड़े बनने लगे, और रिवाज का प्रभाव, जो स्वामि-भू के आर्थिक जीवन में बहुत अधिक था, कमजोर पड़ गया। मध्यकालीन स्वामि-भू पद्धति की अवनति उन आन्दोलनों के कारण हुई जिनका चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों में विकास हुआ। ये आन्दोलन संख्या में तीन थे।

पहला था श्रम सेवाओं की एवज पर मुद्रा की भुगतान का स्थानापन्न, जिसे विनिमय[1] कहते हैं। यह बारहवीं शताब्दी में कभी कभी होता था और तेरहवीं शताब्दी में अधिक सामान्य हो गया, यद्यपि चौदहवीं शताब्दी के मध्य "काली मृत्यु" के समय भी यह साधारण नहीं बल्कि अपवाद स्वरूप था। शेष संसार से कटे हुए एक असभ्य समाज में (जैसी कि एक 'आदर्श' स्वामि-भू होती, यदि इसका कहीं अस्तित्व होता) विनिमय स्पष्टतः असंभव था क्यों कि वहाँ मुद्रा की पूर्ति विद्यमान नहीं थी। स्वामि-भू के निवासी विनिमय के माध्यम के रूप में मुद्रा के प्रयोग से समीपवर्ती नगरों की मंडियों और मेलों में उपस्थित होने ही से, जहाँ वे अतिरिक्त उत्पत्ति की बिक्री के लिए जाते थे

---

1. स्वामि-भू के न्यायालयों में काम पर अनुपस्थित रहने पर लगाए गए जुर्माने विनिमय की शर्तें निर्धारित करने के आधार बन गए।

परिचित हो सकते थे। इसलिए विनिमय सब से पहले उन स्वामि-भूमियों के अधिक सम्पन्न आसामियों में प्रचलित हुआ जो नगरों से बहुत दूर नहीं थीं जब कि अधिक पृथक् स्वामि-भूमियों में यह बहुत दिनों बाद तक बिल्कुल भी प्रकट नहीं हुआ।

विनिमय भू-स्वामी और दास के बीच सन्धि के फलस्वरूप प्रकट हुआ, यद्यपि कभी कभी ऐसे उदाहरण मिल गए हैं जब यह स्वामी द्वारा आसामियों की इच्छा के विरुद्ध थोपा गया था। जब जिस समाज में रिवाज के बन्धन मजबूत हों और उसमें परिवर्त्तन के विरुद्ध आशानुकूल विधारण पर इस अंश तक विजय पा ली गई कि प्रस्ताव पर विचार किया जा सके तब स्पष्ट हो जाएगा कि इससे दोनों पक्षों को लाभ होगा। भू-स्वामी दासों से प्राप्त मुद्रा मजदूरी पर रखे हुऐ श्रमिकों को देता था; यह आशा की जाती थी कि मजदूरी पर रखे हुए श्रमिक दासों की अपेक्षा अधिक कार्य-कुशल होंगे। मजदूरी पर रखा हुआ श्रमिक कितना ही सुस्त क्यों नहीं हो रोजगार छूटने के भय से कुछ काम करेगा; दास को सदा काम करने के लिए अंकुश लगाना पड़ता था। इसलिए विनिमय के फलस्वरूप श्रमिकों के निरीक्षण और जागीर के प्रबन्ध का व्यय घट गया। इसके अतिरिक्त कम मजदूरों की आवश्यकता होती थी क्योंकि वर्ष में कभी कभी भूमि पर कठिनाई से कोई काम होता था; इस प्रकार भू-स्वामी को विनिमय में दी जाने वाली मुद्रा के एक भाग की बचत हो जाती थी। आसामी को भी बेगार से छुटकारा पाने में प्रसन्नता थी क्योंकि यह केवल भार-स्वरूप ही नहीं किन्तु गर्व तोड़ने वाली भी थी। विनिमय उस की स्थिति में सुधार की एक अवस्था थी; यह उसकी पूर्ण स्वतन्त्रता की ओर एक बड़ा कदम था। भुगतानों की प्रकृति से भी उस को लाभ हुआ;[१] ये निश्चित थीं और इनको शीघ्र ही रिवाज का बल मिल गया, जिससे कालान्तर में मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन हुए तो भी ये अप्रभावित रहे, दीर्घकाल में मुद्रा का मूल्य गिरा या दूसरे शब्दों में कीमतों का साधारण स्तर बढ़ गया। क्योंकि मौद्रिक भुगतानें अपरिवर्तित थीं, आसामी को लाभ हुआ।

१. केवल एक अनिश्चित के स्थान पर निश्चित उत्तरदायित्व का स्थानापन्न करने से आसामी की स्थिति सुधरी।

लेकिन, यद्यपि स्वामी और आसामी दोनों को विनिमय स्वीकार करने में प्रयोजन था, दोनों के हित एक नहीं थे। एक दास के सकल उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में, एक ही समय में, विनिमय कठिनाई से स्वीकार किया जाता था, आसामी, वरदान-कार्य, गाड़ी चलाना या सामान ढोना जैसी सेवाओं का विनिमय कराना चाहता था जो उसके लिए सबसे अधिक कष्टकारक थी; स्वामी उन सेवाओं के बारे में समझौता करना चाहता था जो उसके लिए न्यूनतम मूल्य रखती थीं। संभवतः सर्वप्रथम विविध जिन्स में की जाने वाली भुगतानों का मौद्रिक उत्तरदायित्व में रूपान्तर किया गया। तत्पश्चात् सप्ताह-कार्य का विनिमय किया गया;[1] उसके बाद संभवतः, गाड़ी चलाने का; और सब से बाद में वरदान-कार्य का। यह सत्य है कि दासों को फसल के समय खेतों पर कार्य करने के उत्तरदायित्व से मुक्त करने के सम्बन्ध में स्वामी की अनिच्छा का कारण विशेषतः इस व्यस्त समय में मजदूरी पर श्रमिक प्राप्त करने की कठिनाई थी। तो भी, यह याद रखना चाहिए, कि वरदान-कर्मियों को भोजन और पेय प्रदान करना, रिवाज के अनुसार, स्वामी का उत्तरदायित्व था; मध्य युग के अन्त में कीमतों के बढ़ जाने से भोजन-सामग्री का मूल्य श्रम के मूल्य के समान या उससे भी अधिक था। जब ऐसा हो गया तो स्वामी को विनिमय से इन्कार करने का कोई कारण नहीं रहा। कुछ स्वामि-भूमियों पर आरम्भ में विनिमय अस्थायी था और स्वामी की इच्छानुसार प्रतिवर्ष निश्चित किया जाता था। परन्तु कुछ वर्षों तक चलाई जाने के पश्चात् इस व्यवस्था ने रिवाज का रूप ले लिया और पुराने रिवाजों पर पुनः व्यवहार करना कठिन हो गया।

यदि स्वामि-भू पर मज़दूरी पर कार्य करने वाले श्रमिक नहीं होते तो विनिमय साधारणतः प्रचलित नहीं हो सकता था। हालियों के रूप में इस वर्ग का बीज पहले ही मौजूद था; आसामियों के छोटे लड़कों और अन्य स्वामि-भूमियों से नव आगन्तुकों से यह और भी दृढ़ हो गया। प्राचीन काल में देशान्तर

१. स्थानापन्न व्यक्तियों द्वारा सप्ताह-कार्य करवाने के रिवाज से परिवर्तन में सुविधा रही। आसामी द्वारा मजदूर नियुक्त करके कार्य करने के लिए भेजने के स्थान पर स्वामी सीधा मजदूर रखने लगा।

गमन प्राय: अज्ञात था, मध्य युग के अन्त में परिस्थितियों में परिवर्तन होने से यह बढ़ गया।

१. सन् १३४८-४९ की "काली-मृत्यु" से अस्थायी रूप से रुक जाने तक दासत्व से मुक्ति की प्रवृत्ति बराबर चलती रही। मध्य युग में इङ्गलैंड में बहुधा प्लेग पड़ा करते थे। वास्तव में प्लेग कठिनाई से बिल्कुल मिटता था और भयंकर विस्फोट जो कभी कभी हुए हैं उनको एक ऐसे रोग का हिंसात्मक प्रदर्शन मात्र माना जा सकता है जो सदा न्यूनाधिक रूप में मौजूद रहता था। चौदहवीं शताब्दी में अनेक बार गम्भीर प्लेग पड़े, विशेषत: १३४८-४९ में १३६१-६२ में और १३६८-६९ में और १३७०, १३८१-८२ और १३९६ में अन्य महामारियाँ फैलीं। सन् १३४८-४९ के प्लेग को "काली मृत्यु" कहते थे। इसका आरम्भ १३३३ के लगभग चीन में हुआ बतलाते है। लगभग १३४५ में यह एशिया माइनर में प्रकट हुआ और १३४७ में इटली में, १३४८ में फ्रांस में और १३४९ के शरत्काल में इङ्गलैंड में फैल गया। इससे असाधारणत: अधिक मृत्युएं हुईं। मध्यकालीन कथा-लेखकों की अतिशयोक्ति का पूरा ध्यान रखते हुए और केवल निश्चित ऐतिहासिक प्रमाणों पर निर्भर करते हुए यह सविश्वास कहा जा सकता है कि इस देश के लगभग एक तिहाई आदमी इस प्लेग से मर गए। यह भी कम हो सकता है; यह संभव है कि अनुपात अधिक ऊँचा था। सीभोम सहित अनेक खोजकर्त्ताओं का मत है कि लगभग आधे लोग मर गए थे और यह कहना शायद प्लेग के प्रभाव का उचित अनुमान है कि जन-संख्या चालीस लाख से ऊपर से लगभग पच्चीस लाख रह गई। यह संभव नहीं है कि प्लेग महाद्वीप पर कम प्रचण्ड था और यह आश्चर्य हो सकता है कि इङ्गलैंड सहित यूरोप सर्वथा जन-संख्या-रहित नहीं हुआ।

काली मृत्यु से मरण का तात्कालिक परिणाम श्रम का भारी अभाव था; फसलें खेतों पर सड़ गईं और भूमि अकर्षित पड़ी रही। भू-स्वामी मजदूरों को प्राप्त करने में हैरान हो गए।[१] जो कुछ स्वतंत्र श्रमिक बच रहे अश्रवणातीत

१. एक समय यह माना जाता था कि चौदहवीं शताब्दी के मध्य तक विनिमय व्यापक ही नहीं साधारण हो गया था और प्लेग के कारण परिवर्तित परिस्थिति में स्वामियों ने उन दासों को जिन्होंने अपने उत्तरदायित्वों का विनिमय

मजदूरी मांगते थे, जब कि जिन दासों ने अब तक अपनी सेवाओं का विनिमय नहीं कराया था उन्होंने स्वतन्त्रता के लिए प्रबल अनुरोध किया। वे अपने श्रम के मूल्य के सम्बन्ध में अधिक चेतनाशील थे। उनको श्रमिकों की अपेक्षा अपनी सामाजिक स्थिति में परिवर्तन का भी बोध था। पहले एक श्रमिक की अपेक्षा एक आसामी अधिक सम्पन्न और धनी होता था; प्लेग के बाद मजदूरी बढ़ जाने से एक दास की अपेक्षा एक श्रमिक अच्छा हो गया था। स्वामियों ने स्थिति का सामना करने के लिए एक ओर श्रमिकों की मजदूरी यथापूर्व स्तर पर रखने के लिए नियम बनाए और दूसरी ओर यथासंभव दासों को विनिमय प्रदान करना अस्वीकार करने लगे। सन् १३४९ के श्रमिकों के अध्यादेश और १३५१ के श्रमिकों के अधिनियम[1] के बावजूद मज़दूरी बढ़ती गई, इससे स्वामियों की जो भी सेवाएँ उनको अब भी प्राप्त हो सकती थीं उनका अधि-

---

करा लिया था पुनः व्यक्तिगत सेवाओं का भार उठाने के लिए बाध्य किया। यह मत प्रो० थोरोल्ड रोजर्स ने लोक-प्रिय बनाया है, जो बड़े विद्वान और परिश्रमी थे, परन्तु यह खोज करने पर असत्य निकला है। अब यह माना जाता है कि काली मृत्यु से पूर्व विनिमय का क्षेत्र इतना व्यापक नहीं था जितना कि पहले माना जाता था। यह मानने के लिए कारण हैं कि विनिमय को साधारण बनाने के लिए यथेष्ट मात्रा में मुद्राएँ उपलब्ध नहीं थीं। इसके अतिरिक्त इस बात के प्रमाण हैं कि देश में आधी से अधिक स्वामि-भूमियों पर विनिमय का अस्तित्व नहीं था जब कि अनेक दूसरियों में यह केवल अंशतः प्रचलित था। यह केवल बहुत कम अनुपात में पूर्ण था। अब यह ज्ञात हो गया है कि अनेक स्वामि-भू पंजियों में निकृष्ट चाकरी का मौद्रिक मूल्य लिखा हुआ मिलता है; निःसन्देह यह रिवाज नौकरी नहीं देने पर जुर्माने आँकने में उपयोगी था और विनिमय स्वीकार हो जाने पर निश्चित रूप से बहुत मूल्यवान था, परन्तु इस आधारभूत परिवर्तन से बहुत पहले प्रायः ऐसा किया जाता था। अनिवार्य सेवाओं के मूल्य का लेखा विनिमय का प्रमाण मान लिया गया है, परन्तु यह ऐसा नहीं था।

१. सन् १३४९ में, जबकि प्लेग फैल रहा था, एडवर्ड तृतीय ने एक श्रमिकों का अध्यादेश जारी किया जिससे काली मृत्यु से पूर्व प्रचलित मजदूरी से अधिक मज़दूरी लेना या देना निषिद्ध कर दिया गया और श्रमिकों को मजदूरी की पुरानी दर पर कार्य करने का आदेश दिया गया। सन् १३५१ में प्रथम श्रमिकों का अधि-

कार त्यागने की अनिच्छा बढ़ गई। विनिमय की प्रगति पर इस रुकावट से आसामी अधिकाधिक असन्तुष्ट हो गए और यह असन्तोष किसान विद्रोह के रूप में प्रकट हुआ।

सन् १३८१ में किसानों के महान् विद्रोह के कई कारण थे[1] और आसामियों के अतिरिक्त अनेक वर्गों के लोग इसमें सम्मिलित थे। विनिमय की

नियम बनाया गया जिससे अध्यादेश की शर्तों को वैधानिक मान्यता प्रदान की गई कि कीमतें और मजदूरी पुनः पुराने स्तर पर जानी चाहिए। किसान विद्रोह से पूर्व जो तीस वर्ष निकले उनमें यह व्यवस्था पाँच बार बनाई गई और क्रमागत व्यवस्थापन ने दंड में वृद्धि का रूप लिया।

संसद् सदस्य भू-स्वामी थे और संसद् में भू-हित का प्रतिनिधित्व था, जो उस समय, राष्ट्र में अकेला महत्त्वपूर्ण हित था, जब कि निम्न वर्गों को राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। अतएव श्रमिकों के अधिनियमों की वर्ग विधान के उदाहरणों के रूप में निन्दा करना स्वाभाविक है। परन्तु आज के आर्थिक विचारों को चौदहवीं शताब्दी में लगाने से इस औद्योगिक संहिता को पारित करने के उद्देश्यों की गलतफहमी हो जाती है। श्रम के अभाव के दिनों ऊँचों मजदूरी मांगना दूसरों की आवश्यकता से लाभ उठाना था और यह अनुचित तथा ईसाई धर्म के प्रतिकूल था। जैसा कि इस पुस्तक में अन्यत्र बतलाया गया है, यह माना जाता था कि प्रत्येक वस्तु का एक उचित मूल्य वसूल किया जाना चाहिए। मजदूरी श्रम का मूल्य था और इसमें मांग के साथ परिवर्तन नहीं होना चाहिए। और, यद्यपि इस सिद्धान्त का व्यवहार धनिकों के हित में और निर्धनों के विरुद्ध मालूम होता था, यह ध्यान रखना चाहिए कि अधिनियम में वस्तुओं का मूल्य नियंत्रित करके श्रमिकों की रक्षा करने का प्रयत्न किया गया था। जो श्रमिक काली मृत्यु से पहले की दरों पर देता और लेता था वह प्लेग के पहले की अपेक्षा न अच्छा था और बुरा ही।

वास्तव में यह अधिनियम स्थायित्व बनाये रखने का प्रयत्न था जो मध्य युग में वांछनीय माना जाता था। यह सम्भव है कि यदि वस्तुओं के मूल्य पुराने स्तर पर रखे जा सकते तो इसके पारित होने से असंतोष कम होता। परन्तु मूल्य बढ़ गए और लोग उस मजदूरी पर निर्वाह नहीं कर सके जो पहले उनके निर्वाह के लिए यथेष्ट थी। कानून के बावजूद मजदूरी में जो वृद्धि हुई वह मूल्यों में हो रही वृद्धि के परिणामस्वरूप थी।

1. किसान विद्रोह के मुख्य कारण संक्षेप में निम्नाँकित हैं:—

अस्वीकृति के अतिरिक्त अनेक कठिनाइयां प्रकाश में आईं, लेकिन फिर भी यह निश्चित है कि यह आन्दोलन अधिकांश में दासों का विद्रोह था और उनकी सब से बड़ी माँग स्वतन्त्रता थी। ईसैक्स से लोगों के लिए लिखा हुआ है कि वे जब "माइल एण्ड" पहुंचे तो उन्होंने स्वतन्त्रता, भूमि का लगान चार पैन्स प्रति एकड़ की दर से निश्चयन, और क्षमा की याचना की। इन मांगों का अर्थ स्वामियों की अनिवार्य सेवाओं से मुक्ति और एकड़ों की संख्या पर आधारित विनिमय भुगतान ही लगाया जा सकता है। उस समय प्रस्तावित मान के अनुसार एक सामान्य आसामी (विरगेटर) दस शिलिंग वार्षिक देने पर स्वामी के प्रति अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाएगा।

विद्रोही दासों को ऐसे वचन देकर घर लौटने के लिए बहकाया गया जिनका पालन नहीं किया गया। आगामी वर्ष अनेकों को मौत के घाट उतार दिया गया या अन्य प्रकार से सजा दी गई और आन्दोलन असफल प्रतीत होने लगा। किन्तु विनिमय की क्रिया जारी रही और हर एक वर्ष अधिक दासों ने

---

१. स्वामियों द्वारा विनिमय प्रदान करने की अनिच्छा के प्रति आसामियों में क्रोध। आसामी अपनी सेवाओं के मूल्य के विषय में अधिकाधिक जागरूक और अपने बोझों के प्रति अधिकाधिक असन्तुष्ट होते जा रहे थे।

२. श्रमिकों के अधिनियमों द्वारा मजदूरी में वृद्धि रोकने के प्रयत्नों के प्रति श्रमिकों में असन्तोष।

३. नगरों में श्रेणियों की नीति के प्रति प्रशिक्षित श्रमिकों में असन्तोष। (फ्रोइसार्ट के विद्रोह के वर्णन से स्पष्ट है कि लन्दन नगर की साधारण जनता की सहानुभूति कैन्ट के विद्रोहियों की ओर थी और विद्रोहियों द्वारा लन्दन की पुल पार करके नगर में प्रवेश रोकने के जो प्रयत्न किए गए उन्होंने उनमें बाधा डाली।)

४. प्रति पुरुष कर का लगाया जाना जो अत्यन्त अलोकप्रिय था।

५. युद्ध में सफलता के अभाव और जॉन ऑफ गान्ट की अलोकप्रियता से उत्पन्न राजनीतिक असंतोष।

६. "दरिद्र पुजारियों" के समाजवादी (या साम्यवादी) उपदेश, जो विक्लिफ के अनुयायियों में से होंगे।

अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। हो सकता है कि कुछ अंशों तक दूसरे विद्रोह के भय से ऐसा हुआ हो; दूसरी बार दासों को प्रतिज्ञाओं से बहकाना सरल नहीं होगा। परन्तु विनिमय की ओर आन्दोलन जारी करने का एक और कारण था। कई आसामी जिनको इसकी इन्कारी कर दी गई थी अपना खेत छोड़ गए और स्वमि-भू से भाग गए। श्रम के साधारण अभाव के कारण उनका स्वतन्त्र मज़दूरी पर काम करने वालों के रूप में तत्परता से स्वागत हुआ। भागने के समय से एक वर्ष और एक दिन तक वे पीछा करके वापस लाए जा सकते थे—यदि उनका पता चल जाता, जो, मध्यकालीन स्थिति में, सरल काम नहीं था। जो स्वामी विनिमय के लिए स्वीकृति नहीं देता था उसके लिए दासों को रोके रखना असम्भव था, जिससे उसकी स्वामि-भू के वीरान होने का भय था।

भू-स्वामियों को परिस्थिति देखना और अपने दासों से सन्धि करनी पड़ती थी। विनिमय की क्रिया अब भी मन्द थी, पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य तक यह सामान्य हो गई और ट्यूडर काल के प्रारम्भ तक व्यक्तिगत सेवाएँ लगभग भूतकाल की वस्तु हो गईं।[1]

विनिमय स्वीकार होने पर आसामी का दर्जा तत्काल अदृश्य नहीं होता था, परन्तु अनिवार्य सेवाओं की समाप्ति के एक या दो पीढ़ियों के बाद आसामियों को स्वभावतः स्वतन्त्र आदमी माना जाने लगा, जो अपने खेतों के लिए लगान देते थे। ट्यूडर काल में आसामी के दर्जे का मुख्य महत्त्व यह था कि इससे भू-स्वामियों को वित्तीय लूट कर अवसर मिलता था; कभी कभी अत्यधिक सहायता, उत्तराधिकार-दंड (हेरियट) और विवाह-दंड (मरचेट) माँगे जाते थे। आसामी के दर्जे के सम्बन्ध में जितने अभियोग न्यायालयों में आए, न्यायाधीशों में स्वतन्त्रता मानकर चलने की प्रवृत्ति थी। एलिजाबेथ ने शाही भूमियों पर आसामी वृत्ति समाप्त कर दी। अन्ततः, १६१७ में, पिग बनाम केले के मुकदमे में जिसमें प्रतिवादी केले ने यह प्राचीन दलील दी कि वादी उसका आसामी था,

---

१. व्यक्तिगत सेवाओं के जीवित रहने के उदाहरण कभी कभी एलिजाबेथ के शासन तक खोजे जा सकते हैं।

पश्चात् इस कार्य के लिए यथेष्ट दासों या स्वतंत्र श्रमिकों को प्राप्त करना बहुत कठिन हो गया। कुछ भू-स्वामियों ने जो कोई लेना चाहे और इसके लिए आवश्यक श्रम इकट्ठा करने का उत्तरदायित्व स्वीकार करे उसको हवाले की भूमि पट्टे पर देकर इन कठिनाइयों का हल किया। बहुधा मुख्तार या मुखिया या अपेक्षाकृत धनी आसामियों में से एक भू-स्वामी से हवाला लेकर देखता था कि क्या वह इससे लाभ उठा सकता था। स्थानीय होने से वह भूमि की दशा जानता होगा। वह श्रमिकों से परिचित हो सकता था और वह अपने परिवार के सदस्यों से काम ले सकता था। परन्तु आने वाले किसान के पास खेती की पूंजी कठिनाई से मिलती थी—कम से कम यथेष्ट मात्रा में नहीं—और प्रारम्भिक पट्टों में भूमि प्रायः बैलों और घोड़ों, हलों और दूसरे औजारों और बीजों सहित दी जाती थी। वास्तव में यह एक चालू धन्धे के रूप में दी जाती थी। ऐसे पट्टों को पूंजी-और-भूमि के पट्टे कहा जाता था, ये एक साथ कुछ वर्षों के लिए होते थे और प्रायः नये कर दिए जाते थे।[१] यदि यह क्रम पचास वर्ष तक जारी रह गया तो किसान बिना पूंजी के भूमि पट्टे पर ले सकता था। स्पष्ट है कि यह साहस सफल रहा। किसान ने केवल जीवित निर्वाह ही नहीं किया परन्तु प्रति वर्ष कुछ बचत कर ली और लगभग अर्द्ध शताब्दी में इतनी पूंजी इकट्ठी कर ली कि वह साधारण पट्टा ले सके।

हवाले के लिए भू-स्वामी[२] को जो लगान दिया जाता था वह मुद्रा में हो सकता था या जिन्स में। यह रिवाजी किसानों द्वारा दिए जाने वाले उन्मोचन शुल्क (लगान) से भिन्न था; यह स्पर्धी लगान था और पट्टा नया करने के समय इसमें परिवर्तन किया जा सकता था। मध्य युग में निश्चित भुगतान को फर्म (ferm) कहते थे, इस प्रकार हवाले का किसान फर्मर (fermer) या

१. यद्यपि प्राचीन काल में कर्षित हवालों में खुले खेतों में बिखरी हुई पाटियां होती थीं, पन्द्रहवीं शताब्दी तक अधिकांश हवाले एक चक में हो गए थे। निश्चय ही पाटियों की अदला-बदली से ऐसा हुआ होगा।

२. भू-स्वामी जो स्वामि-भू पर निवास करना बन्द कर देता था एक किसान नहीं रहकर एक लगान पाने वाला बन जाता था।

फार्मर (farmer)[1] कहलाया। सारा हवाला उसका खेत था और इसलिए रिवाजी किसान के खेत से बहुत बड़ा होता था, यद्यपि कालान्तर में हवाला कई किसानों में बाँट दिया गया। इस प्रकार बनाए हुए खेत, यद्यपि वे प्रतिलिपि-धारियों के खेतों से काफी बड़े होते थे, तथापि उन पर खेती करने के लिए उतनी पूंजी की आवश्यकता नहीं होती थी जितनी कि समस्त हवाले के लिए और साधारण श्रेणी के लोगों के लिए उनको साधारण पट्टों पर लेना सरल था। इस प्रकार आंग्ल समाज में खेतिहर किसानों का प्रादुर्भाव हुआ। वह समस्त काल जिसमें पूंजी और भूमि पट्टा व्यवस्था का प्रचलन रहा चौदहवीं शताब्दी के मध्य से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक कुल डेढ़ शताब्दी का था।[2] हवाले को पट्टे पर देने का रिवाज साधारण हो गया और आश्रमवासियों की स्वामि-भूमियों को छोड़कर जिन पर आश्रमों के अन्त तक मुख्तार द्वारा खेती की पद्धति चलती रही; सोलहवीं शताब्दी तक हवालों का सीधे भू-स्वामियों के नियंत्रण में पाया जाना असाधारण हो गया।

सोलहवीं शताब्दी तक विक्टोरिया के काल में इङ्गलैंड में प्रचलित तीन प्रकार की भू-धारण पद्धतियों का प्रादुर्भाव हो गया था। निःशुल्कधारियों को भूमि सीधी सम्राट् से मिली थी और उनका लगभग अबाधित अधिकार था, जिसमें वे सुरक्षित थे। उनके खेत बड़े या छोटे कैसे भी हो सकते थे और एक चक में होते थे या खुले खेतों में। प्रतिलिपि धारियों को अपनी भूमि के लिए उन्मोचन शुल्क (लगान) देना पड़ता था और सोलहवीं शताब्दी तक न्यायालय उनके अधिकारों को मान्यता देने लग गए थे। प्रतिलिपिधारित भूमि प्रायः खुले खेतों में थी। पट्टे धारी कुछ वर्षों के लिए निःशुल्कधारियों से भूमि लेते थे और स्पर्धी लगान देते थे। उनके खेत सामान्यतः एक चक में होते थे।

१. आजकल खेती करने वाले को "फार्मर" कहते हैं किन्तु आरम्भ में यह शब्द ऐसे व्यक्ति के लिए प्रयुक्त किया जाता था जिसको एक निश्चित और नियमित मात्रा में भुगतान करना पड़ता था।

२. काली मृत्यु से पूर्व भी पूंजी और भूमि के पट्टे अज्ञात नहीं थे; इसके पिपरीत उनके कुछ उदाहरण सोलहवीं शताब्दी में पाए जाते हैं।

तीसरा कारण जिसमें मध्यकालीन स्वामि-भू पद्धति का विनाश हुआ वह भेड़ पालन के लिए बाड़ों का विकास था। ऊनी वस्त्र का निर्माण इङ्गलैंड और नीदरलैण्ड दोनों में किया जाता था। इङ्गलैंड की ऊन की स्वदेश और विदेश दोनों में तेज मांग थी। [1] इस वस्तु के लिए उचित मूल्य और स्थिर माँग का भरोसा था। अनाज का मूल्य कम स्थिर था। निर्यात पर रुकावटें थीं और फसलें बहुत अच्छी होने पर कीमतें नीची रहती थीं। मजदूरियों की बढ़ने की प्रवृत्ति, जो ब्लैक डैथ के बाद शुरू हुई थी, पन्द्रहवीं सदी में जारी रही, और घास उगाने में खेती की अपेक्षा कम मेहनत पड़ती थी। इसलिए जमींदारों का, जो अपने बाकी मजदूरों की मांगों से परेशान थे, झुकाव खेती बिल्कुल छोड़ देने और अपनी जमीनों में घास उगाने की ओर हो गया। पर यदि जमीनों के छोटे-छोटे टुकड़े अलग-अलग जगह हों तो वे चरागाह बनाने के लिए बेकार थे, किन्तु यदि वे एक चक में और चारों ओर से बाड़ से घिरे हुए हों—जैसा कि मध्यकाल के अन्तिम दिनों में आम तौर से था—जब मालिक चाहता तब ही खेती छोड़ कर घास उगाने का काम शुरू कर सकता था। बाकी बचे हुए गुलाम-मजदूरों को छुट्टी दी जा सकती थी और इस परिवर्तन से मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरों पर ही बुरा असर पड़ सकता था जो बेकार हो जाते।

पर खेतों की पट्टियां इतनी छोटी छोटी थीं कि बड़े पैमाने पर भेड़-पालन करने के लिए बेकार थीं, और कुछ जमींदारों ने सार्वजनिक चरागाह का उनका कुछ हिस्सा तथा परती जमीन और जंगल की जमीन भी उसमें घेर ली। इससे गाँव वालों के अधिकारों को बड़ी चोट पहुँची। उनकी जीविका के एक मात्र साधन बैल थे और इससे उनके चरने के लिए कोई जगह न रही। उनके पास इसका विरोध करने का कोई उपाय नहीं था; चरागाह पर उनका अधिकार रूढ़-जनित (Customary) था, कानूनन नहीं। राजा के न्याया-

१. जैसा कि एक अन्य अध्याय में बताया गया है, पन्द्रहवीं शताब्दी में इंगलैंड में ऊनी कपड़ा उद्योग बढ़ने के कारण ऊन का निर्यात घट रहा था।

लय उनकी मदद नहीं कर सकते थे।[1] कुछ समय बाद जमीदार ने खुली कृषि-योग्य भूमि और चरागाहों को अपने घेरे में मिलाने की तैयारी कर ली। काश्तकार अब मुसीबत में पड़ गये थे। सदियों तक रूढ़ियों ने उनकी रक्षा की, क्योंकि रूढ़ियों के अनुसार चलना जमीदार के हित में था; पर जब परिस्थितियाँ बदल गईं और उसका हित इस बात में न रहा कि वह रूढ़ि के अनुसार चले, तब उन्हें पता चला कि यह संरक्षण कितना अपर्याप्त था।

जो जमीनें आजाद काश्तकारों के पास थीं, वे उनसे धींगामुश्ती से नहीं छीनी जा सकती थीं। पर, यद्यपि कृषियोग्य और घास की भूमि पर उनका स्पष्ट रूप से मालिकाना हक था, और उसे अदालत में सिद्ध किया जा सकता था, तो भी चरागाह और जंगल भूमि के अधिकार समाप्त हो जाने से उनको कठिनाई हो गई और उन्होंने जमीदार से समझौता कर लेना ही अच्छा समझा। वह उनकी जमीन खरीदने को तैयार था, जिससे वह सारी जमीन अब एक घेरे में आ जाती—वह अकेला ही उस सारी का मालिक होता और दो-चार गडरिये उसकी देख-भाल के लिए रख लेता।

इन परिवर्तनों को बहुत अतिरंजित करके कहा जा सकता है। सारी की सारी जमीदारी को खेती से चरागाह बना देने का सिलसिला ईस्ट और ईस्ट मिडलैंड्स की थोड़ी सी काउंटियों में, और इनमें भी थोडी सी जमीदारियों में ही चला था। घेरेबंदी पर और उसके सामाजिक तथा आर्थिक प्रभावों पर अधिक विस्तार से बाद में विचार किया जाएगा, यहां इसका उल्लेख जमीदारी प्रणाली या मैनोरियल सिस्टम के टूटने के प्रसंग में किया गया है।

इस प्रणाली के टूटने का एक और भी कारण था जो मूलतः आर्थिक नहीं था। इस प्रणाली के प्रचलन के दिनों में जमीदार को अपनी जमीदारी के

---

१. काश्तकार (Customary tenant) को स्टेच्यूट आफ मेर्टन से संरक्षण नहीं मिलता था। इस कानून के द्वारा, जो १२३५ में पास हुआ था, जमीदार को परती जमीन घेर लेने की इजाजत मिल गई थी बशर्तेकि वह नाइटों और फ्री होल्डरों के उद्योग के लिए काफी जमीन छोड़ दे। पर क्योंकि जमीदार ने ही यह फैसला करना था कि कितनी जमीन काफी है, इसलिये यह स्टेच्यूट न होने के बराबर था।

निवासियों के मुकदमों का फैसला करने की शक्ति होती थी और वह या उसका कारिंदा बीच बीच में कचहरी लगाते थे। गुलाम किसान और साकमैन इनके अधिकार क्षेत्र में थे। जमीदार को कचहरी लगाने से आर्थिक लाभ होता था। ज्यों-ज्यों गुलाम किसान आजादी की तरफ बढ़े, त्यों-त्यों ये लाभ कम होते गये। जमीन सम्बन्धी रूढ़ियों को तोड़ने के मामले कम होते गये और वसूल किये जाने वाले जुर्मानों की राशि कम होती गई जिससे कचहरी लगाने के अधिकार का महत्त्व घट गया। दूसरी बात यह थी कि एंगेविन राजाओं की नीति देश के हर भाग में अपना राजकीय क्षेत्राधिकार कायम करने की थी। अब सब लोगों का यह असंदिग्ध अधिकार माना जाने लगा कि वे अपने मामले फैसले के लिए राजा की अदालतों में ला सकें। जजों को देश भर में भेजा जाने लगा और इससे जुर्मों के मुकदमों में जमीदारी अदालतों का महत्त्व घट गया। जब उनसे कोई आर्थिक लाभ न रहा, तव उन्हें कौन लगाता? उनका क्षेत्राधिकार राजा के न्यायालयों के हाथों में आ गया और अब जमीदारी की एकरूपता बनाये रखने में उनका कोई हाथ न रहा।

इसलिए पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक मध्यकालीन जमीदारी प्रणाली का अस्तित्व समाप्त हो गया। खुले खेतों में अब भी खेती होती थी, पर आजाद किसान अब नहीं रहे थे, और गुलाम किसानों की जगह मजदूरी लेकर काम करने वाले मजदूर आ गये थे। जमीदार की छोटी-छोटी जमीनों की जगह बड़े-बड़े बाड़ से घिरे हुए खेत बन गये थे, और कुछ जगह खेती बिल्कुल छोड़ कर चरागाह बना दिये गये थे। प्राकृतिक अर्थ-व्यवस्था की जगह जिसमें चीज और सेवा के बदले चीज और सेवा ली जाती थी, मुद्रा-अर्थव्यवस्था आ गई थी जिसमें करेंसी यानी चलार्थ से सब आर्थिक व्यवहारों में सुविधा हो गई। रूढ़ि का बल घट रहा था और स्वार्थ के सामने विफल हो रहा था। व्यापार और प्रतियोगिता की भावना बढ़ रही थी। लोग आधुनिक युग में प्रवेश कर रहे थे।

पाँचवां अध्याय

ऊनी कपड़े का निर्माण कैसे बढ़ा ?

बड़े प्राचीन काल से इङ्गलैण्ड के देहातों में घरों में ऊन का धागा कात कर उसके कपड़े बुने जाते थे। इस गृह उद्योग से बनने वाली वस्तु भद्दी होती थी, पर यह बेचने के लिए नहीं बनायी जाती थी, यह लोग अपने घर के प्रयोग के लिए बनाते थे।[1]

सारे देश में ऊन की बहुतायत होने से व्यापारिक प्रयोजन के लिए[2] कपड़ा बनाया जाने लगा और प्रमाणों से सिद्ध होता है कि नार्मन विजय की एक शताब्दी में यह उद्योग मौजूद था। हेनरी प्रथम के राज्य-काल में बुनकरों के संघ मौजूद थे और धीरे-धीरे बुनाई की कला देश के प्रायः हर भाग में पहुँच गयी। कुछ नगरों में, बुनकरों का गिल्ड व्यापारी से संघर्ष हुआ जो कपड़े के व्यापार पर अपना एकाधिकार करना चाहता था। अंत में बुनकर अपनी स्थिति यथापूर्व बनाये रखने में कामयाब रहे।

धीरे-धीरे कुछ समय गुजरने पर, इस उद्योग पर बुनकरों के गिल्डों का जो नियंत्रण था, उसके अलावा और नियंत्रण किया गया, अथवा करने की कोशिश की गयी। एसाज़ेज आफ क्लाथ, ११९७, द्वारा यह आदेश दिया गया कि बिक्री का सारा कपड़ा एक ही अर्ज़ का होना चाहिए, पर इस नियम को लागू करने में बड़ी कठिनाइयाँ आयीं, और बहुत से नगरों ने अपने माल के लिए इस नियम से छूट हासिल कर ली। तेरहवीं शताब्दी में कपड़े की बिक्री का पर्यवेक्षण और विनियमन औलनमोर नामक अफसर को सौंप दिया गया।

---

१. उद्योग की उन दिनों वही अवस्था थी जो कृषि की अर्थात् बेचने के बजाए जीवन-निर्वाह के लिए उत्पादन होता था।

२. कपड़ा निर्माण में कई विभिन्न प्रक्रम किये जाते थे जिनमें कार्डिंग या सफाई, कताई, बुनाई, रंगाई और फिनिशिंग भी शामिल थे और स्पष्ट है कि इस उद्योग में श्रम के विभाजन का सिद्धांत अच्छी तरह जम चुका था।

इस अफसर का काम यह था कि वह बिक्री के लिए पेश किये जाने वाले सारे कपड़े की लम्बाई और किस्म के बारे में अपनी सन्तुष्टि कर ले।

उद्योग ऐसी तेजी से बढ़ा कि तेरहवीं शताब्दी में कुछ इङ्गलिश कपड़ा निर्यात के लिए बच रहा। पर इङ्गलिश कपड़ा फ्लेमिश कपड़ों से घटिया किस्म का था—फ्लेमिश कपड़े उच्च वर्ग के लिए आयात किये जाते थे और इङ्गलिश उद्योग अभी विदेशी प्रतियोगिता के मुकाबलों में खड़ा नहीं हो सकता था। तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ऊन के निर्यात और कपड़े के आयात पर रोक लगा कर इङ्गलिश बुनाई उद्योग को संरक्षण देने की कोशिश की गयी। इन पाबन्दियों से थोड़ी सफलता मिली और इनका प्रेरक भाव आर्थिक के साथ साथ राजनैतिक भी था। तीनों एडवर्ड विदेशी व्यापार में बाधा डाल कर विदेशी सरकारों पर दबाव डालते थे और रुकावटों और पाबन्दियों का तात्कालिक लक्ष्य पूरा हो जाने पर वे प्रायः हटा दी जाती थीं।

तेरहवीं शताब्दी खतम होने से पहले कपड़ा-निर्माण में गिरावट का काल शुरू हो गया जो एडवर्ड तृतीय के राज्य काल से पहले तक चलता रहा। इस राजा ने इस उद्योग की गिरावट को रोकने का और इसमें विदेशी कारीगरों को लाकर इसे फिर इङ्गलैंड का प्रमुख उद्योग बनाने का संकल्प किया। इन दिनों नीदरलैंड्स में चल रही गड़बड़ी, इस नीति के अनुकूल थी। बड़े नगरों का काउंट आफ फ्लैंडर्स से संघर्ष हो रहा था और यह भी संभव है कि स्वयं-कारीगरों में मत-भेद पैदा हो गये थे। एडवर्ड तृतीय ने फ्लेमिश बुनकरों को इङ्गलैंड में बसने के लिए बुलाया और उन्हें राजकीय संरक्षण देने का वचन दिया। कुछ ही वर्षों में सैकड़ों बुनकरों ने इस अवसर का लाभ उठाया और वे इङ्गलैंड में आ बसे।

जैसी कि संभावना थी, इन विदेशी बुनकरों के आने पर देसी कारीगरों में असंतोष पैदा हो गया। फ्लेमिंग लोग कई शहरों में बस गये और संभवतः अपने कौशल के कारण बहुत से कार-बार पर हावी हो गये।[1] शहर वालों

१. उन्होंने नारफोक काउंटी में नारविच में तथा अन्य स्थानों पर वर्स्टेड उद्योग के विकास में बड़ी सहायता दी। वर्स्टेड बड़े रेशे की ऊन से बुना जाता था। यह ऊनी कपड़ों से हलका और सस्ता रहता था, और अन्य दृष्टियों से भी यह उससे अधिक पसंद किया जाता था।

ने उनपर नियंत्रण करने की कोशिश की, और प्राय: राजा के बीच में पड़ने से झगड़ा रुका। लन्दन में विदेशी बुनकरों ने एक अलग गिल्ड बना लिया, जिसे १३५२ में स्वीकृति मिल गयी। लन्दन में देसी बुनकरों का जो गिल्ड था, उसने इस दूसरे संगठन के बनने पर नाराजगी जाहिर की, और इस पर इस आधार पर अपना आधिपत्य जमाने की कोशिश की, कि विदेशी बुनकरों ने उस राशि में कुछ नहीं दिया है जो सारे बुनकरों की ओर से राजा को दी जाती थी। अन्त में फ्लेमिंग बुनकरों को अपने हिस्से की धनराशि राजा को देनी पड़ी।

जैसा कि अन्यत्र बताया गया हैं, मध्य युग में उद्योग के संगठन में सामान्यत: पूंजी का स्थान गौण होता था। उस्ताद-कारीगर को अपने औजारों के अलावा और किसी चीज की आवश्यकता नहीं होती थी, और वह अपना कार-बार अपने कौशल और अपने थोड़े से ग्राहकों के भरोसे से चलाता था। पर कुछ फ्लेमिश कारीगर धनी लोग थे और वे कई आदमियों को अपने यहां काम पर लगा सकते थे, और धीरे-धीरे यह उद्योग पूंजीपति बुनकरों के हाथों में आने लगा। पन्द्रहवीं शताब्दी तक बुनकरों का एक ऐसा वर्ग बन गया था जो कपड़े बुनने के लिए मजदूरों को नौकर रखता था। उसमें से कुछ लोग अपनी भेड़ें भी पालते थे और इस तरह अपने लिए ऊन की व्यवस्था करते थे।

सोलहवीं शताब्दी तक उद्योग पर प्राय: पूरी तरह पूंजीपति निर्माताओं का नियंत्रण हो गया।[1] मुख्यत: असली काम अब भी घरेलू ढंग पर ही होता था। मजदूर अपने औजारों से अपने घरों पर ही काम करते थे और कभी कभी अपने यहां नौसिखियों को नौकर रख लेते थे पर ऐसे बड़े कारखाने भी मौजूद थे जिन में बहुत से आदमी काम करते थे, और उन पर श्रम के विभाजन का नियम लागू किया जाता था। जान विन्चकोंब, जो जैक आफ न्यूबरी के

---

१. पूंजीवादी नियंत्रण की दिशा में यह झुकाव मध्यकाल के अन्तिम वर्षों में अन्य उद्योगों में भी दिखायी पड़ रहा था। इसका क्राफ्ट गिल्ड वाले अध्याय में पहले उल्लेख हो चुका है।

नाम से अधिक प्रसिद्ध है, बहुत से आदमी नौकर रखे हुए था, और विलियम स्टंप जिसने मठों के खत्म किये जाने के बाद माम्सबरी एबे राजा से खरीद लिया था, वहाँ तथा ओस्ने एबे में बहुत सारे आदमियों से काम कराता था। पर ये उदाहरण अपवाद-स्वरूप थे, और मुख्यत: पूंजीपति बुनकरों के नियन्त्रण में चलने वाले घरेलू काम की प्रणाली औद्योगिक क्रांति से ठीक पहले तक जारी रही।

समय-समय पर पूंजीपति बुनकरों और अन्य वर्गों में काफी संघर्ष पैदा हो जाता था। पूंजीपति बुनकरों में आपस में भी प्रतिस्पर्धा चलती थी और मालिकों तथा मजदूरों में मजदूरी के सवाल पर भी झगड़ा उठ खड़ा होता था। स्वतन्त्र बुनकर भी इन सबल प्रतिद्वन्द्वियों के होने से असंतुष्ट रहते थे, और आरोप लगाते थे कि ये लोग सारा कच्चा सामान अपने कब्जे में कर लेते हैं।[१] पूंजीपति बुनकरों द्वारा बेचे जाने वाले कपड़े की क्वालिटी पर नुक़ताचीनी की जाती थी। पर इन निर्माताओं का सब से बड़ा संघर्ष व्यापारी-साहसियों से था। बुनकर अन-फिनिश्ड कपड़ा बना कर ही संतुष्ट न थे। वे इसे रंगना चाहते थे। पर व्यापारी-साहसी इसे बिना रंगे विदेशों को भेजना पसंद करते थे। इङ्गलैण्ड में रंगाई शुरू हो जाने से योरप के रंगाई उद्योग को हानि पहुँचती और प्रतीत होता है कि साहसियों को यह डर था कि योरप वाले हमारे खिलाफ कुछ कदम उठाएंगे।[२]

---

१. मध्यकाल में व्यापारिक अनैतिकता की शिकायतों पर जो उपेक्षा दृष्टि रखी जाती थी उससे स्पष्ट पता चलता है कि जमाने की चाल में कितना परिवर्तन हो रहा था।

२. साहसियों ने योरप में राजाओं से डिपो स्थापित करने की इजाजत ले ली थी। राजा सोचते थे कि अंग्रेज व्यापारियों के रहने से उनके राज्यों में रंगाई और फिनिशिंग उद्योगों की नींव पड़ जाएगी। पर यदि साहसी इङ्गलैण्ड से रंगे हुए कपड़े लाते तो ये उद्योग ठप्प हो जाते और यह डर था कि साहसियों के विशेषाधिकार खतम हो जाते।

इङ्गलैण्ड में १३५० के बाद ऊनी कपड़े के निर्माण में इङ्गलैण्ड की ऊन का बहुत सा हिस्सा खपने लगा। १४ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में देश से मुख्यत: ऊन का ही निर्यात होता था। इसके बाद देश के भीतर ऊन की मांग बढ़ जाने के कारण ऊन का निर्यात घट गया, यद्यपि १५ वीं तथा १६ वीं शताब्दी में चरागाहों का क्षेत्र बढ़ गया था। पर जितनी कीमत का ऊन निर्यात किया जाता था, उससे अधिक कीमत का ऊनी कपड़ा निर्यात किया जाने लगा।

छटा अध्याय

इङ्गलैण्ड के विदेशी व्यापार की तरक्की

नार्मन विजय से पहले भी इङ्गलैण्ड और उसके पड़ोसी योरपीय देशों में थोड़ा व्यापार होता था। आठवीं शताब्दी में प्रथम होली रोमन सम्राट् चार्ल्स महान् ने मर्सियन्स के राजा ओफा को जो पत्र लिखा था, उससे इङ्गलैण्ड और योरप में व्यापारिक समागम का पता चलता है; और एक शताब्दी बाद एलफ्रेड ने व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिए यह ऐलान किया था कि जो व्यापारी अपने जहाज में तीन बार समुद्र पार जाएगा वह "सरदार" घोषित किया जाएगा। डेन लोगों का इङ्गलैण्ड से सम्पर्क होने के कारण स्केंडिनेवियन देशों के साथ व्यापार को प्रोत्साहन मिला, और नार्मन विजय से इङ्गलैण्ड का फ्रांस और नीदरलैंड्स के साथ व्यापार बढ़ गया।

सारे मध्यकाल में इङ्गलैण्ड का व्यापार मुख्यतः विदेशी व्यापारियों के हाथों में था, जो अपना माल बेचने और इङ्गलिश माल खरीदने के लिए इङ्गलैंड आते थे। इङ्गलैण्ड का शेष संसार से सम्बन्ध बनाये रखने के लिए इन व्यापारियों का आना बड़ा जरूरी था, क्योंकि इङ्गलिश व्यापारी समुद्रपार जाने की हिम्मत नहीं करते थे, तो भी विदेशियों को नापसन्द किया जाता था और उन पर अनेक पाबन्दियाँ लगी हुई थीं। वे जिन नगरों में जाते थे, उनके लोग उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखते थे। उन्हें भारी चुंगी देनी पड़ती थी। वे साधारणतया ४० दिन ही ठहर सकते थे और सिर्फ थोक व्यापार कर सकते थे (खुदरा व्यापार पर स्थानीय गिल्ड व्यापारियों का एकाधिकार होता था) उन्हें बाधित रूप से किसी इङ्गलिश व्यापारी के निरीक्षण में ठहरना पड़ता था जो उनके सौदों के समय उपस्थित रहता था और जिस पर यह देखने की जिम्मेवारी थी कि उन पर लागू नियमों का पालन हो। जब वे अपना सामान बेचते थे तब उनसे यह आशा की जाती थी कि वे उतने ही मूल्य का इङ्गलिश सामान

खरीदें ताकि मुद्रा देश से बाहर न जाए।[1]

विदेशी व्यापारियों को कुछ हद तक राजकीय संरक्षण मिलता था। इस मामले में राजा के हित और नगरों के हित एक नहीं होते थे। राजा को सीमाशुल्कों से धन प्राप्त होता था और इसलिए विदेशी व्यापार को बढ़ावा देने में उसे प्रत्यक्ष लाभ था; म्युनिसिपैलिटियाँ अपने एकाधिकार कायम रखने में दिलचस्पी रखती थीं। हितों की इस भिन्नता ने राजा और बड़े नगरों में, जो मध्ययुग के अंत तक बने रहे, संघर्ष पैदा कर दिया।

विदेशी व्यापारियों के कुछ वर्गों को विशेष अधिकार मिले हुए थे।[2] इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण हंसियाटिक लीग के व्यापारी थे जो जर्मनी और स्कैंडिनेविया के हैम्बर्ग, कोलोन, लूबेक और डान्जिग आदि नगरों से आते थे। इस विशाल संघ ने विशेषाधिकार हासिल कर लिये और उत्तरी योरप के अधिकतर भागों में व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर लिये। इङ्गलैण्ड में हंस व्यापारी उन बहुत सी पाबन्दियों से मुक्त थे जो अन्य विदेशियों पर लागू थीं और उन पर इङ्गलिश व्यापारियों की अपेक्षा भी कम तटकर लगता था।[3] पूर्वीतट के कई नगरों में उनके डिपो थे; लन्दन का डिपो स्टीलयार्ड कहलाता था।[4] वे बहुत सी

---

१. ये पाबन्दियां अलग-अलग समयों में अलग-अलग मात्रा में प्रभावकारी रहीं। एडवर्ड प्रथम ने उन्हें लागू करने से इन्कार कर दिया पर उसके पुत्र ने उन्हें लागू किया। एडवर्ड तृतीय ने विदेशी व्यापारियों को संरक्षण प्रदान किया, पर अपने राज्यकाल के अंतिम दिनों में यह मान लिया था कि नगरों को उपर्युक्त पाबन्दियां लगाने का अधिकार है।

२. बहुत सारे नगर हंसियाटिक लीग से सम्बन्धित थे और लीग के डिपो बर्जेन, नोवगोरोड और ब्रजेस तक के क्षेत्र में फैले हुऐ थे।

३. वे देश के हर भाग में थोक व खुदरा व्यापार करते थे और उन्हें असीमित काल तक रहने की इजाजत थी। स्वभावतः इंग्लिश व्यापारी इन विशेषाधिकारों को नापसन्द करते थे।

४. स्टीलयार्ड उस जगह था जहां अब कैनन स्ट्रीट रेलवे स्टेशन है

वस्तुओं का व्यापार करते थे जिन में सबसे महत्त्वपूर्ण हेरिङ्ग मच्छली और ऊनी वस्त्र थे।[१] वे हेनरी द्वितीय के शासन काल के आरम्भ में लन्दन में आ गए थे और उसने उनको विशेषाधिकारों का पत्र प्रदान किया था। एडवर्ड चतुर्थ ने १४७४ में वारविक और मार्गरेट आफ अन्जोव के विरुद्ध किए गए धावे के समय उनके द्वारा दी गई वित्तीय सहायता के बदले में इन विशेषाधिकारों की पुष्टि की थी।

गेसकोनी की शराब का व्यापार हेनरी द्वितीय के समय से ही आरम्भ हो गया था क्योंकि गेसकोनी उसके साम्राज्य का एक प्रान्त था। इङ्गलैंड और गेसकोनी के बीच राजनैतिक सम्बन्ध ने, जो तीन शताब्दियों तक चला, नि:सन्देह व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने में सहायता दी और यह सम्बन्ध इस प्रान्त के हाथ से निकल जाने के बाद भी कायम रहा।[२]

वेनिस्क से भी व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गए। पूर्व के मसालों की मांग थी और शताब्दियों तक इस महान् व्यापारिक नगर ने पूर्वी वस्तुओं के वितरण के लिए ब्रुगेस में एक कोठी रखी। वेनिस्क और ब्रुगेस के बीच व्यापार का सामान्य मार्ग स्थल-मार्ग था, बर्नर के दर्रे और राइन की घाटी के द्वारा, परन्तु चौहदवीं शताब्दी तक इङ्गलैण्ड के समुद्र बंक को एक जहाजी बेड़ा भेजने का रिवाज बन गया।[३] यह बेड़ा, जिसको फ्लैण्डर्स का बेड़ा कहते थे, वेनिस्क के राज्य का था। व्यापार के अवसरों से लाभ उठाने की इच्छा वाले वेनिस्क के व्यापारी इसमें से जहाज किराए पर लेते थे। यह जहाजी बेड़ा राजकीय निरीक्षण और नियन्त्रण में रहा। इस प्रकार एक विशुद्ध निजी

---

१. हेन्स के व्यापारी इङ्गलैण्ड में महीन रोएं, हेरिङ्ग मच्छली और राल और कालान्तर में अनेक वस्तुएँ लाते थे। वे इङ्गलैंड से ऊन, ऊनी वस्त्र और चमड़े का निर्यात करते थे।

२. गेस्कोनी १४५३ में अन्तिम बार जाता रहा।

३. मध्य युग के उत्तर काल में वेनिस्क दक्षिण योरप में व्यापार का सब से बड़ा केन्द्र था। वेनिस्क के लोगों द्वारा अपनाए गए मार्ग ये थे :

कारोबार की अपेक्षा अधिक सफलतापूर्वक अनुशासन रखा जा सकता था। और वेनिस्क की सरकार के लिए जिन देशों को यह बेड़ा जाता था उनसे व्यापारिक संधियाँ करना संभव हो गया। इङ्गलैण्ड के समुद्र बंक में पहुँच कर इस बेड़े के अलग अलग विभाग हो जाते थे, जो नीदर लैण्ड्स, उत्तरी फ्रांस और दक्षिणी इङ्गलैण्ड के बन्दरगाहों से व्यापार के लिए जाते थे।[1]

मध्य युग के उत्तर काल में प्रमुख मण्डी[2] की स्थापना के द्वारा आंग्ल निर्यात व्यापार पर नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयत्न किया गया था। यह एक स्थिर मण्डी थी जो ऊन, खालें और चमड़े, रांगा और शीशा आदि प्रमुख वस्तुओं के समुद्र-पार व्यापार का केन्द्र थी। इनमें ऊन सबसे महत्त्वपूर्ण थी और बहुधा इसी को प्रमुख वस्तु माना जाता था। भिन्न-भिन्न समय में प्रमुख मण्डी एन्टवर्प, ब्रूगेस, सेन्ट ओमर तथा अन्य विभिन्न विदेशी नगरों में निश्चित की जाती थी। एडवर्ड तृतीय ने प्रमुख मण्डी के स्थान में अनेक परिवर्तन किए और एक समय कई आँग्ल नगरों को प्रमुख मंडी नियुक्त कर दिया। इसको पुनः समुद्र-पार हटाया गया और अन्ततः यह केले में स्थापित की गई। यह नगर १३४९ में राँगे और शीशे के लिए और १३६३ में ऊन के लिए प्रमुख मंडी बन गया। कुछ और परिवर्तन किए गए परन्तु प्रमुख मंडी १३९९ से लेकर १५५६ में इस नगर के हाथ से चले जाने तक केले में रही।

पो की घाटी के द्वारा पश्चिम की ओर।
डेन्यूब की घाटी के द्वारा पूर्व की ओर।
बर्नर के दर्रे और राइन की घाटी के द्वारा उत्तर की ओर।
जिब्राल्टर के जलडमरुमध्य द्वारा इङ्गलैंड के समुद्र बंक
और नीदर लैण्ड्स की ओर।

पूर्व को (अ) लीवान्ट से निकल कर सीरिया, मैसोपोटामिया और फारस की खाड़ी में होते हुए भारत को; (आ) सिकन्द्रिया से मिश्र को पार करके लाल सागर के मार्ग से भारत को।

१. विशेषतः साउदम्पटन, सैण्डविच और लन्दन पर।

२. प्रमुख मंडी की स्थापना हेनरी तृतीय के शासन काल से चली आई है।

विदेशी व्यापार का नियंत्रण मध्यकालीन आर्थिक विचारों के अनुकूल था। सम्पूर्ण व्यापार के स्वीकृत दशा में संचालन से यथेष्ट लाभ की आशा की जाती थी। समुद्री डाकुओं से बचाव में आसानी रहती थी और सीमा-करों की वसूली भी सरलता से की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त क्रेताओं और विक्रेताओं के एक स्थान पर एकत्रित होने से मूल्य में स्थिरता की प्रवृत्ति रहती थी जो मध्ययुग में वांछनीय मानी जाती थी। प्रमुख मंडी निश्चय करने की नीति में परिवर्तन कुछ अंशों तक राजनैतिक कारणों से हुए थे; फिर भी इनसे सर्वोत्तम व्यवस्था के विषय में अनिश्चितता प्रकट होती है। अन्त में केले का निर्वाचन एक निपटारे के रूप में हुआ। केले महाद्वीप पर स्थित था और इङ्गलैण्ड में जहाज निर्माण को प्रोत्साहन देने के लिए एक महाद्वीपीय नगर का निर्वाचन आवश्यक था; यह अंगरेजी शासन के अधीन था। और व्यापार पर नियंत्रण किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त सीमाकरों की आमदनी से सेना का चुकारा हो जाता था और इसका खर्चा इङ्गलैण्ड के खजाने को नहीं उठाना पड़ता था।

प्रमुख वस्तुओं के व्यापारी (The Merchants of the Staple) वे आँग्ल व्यापारी होते थे जो प्रमुख वस्तुओं का निर्यात करते थे और जिन को वे प्रमुख नगर में विदेशी क्रेताओं को बेचते थे। एक ही व्यापार में लगे हुए लोगों के लिए अपना संघ बनाना स्वाभाविक था और सरकार के लिए ऐसे संघ को प्रोत्साहन देना भी स्वाभाविक था। एडवर्ड तृतीय के समय तक प्रमुख व्यापारियों (Staplers) का एक निश्चित संगठन बन गया था। आरम्भ में इनकी संख्या अधिक नहीं थी परन्तु संघ मूल में एकाधिकृत नहीं था और यह संभव है कि यदि कोई आँग्ल व्यापारी व्यापार में भाग लेना चाहता था तो उसको प्रमुख व्यापारियों (Staplers) में शामिल होने में कोई कठिनाई नहीं होती थी।

व्यापार करने वाले साहसी (The Merchant Adventurers) तेरहवीं शताब्दी में भी पाए जाते थे [1] और एडवर्ड तृतीय के समय तक वे भी

---

१. इनके जन्म की ठीक ठीक तिथि निश्चित रूप से नहीं बतलाई जा सकती।

प्रमुख व्यापारियों (Staplers) की तरह निश्चित रुप से संगठित हो गए थे। कुछ समय तक व्यापार करने वाले साहसियों के अलग-अलग संगठन थे। "दी मर्चेन्ट एडवेंचरर्स आफ लन्दन"[1] (लन्दन के व्यापार करने वाले साहसियों का संघ) को जो उत्तरी जर्मनी से व्यापार करता था, १४०४ में हेनरी चतुर्थ द्वारा अधिकारपत्र प्राप्त हुआ था, जब कि एक साथी संस्था को, जो स्कैन्डिनेविया में व्यापार करती थी, अपना अधिकारपत्र १४०८ में मिला था। अन्य नगरों जैसे न्यूकासल, ब्रिस्टल और यार्क के व्यापार करने वाले साहसियों के स्वतन्त्र किन्तु घनिष्ठ सम्बन्ध वाले संगठन थे, यद्यपि उनको लन्दन की कम्पनी की प्रान्तीय शाखाएँ मात्र मानना संभवतः गलत होगा।

व्यापार करने वाले साहसियों के संघों के बाद विधान १५०५ हेनरी सप्तम द्वारा प्रदान किए गए अधिकारपत्र पर आधारित थे। इनका प्रबन्ध एक गवर्नर करता था और उसकी सहायता के लिए चौबीस सहायकों का एक कोर्ट होता था। कम्पनी का आभ्यन्तरिक संगठन एक श्रेणी से भिन्न नहीं था और सामान्यतः सदस्यता की योग्यता प्राप्त करने के लिए शिशिक्षुता आवश्यक थी। यह एक नियमित कम्पनी होती थी। यह सामूहिक रूप से व्यापार नहीं करती थी। सदस्य गण व्यक्तिगत रूप से या साझेदारी में व्यापार करते थे और प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे कारोबार का लाभ मिलता था या हानि सहन करनी पड़ती थी जिससे उसका सम्बन्ध होता था। परन्तु सब सदस्यों को संगठन के नियमों का पालन करना पड़ता था और सब को इसके विशेषाधिकारों का लाभ मिलता था। १५६४ में एलिजाबेथ द्वारा व्यापारक करनेवाले साहसियों को प्रदान किए गए अधिकारपत्र के अधीन सदस्यता उन लोगों तक सीमित कर दी गई थी जो आठ वर्ष तक शिशिक्षु रह चुके हों, या जो भारी प्रवेश-शुल्क दे सकते हों, या जो सदस्यों के पुत्र हों।

---

१. संभवतः ये "लन्दन मरसर्स गिल्ड" (लन्दन के वस्त्र व्यापारियों की श्रेणी) से निकले थे। यह उल्लेखनीय है कि मुद्रक विलियम कैक्सटन ने, जो "मरचेन्ट एडवन्चरर्स" का गवर्नर था, एक वस्त्र व्यापारी के यहां काम सीखा था।

जिस प्रकार हैन्स के व्यापारियों ने इङ्गलैंड में किया बहुत कुछ उसी प्रकार व्यापार करने वाले साहसियों ने विदेशों में विशेषाधिकार प्राप्त कर लिये और व्यापारिक कोठियां स्थापित कर लीं। वे लोग कुछ समय के लिए ब्रूगेस में रहे परन्तु वेनिस्क के व्यापारियों की शत्रुता के कारण उनको अपनी कोठी एन्टवर्प हटानी पड़ी, जो ऊनी वस्त्रों के लिए प्रमुख स्थान बन गया और जिसकी सम्पन्नता में उनका बड़ा हाथ रहा। सोलहवीं शताब्दी में एन्टवर्प पुर्तगाली व्यापारियों द्वारा पूर्व की वस्तुओं की बिक्री का केन्द्र भी था, जो व्यापार करने वाले साहसियों से पूर्व को भेजने के लिए बड़ी मात्रा में इङ्गलैंड का बना हुआ कपड़ा खरीदते थे। व्यापार करने वाले साहसी १४४४ से १५६४ तक एन्टवर्प में बसे हुए थे। १५६७ में उनका हैम्बर्ग में बुलाया गया, परन्तु १५७८ में हैन्स के व्यापारियों ने उनको निर्वासित करा दिया। वे भिन्न भिन्न समयों में एम्डन और स्टेड में भी रहे और १६११ तक वे पुनः हैम्बर्ग में बस गए जहां से नेपोलियन द्वारा १८०६ में महाद्वीपीय पद्धति के लागू करने तक वे नहीं निकाले गए। उनका आंग्ल एकाधिकार १६८८-८९ की क्रान्ति के समय समाप्त कर दिया गया।

व्यापार करने वाले साहसी ऊनी वस्त्रों का निर्यात करते थे और उनमें से कुछ बड़ी मात्रा में व्यापार करते थे। इस कार्य के लिए वणिक् श्रेणी के सदस्यों द्वारा किए जाने वाले आभ्यन्तरिक व्यापार की अपेक्षा बड़ी मात्रा में पूंजी की आवश्यकता होती थी। निःसन्देह अनेक साहसियों के पास पूंजी थी और यह ध्यान देने की बात है कि पूंजी संग्रह का स्रोत क्या था। इस विषय पर अनेक अनुमान लगाए गए हैं। यह संभव है कि व्यापार करने वाले साहसियों की पूंजी आभ्यन्तरिक व्यापार से प्राप्त लाभ में से की गई बचत से प्राप्त हुई थी।

पन्द्रहवीं शताब्दी में साहसियों और प्रमुख व्यापारियों (Staplers) में विरोध पैदा हो गया। साहसियों का दावा था कि जो प्रमुख व्यापारी वस्त्रों का निर्यात करते थे उनको साहसियों से वसूल किया जाने वाला दण्ड (प्रवेश-शुल्क) देना चाहिए अन्यथा वे उनके एकाधिकार पर आघात करेंगे। प्रमुख व्यापारियों का दावा था कि ऊनी कपड़े का व्यापार करना उनके ऊन का

निर्यात करने के अधिकार में संयुक्त था, परन्तु साहसी अपने दावे में सफल हुए। उनकी कम्पनी अपेक्षाकृत अधिक सम्पन्न थी। प्रमुख व्यापारियों की अवनति हो रही थी क्योंकि ऊनी वस्त्रों के निर्माण की प्रगति के साथ-साथ इङ्गलैंड से ऊन का निर्यात कम हो रहा था।

इससे अधिक गम्भीर शत्रुता व्यापार करने वाले साहसियों और हैन्स के व्यापारियों में पैदा हो गई। इस शत्रुता का आधार आंग्ल व्यापारियों के वे प्रयत्न थे जिनके द्वारा वे अपने लिए जर्मनी के नगरों में वैसे ही विशेषाधिकार प्राप्त करना चाहते थे जैसे इङ्गलैंड में हैन्स के व्यापारियों को मिले हुए थे और हैन्स के व्यापारी बाल्टिक देशों में उनके पैर न जमने देने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ थे। जैसे-जैसे साहसियों की शक्ति और सम्पत्ति बढ़ी वे इस संग्राम में सम्राट् की सहायता का दावा करने लगे। लन्दन में हैन्स के व्यापारियों से बदला लेने की धमकियों के परिणामस्वरूप ऐसी सन्धियाँ की गईं जिनका मानपूर्वक पालन नहीं किया गया। १४६८ में हैन्स लोगों को प्राप्त विशेषाधिकार रोक दिए गए। किन्तु जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, वे विदेशों में आंग्ल व्यापारियों के प्रति परस्परानुवर्ती व्यवहार की प्रतिज्ञा पर १४७४ में पुनः स्थापित कर दिए गए। फिर भी शिकायतें जारी रहीं और यद्यपि पहले दो ट्यूडर राजाओं ने हैन्स के व्यापारियों को संरक्षण दिया, एडवर्ड षष्ठ ने १५५३ में पुनः उनके विशेषाधिकारों को रोक दिया। मेरी ने अंशतः उनको पुनः लागू कर दिया, परन्तु उनका अन्त सन्निकट था। एलिजाबेथ ने १५७८ में जर्मनी के व्यापारियों को लन्दन में मिले हुए विशेषाधिकारों को अन्तिम रूप से समाप्त कर दिया। इस लम्बी लड़ाई का अन्त, जैसा कि अवश्यम्भावी था, आंग्ल व्यापारियों की सफलता में हुआ। १५९७ में स्टीलयार्ड के बन्द होने पर आंग्ल व्यापार पर विदेशी व्यापारियों के नियंत्रण का अन्तिम चिह्न भी मिट गया।

सातवाँ अध्याय

सोलहवीं शताब्दी की क्षेत्रिक क्रान्ति

मध्ययुग से वर्तमान समय में कालान्तर के साथ-साथ ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में इतने महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए कि उनके लिए "क्षेत्रिक क्रान्ति" शीर्षक काम में लाना उचित है। इसका एक पहलू, बड़ा आन्दोलन था जिसका स्वामि-भू पद्धति की अवनति के सम्बन्ध में उल्लेख किया जा चुका है और जिस पर इस अध्याय में अधिक विस्तार से विचार किया जाएगा। परन्तु सोलहवीं शताब्दी की, या वास्तव में पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य से लेकर सौलहवीं के अन्त तक की, क्षेत्रिक क्रान्ति की प्रकृति केवल बाड़ों के विवेचन से प्राप्त परिणाम से अधिक विस्तृत और गहरी थी। इस काल में ऐसी शक्तियां कार्य कर रही थीं जिन्होंने मानव-जाति का सम्पूर्ण दृष्टिकोण बदल दिया।

मध्ययुग में जीवन मुख्यतः सहकारी और सामुदायिक था। लगभग प्रत्येक अवस्था में मनुष्य एक समुदाय का सदस्य होता था जिसके प्रति उससे विश्वसनीय और आज्ञाकारी होने की आशा की जाती थी। धर्म के क्षेत्र में सब लोग कैथोलिक चर्च को मानते थे जो उनसे अपने नियमों के पालन और अपनी शिक्षा में विश्वास की आशा करता था और उनको सिखलाता था कि उनकी आत्मा के उद्धार का केवल यही एक मार्ग था। एक दस्तकार अपने उद्योग की श्रेणी का सदस्य होता था। और उससे स्वयं अपने सुख की अपेक्षा अपनी श्रेणी की प्रसिद्धि के लिए अधिक इच्छुक होने की आशा की जाती थी। एक व्यापारी वणिक् श्रेणी का सदस्य होता था और जो व्यापारी समुद्र पार जाने का साहस करता था सम्भवतः किसी ऐसी कम्पनी का सदस्य होता था, जैसी मध्ययुग के अन्त के दिनों में स्थापित की गई थी। अधिकांश मनुष्य भूमि पर कार्य करते थे और उनका सामन्त तन्त्र में, ऊंचा या नीचा, एक स्थान होता था। जीवन की प्रत्येक अवस्था में मनुष्य किसी श्रेणी, समाज या अन्य समुदाय का होता था और ऐसे समुदाय अपने सदस्यों की अपेक्षा

अधिक महत्त्वपूर्ण होते थे और अपने सदस्यों से आज्ञापालन का अनुरोध करते थे।

मध्ययुग की समाप्ति पर इस सामुदायिक भावना का स्थान व्यक्तिवाद ने लिया। श्रेणियाँ और स्वामिभूमियाँ समाप्त हुईं, प्रोटेस्टैन्ट विचारधारा ने चर्च के अधिकार को चुनौती दी। मनुष्य स्वयं विचारने और कर्म करने लगे। वे एक संगठन की इकाई के रूप में दूसरों के साथ-साथ अपने और अपने से भी अधिक दूसरों के लिए कार्य करने में सन्तुष्ट नहीं रहे। स्वार्थ की भावना ने जोर पकड़ा। सहकार का स्थान स्पर्धा ने ले लिया। रिवाज का स्थान वाणिज्यवाद ने ले लिया।

गुलाबों के युद्धों में सामन्तों की शक्ति के नष्ट हो जाने से देश में शान्ति हो गई। नए व्यवसायों का जन्म हुआ। उद्योगों की उन्नति हुई और व्यापार का विस्तार बढ़ा। समुद्र-यात्रा का प्रचलन बढ़ गया और ट्यूडर काल की समाप्ति से पूर्व इङ्गलैंड के जहाज संसार के प्रत्येक समुद्र की यात्रा करने लगे। यद्यपि कृषि देश का मुख्य उद्योग बना रहा मनुष्य ने केवल इस पर अपना ध्यान केन्द्रित करना छोड़ दिया। इसकी स्थिति अनेकों प्रकार के आंग्ल आर्थिक प्रयत्नों में से एक की हो गई और जो भूमि जोतते थे केवल अपना पेट भरने के लिए नहीं किन्तु सारे देश को भोजन प्रदान करने के लिए करते थे। यद्यपि मध्य युग के उत्तर काल में खेती की उपज की काफी बिक्री होती थी और यद्यपि सोलहवीं शताब्दी के बहुत समय बाद तक खेती की उपज का भाग उत्पादक स्वयं उपभोग करते थे, फिर भी मोटे तौर से यह सत्य है कि मध्य युग में खेती जीवन-निर्वाह के लिए की जाती थी और सोलहवीं शताब्दी से यह लाभ कमाने के लिए की जाने लगी।

चकबन्दी और बाड़े बनाने के आन्दोलन का उल्लेख किया जा चुका है। वास्तव में दो या तीन पृथक् किन्तु समकालीन आन्दोलनों में भेद बतलाया जा सकता है। मध्ययुग के उत्तर काल में जोते जाने वाले खेतों के चक बनाने की प्रवृत्ति आरम्भ हुई और ट्यूडर काल में यह और भी आगे बढ़ी। बिखरे हुए खेतों वाले अपने खेतों के चक बनाकर और उनके बाड़ लगाने की दृष्टि से आपसी रजामन्दी से खेत बदल सकते थे। हवालों पर प्रायः ऐसा ही किया

जाता था और कुछ अंशों तक रिवाजी किसानों के खेतों के साथ भी यही किया जाता था। बहुत कुछ चकबन्दी और बाड़ा-बन्दी इसी प्रकार हुई; फिर भी देश में कर्षित भूमि का बड़ा भाग खुले खेतों के रूप में बना रहा। जहां यह आन्दोलन चला परम्पराएं निर्बल पड़ गईं और खेती के अधिक दिनाप्त तरीकों का व्यवहार सम्भव हो गया। यह सम्भव है कि इस प्रक्रिया में कुछ छोटे किसान बेदखल कर दिए गये या उनके खेत खरीद लिये गए जिसके फलस्वरूप खेतों का आकार बढ़ गया और सम्भव है कि चक में मिलाये हुए खेतों पर कम मजदूरों की आवश्यकता होने से कुछ बेकारी फैली हो फिर भी यह कहा जा सकता है कि खेती योग्य भूमि पर सुधरे हुए तरीकों से खेती करने के लिए बाड़ा-बन्दी से केवल लाभदायक परिणाम हुए।

भेड़-बकरी चराने की प्रथा के विस्तार से अधिक गम्भीर परिणाम हुए। इसके लिए सबसे पहले हवाले का रूपान्तर करना होता था और यदि चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों में इसकी चकबन्दी और बाड़ेबन्दी कर ली गई हो, जैसा कि प्रायः था, तो यह बिना कठिनाई के हो जाता था। इसके पीछे स्वामी के भेड़-क्षेत्र में पंचायती चरागाह और स्वामि-भू की "वीरान" भूमि जोड़ दी जाती थी। यह सत्य है कि कानून के अधीन भू-स्वामी को किसानों के उपयोग के लिए यथेष्ट पंचायती चरागाह छोड़ना पड़ता था[1] परन्तु केवल वही यह निर्णय करता था कि कितना यथेष्ट होगा और इस उत्तरदायित्व को लागू करने का कोई प्रभावोत्पादक साधन नहीं था। इसके बाद रिवाजी किसानों पर धावा किया गया। वे अपने खेतों से बेदखल कर दिए गए और स्वामि-भू से निकाल दिए गए या जब प्रतिलिपिधारी[2] की मृत्यु हो जाती थी तो उसके

१. यद्यपि मरटन का परिनियम विशेष रूप से नाइट लोगों और निःशुल्कधारियों को लागू होता था बाद के वर्षों में इसका ऐसा अर्थ लगाया गया कि रिवाजी किसानों को भी संरक्षण प्राप्त हो गया।

२. कुछ प्रतिलिपिधारियों को कभी भी बेदखल किया जा सकता था। दूसरे कुछ निश्चित वर्षों तक भूधारण करते थे; कुछ तीन मनुष्यों के जीवन तक भू-धारण करते थे (तीनों निर्दिष्ट व्यक्तियों में से अन्तिम की मृत्यु पर वे बेदखल किए जा सकते थे)। बहुत कम को उत्तराधिकार के अधिकार प्राप्त थे। इनको उत्तराधिकार दंड देना पड़ता था; केवल ये निश्चित थे।

उत्तराधिकारी से इतनी कठोर मांगें की जाती थीं कि वह स्वयं खेत छोड़ जाता था।[1] अन्ततः, निःशुल्कधारी जो कानून के अन्दर बेदखल नहीं किए जा सकते थे, खरीद लिये जाते थे।[2]

भेड़-पालन केवल भू-स्वामी की भूमि तक ही सीमित नहीं था। कई पट्टाधारी जिनके पास विस्तृत क्षेत्र थे और जिन पर वे लगान देते थे खेती की अपेक्षा भेड़-पालन को अधिक लाभदायक मानने लगे। उनके मार्ग में रिवाजी दायित्व बाधक नहीं थे। उनके लगान स्पर्धी आधार पर निश्चित किए जाते थे और उनके लिए अपने खेतों से अधिकतम लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करना स्वाभाविक था।

कई मनुष्य स्वामि-भूमियाँ छोड़ने के लिए बाध्य हो गए क्योंकि उनको चरागाहों में बदल दिया गया। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, कुछ को शीघ्रता से निकाल दिया गया, दूसरों ने पंचायती चरागाहों के बन्द हो जाने पर पुरानी तरह से निर्वाह करना असंभव पाया। कई निम्न श्रेणी के लोग जो मजदूरी करते थे बेकार हो गए और उन्होंने अन्यत्र काम की तलाश में स्वामि-भू छोड़ दी। जिन क्षेत्रों में भेड़-पालन होता था वहाँ देहात में जन-संख्या का ह्रास इस आन्दोलन का एक सबसे कुटिल परिणाम था।

जिन स्थानों में भूमि पर खेती जारी रही वहाँ भी चरागाह आन्दोलन का प्रभाव पड़ा। भूमि का मूल्य बढ़ गया और लगान वृद्धि की प्रवृत्ति चल पड़ी। यह बात प्रतिलिपिधारित भूमि के लिए लागू नहीं थी (कम से कम उत्तरा-

---

१. १७८१ तक रिवाजी किसानों को कठोर माँगों से बचाने के लिए कोई परिनियम नहीं था।

२. रिवाजी किसानों को न्यायालयों के संरक्षण के बारे में काफी मतभेद है। पन्द्रहवीं शताब्दी में भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहां न्यायाधीशों ने प्रतिलिपिधारियों के अधिकारों को स्वीकार किया है। यह संभव है कि इस विषय पर वर्तमान समय में बहुत कुछ गलतफहमी जिन शर्तों के अधीन प्रतिलिपिधारित भूमि रखी जाती थी उनमें समानता मानकर चलने से हुई है जब कि वास्तव में समानता नहीं थी। आलोच्य-काल में अधिकांश प्रतिलिपिधारी संरक्षण-विहीन थे।

धिकार से प्राप्त प्रतिलिपिधारित भूमि के लिए नहीं) परन्तु पट्टाधारी किसानों ने अनुभव किया कि भू-स्वामी वर्तमान लगानों पर या बिना यथेष्ट दंड वसूल किए पट्टों का नवीनीकरण करने को तैयार नहीं थे। यदि वे नई शर्तों को अस्वीकार करते तो दूसरे लोग उनके स्थान पर आने को तैयार थे या विकल्प में भू-स्वामी को घास से भी अच्छी तरह आमदनी मिल सकती थी।

देश के कुछ भागों में विशेषकर मिडलैण्ड के जिलों में एक मिश्रित या परिवर्तनीय कृषि की प्रथा का उदय हुआ। प्रत्येक फार्म को अनेक खेतों में बांट दिया जाता था जिनमें प्रत्येक पर छः या सात वर्ष तक घास उगाई जाती थी और फिर दो या तीन वर्षों तक अनाज की फसल बोई जाती थी, इस प्रकार नौ या दस वर्षों का बराबर चक्कर चलता रहता था। यह स्पष्ट है कि ऐसी व्यवस्था एक बड़े फार्म पर ही की जा सकती थी और इसको सफल बनाने के लिए बड़ी मात्रा में पूंजी की आवश्यकता होती थी।

सोलहवीं शताब्दी में भू-स्वामियों की अवसर मिलने पर अधिक लगान मांगने के लालच के लिए कड़ी आलोचना की जाती थी। किन्तु लगानों में वृद्धि के भू-स्वामियों के लालच के अतिरिक्त अन्य कारण थे। ट्यूडर काल कीमतों में वृद्धि का समय था। अमरीका से निरन्तर बहुमूल्य धातुओं के आने और यूरोप में सर्वत्र फैल जाने से कीमतें धीरे-धीरे परन्तु लगातार बढ़ रही थीं जिसका प्रभाव इंङ्गलैंड के साथ-साथ दूसरे स्थानों में भी पड़ा और इस देश में हेनरी अष्टम द्वारा सिक्कों के अधिकुप्यन (debasement) ने भी इसी दिशा में कार्य किया। दूसरे लोगों के समान भू-स्वामियों ने अनुभव किया कि कीमतें बढ़ रही थीं और उनकी आमदनी की क्रयशक्ति अब पहले जितनी नहीं रही। उन्होंने जहां भी संभव हो सका लगान बढ़ाने के प्रयत्न किए और वास्तव में किसानों के लिए यह आशा करना कि उनको अपने खेतों के लिए ऊँचे लगान दिए बिना अपने अनाज और ऊन की ऊँची कीमतों का लाभ उठाना चाहिए उचित नहीं था। यह सत्य है कि प्रतिलिपिधारी इस लाभदायक स्थिति में थे और भू-स्वामी को अपनी लूट पट्टाधारियों तक ही सीमित करनी पड़ी।[1] संभवतः उनकी

१. कुछ मामलों में प्रतिलिपिधारियों को पट्टों के बदले में अपनी "प्रतिलिपियाँ" देने को रजामन्द करने के प्रयत्न किए गए।

और रिवाजी किसानों की स्थिति में अन्तर के कारण ही जोर से और बार-बार शिकायतें हुईं।

जिन लोगों ने अन्यत्र रोजगार ढूँढने के लिए स्वामि-भू छोड़ दी उन्होंने दूसरे स्थानों में स्थिति वैसी ही पाई और वे रोटी के लिए भिक्षा माँगने के लिए बाध्य हुए। घुमक्कड़पन की वृद्धि के और भी कारण थे। प्रारम्भिक ट्यूडर राजाओं द्वारा सामन्तीय भृत्यगणों के निकाल दिए जाने से ऐसे लोगों के दल के दल घूमने लगे जो लड़ाई लड़ना जानते थे परन्तु जिनमें काम करने का रिवाज नहीं था। जब तक मठ बने रहे यह बुराई दबी रही। बड़े मठों और संघों के भिक्षा बाँटने वाले अधिकारी उनसे प्रार्थना करने वाले निराश्रितों को प्रतिदिन रोटी और शराब बाँटते थे। मठों के विसर्जन पर इन धार्मिक स्थानों पर आश्रित लोगों ने घुमक्कडों की भयानक सेना में और वृद्धि कर दी। दरिद्रता की एक समस्या खड़ी हो गई जिसका राज्य को सामना करना पड़ा और जिसके सम्बन्ध में राज्य को अपनी नीति निर्धारित करनी पड़ी।

ट्यूडर काल के मध्य में हुए उपद्रवों से दरिद्रों का असन्तोष प्रकट होता है। किसी विद्रोह के कारण गुत्थे हुए होते हैं। इसके आरम्भकर्त्ताओं का वास्तविक उद्देश्य कुछ भी हो उनको असन्तुष्ट लोगों को अपने साथ मिलाने में बहुत कम कठिनाई होती है। कैट का राजद्रोह जो १५४६ में नोरफोक जिले में हुआ बाड़ों के विस्तार, भेड़-पालन के प्रचलन और लगानों की वृद्धि के कारण हुआ था। १५३६ की पिलग्रीमेज आफ ग्रेस प्रकट रूप से छोटे मठों के भंग करने से हुई थी, १५४६ का पश्चिमी राजद्रोह साधारण प्रार्थना की पहली पुस्तक के लागू करने से; इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन दोनों मामलों में क्षेत्रिक असन्तोष से विद्रोहियों की संख्या बढ़ने में सहायता मिली।

बाड़ाबन्दी आन्दोलन पर सरकार का ध्यान गया। ट्यूडर राजा खेती योग्य भूमि के चरागाह बनाए जाने को नापसन्द करते थे और इस विषय पर कई कानून बनाए गए। १४८७ में भेड़-पालन को आइल आफ व्हिट पर सीमित करने के लिए एक परिनियम पारित हुआ क्योंकि वहाँ की जनसंख्या घट गई थी और इस द्वीप पर आक्रमण के समय यथेष्ट प्रतिरक्षा की व्यवस्था नहीं रही

थी और १४८९ में एक दूसरे परिनियम के अधीन देश के किसी भाग में जोतने योग्य भूमि को चरागाह में बदलना निषेध कर दिया गया। एक और भी परिनियम बनाया गया, जिसके द्वारा हाल में बदले हुए चरागाह को पुनः खेती के योग्य बनाने का आदेश दिया गया। इस प्रकार की आज्ञा का खेत के आरपार कर्णरेखावत् केवल एक हल की लकीर डालकर उल्लंघन किया जा सकता था; इस प्रकार भूमि पुनः जोती जा सकती थी। इस समस्या को एक और प्रकार से हल करने का प्रयत्न किया गया जब कि यह कानून बना दिया गया कि किसी एक मनुष्य के पास भेड़ों की संख्या एक निर्धारित संख्या (२०००) से अधिक नहीं हो सकती। इसका भी यह कहकर उल्लंघन किया जा सकता था कि एवड़ का एक भाग परिवार के दूसरे सदस्यों का था। किसी प्रकार इन कानूनों को लागू करने का कोई प्रभावोत्पादक यंत्र नहीं था। शान्ति अधिकरणिक (Justices of Peace) जिनका कार्य यह देखना था कि इनका पालन किया जाता है स्वयं उस भूमिधारी भद्रवर्ग के थे जिसके खिलाफ ये कानून बनाए गए थे। बहुधा वे स्वयं यह चाहते थे कि इनका उल्लंघन किया जाए।[1]

मठों के विसर्जन के आर्थिक परिणाम बहुत महत्त्वपूर्ण थे। कुछ ही वर्षों में देश की खेती में लगी हुई भूमि के बड़े भाग, संभवतः एक तिहाई, का हस्तान्तरण हो गया। जो स्वामि-भूमियाँ शताब्दियों से मठों के अधिकार में थीं सामान्य-मनुष्यों के हाथों में आ गईं। ये स्वामी बहुधा अपनी सम्पत्ति को बेच दिया करते थे और भू-सम्पत्ति की बिक्री मध्य युग की अपेक्षा बहुत बढ़ गई।[2] यह कहा जाता है कि संन्यासी लोग आरामतलब थे, निःसंदेह उनके ढंग अनुदार

---

१. "दी डिस्कोर्स आफ दी कोमन वील" (१५४९) में लिखा गया था कि इस समस्या को हल करने के लिए खेती करने से प्राप्त होने वाले लाभ को बढ़ा कर भेड़-पालन के लाभ के बराबर करना चाहिए और यह सुझाया गया था कि अनाज के निर्यात पर से सब प्रतिबन्ध उठाकर ऐसा किया जा सकता है।

२. इसका सब से अच्छा उदाहरण ईसैक्स में बार्किङ्ग की स्वामि-भू है। हवाले के अतिरिक्त यह स्वामि-भू १६२८ तक सम्राट् के हाथों में रही जब कि चार्ल्स प्रथम ने इसको सर थोमस फैन्शावे को बेच दिया। परन्तु बार्किङ्ग एबे के स्थान और मकान सहित हवाला हेनरी अष्टम द्वारा सर थोमस डेनीं को पट्टे पर

थे। वे समय के साथ नहीं बदले और जैसा कि बतलाया जा चुका है, यह विश्वास करने के लिए कारण है कि कुड़क अमीनों द्वारा भूमि के प्रबन्ध की प्रथा, जो दूसरी जगह कुछ समय से बन्द कर दी गई थी, कुछ मठों की स्वामि-भूमियों पर उनके विसर्जन तक चली। परन्तु नए स्वामी भिन्न विचारों के व्यक्ति थे। वे अपनी नई सम्पत्ति से अधिकतम लाभ उठाना चाहते थे। अतएव कुछ लोगों ने लगान बढ़ा दिए, कुछ ने भेड़-पालन आरम्भ कर दिया और कुछों ने पुराने विशेषाधिकारों को ताक में रख दिया और उनकी अवहेलना की। उनके समकालीन लोगों और इतिहासकारों ने नए स्वामियों की उनके द्वारा अपनाए गए मार्ग के लिए निन्दा की। इस समय की बुराइयों के लिए उनको उत्तरदायी ठहराया गया है। परन्तु सारा दोष उनके सिर पर मढ़ना न्याय-संगत नहीं है। उनकी कार्यवाहियाँ उन प्रवृत्तियों के अनुकूल थीं जो धार्मिक स्वामि-भूमियों को छोड़ कर अन्य स्वामि-भूमियों पर दीर्घ काल से प्रचलित थीं, वास्तव में वे अपनी सम्पत्ति को सुधार कर दिनास बनाने में लगे हुए थे।[1]

दिया गया था। ६ नवम्बर १५५१ को षष्ठ एडवर्ड ने इसको लार्ड क्लिन्टन, एडवर्ड फिनेस, को प्रदान किया जिसने इसको दूसरे दिन सर रिचार्ड सेक्वाइल को हस्तान्तरण कर दिया। आगे के कुछ वर्षों का इसका इतिहास अन्धकार में है परन्तु कालान्तर में जोहन स्टोनर्ड ने इसको प्राप्त किया और १५६५ में विलियम एवरी को बेच दिया। १५८३ में जार्ज हार्वे ने इसको पीटर पामर को बेचा। तत्पश्चात् यह पुनः सम्राट् के हाथों में आ गया और १६०५ में जेम्स प्रथम ने इसको अगस्टस (या अगस्टिन) स्टीवर्ड को प्रदान किया जिस ने १६२८ में अपनी मृत्यु तक इस को अपने पास रखा। ऐसा मालूम होता है कि उसके पुत्र मारटिन स्टीवर्ड ने इसको मेथ्यु स्टिल्टी को बेच दिया जिसने १६३१ में इसको विलियम फैन्शावे को बेचा। फैन्शावे परिवार ने हवाले और शेष स्वामि-भू दोनों को कई वर्षों तक रखा।

संभवतः यह स्वामि-भू हवाले सहित ६८९ में एबे की स्थापना से लेकर १५३० में इसके विसर्जन तक बिना विराम के ८५० वर्षों तक एबे के अधिकार में थी। आगे की एक शताब्दी में हवाले का एक दर्जन या अधिक बार हस्तान्तरण हो गया।

१. प्रायः भू-सम्पतियां नकदी देकर खरीदी जाती थीं; खरीददारों के लिए इन सौदों को विनियोग मानकर अधिकतम लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करना विशेष उल्लेखनीय नहीं है।

इन परिवर्तनों की सीमा के विषय में अतिशयोक्ति करना सरल है; यह निश्चित है कि समकालीन लेखकों ने इनके वर्णन में अत्युक्ति की है।[1] आँकड़ों के प्रमाण इकट्ठे किए गए हैं जिनसे प्रकट होता है कि चरागाहों के लिए की गई बाड़ाबन्दी का क्षेत्र जितना पहले माना जाता था उससे बहुत कम था। भूमि मुख्यतः अब भी खेती के काम आती थी और सोलहवीं शताब्दी के अन्त में खुले खेतों पर खेती की पद्धति अपवादस्वरूप नहीं होकर साधारण नियम-स्वरूप थी। वास्तव में यह मान कर चलने के लिए कारण है कि चरागाह आन्दोलन आवश्यकता से अधिक चल पड़ा था और एलिजाबेथ के समय में कुछ अंशों तक भूमि पुनः खेती के काम में लाई जाने लगी। लेकिन इन सब बातों पर ध्यान देने पर भी यह सत्य है कि ट्यूडर काल में आँग्ल कृषि में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए, खेती के तरीकों, संगठन और उद्देश्य में परिवर्तन जो इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि मध्य युग से वर्तमान युग का कालान्तर प्रकट करते हैं।

१. राजद्रोहों के होने से गलत विचार बन सकता है। आजकल लोकमत समाचारपत्रों या सार्वजनिक सभाओं में प्रकट किया जाता है और निर्वाचन के समय प्रभावोत्पादक हो सकता है। चार शताब्दियों पूर्व कोई समाचारपत्र नहीं थे और संसद् (Parliament) की सभा केवल कभी-कभी हुआ करती थी और जन साधारण को मताधिकार प्राप्त नहीं था। असन्तोष प्रकट करने का राजद्रोह ही अकेला तरीका था।

आठवाँ अध्याय

वाणिज्यवाद

इस पुस्तक के प्रारम्भिक अध्यायों में बतलाया गया है कि मध्यकालीन आर्थिक जीवन का प्रत्येक पहलू—क्षेत्रिक, औद्योगिक और वाणिज्यिक—नियंत्रित था। मनुष्य स्वामि-भू या श्रेणी या कम्पनी किसी संगठन की इकाइयों के रूप में कार्य करते थे और योजनाएं बनाते थे। आर्थिक प्रयत्नों का क्षेत्र स्थानीय था—स्वामि-भू या नगर—और यद्यपि नगर नगर, नगर और देहात और इङ्गलैण्ड और दूसरे देशों के बीच कुछ व्यापार होता था यह बिल्कुल बुरा नहीं तो स्थानीय आत्म-निर्भरता से कम वांछनीय माना जाता था। इसके अतिरिक्त धन के लिए धन कमाना बुरा माना जाता था; मध्यकालीन आर्थिक प्रयत्न ईसाई धर्म पर आधारित सिद्धान्तों से सम्बन्धित थे और आज की तरह नीति से पूर्णतः परित्यक्त नहीं थे।

जिस युग में परिवहन इतना कठिन था कि मनुष्य बहुत कम यात्रा करते थे और जब उनमें राष्ट्रिकता की चेतना नहीं थी यह दृष्टिकोण स्वाभाविक था। पश्चिमी और केन्द्रीय यूरोप के निवासियों में अपनी राष्ट्रिकता की अपेक्षा अपने सब के ईसाई होने, चर्च के सदस्य होने और रोम के आज्ञाकारी होने की चेतना अधिक थी। वास्तव में वे अपनी राष्ट्रिकता को भूले नहीं थे परन्तु इसका विचार उनके दिमाग में सब से ऊपर नहीं था। मध्यकालीन समाज के विभाग खड़े नहीं होकर आड़े थे। मनुष्य अपने आपको फ्रांसीसी, अंगरेज या जर्मन नहीं मान कर नाइट या व्यापारी, पादरी, दस्तकार या दास मानते थे। एक राइनलैण्ड के नाइट में अपने ही किसी एक दास की अपेक्षा एक कैस्टाइल के नाइट से अधिक समानता थी; एक पूर्वी एङ्गलिया का पादरी और एक दक्षिणी इटली का पादरी, यदि वे मिलते, तो आपस में एक दूसरे के प्रति अपने पास-पड़ोस के जनसाधारण की अपेक्षा अधिक सहानुभूति प्रदर्शित करते थे।

मध्य युग के अन्त में राष्ट्रिकता का विचार अधिक स्पष्ट हो गया। सौ वर्षों के युद्ध का एक परिणाम अंगरेजों में इस भावना को बढ़ाना हुआ होगा और

जान आफ आर्क के पराक्रमों के पश्चात् फ्रांन्सीसियों में भी यह भावना बढ़ी होगी। पन्द्रहवीं शताब्दी में पुनर्जागरण (Renaissance), इङ्गलैण्ड में सामन्तों की शक्ति के ह्रास और भौगोलिक अन्वेषण के प्रारम्भ की घटनाएँ घटीं; धर्म के क्षेत्र में धर्म-सुधार (Reformation) की प्रवृत्ति बढ़ी। क्रिस्तनदम के अधिकांश भागों में राष्ट्रिकता की भावना का विकास हुआ और यह राजनीतिक, धार्मिक तथा आर्थिक सत्ता के रूप में राष्ट्रों का उदय मध्य युग को वर्तमान युग से अलग करता है।

इस प्रकार किसी एक राष्ट्र का पूर्ण विकास हो जाने पर इसको दूसरे राष्ट्रों के अस्तित्व की समान रूप से चेतना हो गई और यह उनको सम्भावित शत्रुओं के रूप में देखने लगा। राष्ट्र का उद्देश्य अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करना था। इस उद्देश्य के लिए इसके नागरिकों द्वारा प्रत्येक दिशा में किए जाने वाले कार्यों का नियन्त्रण और नियमन करना पड़ा। कार्य की स्वतंत्रता जो बाद के दिनों में व्यक्ति का अधिकार मानी गई है राज्य की आवश्यकता के अधीन कर दी गई। सारे राष्ट्र के कल्याण पर प्रभाव डालने वाली बातों के आगे निजी स्वार्थ नहीं रखे जा सकते थे। यह बात मध्य युग में प्रचलित भावना के समान ही थी परन्तु एक स्वामि-भू या नगर या श्रेणी के स्थान पर यह सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए लागू होने लगी। राष्ट्र के हित में राजनीतिक और आर्थिक कार्यों का संचालन, जो समय की माँग थी, नियन्त्रण करने के लिए यथेष्ट शक्तिशाली अधिकारी के बिना असंभव था। यह अधिकारी राजतंत्र था और यूरोप के अधिकांश देशों में सोलहवीं शताब्दी तक और कुछ में उन्नीसवीं शताब्दी तक शक्तिशाली स्वेच्छाचारी राजतंत्र का प्रचलन रहा।

इस प्रकार जिस पद्धति का विकास हुआ उसको इङ्गलैण्ड में वाणिज्यवाद के नाम से पुकारा गया। तो भी यह ध्यान रखना चाहिए कि इस पद्धति के प्रचलन के समय में इस शब्द का साधारण उपयोग होना आवश्यक नहीं है। शताब्दियाँ व्यतीत हो जाने पर इसका पर्यवेक्षण करने के लिए, इसके उद्देश्यों पर विचार करने के लिए, इसके तरीकों की आलोचना करने के लिए और इसके परिणामों का मूल्यांकन करने के लिए और फलस्वरूप इसका नामकरण करने के लिए इस पर दृष्टि डाली जा सकती है। इसके प्रचलन के समय

रहने वालों को यह निश्चित उद्देश्यों वाली पद्धति के रूप में इतना स्पष्ट नहीं था; वे इसको मान कर चलते थे और केवल अठारहवीं शताब्दी में वे इसके सिद्धान्तों की आलोचना करने लगे।

वाणिज्यवाद के अन्तर्गत इङ्गलैण्ड की शक्ति बढ़ाने के लिए आँग्ल राजनीतिक और आर्थिक प्रयत्नों का नियन्त्रण संयुक्त था। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, सौ वर्षों के युद्ध के समय ही से अँगरेजों में राष्ट्र-चेतना प्रारम्भ हो रही थी और तीनों एडवर्डों के समय ही से स्थानीय से भिन्न राष्ट्रिय नियन्त्रण लागू कर दिया गया था। पूर्ण राष्ट्रिय चेतना जो सोलहवीं शताब्दी में घर में ट्यूडर राजाओं के स्वेच्छाचारी शासन और बाहर रोम और स्पेन से विरोध के प्रभाव में बिकसित हुई अंशतः वाणिज्यवाद के रूप में प्रकट हुई जिसका सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक बोलबाला रहा। तो भी जार्जों के समय में आर्थिक क्रियाओं के राष्ट्रिय नियन्त्रण की सफलता के विषय में सन्देह था। यह अब भी माना जाता था कि व्यक्ति के हित राज्य के कल्याण के अधीन होने चाहिएँ, परन्तु इस बात पर कुछ संदेह था कि क्या इन हितों में विरोध आवश्यक है और क्या वास्तव में व्यक्तियों के हितों के पूर्ण विकास ही में राज्य का कल्याण निहित नहीं है। वाणिज्यवादी सिद्धान्तों का प्रभाव कम पड़ जाने पर राज्य निर्बाध-नीति (Laissez-faire) की विजय हुई और "शक्ति की नीति" का स्थान "सम्पन्नता की नीति" ने ले लिया।

वाणिज्यवादी उद्देश्य, राष्ट्रिय शक्ति के विकास के लिए कई दिशाओं में राज्य द्वारा कार्य आवश्यक था। शक्ति के लिए एक आवश्यक बात एक विशाल स्वस्थ जन-संख्या थी। आलोच्य-काल में यह आदर्श केवल अपूर्ण रूप में प्राप्त हुआ। चिकित्सा विज्ञान बाल्यावस्था में था और स्वस्थ जीवन की शर्तों का ज्ञान नहीं था। परन्तु शहरों के जीवन की अपेक्षा देहाती जीवन अधिक स्वस्थ माना जाता था और सरकार ऐसे आन्दोलनों को, जैसे भेड़-पालन का विस्तार, रोकना चाहती थी जिनकी प्रवृत्ति देहाती जन-संख्या को कम करने की थी। भूमि पर किसान वर्ग का बनाए रखना महत्त्वपूर्ण माना जाता था और यद्यपि किसी समय गेहूँ की अपेक्षा ऊन का उत्पादन अधिक लाभदायक हो सकता था

तथापि राज्य के कल्याण की अपेक्षा भू-स्वामियों की व्यक्तिगत सम्पन्नता कम महत्त्वपूर्ण मानी जाती थी।

भेड़-पालन की अपेक्षा खेती को प्राथमिकता देने का एक और कारण था। राष्ट्र में खाद्यान्नों की पूर्ति दूसरे राष्ट्रों के सौजन्य पर निर्भर नहीं रखी जा सकती थी। यदि देश की नौ सेना अत्यधिक शक्तिशाली नहीं हो तो देश के इस सम्बन्ध में आत्म-भरित नहीं होने पर युद्धकाल में यह शत्रुओं की दया पर निर्भर होगा। जो देश खाद्य-पदार्थों के लिए बाहरी स्रोतों पर निर्भर रहता था वह भूखों मारा जा सकता था।

वाणिज्यवादियों ने नौ-शक्ति के महत्त्व की उपेक्षा नहीं की। इस देश की भौगोलिक स्थिति और जल से घिरा हुआ होने से यह महाद्वीप से आने वाली सेनाओं के आक्रमण से सुरक्षित था सिवाय जब तक कि शत्रु समुद्र पर अधिकार नहीं जमा ले। मध्य युग के उत्तर काल में यह बात पूर्णतः स्वीकार की जाती थी और ट्यूडर तथा स्टूअर्ट कालों में राज्य की सामुद्रिक शक्ति बढ़ाने के प्रयत्न किए गए। जंगी जहाजों और व्यापारिक पोतों में कोई बड़ा अन्तर नहीं था। व्यापारिक जहाजों पर कुछ तोपें जमा कर जंगी बनाया जा सकता था। वास्तव में साधारण व्यापारिक जहाज भी समुद्री डाकुओं से रक्षा के हेतु शस्त्रों से सज्जित होते थे। राज्य बड़ी पेशेवर नौ-सेना नहीं रखता था, किन्तु अनेक संसदीय अधिनियमों के अधीन जिनका प्रारम्भ १३८१ से हो गया था राज्य व्यापारिक जहाजों के निर्माण को प्रोत्साहन देता था जो आवश्यकता पड़ने पर राजा की सेवा में लिये जा सकते थे। जहाजों पर रहने वाले आदमियों पर ध्यान दिया जाता था और मल्लाहों को प्रशिक्षण देने के लिए राज्य के संरक्षण में गहरे मत्स्य-क्षेत्रों का विकास किया जाता था। सब प्रकार के जहाजी सामान की पूर्त्ति पर भी ध्यान दिया जाता था।

उद्योगों का नियन्त्रण मध्य युग की तरह स्थानीय नहीं रहा और राज्य द्वारा किया जाता था। १५६३ के बाद में यह एलिजाबेथ के समय में बने हुए शिल्पियों के परिनियम के अधीन होता था, जिसका वर्णन पुस्तक में अन्यत्र है। परिषद् द्वारा समय-समय पर आज्ञाएँ प्रदान की जाती थीं और शान्ति अधिकरणिकों का कर्त्तव्य था कि उनका पालन करावें।

समुद्र-पार व्यापार भी राज्य के नियंत्रण में था। आभ्यन्तरिक व्यापार और उद्योगों का संचालन एक अपेक्षाकृत सरल बात थी क्योंकि सरकार क्रेताओं और विक्रेताओं, नियोक्ताओं और श्रमिकों, सब ही दलों पर अधिकार रखती थी। परन्तु इसका विदेशियों पर क्षेत्राधिकार नहीं था जिनके साथ दूर देशों में व्यापार किया जाता था और यह अनुभव किया गया कि नियंत्रण का सब से सरल तरीका विदेशी व्यापार को एकाधिकार-प्राप्त अधिकारपत्रित कम्पनियों को सौंप देना था। आंग्ल वाणिज्य के विकास में इन कम्पनियों के महत्त्व का दूसरे अध्याय में विवेचन किया जाएगा। यहाँ वाणिज्यवादी सिद्धान्त के अन्तर्गत विदेशी व्यापार और सोना-चाँदी की पूर्त्ति में निकट सम्बन्ध बतला देना काफी होगा।

ट्यूडर और स्टूअर्ट कालों के अर्थशास्त्री बहुमूल्य धातुओं के प्रश्न को बहुत महत्त्व देते थे और वाणिज्यवाद की बहुत कुछ आलोचना इस पद्धति के इस पहलू की की गई है। यह माना जाता था कि धातु या मुद्रा के रूप में सोना और चाँदी की यथेष्ट पूर्ति राज्य की सुरक्षा के लिए आवश्यक थी। युद्ध करने के लिए बहुमूल्य धातुओं की आवश्यकता होती थी क्योंकि इनके द्वारा दूसरी सब वस्तुएँ खरीदी जा सकती थीं। स्पेन के पास इनकी प्रचुरता थी क्योंकि मैक्सीको और पीरू की चाँदी की खानें उसके अधिकार में थीं। प्रति वर्ष खानों से वर्ष में निकाली गई बहुमूल्य धातुओं से लदा हुआ एक जहाजी बेड़ा स्पेन को आता था। इङ्गलैंड के पास सोने या चाँदी की खानें नहीं थीं और उसको ये बहुमूल्य धातुएँ दूसरी तरह से प्राप्त करनी पड़ती थीं। चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों में यह अपरिपक्व विचार प्रचलित था कि सोने और चाँदी का आयात करके और इनका निर्याति निषेध करके इच्छित उद्देश्य प्राप्त किया जा सकता है। अनुभव ने सिद्ध कर दिया कि ऐसा निषेध भारी से भारी दंड देने पर भी निरर्थक रहता था क्योंकि अवैधानिक निर्यात को रोकने के लिए निरीक्षण के यथेष्ट साधन नहीं थे। वाणिज्यवादियों ने सोचा कि यदि व्यापार का ऐसा नियमन किया जाये कि बहुमूल्य धातुएं स्वतः देश में आने लगें तो अधिक उत्तम होगा। दूसरे देश के आयात का चुकारा निर्याति से किया जाता था और केवल आयात और निर्यात के मूल्यों का अन्तर स्वर्ण में चुकाना पड़ता था। यदि निर्यात की मात्रा आयात की मात्रा से अधिक हुई

तो व्यापार की बाकी इस देश के पक्ष में होगी और स्वर्ण देश में आएगा। कुछ देशों से व्यापार का अन्तर इङ्गलैंड के पक्ष में था; दूसरों से विपक्ष में। व्यापारिक नियन्त्रण का एक उद्देश्य एक प्रकार के देशों से व्यापार बढ़ाना और दूसरी प्रकार के देशों से व्यापार घटाना था। सत्रहवीं शताब्दी में यह माना जाने लगा कि किसी एक देश के साथ व्यापार का प्रतिकूल अन्तर दूसरे देश के साथ व्यापार के अनुकूल अन्तर से पूरा किया जा सकता है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भारत से खरीदी हुई वस्तुओं के लिए सोना या चाँदी चुकानी पड़ती थी; इङ्गलैंड और भारत के बीच अन्तर निश्चित रूप से इङ्गलैंड के प्रतिकूल था और कम्पनी की इस विषय पर आलोचना की जाती थी। परन्तु इसके समर्थक कहते थे कि पूर्व की वस्तुओं को यूरोप में लागत से बहुत ऊँचे दामों पर बेचने से इंगलैंड में पहले निर्यात की हुई मात्रा की अपेक्षा बहुत अधिक मात्रा में बहुमूल्य धातुएँ आती थीं और उनका मत प्रबल रहा।

वर्तमान आर्थिक ज्ञान के प्रकाश में वाणिज्यवादियों द्वारा बहुमूल्य धातुएं जमा करने के तरीकों का पक्ष नहीं लिया जा सकता। पहली बात यह है कि यदि प्रत्येक देश अपने आयात की अपेक्षा अधिक निर्यात करने का प्रयत्न करे तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अन्त हो जायेगा। फिर वाणिज्यवादियों ने साध्य और साधनों को मिला दिया। वे बहुमूल्य धातुओं के आने को निर्यात में से आयात निकाल कर शेष के रूप में देखते थे न कि एक ऐसे आयात के रूप में जिसके लिए उनको बहुत अधिक निर्यात करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त इस समय बहुमूल्य धातुएँ देश में चलार्थ के रूप में प्रयोग की जाती थीं और वे भूल गए कि अन्य वस्तुओं की भाँति पूर्ति और माँग के नियम सोने और चाँदी को भी लागू होते हैं चाहे ये किसी भी रूप में क्यों नहीं हों। इसलिए यदि किसी देश में बहुमूल्य धातुओं की मात्रा बढ़ गई और अन्य परिस्थिति अपरिवर्तित रही तो वे सस्ते या कम मूल्य वाले हो गये। दूसरे शब्दों में सोने और चाँदी के रूप में दूसरी वस्तुओं का मूल्य बढ़ गया। कीमतों के बढ़ जाने से विदेशी व्यापारियों की इस देश से खरीदने की प्रवृत्ति कम होगी और इस देश को बेचने की इच्छा अधिक होगी जिससे निर्यात घटेगा और आयात बढ़ जाएगा और राजनीतिज्ञ अपनी बहुमूल्य धातुएँ देश से जाती हुई पायेगा।

बहुमूल्य धातुओं को प्राप्त करने के साधनों और चलार्थ के रूप में कीमतों पर उनके प्रभाव से सम्बन्धित इन गलतियों के कारण ही उन्होंने निर्यात बढ़ा कर और आयात घटाकर बहुमूल्य धातुओं को संग्रह करने के ऐसे प्रयत्न किये जिनको आजकल अनुचित कहा जाता है।

वाणिज्यवादी विभिन्न प्रकार के व्यापार के राष्ट्रिय कल्याण पर होने वाले परिणामों में भेद करने के लिए तैयार थे। कच्चे माल के आयात की जिस पर इङ्गलैंड के कारीगर काम करें और जो अन्ततः अधिक मूल्य की वस्तुओं के रूप में पुनः निर्यात किया जाए, वे प्रशंसा करते थे, क्योंकि इसका व्यापार के अन्तर पर अन्ततः अच्छा प्रभाव पड़ेगा और आंग्ल उद्योग को सहायता मिलने का अतिरिक्त लाभ होगा। इङ्गलैंड से कच्चे माल का निर्यात नापसन्द था, यद्यपि व्यापार के अन्तर पर इसका प्रभाव सम्भवतः लाभदायक होता; यह माना जाता था कि ऐसी वस्तुओं पर काम करके इनका निर्मित रूप में निर्यात होना चाहिए।

समुद्र-पार प्रवास की अनुमति केवल तब ही दी जाती थी जब यह वाणिज्यवाद के सिद्धान्तों के अनुकूल होता था। यह माना जाता था कि जलवायु सम्बन्धी और अन्य परिस्थितियों के कारण कई वस्तुएं जो भिन्न परिस्थितियों वाले स्थानों पर प्रचुर मात्रा में पैदा की जा सकती थीं उनका देश में उत्पादन असंभव था। परन्तु उपनिवेशों से लाभ तब ही उठाया जा सकता था जब उपनिवेशों पर वाणिज्यवाही सिद्धान्तों के अनुसार नियंत्रण किया जाए। औपनिवेशिक व्यापार आँगल सरकार के नियंत्रण में था। उपनिवेशों में पैदा की हुई केवल वे वस्तुएँ जो इङ्गलैण्ड में पैदा नहीं की जा सकती थीं और जिनकी इङ्गलैण्ड में आवश्यकता थी इङ्गलैण्ड को भेजी जा सकती थीं। इस कार्य के लिए उनको "अनुसूचित" किया जाता था। गैर-अनुसूचित वस्तुएँ (क्योंकि इङ्गलैण्ड के लिए इनका महत्त्व बहुत कम या कुछ भी नहीं था) दूसरी जगह बेची जा सकती थीं, परन्तु समस्त व्यापार चाहे अनुसूचित वस्तुओं का हो या गैर-अनुसूचित वस्तुओं का, आँग्ल जहाजों द्वारा करना पड़ता था।

यह पद्धति, जिसका अन्यत्र अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है,

प्राचीन औपनिवेशिक पद्धति कहलाती थी। इसके अन्तर्गत उपनिवेशों को कन्या-राष्ट्र नहीं माना जाता था जिनको अपने कार्यों का स्वयं संचालन करने योग्य होने तक केवल संरक्षण की आवश्यकता होती थी, परन्तु इनको स्वदेश की चौकी के रूप में माना जाता था और ये आर्थिक दृष्टि से उसके अधीन होते थे।[1] उपनिवेशों के हितों को मातृ देश के हितों के नीचे रखने के लिए प्राचीन औपनिवेशिक पद्धति की निन्दा की जाती है। परन्तु यह तो वाणिज्यवाद का सार था जिसने समस्त राष्ट्र के कल्याण के ऊपर किसी व्यक्ति या दल या वर्ग या क्षेत्र के हितों को अधिमान्यता देने से इन्कार कर दिया था। इसके अतिरिक्त दूसरे आधारों पर भी प्राचीन औपनिवेशिक पद्धति का बचाव किया जा सकता है। अंगरेजों ने उपनिवेशों की स्थापना पर बहुत व्यय किया था, अधिकांश उपनिवेश कुछ समय तक स्वावलम्बी नहीं थे और इङ्गलैण्ड उपनिवेशों की प्रतिरक्षा के लिए उत्तरदायी था। ये परिस्थितियाँ इङ्गलैण्ड द्वारा औपनिवेशिक व्यापार का अपने हित में नियंत्रण का औचित्य प्रकट कर सकती हैं।

वर्तमान आर्थिक विचारों की दृष्टि में वाणिज्यवाद की बहुत कुछ आलोचना की गई है। यदि सब मनुष्य अपने ही प्रयत्नों से अपनी आवश्यकताओं की तत्काल तृप्ति का आदर्श अपना लें, यदि प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपना मकान बनाए, अपने हाथों से अपनी भूमि पर खेती करे और अपने तैयार किए हुए कच्चे माल से अपने कपड़े बनाए तो समाज पुनः अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था को प्राप्त हो जाएगा और एक बहुत निम्न जीवन-स्तर प्राप्त हो सकेगा। मनुष्यों के भिन्न-भिन्न व्यवसायों के अपनाने और मुद्रा के माध्यम की सहायता से अपनी वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय करने से अधिक उत्तम परिणाम प्राप्त होते हैं। यही श्रम-विभाजन का सिद्धान्त है और यह मनुष्यों के साथ ही साथ क्षेत्रों में भी लागू होता है। यदि प्रत्येक स्थान कुछ वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करता है और इनका दूसरी वस्तुओं

---

१. प्राचीन औपनिवेशिक पद्धति के अन्तर्गत उपनिवेशों की राजनीतिक स्वतंत्रता उनकी आर्थिक अधीनता से बिल्कुल भिन्न थी। वे बहुधा मातृ-देश की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील राजनीतिक अवस्था में थे।

और सेवाओं से विनिमय किया जाता है तो परिणाम प्रत्येक के स्वावलम्बी बनने का प्रयत्न करने की अपेक्षा सब के लिए अधिक लाभदायक होता है। परन्तु वाणिज्यवाद का आदर्श राष्ट्रिय स्वावलम्बन था और इस दृष्टि से वह निन्दनीय है।

इस मत के विरोध में उस समय की अवस्थाओं पर ध्यान देना चाहिए। राष्ट्रों का अस्तित्व था; उनमें अपने अस्तित्व की चेतना थी, और उनको दूसरे राष्ट्रों की शत्रुता का सन्देह था। उन्होंने सुरक्षा को प्रचुरता पर अधि-मान्यता दी; उन्होंने अपने पड़ोसियों पर विश्वास करने का साहस नहीं किया। इस दृष्टिकोण के स्वीकार करने में ही उस समय के लिए केवल एक व्यावहारिक नीति के रूप में वाणिज्यवाद का समस्त औचित्य निहित है।

नवाँ अध्याय

कम्पनियों का व्यापार

मध्य युग के उत्तर काल में आँग्ल समुद्र-पार व्यापार मुख्यतः विदेशियों के हाथ में था, सोलहवीं शताब्दी तक यह बहुत-कुछ अंशों तक आँग्ल व्यापारियों के हाथ में आ गया था। विदेशी संगठनों को, जो आँग्ल व्यापार का नियंत्रण करते थे, कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और उनके बुरे दिन आ गए। उत्तमाशा अन्तरीप होकर पूर्व के मार्ग का पता चलने से वेनिस्क के व्यापारियों को पुर्तगालियों की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा। इसके अतिरिक्त वेनिस्क को तुर्कों के आक्रमण से क्रिस्तनदम को उत्पन्न खतरे का सामना करने और उस पर विजय पाने में सहायता देनी पड़ती थी (माल्टा के पूर्व का भूमध्यसागर सोलहवीं शताब्दी तक तुर्की की झील के समान हो गया था।) फिर भी वेनिस्क ने कुछ समय के लिए अपनी स्थिति बनाई रखी परन्तु इङ्गलैण्ड के समुद्र-तट पर फ्लैण्डर्स के बेड़े का आना कम पड़ गया और १५८७ में बन्द हो गया। हैन्स के व्यापारियों को भी महाद्वीप पर और इङ्गलैंड में कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, रानी एलिजाबेथ ने उनके एकाधिकार समाप्त कर दिये।

यद्यपि कैबोट-बन्धुओं ने हेनरी अष्टम के संरक्षण में ब्रिस्टल से न्यू-फाउण्डलैण्ड की समुद्र-यात्रा की, तथापि पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों और सोलहवीं शताब्दी के आरम्भिक काल की भौगोलिक खोजें अंगरेजों ने नहीं की थीं। परन्तु दूसरे देश के नाविकों द्वारा प्रारम्भ की गई खोजों का लाभ उठाने के लिए इङ्गलैण्ड की स्थिति बहुत अनुकूल थी। अंगरेजों के दिमागों में एक अधिक व्यापक दृष्टिकोण का विकास हुआ। जिन लोगों के पूर्वज शताब्दियों तक घर ही पर रहने वाले किसान थे और जिन्होंने अब तक यह सोचा था कि उनका छोटा सा द्वीप सभ्यता के केन्द्र से दूर था यह समझने लगे कि संसार बहुत विस्तृत है, कि इसमें कई विचित्र देश और अनोखी वस्तुएँ हैं

लिए जाने पर अधिकतम संभव लाभ प्राप्त करने के लिए हिंसा, धोखा, चालाकी या दगे से काम ले सकता था। इस प्रकार वह एक ही यात्रा में धनवान बन सकता था। उसको इस बात की चिन्ता नहीं थी कि इससे इन लोगों में उसकी जाति की बदनामी होगी, क्योंकि उसके पापों का फल स्वयं उसको नहीं और उसके पीछे आने वाले व्यापारियों को भोगना पड़ता था। परन्तु एक कम्पनी ऐसी नीति नहीं अपनाएगी। इसका व्यापार सालों साल चलता रहेगा और यह ईमानदारी और न्यायसंगत व्यापार के लिए नाम कमाना और रखना चाहेगी। यह न्यायोचित दावा करेगी कि इस प्रसिद्धि को बिना आज्ञा आने वाले लोगों के कार्यों से आघात नहीं पहुँचना चाहिए। इसके अतिरिक्त एक कम्पनी एक बिना आज्ञा के आने वाले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक बलवान होगी और वहाँ के शासक से ऐसे विशेषाधिकार प्राप्त कर लेगी जो अकेले व्यापारी को नहीं दिए जाएँगे। समुद्र-यात्रा खतरों से भरी हुई थी। प्रायः एक बन्दरगाह से दूसरे बन्दरगाह तक व्यापारी जहाजों को समुद्री डाकुओं का भय रहता था जो संसार के सब ही भागों में फैले हुए थे तो भी एक कम्पनी अपने जहाजों को शस्त्रों से सज्जित करके और उनको पारस्परिक प्रतिरक्षा के लिए साथ-साथ भेज कर इन कुकर्मियों के खिलाफ अधिक प्रभावोत्पादक कार्यवाही कर सकती थी। सरकार भी अनेकों निजी साहसियों द्वारा किए जाने वाले व्यापार की अपेक्षा कम्पनी-पद्धति को अच्छा समझती थी। कर लगाने पड़ते थे और नियम बनाने पड़ते थे। ऐसे मामलों में एक बड़ी कम्पनी के साथ काम करना सरल था। ऐसी कम्पनी अपना माल नहीं छिपाएगी और न महसूली माल को चोरी से मँगाएगी या भेजेगी क्योंकि यह सरकार को अप्रसन्न करने का साहस नहीं करेगी जिसने इसको अधिकार-पत्र प्रदान किया था और जो इसको रद्द कर सकती थी।

परन्तु बिना आज्ञा आने वाले व्यक्ति[1] को कभी पूरी तरह से बन्द नहीं किया गया। वह राष्ट्र की साहसिक भावना का प्रतिनिधित्व करता था।

---

१. बिना आज्ञा के आने वालों और कम्पनियों का झगड़ा प्रान्तीय बन्दरगाहों और लन्दन के बीच चल रही शत्रुता से सम्बन्धित नहीं था। एक कम्पनी के सदस्यों का बहुमत लन्दन से व्यापार करता था और जब एक साथ जहाजों

कम्पनियों का व्यापार नियम और अनुशासन के अधीन था, इससे सीमित मात्रा में नियमित और स्थायी लेन-देन में सहायता मिलती थी और इससे साहस की भावना को बल नहीं मिलता था। कम्पनी ठोस और सम्मानित थी; बिना आज्ञा आने वाला व्यक्ति अवसर मिलने पर थोड़ी-बहुत समुद्री डकैती कर सकता था। कोई-कोई निजी व्यापारी संसार के ऐसे भागों में जाने का साहस कर लेते थे जिनको अधिकारपत्रित कम्पनियाँ छूती तक नहीं थीं और ऐसे साहस के परिणामस्वरूप व्यापार का विकास हुआ। इससे कभी-कभी नई कम्पनियों की स्थापना हुई अर्थात् निजी व्यापारी कभी-कभी कम्पनी का प्रारम्भकर्त्ता होता था। सत्रहवीं शताब्दी में कम्पनियों ने अपनी स्थिति बनाई रखी। अठारहवीं शताब्दी में इनकी अवनति हुई और देश का समुद्र-पार व्यापार अधिकाधिक सीमा तक व्यक्तिगत व्यापारियों के हाथ में चला गया।

समय-समय पर कम्पनियों की जो मुख्य आलोचना की गई है वह उनके एकाधिकारी होने की थी। इस शिकायत को ठीक-ठीक समझना आवश्यक है। किसी कम्पनी के लिए निर्दिष्ट क्षेत्र में आँग्ल व्यापार का एकाधिकारी रखना अवश्यंभावी था; इस बात का निर्णय इसके अधिकारपत्र की शर्तों से होता था और यह माना जाता था कि सुदूर क्षेत्रों के साथ खुला व्यापार करना असंभव था। शिकायत की जड़ कम्पनियों को दिए गए विशेषाधिकारों को काम में लाने का ढंग था। यदि कम्पनी का संचालन करने वाला दल अत्यधिक प्रवेश-शुल्क लगा कर व्यापार में दिलचस्पी रखने वाले व्यापारियों के लिए सदस्य बनना कठिन या असंभव बना देता, यदि यह सार्वजनिक हित का ध्यान रखे बिना सदस्यों के लिए अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए चालाकी से कीमतों में हेर-फेर करता, या पूर्ति को सीमित कर देता, तो एकाधिकार व्यापार के दोष प्रकट होते थे और बिना आज्ञा आने

की व्यवस्था की जाती थी लन्दन के सदस्यों की सुविधा देखना स्वाभाविक था। दूसरे स्थानों के व्यापारी, जो कम्पनी की नीति पर प्रभाव नहीं डाल सकते थे, अपने पर कम्पनी के नियंत्रण को बुरा मानते थे और कभी-कभी वे स्वतंत्र व्यापार का प्रयत्न करते थे। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि लन्दन का अपने आकार, अपनी सम्पत्ति और अपनी स्थिति के कारण किसी भी पद्धति के अन्तर्गत आँग्ल समुद्र-पार व्यापार में प्रमुख स्थान रहेगा।

वालों के कार्य कुछ अंशों तक उचित लगने लगते। दूसरी ओर यदि कम्पनी में न्यायोचित शर्तों पर प्रवेश मिल जाता, तो बिना आज्ञा के किए जाने वाले व्यापार का पक्ष नहीं लिया जा सका था; ऐसी स्थिति में यह माना जा सकता था कि जो आदमी स्वतंत्र रूप से व्यापार करने का प्रयत्न करता था वह न्यायोचित और आवश्यक अंशों तक नियमन स्वीकार करने को तैयार नहीं था और वह आदमी, न कि कम्पनी सार्वजनिक हित की उपेक्षा करने का दोषी था।

उस समय की परिस्थितियों को देखते हुए यह अनुचित नहीं था कि कम्पनी में प्रवेश के लिए कुछ योग्यता आवश्यक कर दी जाए और इसके सदस्यों की संख्या पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिया जाय। एक व्यापारी का व्यवसाय चलाने के लिए प्रशिक्षण की आवश्यकता होती थी और कुछ कम्पनियों में प्रवेशार्थियों के लिए साधारणतः यह आवश्यक था कि वे किसी व्यापार में लगे हुए व्यापारी के शिशिक्षु रह चुके हों।

व्यापारिक कम्पनियाँ दो भिन्न प्रकार की थीं—नियमित और मिश्रित पूँजी वाली। एक नियमित कम्पनी व्यापारियों के एक समुदाय को कहते थे जिसको अधिकारपत्र प्राप्त हो, जिसके अधीन इसके सदस्यों को निर्दिष्ट व्यापार करने का अधिकार दिया गया हो। यह कम्पनी नियम बनाती थी और अपने देश की सरकार या विदेशी शासकों से व्यापार की बातचीत करती थी। यह सदस्यता की शर्तें निर्धारित करती थी और अपने सदस्यों को अनुशासन में रखती थी। यह जिन देशों से व्यापार होता था वहाँ कोठियाँ स्थापित कर सकती थी और अपने सदस्यों के हितों की रक्षा के लिए उन देशों में अपने प्रतिनिधि नियुक्त कर सकती थी। परन्तु कम्पनी स्वयं व्यापार नहीं करती थी। प्रत्येक कारोबार सदस्यों द्वारा अकेले या साझेदारी में किया जाता था और केवल वे लोग जिनका किसी कारोबार से सम्बन्ध होता था इसके लाभ में हिस्सा बँटाते थे या इसका घाटा सहन करते थे। निःसन्देह सब सदस्यों को कम्पनी के नियमों का पालन करना पड़ता था परन्तु इस मर्यादा के अतिरिक्त सदस्यों के कार्यों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था और उनके द्वारा किए गए व्यापार

की मात्रा में अवश्य ही बड़ा अन्तर रहता होगा।[1] एक नियमित कम्पनी के विषय में एकाधिकार के दोषों का प्रश्न केवल तब ही उठता था जब प्रवेश-दण्ड अनुचित रूप से ऊँचा रखा जाता था।

पाठक को मिश्रित-पूँजी कम्पनियों का संगठन समझने में बहुत कम कठिनाई होगी क्योंकि वे आजकल बड़ी संख्या में पाई जाती हैं। इन संगठनों में पूँजी सदस्यों से इकट्ठी की जाती है; समाष्टि रूप से कम्पनी अपना कारोबार वेतनभोगी अधिकारियों के द्वारा करती है और इसके सदस्य या भागधारी अपने भागों पर लाभांश के रूप में लाभ का उचित अनुपात पाते हैं। भाग-धारियों के लिए कम्पनी के कारोबार की बारीकियों की जानकारी रखना या उनमें दिलचस्पी रखना भी आवश्यक नहीं है, उनका काम केवल पूँजी की व्यवस्था करने तक सीमित होता है। एक नियमित कम्पनी के सदस्यों के विपरीत, एक मिश्रित-पूँजी कम्पनी के सब भागीदारों की वित्तीय स्थिति पर कम्पनी द्वारा किए गए प्रत्येक कारोबार की सफलता या विफलता का प्रभाव पड़ता है। सिवाय उस स्थिति के जबकि एक मिश्रित-पूँजी कम्पनी अपना व्यवसाय बढ़ाना चाहती है और इसके लिए नए भाग जारी करने का निश्चय किया जाता है, इसके भाग केवल वर्तमान भागधारियों से खरीद कर ही प्राप्त किए जा सकते हैं। उनके संगठन के इस संक्षिप्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाएगा कि ट्यूडर और स्टूअर्ट काल की मिश्रित-पूँजी कम्पनियाँ नियमित कम्पनियों की अपेक्षा अधिक एकाधिकृत थीं।

---

१. आजकल इस प्रकार का समुदाय विदेशी व्यापार में लगा हुआ नहीं है तो भी, लायड्स के संगठन की तुलना एक नियमित कम्पनी से की जा सकती है। लायड्स एक बीमा कर्त्ताओं का समुदाय है जो सब प्रकार के बीमों का कार्य करते हैं। ये लोग किसी भी प्रकार की जोखिम के लिए बीमा-किस्त बतला देंगे और यदि बीमा-किस्त और जोखिम बड़ी हुई तो उनमें से कई मिलकर बाँट लेते हैं। परन्तु केवल वे ही लोग जो बीमा-किस्त में भाग बँटाते हैं घाटा पूरा करने में सहयोग देते हैं। समष्टि रूप से लायड्स बीमे का कारोबार नहीं करता, यद्यपि यह सदस्यों से प्रवेश-शुल्क ले सकता है और नियम बना सकता है जिनकी सदस्यों से कारोबार में पालन करने की आशा की जाती है।

एक पहले के अध्याय में "मरचैन्ट स्टेप्लर्स" और "मरचैन्ट एडवैन्चरर्स" का उल्लेख किया जा चुका है। "मरचैन्ट एडवैन्चरर्स" जो नियमित कम्पनियों में सब से बड़ी थी, स्टेप्लर्स और हैन्स लीग से संग्राम में विजयी हुई और हम्बर्ग में उनकी बस्ती की स्थापना के पश्चात् से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक उत्तरी जर्मनी के साथ आँग्ल व्यापार पर इसका नियंत्रण था। हैन्स के व्यापारियों से बाल्टिक सागर का मुख्यत: नौ-संचालन में काम में आने वाली वस्तुओं जैसे विराल, कूपदण्डों और शरण का व्यापार छीनने के लिए ईस्टलैण्ड के व्यापारियों की एक कम्पनी स्थापित की गई; १५७६ में एलिजाबेथ ने इसको अधिकार-पत्र दिया। यह कभी भी सोलहवीं शताब्दी में स्थापित की जाने वाली अन्य कम्पनियों के समान महत्त्वपूर्ण नहीं हुई, क्योंकि कालान्तर में ये वस्तुएँ उत्तरी अमरीका से आने लगीं। १६७२ में बाल्टिक सागर का व्यापार लगभग खोल दिया गया, क्योंकि इस कम्पनी में शामिल होकर कोई भी इसमें भाग ले सकता था और इसके लिए चालीस शिलिङ्ग से अधिक का प्रवेश दंड नहीं देना पड़ता था।

एक कम्पनी जो बाद में मस्कोवी कम्पनी कहलाई, उत्तर-पूर्व की दिशा से पूर्व का मार्ग खोजने के लिए १५५३ में स्थापित और अधिकारपत्रित की गई। सर हग विलोबी और रीचार्ड चान्सलर ने एक समुद्री यात्रा की; विलोबी ठंड से मर गया, परन्तु चान्सलर आर्चन्गेल पहुँच गया और स्थल-मार्ग से मास्को गया जहाँ जार ने उसके साथ अच्छा बर्ताव किया। रूस से व्यापार आरम्भ करने की संभावना देखी गई और १५५५ में कम्पनी को नया अधिकार-पत्र प्रदान किया गया। इसको रूस से व्यापार करने का एकाधिकार प्राप्त था और यह दक्षिण-पूर्व में अपना व्यापार बढ़ाने की महत्त्वाकांक्षा रखती थी। कुछ समय के लिए इसको फारस के व्यापार में हिस्सा मिल गया परन्तु यह मुख्यत: लीवान्ट और ईस्ट इण्डिया कम्पनियों के हाथ में रहा। सत्रहवीं शताब्दी में इसकी सम्पन्नता घट गई। इसको डच लोगों की प्रतियोगिता और अपने लोगों की बेईमानी से हानि पहुँची जिन्होंने निजी व्यापार करके धन इकट्ठा कर लिया। आर्चन्गेल पर इसका गोदाम नष्ट हो गया और जार ने इसके विशेषाधिकारों का नवीनीकरण करने से इन्कार कर दिया। इसका एक

नियमित कम्पनी के रूप में पुनस्संगठन हुआ। परन्तु ऊँचा प्रवेश शुल्क लगा कर इसकी सदस्यता सीमित कर दी गई। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में यह घटाकर पाँच पौंड कर दी गई और अठारहवीं शताब्दी में रूस का व्यापार कुछ लोगों के एकाधिकार में नहीं रहा।

भूमध्यसागर के तट पर स्थित मुसलमानी देशों से व्यापार करने के लिए दो कम्पनियाँ थीं; बारबरी कम्पनी, जिसने अफ्रीका के उत्तरी तट के स्थानों से वाणिज्यिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया परन्तु असफल रही, और लीवान्ट कम्पनी जिसको पूर्वी भूमध्यसागर के देशों से व्यापार करने में सफलता मिली। अब तक इस व्यापार पर वेनिस्क के निवासियों का नियंत्रण था, किन्तु फ्रान्सीसियों को सोलहवीं शताब्दी में इसमें पैर रखने को स्थान मिल गया जबकि फ्रान्सिस प्रथम ने सुल्तान के साथ एक व्यापारिक सन्धि की। १५७१ में लिपान्टो के युद्ध में स्पेन वालों ने तुर्कों को पराजित किया और इस समय इङ्गलैण्ड और स्पेन में शत्रुता बढ़ती हुई देखकर सुल्तान ने खुशी से आँग्ल व्यापारियों को विशेषाधिकार दे दिए। १५८१ में एलिजाबेथ ने लीवान्ट के व्यापार में लगे हुए व्यापारियों की कम्पनी को सात वर्ष के लिए अधिकारपत्र प्रदान किया। यह कम्पनी, जो तुर्की कम्पनी कहलाती थी, अपने अधिकारपत्र का नवीनीकरण कराने में असफल रही, परन्तु इसका अस्तित्व समाप्त नहीं हुआ और १५९२ में यह एक नए संगठन — लीवान्ट कम्पनी — में मिला दी गई। कालान्तर में बराबर जहाज आने-जाने लगे। भूमध्य सागर में समुद्री डकैती इतनी अधिक थी कि जहाजों के लिए अकेले यात्रा करना विवेकशून्य माना जाता था और प्रतिवर्ष एक बेड़े के स्मीर्ना और सुल्तान के राज्य के अन्य बन्दरगाहों को जाने का रिवाज-सा बन गया। आरम्भ में यह कम्पनी एक मिश्रित-पूँजी कम्पनी थी परन्तु जेम्स प्रथम के शासन-काल में इसका एक नियमित कम्पनी के रूप में पुस्संगठन हुआ। कभी-कभी इसको मस्कोई और ईस्ट इण्डिया कम्पनियों की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा जो दोनों फारसी रेशम का आयात करती थीं। १७५४ में प्रवेश सरल कर दिया गया, यद्यपि १८२५ में कम्पनी द्वारा अपने विशेषाधिकारों का त्याग करने तक व्यापार खुला नहीं किया गया।

बड़ी व्यापारिक कम्पनियों में सब से प्रसिद्ध ईस्ट इण्डिया कम्पनी थी। सोलहवीं शताब्दी में पूर्वीय व्यापार वेनिस्क और पुर्तगाल के निवासियों के हाथ में था। वेनिस्कवाले मिश्र होकर स्थल-मार्ग का उपयोग करते थे और पुर्तगाली अन्तरीप होकर पूर्व को जाते थे। १५८० में पुर्तगाल स्पेन के राजा फिलिप द्वितीय के अधीन हो गया और, यद्यपि यह औपचारिक रूप से स्पेन में नहीं मिलाया गया, व्यापार में पुर्तगाल के अधीन देश स्पेन के अधीन हो गए और पुर्तगाल का व्यापार स्पेन का व्यापार बन गया। नई दुनियाँ में पहले हा से स्पेन का प्रभुत्व था; पूर्व में भी उसके समान रूप से शक्तिशाली बन जाने का भय उत्पन्न हो गया। चाँदी और मसाले दोनों उसकी सम्पन्नता में योग देंगे। सोलहवीं शताब्दी के अन्त में इङ्गलैण्ड धर्म-सुधार के अभिनेता के रूप में अपना स्वाभाविक स्थान ग्रहण कर रहा था और आँग्ल नाविकों ने पूर्व और पश्चिम में स्पेन की शक्ति पर आक्रमण करने का दृढ़ निश्चय किया।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना का सन्निहित कारण डच लोगों के प्रयत्न थे। डच व्यापारी पहले ही से पूर्व में जाने लग गए थे और उनकी एकाधिकृत कार्यवाही लन्दन में बुरी लगी। लार्ड मेयर के कक्ष में काली मिर्चियों के अनुचित मूल्य पर विचार करने के लिए व्यापारियों की एक सभा हुई और भारत से सीधा व्यापार करने के लिए एक कम्पनी की स्थापना करने का निश्चय किया गया।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी को अपना सर्वप्रथम अधिकारपत्र ३१ दिसम्बर १६०० को प्राप्त हुआ और यद्यपि आरम्भ में लीवान्ट और मस्कोवी कम्पनियों के अधिकारों को सुरक्षित रखा गया, इस नए संगठन के एकाधिकार की सीमायें उत्तमाशा अन्तरीप से लेकर मेगीलान के जलडमरूमध्य तक निर्धारित की गई आरम्भ में कुछ वर्षों तक कम्पनी का व्यापार चलाने के लिए प्रत्येक समुद्री यात्रा के लिए अलग मिश्रित पूंजी इकट्ठी करने का सिद्धान्त अपनाया गया और साहस की समाप्ति पर पूंजी देने वालों को लौटा दी जाती थी। क्योंकि इतनी बड़ी दूरी की समुद्री यात्रा में व्यय और जोखिम बहुत होते थे, व्यापारियों के लिए इनकी वित्तीय व्यवस्था के लिए मिल कर काम करना आवश्यक था। प्रत्येक समुद्री यात्रा का हिसाब अलग रखा जाता था और अन्तिम

निपटारे में बहुत समय लगता था। १६१२ में कई यात्राओं के लिए मिश्रित पूँजी की स्थापना की गई और १६५७ में एक स्थायी, वापस नहीं मिलने वाली, मिश्रित पूँजी उगाही गई। अपने जीवन के पहले सौ वर्षों में इस कम्पनी ने अनेक कठिनाइयों का सामना किया और उन पर विजय प्राप्त की—डच कम्पनी की शत्रुता[1], बिना आज्ञा आने वालों के प्रयत्न, देश में विरोधी आलोचना, और १६९८ में एक विरोधी कम्पनी की स्थापना (जिसको दस वर्ष बाद प्रथम संस्था में मिला दिया गया)। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की व्यापारिक हलचलें चीन और जापान तक फैली हुई थीं। इसने फारस के शाह से भी विशेषाधिकार प्राप्त कर लिये जिनके कारण इसका लीवान्ट कम्पनी से, उसके एकाधिकार के क्षेत्र के सम्बन्ध में, झगड़ा हो गया।

अठारहवीं शताब्दी के मध्य से कम्पनी का इतिहास भारत में ब्रिटिश प्रभाव के विस्तार से सम्बन्धित है। यह एक शासक और व्यापारिक निगम बन गई, यद्यपि इसके राजनीतिक कार्यों पर १७७३ के रेग्यूलेटिंग एक्ट और १७८४ के इण्डिया एक्ट के अधीन ब्रिटिश सरकार का नियंत्रण था। १८१३ में ईस्ट इण्डीज से व्यापार का कम्पनी का एकाधिकार समाप्त हो गया और यह व्यापार खुला कर दिया गया, यद्यपि १८३३ तक चीन का व्यापार इसके हाथ में रहा। उस वर्ष इसने व्यापार करना बन्द कर दिया और यह केवल भारत का शासन करने वाले संगठन के रूप में बनी रही। १८५८ में यह समाप्त कर दी गई।

---

१. अपने प्रारम्भिक काल में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने मलूकू द्वीपसमूह से व्यापार करने का प्रयत्न किया जहां महाद्वीपीय भारत की वस्तुओं की माँग थी। मुख्य भूमि पर कोठियाँ स्थापित की गईं और भारत से मलूकू द्वीपसमूह को रेशम, सूती वस्त्र और नील ले जाए जाते थे। आँग्ल व्यापारियों के वाणिज्यिक प्रयत्न डचों को बुरे लगे और उन्होंने १६२३ में अम्बोयना में कई व्यापारियों को मार डाला। उस समय यूरोप की राजनीतिक हालत ऐसी थी कि कोई बदला लेने की कार्रवाही नहीं की गई और इस जन-संहार का प्रतिकार क्रॉमवैल ने किया। इस बीच मलूकू द्वीपसमूह पर आँग्ल प्रभुत्व समाप्त हो गया और आँग्ल वाणिज्यिक प्रयत्न मुख्य भूमि पर लगाए गए।

अपने अस्तित्व के प्रारम्भिक काल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की बहुत शत्रुतापूर्ण आलोचना की गई थी। यह बतलाया जा चुका है कि वाणिज्यवादी सिद्धान्त का एक प्रधान उद्देश्य आँग्ल व्यापार का इस प्रकार नियंत्रण करना था जिससे कि बहुमूल्य धातुओं का इस देश में स्वतः आयात हो, इसलिए व्यापार का अन्तर "अनुकूल" बनाने अर्थात् निर्यात आयात से अधिक करने के प्रयत्न किए गए। परन्तु यह कहा जाता था कि भारतीय व्यापार इस आदर्श के अनुसार नहीं था। आँग्ल वस्तुओं की पूर्व में बहुत कम माँग थी, गरम मसालों और दूसरी वस्तुओं को लाने के लिए मुद्रा देश से बाहर भेजनी पड़ती थी।[1] कम्पनी की ओर से यह कहा जाता था कि वेनिस्क और पुर्तगाल के व्यापारी जितना मूल्य लेते थे उससे कम मूल्य पर गरम मसाले प्राप्त करने में देश को लाभ होता था और इससे भी कि अँगरेजों को व्यापार के लाभ प्राप्त होते थे। इसके अतिरिक्त इस देश को लाए हुए पूर्व के माल का बड़ा पुनर्निर्यात होता था। इस प्रकार इङ्गलैण्ड को आराम में खर्च की हुई राशि से बहुत अधिक मुद्रा प्राप्त होती थी।[2] कम्पनी के कार्यों की दूसरी आलोचना यह थी कि वे देश के जहाजी हितों के लिए हानिकारक थे। इङ्गलैण्ड की सुरक्षा जहाज़ों की संख्या पर निर्भर करती थी और कई महीने के लिए अनेक बड़े जहाजों की अनुपस्थिति से उसकी नौ-शक्ति कम हो जाती थी। कम्पनी कहती थी कि इसके विपरीत, इसके व्यापार के विकास से लम्बी समुद्री यात्रा करने योग्य बड़े जहाजों के निर्माण को प्रोत्साहन मिलता था और इसके बेड़े का एक भाग सदा इङ्गलैण्ड के बन्दरगाहों में या उनके समीप रहता था। तीसरी आलोचना यह थी कि कम्पनी का व्यापार आँग्ल उद्योगों के लिए किसी प्रकार लाभदायक नहीं था क्योंकि आँग्ल माल की पूर्व में मांग नहीं थी। इस विवाद के उत्तर में कम्पनी ने एशिया के देशों में आँग्ल माल की मंडियाँ स्थापित करने के प्रयत्न किए और इसको कुछ सफलता भी मिली।

---

१. कम्पनी को प्रत्येक समुद्री यात्रा के लिए ३०,००० पौंड तक की चाँदी का निर्यात करने की आज्ञा थी।

२. दूसरे शब्दों में भारत के व्यापार का प्रतिकूल अन्तर अन्य देशों के साथ अनुकूल अन्तर प्राप्त करने का साधन था।

अफ्रीका के पश्चिमी तट का व्यापार रायल अफ्रीकन कम्पनी के हाथ में था। एलिजाबेथ के समय में और स्टूअर्ट काल के आरम्भ में इस व्यापार के लिए कम्पनियाँ स्थापित करने के अनेक प्रयत्न किए गए[1] परन्तु रायल अफ्रीकन कम्पनी की स्थापना चार्ल्स द्वितीय के शासन-काल से पूर्व तक नहीं हो सकी। इस संगठन का अधिकांश व्यापार पश्चिमी द्वीपसमूह के ईख के खेतों के लिए हब्शी गुलामों की पूर्त्ति करना था। कम्पनी को विदेशियों और बिना आज्ञा आने वालों की प्रतियोगिता से भारी आघात पहुँचा और १७५० में इसके स्थान पर नियमित कम्पनी की स्थापना की गई जिसमें प्रवेश की शर्तें ऐसी थीं कि व्यापार की बहुत कुछ स्वतन्त्रता हो गई। १८२१ में यह कम्पनी समाप्त कर दी गई।

"हडसनज बे कम्पनी" की स्थापना १६७० में, चार्ल्स द्वितीय के शासन-काल में हुई जिसका चचेरा भाई, प्रिन्स रूपर्ट, इसकी स्थापना में दिलचस्पी रखता था। इसको हडसन की खाड़ी के चारों ओर के देशों से व्यापार करने का एकाधिकार दिया गया था। यह अमरीका के आदिवासियों से कतिपय आँग्ल वस्तुओं के बदले में महीन रोवें प्राप्त करके इङ्गलैण्ड को लाती थी। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में फ्रान्सीसियों ने इसके राज्य पर आक्रमण किया

---

१. पश्चिमी अफ्रीका से व्यापार करने के लिए समय-समय पर जो कम्पनियाँ बनाई गईं उनमें निम्नांकित संयुक्त थीं :—

१५८८ गिनी कम्पनी जो हाथीदाँत और ताड़ के तेल का व्यापार करती थी और जिसने बिना आज्ञा आने वालों से हानि उठाई।

१६१८ एक नई कम्पनी जिसने बिना आज्ञा आने वालों से हानि उठाई।

१६३१ एक और नई कम्पनी जिसने भी बिना आज्ञा आने वालों से हानि उठाई।

१६६२ एक कम्पनी जो अमरीका में ब्रिटिश उपनिवेशों को प्रतिवर्ष ३,००० गुलामों का निर्यात करने के लिए बनाई गई थी।

१६७२ रायल-अफ्रीकन कम्पनी, जिसके विशेषाधिकार क्रान्ति के समय छीन लिये गए थे परन्तु १६९८ में अंशतः पुनः प्रदान कर दिए गए। यह कम्पनी भी लाभदायक नहीं थी, इसकी मुख्य कठिनाई बिना आज्ञा आने वालों के प्रयत्न थे।

१७५० एक नई कम्पनी जो रायल-अफ्रीकन कम्पनी की सम्पत्ति और उत्तरदायित्व को धारण करने के लिए बनाई गई थी।

परन्तु यूट्रेक्ट की सन्धि के अधीन उनको अपनी जीती हुई भूमि लौटाने और कम्पनी को मान्यता देने के लिए बाध्य किया गया। महीन रोवों का व्यापार लाभदायक सिद्ध हुआ और अन्य अधिकारपत्रित कम्पनियों के समान आलोचनाएँ सहन करके कम्पनी जीवित रही। यद्यपि इसने अपना एकाधिकार १८६९ में त्याग दिया, यह आज भी जीवित है और अपना व्यापार चलाती है।

साउथसी कम्पनी को १७११ में अधिकारपत्र प्रदान किया गया और इसको ओरीनोको से दक्षिण में अमरीका से व्यापार करने का अधिकार दिया गया। यह एक मिश्रित-पूँजी कम्पनी थी जिसको सरकार को ऋण देने के बिदले में यह विशेषाधिकार प्रदान किया गया था। १७१३ यूट्रक्ट की सन्धि से इस कम्पनी को कुछ अतिरिक्त अधिकार और मिल गए। इसको एसियन्टो (Asiento) अर्थात् स्पेन के उपनिवेशों को ४८०० तक गुलाम प्रति वर्ष बेचने का अधिकार तीस वर्ष के लिए प्रदान किया गया और इसके अतिरिक्त इसको छः सौ टन का एक जहाज साधारण व्यापार के लिए पोर्टो बेलो भेजने की आज्ञा मिल गई। इन रिआयतों से लाभ आशा से कम मिला और कम्पनी ने अपने विशेषाधिकारों के विस्तार के लिए बातचीत चलाई। यूरोप के बाहर के समस्त व्यापार के एकाधिकार के बदले में इसने राष्ट्रिय ऋण का उत्तरदायित्व लेना और सरकार का एकमात्र ऋणदाता बनना स्वीकार किया। यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया और जनता ने समझा कि कम्पनी को शीघ्र ही बड़ा लाभ होगा। सट्टे ने जोर पकड़ा और अनेक नासमझ लोग बर्बाद हो गए जब कि कई चतुर और बेईमान लोग धनवान बन गए। जब बुलबुला फूट गया तो कम्पनी को अपने पुराने कार्यक्षेत्र तक सीमित कर दिया गया और यद्यपि १७४८ में एसिन्टो की अवधि बढ़ा दी गई, १७५० में स्पेन द्वारा १००,००० पौंड प्रदान करने के बदले में इसका त्याग कर दिया गया। कम्पनी ने १८०७ तक अपने प्रारम्भिक एकाधिकार बनाए रखे।

जैसा कि बतलाया जा चुका है, सोलहवीं शताब्दी में बहुत कुछ आलोचना सहन करते हुए कम्पनियों ने अपनी स्थिति बनाई रखी। यह समझा जाता था कि समुद्र-पार व्यापार के लिए नियमन और नियंत्रण की आवश्यकता थी। अठारहवीं शताब्दी तक यह माना जाने लगा कि कम्पनियाँ नियमन बनाए

रखने और नियन्त्रण करने में असफल रह रही थीं। स्वयं कम्पनियों के अधिकारी निजी व्यापार से धनवान बन गए और उनको नियुक्त करने वाले निगमों के हितों की उपेक्षा करने लगे और बिना आज्ञा आने वाले अब बाहर नहीं रखे जा सकते थे। नियंत्रण की आवश्यकता को चुनौती दी जाने लगी, व्यापार के नियन्त्रण से यह सीमित हो जाता था और, सही हो या गलती, राष्ट्र व्यापार का आकार बढ़ाना पसन्द करता था। वाणिज्यवाद के सिद्धान्तों के विरोध में राज्यनिर्बाध-नीति के दर्शन का विकास कम्पनियों के विशेषाधिकारों के लिए घातक था। विशेष कारणों से कुछ कम्पनियाँ चलती रहीं परन्तु अधिकांश व्यापार सब के लिए खोल दिया गया।

दसवाँ अध्याय

नौ-वहन पद्धति

वाणिज्यवाद का एक उद्देश्य आँग्ल जहाजी बेड़े का विकास करना था। जिससे कि देश की नौ-शक्ति प्रतिरक्षा के लिए यथेष्ट हो। अनेक नौ-वहन अधिनियमों का निर्माण, जिनके अधीन कई उपाय काम में लाए गए, इस उद्देश्य की प्राप्ति के प्रति दृढ़ निश्चय के द्योतक हैं।

सर्वप्रथम नौ-वहन अधिनियम १३८१ में रिचार्ड द्वितीय के शासन-काल में पारित हुआ था। यह निश्चय है कि यह अधिनियम लागू नहीं किया गया; आँग्ल जहाजों की पूर्त्ति काफी नहीं होने से यह लागू नहीं किया जा सकता था और १३८२ में आँगल जहाजों के नहीं मिलने पर विदेशी जहाजों का प्रयोग वैधानिक घोषित कर दिया गया। इस अधिनियम का महत्त्व एक तत्काल लागू किए जाने योग्य नियम के रूप में नहीं होकर एक ऐसे आदर्श के रूप में है जिसको प्राप्त करने का प्रयत्न भावी संतति कर सकती है।

१४८५ में एक दूसरा अधिनियम पारित हुआ जिसके अधीन गेस्कोनी से आयातित मदिरा का आँग्ल जहाजों में लाया जाना अनिवार्य कर दिया गया और तीन वर्ष बाद यह आज्ञा निकाली गई कि इन जहाजों के नाविक भी अँगरेज होने चाहिएँ। ये अधिनियम भी कठोरता से लागू नहीं किए गए यद्यपि इनकी १३८१ के अधिनियम की भाँति पूर्णतः अवहेलना नहीं की गई। १५३२ और १५४० में और अधिनियम बनाए गए परन्तु दो कारणों से वे असफल रहे। हेनरी अष्टम अधिनियमों की अवज्ञा के लिए लाइसेन्स प्रदान करके आय प्राप्त करने के लिए तैयार रहता था, ये नियम दूसरे देशों के शासकों को बुरे लगे और उन्होंने आँग्ल नौ-परिवहन के विरुद्ध कदम उठाए। इस दूसरे कारण से एलिजाबेथ ने इन अधिनियमों में मूर्त्तिमान नीति को त्यागने का निश्चय किया और ये १५५९ में रद्द कर दिए गए।

परन्तु युग-भावना नियमन के पक्ष में थी और एक नीति का परित्याग केवल दूसरी नीति का प्रारम्भ हो गया। १५५९ में यह आज्ञा प्रचलित

कर दी गई कि आँग्ल जहाजों में लाए गए माल की अपेक्षा विदेशी जहाजों पर लाए गए माल पर अधिक सीमा-कर देना होगा और १५६३ में तटीय व्यापार आँग्ल जहाजों के लिए रक्षित कर दिया गया। "मत्स्य-दिवसों" (वे दिन जब मांस नहीं खाया जाता था) की प्रथा जो एडवर्ड षष्ठ द्वारा आरम्भ की गई थी एलिजाबेथ के शासन-काल में जारी रखी गई; यह आशा की जाती थी कि गहरे समुद्र के मत्स्य-क्षेत्रों को प्रोत्साहन दिया जाएगा क्योंकि इन से नाविकों को उत्तम प्रशिक्षण मिलता था। फिर भी संभव है कि इन नियमों की विस्तृत टालना की जाती थी।

स्टूअर्ट काल में आँगल नौ-परिवहन का विकास करने के और प्रयत्न किए गए। समय-समय पर इस विषय पर घोषणाएँ की गईं परन्तु टालना जारी रहा। उपनिवेशों के प्राप्त होने पर उनके साथ व्यापार पर ध्यान दिया गया। उपनिवेशों में उत्पन्न वस्तुएं केवल आंग्ल जहाजों में ले जाई जा सकती थीं और यह आज्ञा जारी की गई कि उपनिवेशों में उत्पन्न तमाखू केवल इङ्गलैन्ड को निर्यात हो सकती थी।

राष्ट्र-मंडल की स्थापना तक इस देश की नौ-वहन नीति अनिश्चित और अप्रभावोत्पादक थी। संसद् द्वारा अधिनियम बनाए गए, घोषणाएँ की गईं, परिषद द्वारा आज्ञाएँ जारी की गईं, उनके अव्यावहारिक होने से उनकी अव-हेलना की जाती थीं या सरकार में उनको लागू करने की योग्यता नहीं होने से वे टाल दी जाती थीं या उनसे बचने के लिए लाइसेन्स प्रदान करके स्वयं सम्राट् उनको अप्रभावोत्पादक बना देता था।

रम्प (Rump) द्वारा १६५० में पारित एक नौ-वहन अधिनियम के अधीन राज्य परिषद् द्वारा प्रदान किए गए लाइसेन्स नहीं होने पर, विदेशी जहाजों को आँग्ल उपनिवेशों से व्यापार करने की मनाही थी। यह अधिनियम डच लोगों के विरुद्ध बनाया गया था और इस के बाद में एक दूसरा अधिक विस्तृत नौ-वहन अधिनियम बनाया गया, जो १६६० में राजतन्त्र के पुनःस्थापन के पश्चात् कुछ संशोधन और विस्तार के साथ पुनर्नियमित किया गया। उन्नीसवीं शताब्दी में इस पद्धति के परित्याग तक इन अधिनियमों में प्रतिपादित सिद्धान्त इस देश की नौवहन-नीति का आधार बन गए।

१६५१ के नौ-वहन अधिनियम के वाणिज्यिक कार्यों के लिए यूरोप और दूर के महाद्वीपों में भेद किया गया। यह कल्पना करके नियम बनाए गए कि यूरोपीय देश, या उनमें से कुछ, व्यापार में इङ्गलैंड के शत्रु थे। एशिया, अफ्रीका और अमरीका को ऐसा क्षेत्र माना गया जहाँ से कतिपय आवश्यक वस्तुएं प्राप्त की जा सकती थीं। यूरोप के उपनिवेशों को छोड़ कर, शेष एशियाई, अफ्रीकी या अमरीकी जहाजी बेड़ों के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की गई जो इङ्गलैंड से प्रतियोगिता कर सके।

इस अधिनियम के अधीन यह आज्ञा जारी की गई कि इङ्गलैण्ड, आयरलैंड या उपनिवेशों में एशिया, अफ्रीका और अमरीका से आयातित वस्तुएँ आँग्ल या उपनिवेशों के जहाजों में ले जानी होंगी। वे जहाज आँग्ल या औपनिवेशिक माने गये जिनके स्वामी, अध्यक्ष और अधिकांश नाविक इङ्गलैंड या उपनिवेशों के हों। यह नियम चीन की वस्तुओं का चीन के जहाजों में इङ्गलैंड लाना रोकने के लिए नहीं बनाया गया था; यह सम्भावना इतनी दूर थी कि इस पर विचार भी नहीं किया जा सकता था। यह डच या अन्य यूरोपीय जहाजों को आँग्ल व्यापार नहीं रोकने देने के लिए बनाया गया था। यह ध्यान देने की बात है कि आयरलैंड इस अधिनियम में शामिल किया गया था और आँग्ल जहाजों को प्राप्त संरक्षण और विशेषाधिकार उपनिवेशों के जहाजों को भी प्रदान किए गए थे। यूरोपीय वस्तुएँ आँग्ल जहाजों, या निर्यात करने वाले देश के जहाजों या नौ-परिवहन के साधारण बन्दरगाह के जहाजों में इङ्गलैण्ड, आयरलैण्ड या उपनिवेशों को लाई जा सकती थीं। इस प्रकार फ्रांसीसी वस्तुएं आंग्ल या फ्रान्सींसी जहाजों में ले जाई जा सकती थीं; स्वीडन का माल इङ्गलैण्ड या स्वीडन के जहाजों में। इस और पहले के वाक्य खण्ड का उद्देश्य डच लोगों के वाणिज्यिक अवसरों को सीमित करना था जो सत्रहवीं शताब्दी में बहुत-कुछ परिवहन का कार्य करते थे। जहाजों को लम्बी समुद्र-यात्रा पर जाने के लिए प्रोत्साहित करने और अधिनियम का अपवंचन रोकने के लिए यह आज्ञा दी गई कि आँग्ल जहाजों में लाया जाने वाला माल सीधा भेजने वाले देश से या नौपरिवहन के साधारण बन्दरगाह से आना चाहिए और किसी बीच के बन्दरगाह से दूसरे जहाज से उतार कर नहीं लादा जाना चाहिए। इस आदेश के बिना डच लोगों के लिए पूर्व के देशों से अपने

जहाजों में अपने बन्दरगाहों तक माल लाकर तंग समुद्र के पार इङ्गलैंड भेजना सम्भव हो सकता था। इस प्रकार इस अधिनियम का उद्देश्य विफल किया जा सकता था। इस नियम के कुछ अपवाद स्वीकार किए गए थे। लीवान्ट और भारत की वस्तुएं सीधी भेजने वाले देशों से नहीं आकर आंग्ल जहाजों में लाई जा सकती थीं। स्पेन और पुर्तगाल के उपनिवेशों की वस्तुएं स्पेन या पुर्तगाल से आँग्ल जहाजों में इङ्गलैंड लाई जा सकती थी। इसकी इसलिए आवश्यकता हुई कि इन देशों ने विदेशों को सीधा अपने उपनिवेशों से व्यापार करना निषेध कर रखा था। इटली का रेशमी वस्त्र इङ्गलैंड भेजने के लिए स्थल मार्ग से डच बन्दरगाहों को भेजा जा सकता था; इस प्रकार व्यापार के सुस्थापित मार्ग को अपनाया जा सकता था। इस अधिनियम के अधीन तिमि-अस्थि (Whalebone), तेल, कोड, लिंग, हेरिंग, पिल्कार्ड और अन्य नमक लगी हुई मछलियों का आयात और निर्यात केवल आंग्ल जहाजों में हो सकता था, इस प्रकार डचों के मछली उद्योग को आघात पहुँचा। अन्तिम, विदेशी जहाजों को इङ्गलैण्ड के तटीय व्यापार से बाहर रखा गया।

कुछ अंशों तक १६५१ का नौ-वहन अधिनियम लागू नहीं किया जा सकता था। इसके कुछ आदेशों का संशोधन किया गया और स्पेन से युद्ध के समय, डचों द्वारा, जिनके विरुद्ध यह बनाया गया था, इसकी अवहेलना की चश्म-पोशी की गई जिससे कि तटस्थ झण्डे के नीचे आँग्ल व्यापार स्पेन के हमलों से बच सके। यह आदेश कि आंग्ल जहाजों के नाविकों का "अधिकाँश" अंगरेज होने चाहिएं अनिश्चित था और साधारणतः इसकी उपेक्षा की गई। तो भी इस अपवंचन की अधिकता बुरी लगी और १६६० में, जब १६५१ की विधि को पुनः अधिनियमित करने की आवश्यकता हुई तो, अनुभव के आधार पर इसमें संशोधन करने का प्रयत्न किया गया।

१६६० के नौ-वहन अधिनियम में अनेक महत्त्वपूर्ण नवीन आदेश थे।[१] आंग्ल जहाज की अधिक स्पष्ट परिभाषा की गई; स्वामी, अध्यक्ष और तीन-

---

१. १६६० के अधिनियम में सरकार में परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप अनेक मौलिक परिवर्तन भी थे, उदाहरणार्थ "इस राष्ट्र-मण्डल के राज्य" के स्थान पर "सम्राट् के राज्य"।

चौथाई नाविक अंगरेज होने चाहिए थे, और कभी-कभी जहाज का भी आंग्ल-निर्मित होना आवश्यक माना गया। उपनिवेशों के आयात और निर्यात आंग्ल या औपनिवेशिक जहाजों में [1] ले जाए जाने थे और विदेशी व्यापारियों तथा उनके गुमाश्तों को आंग्ल उपनिवेशों में बसने की मनाही थी। कतिपय औपनिवेशिक पदार्थों की गणना की गई थी और ये केवल इङ्गलैंड, आयरलैंड या दूसरे उपनिवेशों को निर्यात किए जा सकते थे। इस सूची में चीनी, तमाखू, कॉटन-ऊल, नील, अदरक और पाण्डुद्रु (Fustic) [2] या अन्य रंगीन काष्ठ संयुक्त थे। जिन वस्तुओं की इस प्रकार गणना नहीं की गई हो वे आंग्ल या औपनिवेशिक जहाजों में दूसरे देशों को भेजी जा सकती थीं। [3]

यूरोप से माल के आयात सम्बन्धी नियमों में भी संशोधन किया गया। कतिपय अनुसूचित वस्तुएँ (कूपदण्ड, काष्ठ, नमक, निराल (pitch), विराल (tar), उद्यास (resin), शण (hemp), उमा (flex), दाखें, अंजीर, सूखे जामुन (prunes), जैतून का तेल, मकई और अन्य अनाज, चीनी, सर्जि (potash), मदिराएँ, चुक्र (Vinegar) और प्रासव (Spirits) केवल आँग्ल जहाजों में इङ्गलैण्ड को लाई जा सकती थीं और यह आदेश रूस से आने वाली समस्त वस्तुओं के लिए लागू होता था। तुर्की के साम्राज्यान्तर्गत देशों की वस्तुएँ आँग्ल जहाजों में या भेजने वाले देश के जहाजों में लाई जा सकती थीं और यह आवश्यक था कि जहाज इङ्गलैण्ड में या अपने देश में बने हुए हों इसके अतिरिक्त जहाजों के स्वामी और नाविक भी अधिनियम में अन्यत्र दी हुई परिभाषा के अनुसार होने चाहिए। आँग्ल जहाजों में लाई गई वस्तुओं की अपेक्षा विदेशी जहाजों में लाई गई वस्तुओं पर अधिक कर देना पड़ता

१. अतएव औपनिवेशिक बन्दरगाहों में विदेशी जहाजों के आने का मौसम की खराबी के अतिरिक्त और कोई न्यायोचित कारण नहीं हो सकता था।

२. पाण्डुद्रु (fustic) एक प्रकार का काष्ठ होता है जिससे हल्का पीला रंग प्राप्त होता है।

३. एक बाद के अधिनियम से यह रिआयत फिनिस्टेरी अन्तरीप के दक्षिण के देशों को निर्यातित वस्तुओं तक सीमित कर दी गई थी।

था।[1] तेल, तिमि, अस्थि, तिमि-मज्जा और कोड तथा गहरे समुद्र में पाई जाने वाली अन्य मछलियों का, जो विदेशी जहाजों द्वारा पकड़ी गई हों, आयात करने पर विदेशियों पर लगाए गए कर का दुगुना देना पड़ता था। यह डचों के मत्स्य उद्योग पर एक और आघात था, इसमें यह मान लिया गया था कि जबतक मछलियाँ आँग्ल जहाजों द्वारा पकड़ी जाकर उन्हीं में नहीं लाई गई हों डच लोगों को इस व्यवसाय में दिलचस्पी रहेगी।

१६६० के अधिनियम ने वे सिद्धान्त निर्धारित किए जिन पर लगभग दो शताब्दियों तक इस देश के नौ-परिवहन उद्योग का नियमन किया गया, परन्तु समय समय पर नाविक-विधि की इस संहिता में संशोधन और परिवर्द्धन किया गया। इसके अतिरिक्त समय समय पर गणना में परिवर्तन किया गया। १६६२ में यह आज्ञा जारी की गई कि आँग्ल माने जाने के लिए जहाज इङ्गलैण्ड या इसके किसी उपनिवेश में बने हुए होने चाहिए और साथ ही उनके स्वामी और नाविक भी सम्राट् की प्रजा होने चाहिए। १६६४ में उपनिवेशों को, जिनको आंग्ल या औपनिवेशिक जहाजों में यूरोप से माल का आयात करने की आज्ञा थी, इङ्गलैण्ड को छोड़कर दूसरे स्थानों से यूरोपीय वस्तुएँ मंगवाने की मनाही कर दी गई और १६७३ में उनको अनुसूचित वस्तुएँ एक दूसरे को भेजने पर कर देना पड़ने लगा। अठारहवीं शताब्दी में अनुसूचित औपनिवेशिक पदार्थों की प्रारम्भिक सूची में कई पदार्थ जोड़ दिए गए जिनमें सब से महत्त्वपूर्ण चावल, सीरा और नाविक सामग्री थी। परन्तु वालपूल के समय में चावल पर से अंशतः नियंत्रण हटा लिया गया और इसे भूमध्य-सागरीय देशों को सीधा निर्यात करने की आज्ञा प्रदान कर दी गई और १७३९ में चीनी अनुसूचित नहीं रही। आयरलैण्ड का, जिसको १६५९ और १६६० के अधिनियमों में शामिल किया गया था, औपनिवेशिक व्यापार सम्बन्धी १६६३ के अधिनियम में उल्लेख नहीं किया गया और १६७० में यह स्पष्ट रूप से १६६० के अधिनियम से निकाल दिया गया। समय समय पर कुछ छोटी

---

१. यह स्काटलैण्ड के जहाजों में लादी गई स्काटलैण्ड की वस्तुओं पर लागू नहीं होता था। अन्य बातों में स्काटलैण्ड विदेश माना गया था।

रिआयतों के मिलने पर भी, आयरलैण्ड को १७७९ तक पुनः समानता का बर्ताव नहीं मिला।

१६६० के नौ-वहन अधिनियम में स्काटलैण्ड विदेश माना गया सिवाय इसके कि स्काटलैण्ड के जहाजों में भेजी गई स्काटलैण्ड की वस्तुओं पर विदेशियों से वसूल किए जाने वाले कर नहीं देने पड़ते थे। स्काटलैण्ड की संसद् में १६६१ में एक नौ-वहन अधिनियम पारित हुआ जिसके अधीन स्काटलैण्ड में आयातित वस्तुओं का स्काटलैण्ड या भेजने वाले देश के जहाजों पर लादने के आदेश दिए गए और यदि वे इङ्गलैण्ड सहित किसी और देश के जहाजों में आएँ तो उनपर दुगुना कर देना पड़ता था सिवाय उस देश के जहाजों के जिनके बन्दरगाहों में स्काटलैण्ड के जहाजों पर रिआयत की जाती थी। १६६३ में इङ्गलैण्ड से आयातित वस्तुओं पर अतिरिक्त कर लगाए गए। इस नीति से स्काटलैण्ड में एक व्यापारिक जहाजी बेड़ा बनाने में सफलता नहीं मिली; इससे स्काटलैण्ड के निवासियों को हानि उठानी पड़ी। १७०७ की एकता के पश्चात् आँग्ल नौ-वहन पद्धति समस्त बृहत् ब्रिटेन पर लागू कर दी गई।

१६६० के परिनियम की प्रस्तावना के अनुसार नौ-वहन अधिनियमों का उद्देश्य "इस देश के जहाजों में वृद्धि करना और नौ-वहन को प्रोत्साहन देना था जिसका इस राज्य की सम्पत्ति, सुरक्षा और शक्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध था।"

यह दलील कि नौ-वहन परिनियम अपने उद्देश्य में सफल हुए इस असंदिग्ध तथ्य पर आधारित है कि सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरकाल में और अठारहवीं शताब्दी भर आँग्ल जहाजी बेड़े के आकार में वृद्धि हुई और उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश जहाजी बेड़ा संसार में प्रमुख था। क्यों कि इस प्रकार का तर्क कि "इसके पीछे और इसलिए इसके कारण" सदा सतह पर आकर्षक होता है, इसलिए इसके प्रति सावधानी रखनी चाहिए, किन्तु यह तुरन्त माना जा सकता है कि इस विषय में यह तर्क इतना सत्य सदृश है कि इसको असिद्ध करने का भार इसके विरोधियों पर है। वे इस ललकार का सामना करने को तैयार हैं और वे दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि जहाजी बेड़े के आकार में वृद्धि नौ-वहन अधिनियमों के बावजूद हुई, न कि उनके कारण।

पहला तर्क यह दिया जाता है कि सत्रहवीं शताब्दी में नौ-वहन में डच लोगों की प्रधानता अस्थायी परिस्थितियों के कारण थी और इसके स्थायी रहने की संभावना नहीं थी।[1] इस शताब्दी के प्रारम्भिक काल में पश्चिमी यूरोप के अनेक राष्ट्रों की शक्तियां तीस वर्षीय युद्ध में लगी हुई थीं और डच लोगों ने पड़ोसियों की प्रतियोगिता की अनुपस्थिति रूपी सौभाग्य का उपयोग किया। इसी काल में इङ्गलैण्ड एक वैधानिक संग्राम में लगा हुआ था जिसका अन्त महान् राजद्रोह और राजतन्त्र के अन्त में हुआ। परन्तु यूरोप तीस वर्षीय युद्ध से बच निकला, यद्यपि वह थका हुआ था और इङ्गलैण्ड में भी आभ्यन्तरिक कलह का अन्त हुआ। कोल्बर्ट के अधीन फ्रान्स ने और उत्तरकाल के स्टूअर्ट राजाओं और ह्विग (उदार) दल के नेतृत्व में इङ्गलैण्ड ने अपना व्यापार बढ़ाने की ओर ध्यान दिया और डच लोग अपना सामुद्रिक प्रभुत्व, कायम नहीं रख सके।

यह तर्क दिया गया कि नौ-वहन पद्धति के प्रचलन के काल में आँग्ल जहाजी बेड़े में वृद्धि व्यापार में वृद्धि का प्राकृतिक परिणाम थी और विशेषतः अनाज के निर्यात-व्यापार की वृद्धि का और यह ध्यान देने योग्य है कि अन्य देशों में, विशेषत: फान्स में, नौ-वहन अधिनियमों के बिना व्यापार और जहाजों में इसी प्रकार वृद्धि हुई।

नौ-वहन नीति से बाल्टिक क्षेत्र में आँग्ल व्यापार को धक्का लगा। ईस्टलैण्ड कम्पनी का व्यापार मुख्यत: विदेशों में बने हुए जहाजों द्वारा होता था, और १६६२ के पश्चात् ऐसे जहाजों का प्रयोग नहीं किया जा सकता था। परन्तु इङ्गलैण्ड में बने हुए जहाज बाल्टिक के व्यापार की विशेष अवस्थाओं के लिए अनुपयुक्त थे; यह व्यापार स्वीडन, डेनमार्क और हालैण्ड के निवासियों के हाथों में चला गया और इस देश के लिए नाविक सामग्री का मूल्य बढ़ा दिया गया। इसलिए बाल्टिक के व्यापार के सम्बन्ध में नौ-वहन नीति के अमल से इङ्गलैण्ड को हानि हुई और उससे प्रतियोगिता करने वालों को लाभ हुआ।

१. १६५२-७५ काल के आँग्ल-डच युद्धों में, कठोर प्रयत्न करने पर भी, डच लोग पराजित हुए थे। इस समय की आँग्ल नौ-शक्ति का श्रेय नौ-वहन अधिनियमों को नहीं दिया जा सकता।

साधारणतः इस पद्धति के आलोचक तर्क करते हैं कि आँग्ल जहाजों के अभाव के कारण नौ-वहन अधिनियमों में मूर्तिमान नीति से जहाजों के भाड़े बढ़ गए। इसके कारण आंग्ल उद्योगों के लिए आयातित कच्चे माल का परिव्यय बढ़ गया; इसका परिणाम यह हुआ कि विदेशी मंडियों में आँग्ल निर्मित वस्तुओं का मूल्य बढ़ गया और उनकी बिक्री सीमित हो गई। यद्यपि इन अधिनियमों के प्रचलन के दिनों में आँग्ल व्यापार की प्रगति हुई यह दृढ़ता-पूर्वक कहा जाता है कि यदि नौ-परिवहन पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता तो प्रगति अधिक होती।

उपनिवेशों पर नौ-वहन नीति के प्रभाव का विचार करना चाहिए। सत्रहवीं शताब्दी में इङ्गलैण्ड के लोग उपनिवेशों को नए राष्ट्रों के विकास स्थल नहीं मान कर मातृ-देश की चौकियाँ मानते थे और उनका महत्त्व इसलिए था कि वे विभिन्न महत्त्वपूर्ण वस्तुएं उत्पन्न करते थे जो, जलवायु या अन्य कारणों से, इंङ्गलैण्ड उत्पन्न नहीं कर सकता था। और इसलिए कि उनमें, विकास के साथ साथ, मातृ-देश में निर्मित वस्तुएँ बेची जा सकती थीं। यह न्यायोचित्त माना जाता था कि उनका व्यापार आँग्ल नियंत्रण में हो और जैसा कि ऊपर लिखा गया है १६६० के अधिनियम ने अनुसूचित वस्तुओं की नियंत्रण पद्धति की स्थापना की। मातृ-देश विचारता था कि उपनिवेशों की स्थापना पर किए गए व्यय और उनकी प्रतिरक्षा के उत्तरदायित्व को देखते हुए इसके लिए औपनिवेशिक व्यापार के सम्बन्ध में विशेषाधिकार रखना उचित था। उपनिवेशों की उत्पत्ति खरीदने और इसको विदेशों को, जिनको इसकी आवश्यकता थी परन्तु जो इसको सीधी नहीं मंगवा सकते थे, बेचने से आँग्ल व्यापारियों को लाभ होता था। यह पद्धति इनमें बसने वालों के लिए लाभ-रहित नहीं थी। इङ्गलैण्ड का नियन्त्रण स्पेन और पुर्तगाल द्वारा अपने उप-निवेशों पर लगाए गए नियन्त्रण जितना पूर्ण नहीं था। कई महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ जैसे अनाज और काष्ठ, और १७३९ से पीछे चीनी भी अनुसूचित नहीं थी। उपनिवेशों की अनुसूचित वस्तुएं जब इङ्गलैण्ड भेजी जाती थीं तो उन पर विदेशों की वस्तुओं की तुलना में रिआयती सीमा-कर लगाया जाता था। कुछ दिशाओं में, विशेष रूप से तमाखू बोने में, उपनिवेशों को आँग्ल प्रतियोगिता

से भी संरक्षण प्राप्त था। इन सब से अधिक, यद्यपि अनुसूचित वस्तुओं का व्यापार करते समय औपनिवेशिक व्यापारी नियंत्रण के अधीन था, कम से कम उसको इतना निश्चित था कि उसका माल बिक जाएगा और उसको उचित कीमत मिलेगी—सत्रहवीं शताब्दी में व्यापार में इन बातों पर प्राथमिक महत्त्व दिया जाता था।

जब तक उपनिवेश छोटे थे यह "पुरानी औपनिवेशिक पद्धति" अच्छी चली और यदि बसने वालों में अपने मातृ-देश के प्रति अगाध प्रेम नहीं था तो, इसके विपरीत, महान् असन्तोष भी नहीं था। अठारहवीं शताब्दी के प्रथम अर्द्ध भाग में ह्विग शासन काल में चोरी-छिपे माल लाना, ले जाना होता था और कानून कठोरता से लागू नहीं किया जाता था।

१७६४ में ग्रेनवायल ने औपनिवेशिक व्यापार से सम्बन्धित नौ-वहन अधिनियमों के आदेशों को अधिक कठोरता से लागू करने की आज्ञाएँ जारी कीं। उसकी कार्यवाही बहुत बुरी लगी और यद्यपि अमरीकी-उपनिवेशों और बृहत् ब्रिटेन में जो लड़ाई बढ़ी उसके लिए अधिक कौतुक भरा बहाना कर का प्रश्न बन गया, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पुराने पड़ गए व्यापार सम्बन्धी नियमों के पुनः लागू करने में उपनिवेशवासियों में बहुत असन्तोष बढ़ा।

अमरीकी राजद्रोह की सफलता ने पुरानी औपनिवेशिक पद्धति की निरर्थकता सिद्ध कर दी। इस समय में वाणिज्यवादी दर्शन के मूल सिद्धान्तों की आलोचना की जा रही थी और नियमन की सार्थकता में सन्देह उत्पन्न हो रहा था। नौ-वहन अधिनियमों की नीति में तुरन्त ढील नहीं दी गई, परन्तु आगामी कुछ वर्षों में अनेक छोटे परिवर्तन कर दिए गए। इस नियम से कि एशिया, अफ्रीका या अमरीका की वस्तुएँ केवल आंग्ल या औपनिवेशिक जहाजों में लाई जा सकती थीं, सिवाय आँग्ल जहाजों के अमरीकी वस्तुओं को बृहत् ब्रिटेन में लाने में रुकावट होती थी। १७९६ में यूरोपीय जहाजों को लागू होने वाली शर्तों पर अमरीकी जहाजों को आँग्ल बन्दरगाहों में आने की अनुमति प्रदान कर दी गई। यह सम्भवतः प्रारम्भिक नियम में हेरफेर नहीं होकर इसको संयुक्त राष्ट्र (अमरीका) की स्वाधीनता से उत्पन्न परिस्थिति के अनुकूल बनाने का प्रयत्न था; जैसा कि ऊपर बतलाया

जा चुका है, जब नौ-वहन अधिमियम बनाया गया था तब यूरीपीय उपनिवेशों को छोड़ कर एशिया, अफ्रीका या अमरीका के किसी उत्पन्न करने वाले देश के जहाजों में माल मंगवाने की सम्भावना पर विचार नहीं किया गया था। परन्तु अमरीका के जहाजों को १७६६ में पश्चिमी द्वीप समूह से और १८०८ में कनाडा से व्यापार करने की अनुमति देकर जो ढील की गई वह पुरानी औपनिवेशिक पद्धति का उल्लंघन था। ब्राजील के मामले में, जहाँ १८०८ में प्रायद्वीपीय युद्ध छिड़ने पर पुर्तगाल का शाही परिवार जा बसा, अनुमति देकर एक और हेर-फेर किया गया; बृहत् ब्रिटेन और ब्राजील के बीच व्यापार इङ्गलैण्ड या ब्राजील के जहाजों में किया जा सकता था।

१८२० में इङ्गलैण्ड की लोक सभा (House of Commons) की एक समिति ने लन्दन के व्यापारियों द्वारा व्यापार के प्रतिबन्ध हटाने के पक्ष में दिए गए आवेदन पर विचार किया और परिणामस्वरूप १८२२ में पुरानी औपनिवेशिक पद्धति में बड़े परिवर्तन किए गए, यद्यपि फिलहाल, नौ-वहन पद्धति में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं किया गया। औपनिवेशिक वस्तुओं की अनुसूची वनाने की प्रथा बिल्कुल बन्द कर दी गई। अब से उपनिवेशों में उत्पन्न सब वस्तुएँ किसी भी विदेश को भेजी जा सकती थीं परन्तु उनका अब भी आँग्ल या औपनिवेशिक जहाजों में ले जाया जाना आवश्यक था, या, १७६६ में प्रदान की गई अनुमति के अनुसार, अमरीका के मामले में अमरीकी जहाजों में ले जाई जा सकती थीं। केन्द्रीय और दक्षिणी अमरीका के गणराज्यों को जिन्होंने कुछ समय पूर्व स्पेन के शासन के विरुद्ध राजद्रोह कर दिया था और इस समय में स्वतन्त्र मान लिये गये थे, बृहत् ब्रिटेन के साथ व्यापार में अपने जहाजों का प्रयोग करने की अनुमति प्रदान कर दी गई थी। कुछ यूरोपीय देशों के साथ व्यापार पर १६६० में लगाए गए विशेष प्रतिबन्ध हटा लिये गए, परन्तु यूरोपीय वस्तुओं की अनुसूची बनाने की प्रथा कायम रही।

इस समय तक विस्तृत रूप से यह माना जाने लगा कि नौ-वहन पद्धति की जो कुछ भी उपयोगिता थी अब जाती रही थी। इसके जारी रहने से विदेशों में क्षोभ उत्पन्न होता था और कहीं कहीं बदला लेने के साधनों पर विचार किया गया था। १८२३ में करों की पारस्परिकता सम्बन्धी अधिनियम

के अधीन सरकार को पारस्परिकता सन्धियाँ करने का अधिकार दे दिया गया जिनसे आँग्ल जहाजों को विदेशी बन्दरगाहों में दिए गए विशेषाधिकारों के बदले में विदेशी जहाजों को आँग्ल बन्दरगाहों में रिआयतें दी जा सकती थीं और आगामी कुछ वर्षों में जहाजरानी रखने वाले अधिकांश देशों के साथ ऐसी सन्धियाँ की गईं।

इस प्रकार नौ-वहन अधिनियम मरणासन्न हो गए; क्योंकि वे विदेशी नौ-परिवहन के बड़े भाग पर लागू नहीं रहे। १८४५ में संहिता तैयार करने के नाम पर उनको दुबारा लागू करने के प्रयत्न पर उपनिवेशों में कठोर आपत्ति उठाई गई। अमरीका एक बड़ी जहाजरानी बना रहा था और कनाडा वालों ने अनुरोध किया कि इस पद्धति के जारी रहने से उनको अमरीका की प्रतियोगिता में हानि होती थी। पश्चिमी द्वीप समूह से भी यह शिकायत आई कि नौ-परिवहन में अबाधित प्रतियोगिता स्थापित होने पर जो जहाजों के भाड़े होंगे उनकी तुलना में भाड़े अधिक थे। ये आपत्तियाँ प्रभावशून्य नहीं रहीं। मुक्त व्यापार के सिद्धान्तों का प्रभाव बढ़ रहा था। १८४९ में, तटीय व्यापार के वाक्य खण्ड को छोड़ कर शेष नौ-वहन अधिनियम उठा लिये गए। १८५४ में तटीय व्यापार भी मुक्त कर दिया गया और इस महान् समुद्रीय संहिता का अन्तिम चिह्न भी कानून की किताब से हट गया।

ग्यारहवाँ अध्याय

राज्य द्वारा उद्योगों का नियन्त्रण

मध्य युग के उत्तर काल में उद्योगों का नियमन शिल्प श्रेणियों के हाथ में था, जो स्वयं न्यूनाधिक अंशों में नगर के शासन के अधिकार में थीं। जिस समय में प्रत्येक स्थान या क्षेत्र बहुत कुछ आत्म-निर्भर था, संवाद-वहन कठिन था और दूसरे नगरों के लोग सन्देह की दृष्टि से देखे जाते थे और उनके साथ "विदेशियों" के समान व्यवहार किया जाता था, यह उद्योगों का स्थानीय नियंत्रण स्वाभाविक और अवश्यम्भावी था। यह पहले बतला दिया गया है कि मध्ययुग में राष्ट्रीय भावना बहुत कम थी परन्तु इस काल के अन्तिम दिनों में आंग्ल राष्ट्रिकता की भावना का विकास आरम्भ हो गया था। यह अनेक प्रकार से प्रकट हुई, जिसमें उद्योगों का नियंत्रण भी एक था।

साधारण तौर से उद्योगों का श्रेणियों द्वारा नियमन मध्य युग की आवश्यकताओं के लिए यथेष्ट था, परन्तु सोलहवीं शताब्दी में श्रेणियों की हालत बुरी थी और जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, उद्योगों का नियंत्रण उनके हाथ से जाता रहा। उनकी संकीर्ण एकाधिकृत नीति के कारण उद्योग-धन्धे अधिकारपत्रित नगरों से हट गए और कई की जन-संख्या और महत्त्व घट गया। कई शिल्पी नए नगरों में जा बसे, जो श्रेणियों के अधिकार से मुक्त थे और दूसरे गांवों में जा बसे। ऐसे लोग किसी नियंत्रण के अधीन नहीं थे, इस बात की कोई गारन्टी नहीं थी कि उनको अपने धन्धे का यथेष्ट प्रशिक्षण मिला था और यह कहा जाता था कि उनका बनाया हुआ माल निम्न कोटि का होता था। ऐसी स्थिति बिना रोके नहीं छोड़ी जा सकती थी। वह समय अभी दूर था जब कि उद्योगों के सम्बन्ध में राज्यनिर्बाध-नीति का विचार किया जा सकता था। नियंत्रण और निरीक्षण आवश्यक था और जो कार्य स्थानीय शासनाधिकारी अब नहीं कर सकते थे उसको केन्द्रीय सरकार ने अपने हाथ में ले लिया।

अनेक कारणा से प्लैन्टागेनेटो[1] के राजतंत्र से ट्यूडरों का राजतंत्र अधिक शक्तिशाली था। इसकी शक्ति के कारणों का संक्षिप्त उल्लेख से अधिक वर्णन करना अनावश्यक है। मध्य युग में सम्राट् को सामन्तों और चर्च की शक्तियों का सामना करना पड़ता था। गुलाबों के युद्ध में सामन्तों की शक्ति का नाश हो गया। उनकी संख्या कम कर दी गई और कालान्तर में एक नया सामन्त वर्ग बन गया जो सम्राट् का बनाया हुआ और उसके अधीन था। जब रोम से सम्बन्ध विच्छेद हो गए तो चर्च की बहुत कुछ स्वाधीनता और इसकी थोड़ी बहुत सम्पत्ति जाती रही। आध्यात्मिक और सांसारिक भू-स्वामियों की शक्ति के कम हो जाने से सम्राट् सर्वोपरि हो गया। संसद् (Parliament) अभी तक इतनी शक्तिशाली नहीं थी कि सम्राट् के अधिकारों को चुनौती दे सके और ट्यूडर काल में इसकी ऐसा करने की बहुत कम इच्छा थी। समय समय पर बुलाए जाने पर इसकी बैठक होती थी और यह प्रायः सम्राट् द्वारा प्रस्तावित बातों को विधि के रूप में पारित करने को तैयार रहती थी। जो संस्था वास्तव में, सम्राट् के अधीन, देश का शासन चलाती थी वह परिषद् (Council) थी। इसमें थोड़े से सामन्त और चोटी के अधिकारी होते थे। परिषद् की आज्ञाओं को लागू करने का कार्य शान्ति अधिकारियों के सुपुर्द था। उद्योगों का नियमन एक ऐसा विषय था जिस पर परिषद् समय समय पर गम्भीरता से विचार करती थी।

मध्य युग में भी कुछ सीमित अंशों तक उद्योगों पर राज्य का निरीक्षण और नियंत्रण था। फ्रांस और "होली रोमन एम्पायर" में प्रत्येक छोटा ठाकुर या बड़ा सरदार अपने प्रान्त की मुद्रा ढलवाता था, किन्तु इङ्गलैंड में, नॉर्मन विजय के पश्चात्, मुद्रा ढालने का कार्य सम्राट् ने एकाधिकृत कर लिया था। मुद्रा ढलाई की प्रविधि बहुत ऊँचे स्तर पर नहीं पहुंच पाई थी और बेईमान लोग सिक्कों के किनारे कतर लिया करते थे। और मुद्रा संघर्षण किया करते थे। परन्तु सम्राट् इन प्रवृत्तियों को दबाने और मुद्रा ढलाई का स्तर बनाए रखने का प्रयत्न करता था। कम से कम रिचार्ड प्रथम के शासन काल ही से

---

१. हेनरी द्वितीय का चलाया हुआ इङ्गलैण्ड का राजवंश, जिसमें हेनरी द्वितीय से लेकर रिचार्ड तृतीय तक के सब राजा गिने जाते हैं।

शाही अध्यादेश के अधीन नाप-तौल की समानता अनिवार्य कर दी गई थी, परन्तु इसका लागू करना सरल काम नहीं था।

पहली बार १३५१ में मजदूरी पर नियमन करने का प्रयत्न किया गया। इस वर्ष के श्रमिकों के परिनियम के अधीन आदेश दिया गया कि मजदूरी काली मृत्यु (Black Death) से पहले के स्तर पर रहनी चाहिए। कई संशोधक और पूरक अधिनियमों के पारित किए जाने से सिद्ध होता है कि यह कानून आने वाली पीढ़ी के समय की स्थिति का सामना करने के लिए काफी नहीं था और सब समय के लिए एक स्तर पर मजदूरी की दर स्थिर करने के प्रयत्न त्याग दिये गए। १३८८ में शान्ति अधिकरणिकों को अपने-अपने जिलों में मजदूरी की दरें निर्धारित करने के अधिकार दे दिए गए। १४४४ के इस आदेश से कि मजदूरी १३८८ में निर्धारित स्तर के दुगुने से अधिक नहीं होनी चाहिए यह सिद्ध होता है कि मजदूरी में वृद्धि जारी रही। १४९५ में १४४४ में निर्धारित दरों को पुनः लागू करने का निरर्थक प्रयत्न किया गया—निरर्थक क्योंकि दूसरे ही वर्ष यह अधिनियम रद्द कर दिया गया। १५१४ में पारित एक दूसरा अधिनियम भी प्रभावहीन सिद्ध हुआ और ट्यूडर काल के मध्य तक मजदूरी पर कोई वास्तविक नियमन नहीं रहा।

सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में विशेष उद्योगों से सम्बन्धित कई कानून बनाए गये। यह आशा की जाती थी कि अन्य स्थानों पर उद्योग-धन्धों पर प्रतिबन्ध लगाने या उनको निषेध करने से कानून द्वारा स्थापित नगरों की अवनति रुक जाएगी। ये सब कानून प्रभावहीन रहे और ये आर्थिक प्रवृत्तियों के विरोध में बनाए गए कानूनों के लागू करने में होने वाली कठिनाई के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

इस काल के कुछ और कानूनों का सम्बन्ध श्रेणियों के अधिकारों से था। इन संगठनों का अधिकारक्षेत्र और बढ़ा दिया गया परन्तु इसकी कीमत के रूप में इनको अपनी उस स्वतन्त्रता का त्याग करना पड़ा, जो इनको अब तक प्राप्त थी। १४३७ में एक अधिनियम पारित हुआ जिसके अधीन शिल्प श्रेणियों को अपने अध्यादेश स्वीकृति के लिए देहातों में शान्ति अधिकरणिकों और

नगरों में नगर के अधिकारियों को अर्पित करने पड़ते थे।[1] अब श्रेणियों के लिए ऐसी नीति अपनाना आवश्यक हो गया, जो केन्द्रीय सरकार को मंजूर हो। उनके अधिकार कहीं-कहीं पड़ोस के गांवों और ऐसे कारीगरों पर भी बढ़ा दिए गए जो अब तक उनके नियन्त्रण को टालते रहे थे। परन्तु श्रेणियों की शक्ति कम हो रही थी और केन्द्रीय सरकार की सहायता भी उनका काया-कल्प करने के लिए नाकाफी थी। उनके द्वारा उद्योगों का नियंत्रण सफलतापूर्वक नहीं चलाया जा सकता था और एलीजाबेथ के शासन काल के आरम्भ तक इस समस्या का कोई हल नहीं निकला।

इसका हल निकालने की बहुत आवश्यकता थी। ट्यूडर काल के मध्य में कीमतें बहुत बढ़ गईं और सम्भवतः कीमतों के बढ़ते हुए स्तर से मजदूरी का मेल बैठाने के लिए ही कारीगरों का परिनियम बनाया गया।

यह महत्त्वपूर्ण कानून (जिसको कभी कभी शिशुओं का परिनियम कहते हैं) १५६३ में पारित हुआ था। इसके बनाने वालों का उद्देश्य कानून द्वारा स्थापित नगरों की अवनति रोकना, ग्रामीण कारीगरों के कुशल प्रशिक्षण की व्यवस्था करना, खेतों पर काम करने वाले श्रमिकों की यथेष्ट पूर्त्ति की व्यवस्था करना, मजदूरी की दरों को नियमबद्ध करना और साधारणतः, समय की आवश्यकताओं और विचारों के अनुकूल, एक पूर्ण औद्योगिक संहिता की स्थापना करना था। इसके कई सिद्धान्त नए नहीं थे। इसमें कुछ कानूनों का पूर्नानियमन संयुक्त था और इसने औद्योगिक जीवन के कुछ पहलुओं को वैधा-निक अधिकार दे दिए, जो उनको अब तक प्राप्त नहीं थे। इसके अतिरिक्त, इसने कानून लागू करने के लिए एक यंत्र की स्थापना की। मजदूरी से और श्रमिकों तथा नौकरों को काम पर रखने से सम्बन्ध रखने वाले चौंतीस पुराने कानून रद्द कर दिए गए और उनके आदेशों का स्थान नए परिनियम के आदेशों ने ले लिया।

---

१. जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है १४३७ का परिनियम उन श्रेणियों के खिलाफ बनाया गया था जिन्होंने शाही अधिकार-पत्र प्राप्त कर रखे थे और जो नगरपालिकाओं के नियन्त्रण से मुक्त होने का दावा करती थीं। इस कानून का प्रभाव नगर के अधिकारियों में ऐसी श्रेणियों का निरीक्षण करने के अधिकारों को पुनः स्थापित करना था।

यह अधिनियम बनाया गया कि बारह और साठ वर्ष की उम्र के बीच के सब स्वस्थ व्यक्तियों को, जो अनुचित धन्धों में लगे हुए नहीं हों, खेतों पर मजदूरी करनी पड़ेगी, सिवाय उनके जिनके पास निर्धारित मात्रा में सम्पत्ति हो। इस नियम का उद्देश्य खेतिहर मजदूरों की यथेष्ट पूर्ति करना हो सकता है और इस तथ्य से कि फसल के समय कारीगरों को भी माफी नहीं दी जाती थी इस मत की पुष्टि होती है। परन्तु यह कल्पना करने का कोई आधार नहीं है कि इस समय खेतिहर मजदूरों का बड़ा अभाव था और यह सम्भव है कि इस नियम का एक उद्देश्य यह भी था कि आवारा लोग यह बहाना नहीं बना सकें कि उनका कोई पेशा नहीं है। यह मान लिया गया था कि प्रत्येक आदमी, जिसके कोई दूसरा पेशा नहीं था, खेती में लग सकता था, जो अब भी देश का प्रधान उद्योग था।

इस परिनियम का उद्देश्य, यह आदेश देकर कि खेती या किसी अन्य पेशे में नियुक्ति एक वर्ष से कम के लिए नहीं की जाएगी, लगातार काम दिलाना भी था। किसी नियुक्ति को समाप्त करने के लिए तीन माह पूर्व सूचना देनी पड़ती थी और नियोक्ताओं को किसी ऐसे आदमी को काम पर रखने की मनाही थी जो अपने पूर्व नियोक्ता के प्रति अपने उत्तरदायित्वपूर्ण करने का प्रमाणपत्र उपस्थित नहीं कर सकता था।

सब धन्धों में और देश के सब भागों में शिशिक्षुता अनिवार्य कर दी गई थी ताकि श्रमिकों को अपने काम में उचित प्रशिक्षण मिल जाए, इस प्रकार एक रिवाज जो अबतक केवल कानून द्वारा स्थापित नगरों में श्रेणियों द्वारा लागू किया जाता था समस्त धन्धों में लागू कर दिया गया। शिशिक्षुता का काल सात वर्ष रखा गया।[1] इस प्रकार लन्दन का रिवाज सर्वत्र—प्रान्तीय नगरों में जहाँ साधारणतः प्रशिक्षण काल छोटा था और गाँवों में जहाँ शिशिक्षुता की प्रथा नहीं थी – लागू कर दिया गया। इसके अतिरिक्त यह माना जाता था कि केवल शिशिक्षुता समाप्त करने वाले नवयुवक के लिए एक शिल्पी-उपाध्याय या गृहस्थी की तरह काम करने के लिए यथेष्ट अनुभव प्राप्त कर

---

१. इक्कीस वर्ष से अधिक उम्र का कोई व्यक्ति शिशिक्षु नहीं बन सकता था।

लेना आवश्यक नहीं था; वह चौबीस वर्ष का होने तक ऐसा नहीं कर सकता था।

पेशे का चुनाव कुछ अंशों तक सीमित था। कुछ पेशे धनी या उत्तम स्थिति वाले परिवारों के नवयुवकों के लिए रक्षित थे। केवल चालीस शिलिङ्ग वार्षिक मूल्य की भूमि रखने वाले आदमियों के लड़के ही कानून द्वारा स्थापित नगरों में व्यापारी, रेशमी वस्त्र-विक्रेता, बजाज, सोनार, लोहेवाला या वस्त्र-विक्रेता के पेशों के लिए शिशिक्षु रह सकते थे, जब कि कानून द्वारा स्थापित नगरों के सिवाय दूसरे स्थानों में शिशिक्षु के पिता के लिए साठ शिलिङ्ग वार्षिक मूल्य की भूमि रखना आवश्यक था। निम्न श्रेणी के परिवारों के लड़कों के लिए खेती के अतिरिक्त कुम्हार, प्लास्टर करने वालों, पहिए बनाने वालों, लोहार जैसे मेहनत के पेशे खुले हुए थे।[1]

प्रशिक्षित-श्रमिकों को काम करने के उचित अवसर प्राप्त हो सकें इसके लिए यह आज्ञा जारी की गई कि एक शिल्पी-उपाध्याय के अधीन कार्य करने वाले शिशिक्षुओं और प्रशिक्षित-श्रमिकों की संख्या में एक अनुपात रखा जाना चाहिए। प्रत्येक उपाध्याय जिसके पास तीन शिशिक्षु हों उसको कम से कम एक प्रशिक्षित-श्रमिक रखना पड़ता था और प्रत्येक अतिरिक्त शिशिक्षु के लिए एक प्रशिक्षित-श्रमिक रखना पड़ता था। परन्तु यह प्रतिबन्ध केवल कुछ धन्धों में, विशेषकर वस्त्र उद्योग से सम्बन्धित धन्धों में लागू किया गया था।

शिल्पियों के परिनियम की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता मज़दूरी आँकने की थी।[2] यह कार्य शान्ति अधिकरणिकों को दिया गया था जो प्रत्येक ग्रामीण क्षेत्र (county) और नगर में प्रति वर्ष ईस्टर के अवसर पर मिलकर मजदूरी की दर निर्धारित करते थे, जो उपाध्यायों और आदमियों पर समान

---

१. बाद में यह निर्णय किया गया कि शिशिक्षुता की पाबन्दी केवल उन उद्योगों के लिए लागू होती थी जो १५६३ में मौजूद थे; इस परिनियम के बनाने वालों की ऐसी मंशा थी, यह मानने का कोई कारण नहीं है।

२. यह निर्विवाद सिद्ध नहीं माना जा सकता कि प्रत्येक स्थान पर मजदूरी आँकी और लागू की जाती थी।

और अनिवार्य रूप से लागू होती थी।[1] यह संभव है कि जब यह पद्धति चालू थी, पिछले वर्ष की सूची विचार का आधार बना ली जाती थी और संशोधन सहित या रहित दूसरे वर्ष के लिए स्वीकार कर ली जाती थी। वास्तव में बहुधा मजदूरी की सूची एक वर्ष से दूसरे वर्ष बिना किसी परिवर्तन के मान ली जाती थी। यह कहा गया है कि शान्ति अधिकरणिक एक ऐसे वर्ग के होते थे जिसकी सहानुभूति श्रमिकों की अपेक्षा नियोक्ताओं से अधिक होती थी और मजदूरी आँकने की पद्धति से मजदूरी के निर्धारित होने की प्रवृत्ति रहती थी। परन्तु अधिकरणिकों के जान बूझ कर अन्यायी होने का कोई प्रमाण नहीं है, श्रमिक वर्गों की ओर से अन्यायपूर्ण व्यवहार की बहुत कम या कोई शिकायत हुई नहीं मालूम देती, और जब मजदूरी आंकने का रिवाज उठ गया तो इसे फिर से चालू करने के लिए संसद् को अनुरोधपत्र दिए गए। मजदूरी केवल निर्वाह व्यय के आधार पर भी निश्चित नहीं की जाती थी। ग्रीष्म ऋतु में प्रतिदिन बारह घंटे कार्य करना पड़ता था; शरद ऋतु में यह सूर्य के प्रकाश के घंटों तक सीमित था।[2] इसलिए गरमी की अपेक्षा सरदी में मजदूरी कम होती थी। परन्तु यह सरदी में जीवन-निर्वाह के लिए यथेष्ट होती होगी; गरमी में, जब निर्वाह-व्यय कम और मजदूरी अधिक होती थी, खाली निर्वाह-व्यय से ऊपर बचत होती होगी।

इस महान् परिनियम को, जिसमें एक अधिनियम में औद्योगिक नियमन के हेतु किए गए कई पहले के प्रयत्नों की सफलता या असफलता का अनुभव संचित था, उल्लेखनीय सफलता मिली। यदि समस्त देश में प्रशिक्षण का समान स्तर कायम नहीं हुआ तो भी सुधार हुआ और जिस दक्षता के लिए आँग्ल श्रमिक तब से प्रसिद्ध रहे हैं उसकी मजबूत नींव डाली गई। अधि-नियम के पारित होने से बाद में और सत्रहवीं शताब्दी में मजदूरी का आँकना बराबर चला।[1] अठारहवीं शताब्दी में राज्यनिर्बाध नीति के प्रचलन से यह

---

१. अनुसूची से अधिक मजदूरी देने की सजा दस दिनों की कैद सहित पांच पौण्ड जुर्माने की थी; अधिक मजदूरी लेने की सजा इक्कीस दिनों की कैद।

२. मार्च से सितम्बर तक काम का समय प्रात. पाँच बजे से लेकर सायं आठ बजे तक होता था। भोजन के लिए अढ़ाई घंटे दिए जाते थे।

प्रथा बन्द हो गई और वास्तव में ऐसी मजदूरी की सूचियाँ बनाना कठिन हो रहा था जो उद्योग-धन्धों की बढ़ती हुई पेचीदगी और बढ़ते हुए श्रम-विभाजन के अनुकूल हों। अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक मजदूरी का आँकना एक भूतकाल की बात हो गई थी। समय-समय पर कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों ने नीची मजदूरी और अपने क्षेत्र में रहने वाले शिशिक्षुओं की स्पर्धा झेलते हुए, संसद् से मजदूरी आँकने सम्बन्धी और प्रशिक्षित-श्रमिकों और शिशिक्षुओं की नियुक्ति में अनुपात बनाया रखने सम्बन्धी कानून फिर से लागू करने की प्रार्थना की। इसके उत्तर में संसद् ने १८१३ में परिनियम के मजदूरी आँकने सम्बन्धी और १८१४ में शिशिक्षु रहने सम्बन्धी आदेशों को रद्द कर दिया।

बारहवाँ अध्याय

१६८८-८६ की क्रान्ति से पूर्व राष्ट्रीय वित्त

इङ्गलैंड के आर्थिक इतिहास से सम्बन्धित पुस्तक में राष्ट्रीय वित्त का वर्णन सम्मिलित करने के लिए कुछ व्याख्या की आवश्यकता हो सकती है। इस विषय का आर्थिक के साथ ही साथ राजनीतिक इतिहास से सम्बन्ध उचित माना जाएगा, यदि यह याद रखा जाए कि राष्ट्रीय वित्त का सम्बन्ध राष्ट्रीय आय के उस भाग से है जो राष्ट्रीय कार्यों के लिए शासन को दिया जाता है या शासन लेता है। असभ्य समाजों में सरदार को मवेशियों का या उत्पत्ति का या लड़ाई में प्राप्त लूट के माल का एक भाग मिलता है, सभ्य राज्य में जहां मुद्रा का प्रयोग होता है राज्याध्यक्ष की आय मुद्रा के रूप में होती है। यदि शासन कार्य केवल एक आदमी, राजा, ही चलाता हो तो उसका खर्चा देना पड़ता है और शासन का कार्य जितना अधिक और पेचीदा होता है यह उतना ही खर्चीला हो जाता है।

शासन की आय के लिए लोगों से विभिन्न प्रकार से अंशदान मांगा जा सकता है और कर प्रत्यक्ष या परोक्ष हो सकते हैं।[1] करों के लगाने में समय समय पर जो सिद्धांत अपनाए गये हैं, विभिन्न प्रकार के करों के जनता के आर्थिक प्रयत्नों पर जो प्रभाव पड़े हैं, और जिस सीमा तक राज्य जनता के कल्याण को कम से कम आघात पहुंचा कर अपनी आवश्यकताएं पूरी करने में सफल हुआ है इन सब का अध्ययन एक महत्त्वपूर्ण विषय है।

नार्मन काल में राजकीय आय का सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत "सम्राट् की प्राचीन उत्तराधिकार में प्राप्त आय" थी और यह राजा को देश के मुख्य भू-स्वामी की हैसियत से होती थी।[2] लगभग १,६०० स्वामि-भूमियाँ सम्राट् की

---

१. कभी-कभी ऐसे कर आय प्राप्त करने के अतिरिक्त दूसरे उद्देश्यों से भी लगाए जाते थे।

२. सम्राट् की भूमि (खालसा की भूमि) का क्षेत्र जब्ती और हरण से लगातार बढ़ता था और जागीरों के अनुदान से घटता था।

सम्पत्ति थीं और इन जागीरों के हवालों से प्राप्त उत्पत्ति, मुद्रा या जिन्स में, राजा को मिलती थी। प्राचीन काल से राजकीय स्वामि-भू के कुड़क अमीन (bailiff) का कर्त्तव्य था कि हवालें की उत्पत्ति मंडी में भेज कर इससे प्राप्त मुद्रा राजा को भेजे। इसके अतिरिक्त, राजा भू-स्वामियों का सामन्ताधिपति था, और इस रूप में उसको विविध भुगतानें और लाभ प्राप्त होते थे जिनको सामन्ती लाग-बाग कहते थे। इनमें से एक "स्कुटेज" (Scutage) थी जो उस मौद्रिक भुगतान को कहते थे जो बारहवीं शताब्दी में सैनिक सेवा के बदले में भू-स्वामी सम्राट् को देने लग गए थे।

सम्राट् को "परवेएन्स" (Purveyance) के अधिकारों का लाभ भी प्राप्त था, जिनके अधीन राज-दरबार के अधिकारी सम्राट् के देश में दौरे के समय वस्तुएं छीन सकते थे; पूर्वक्रयाधिकार (Pre-emption) के अधीन वस्तुओं का अनिवार्य रूप से क्रय किया जा सकता था, "प्रीसेज" (Prisage)[1] के अधिकार के अधीन मूल्य चुकाकर या बिना मूल्य दिये देश में आने वाली वस्तुएं छीनी जा सकती थीं और "वेनेज" (Wainage) का अधिकार, जिसके अधीन राजा की सेवा के लिए किसी गाड़ी या घोड़े का प्रयोग किया जा सकता था।

मुख्य प्रत्यक्ष कर प्राचीन डेनगेल्ड (Danegeld) था, जिसका लगाना जारी रहा और जो कालान्तर में एक साधारण भूमि-कर बन गया। कुछ बातों में यह एक बुरा कर था क्योंकि कुछ जागीरें कर से बची हुई थीं और दूसरों पर बहुत कम कर आंका गया था। हेनरी द्वितीय ने इसको त्याग दिया और इसके स्थान पर एक नई प्रकार का भूमि-कर, 'डोनम' (Donum), जिलों पर लगाया गया और साथ ही एक सहायक-कर "आक्जीलियम" (Auxilium) नगरों पर लगाया गया। बारहवीं शताब्दी के अन्त से पूर्व 'डोनम' का स्थान 'केरुकेज' (Carucage) ने ले लिया जो कि सौ एकड़ की इकाई—केरूकेट (Carucate)---पर लगाया जाता था, और

---

१. "प्रीसेज" का प्रमाणीकरण सम्राट् के प्रत्येक बीस 'टन' से अधिक के बोझ में से कूपदण्ड से आगे एक 'टन' और पीछे एक 'टन' शराब लेने के अधिकार के रूप में हो गया। (टन=शराब भरने का बड़ा बर्तन, २५२ गैलन का माप)

'आक्जीलियम" आगे चल कर टैलेज (Tallage) के नाम से पुकारा जाने लगा। चल सम्पत्ति पर लगाए गये कर का सब से प्राचीन उदाहरण ११८८ का "सलादीन का दशमांश" (Saladin Tithe) है, जो मुद्रा, वस्तुएँ, खेतों की उत्पत्ति और व्यापार के माल पर लगाया जाता था।

प्रत्येक जिले (County) में इन विविध प्रकार के करों की वसूली जिला हाकिम (Sheriff) के हाथों में थी। आय के कुछ पदों का ठेका दे दिया जाता था जिसको 'कर का ठेका' (farmimg of a tax) कहते थे; प्रत्येक जिले से जितनी रकम की आशा की जाती थी वह निश्चित होती थी और उसको 'फ़र्म आफ दी शायर' (ferm of the shire) कहते थे, और इसे वेस्टमिन्स्टर में स्थित राजकोष (Exchequer) में जमा कराना जिला हाकिम का कर्त्तव्य था। (प्रति वर्ष दो बार भुगतान करनी पड़ती थी)। यह पद्धति जिसमें जिला हाकिम एक निश्चित रकम देकर मनमानी रकम वसूल कर सकता था स्पष्ट आपत्तियों से युक्त थी, और यह कोई उल्लेखनीय बात नहीं है कि जब कोई नगर सम्राट् से अधिकारपत्र प्राप्त करने के लिए बातचीत करता था तो एक विशेषाधिकार जिसके लिए प्रयत्न किया जाता था अलग कर लगाए जाने का अधिकार होता था—पौर का निश्चित कर—जिससे कि यह जिला हाकिम की न्याय-विरुद्ध मांगों से बच सके। आय के कुछ अन्य पदों के संबन्ध में जिला हाकिम से वास्तविक प्राप्त रकम देने की आशा की जाती थी।

नार्मन और शुरू के एन्जीविन काल के राष्ट्रीय वित्त के इस वर्णन से यह नतीजा निकाला जा सकता है कि राजकीय आय दो स्रोतों से आती थी—स्वयं राजा की सम्पत्ति और दूसरे लोगों की सम्पत्ति। यह माना जाता था कि राजा को यथासंभव अपनी ही आय पर निर्वाह करना चाहिए,[1] और उसको कर तब ही लगाने चाहिएँ जब उसकी निजी आय काफी नहीं हो। यह भी निश्चित भावना थी कि यदि कर लगाने पड़ें तो कम से कम कर देने वालों में से अधिक महत्त्वपूर्ण लोगों की स्वीकृति लेनी चाहिए। यह विचार 'महान् अधिकारपत्र' (Magna Carta) के आदेशों में प्रकट किया गया है कि "कॉम्यून कौन्सीलियम (Commune Concilium) की स्वीकृति के बिना......

---

१. "राजा को आत्म-निर्भर होना चाहिए।"

कोई स्कूटेज या सहायता नहीं थोपी जानी चाहिए......।" कालान्तर में संसद् की स्थापना पर यह माना जाने लगा कि इसकी स्वीकृति के बिना कोई कर नहीं लगाया जाना चाहिए।[1]

मध्य युग के उत्तर काल में चल सम्पत्ति पर दशमांश और पंचदशमांश के रूप में कर लगाए जाने लगे। नगरों में चल सम्पत्ति के वार्षिक मूल्य का दशमांश और जिलों में पंचदशमांश लिया जाता था। १३३२ में किए गए मूल्यांकन को स्थायी मान कर मूल्यांकन की कठिनाइयाँ दूर की गईं। अतः दशमांश और पंचदशमांश से प्राप्त राशि स्थायी हो गई। यह राशि ३९,००० पौंड थी। प्रायः अनुदान २/१० या २/१५ हुआ करता था। कभी कभी किसी नगर की सम्पत्ति और महत्त्व के घट जाने पर छूट और कमी की जाती थी, और, क्यों कि कहीं दूसरे स्थान पर वृद्धि से इसका निराकरण नहीं होता था इसलिए कर की आय क्रमशः घट गई और इसका भार अधिकाधिक असमान हो गया। इस आमदनी की कमी को पूरा करने के लिए संसद् के लिए, २/१० और २/१५ के साथ, भूमि के वार्षिक मूल्य पर चार शिलिङ्ग प्रति पौंड और चल सम्पत्ति के वार्षिक मूल्य पर २ शि० ८ पैन्स प्रति पौंड राजसहायता (Subsidy) प्रदान करना सामान्य हो गया। यह कर उन लोगों की चल सम्पत्ति पर नहीं लगाया जाता था जो भूमि पर कर देते थे। आरंभ में एक राजसहायता की आमदनी लगभग १,०००,००० पौंड होती थी, परन्तु कालान्तर में मूल्यांकन औपचारिक हो गया और ट्यूडरकाल के अन्त तक इस कर से ८०,००० पौंड से अधिक राशि प्राप्त नहीं होती थी। राजसहायता लगाने की प्रथा स्टूअर्ट काल के आरम्भ में चालू रही, गणराज्य (Commonwealth) के दिनों में यह बन्द कर दी गई, और यद्यपि राजतन्त्र की पुनस्स्थापना पर यह फिर से चालू की गई तथापि १६६३ में यह अंतिम रूप से त्याग दी गई।

दूसरी प्रकार का प्रत्यक्ष कर जो मध्य युग के उत्तर काल में लगाया गया प्रति व्यक्ति कर (poll-tax) था। १३७७ में सोलह वर्ष से बड़े प्रत्येक व्यक्ति पर एक पौंड में चार पैंस (एक 'ग्रोट') का कर लगाया गया; बड़ी संख्या में

---

१. इस सिद्धान्त के वैधानिक महत्त्व पर विचार करना इस अध्याय के क्षेत्र के बाहर है।

इस कर से बचा गया और इसकी आय बहुत कम हुई। दो वर्ष पश्चात् एक क्रमशः बढ़ने वाला प्रति व्यक्ति कर लगाया गया परन्तु इसके पेचीदेपन के कारण इससे छलपूर्वक बचना सरल हो गया। १३८० में एक दूसरा प्रति व्यक्ति कर, जो अधिक सरलता से श्रेणीकृत था, लगाया गया। प्रत्येक प्रदेश (parish) से प्रति प्रौढ़ व्यक्ति एक शिलिङ्ग (तीन ग्रोट, की बराबर राशि इकट्ठी की जाती थी, परन्तु प्रदेश के अंदर कर निवासियों के साधनों के अनुसार क्रमशः बढ़ाया जाता था। इन प्रति व्यक्ति करों की वसूली बुरी लगी और १३८० के कर के कारण उत्पन्न असंतोष से किसानों के राजद्रोह (Peasant Revolt) में सहायता मिली। प्रति व्यक्ति करों के लगाने में सफलता नहीं मिलने से वे त्याग दिए गए। इसके पश्चात् १५१३ तक कोई इस प्रकार का साधारण कर नहीं लगाया गया, यद्यपि पन्द्रहवीं शताब्दी में कभी कभी विदेशियों से प्रति व्यक्ति कर वसूल किए जाते थे। सत्रहवीं शताब्दी में फिर से प्रति व्यक्ति कर लगाने के कुछ प्रयत्न किए गए थे, अंतिम अवसर १६९८ में था।

मध्य युग के उत्तर काल में व्यापार के विस्तार से परोक्ष कर लगाना संभव हो गया। महान् अधिकारपत्र (Magna Carta) में "प्राचीन सीमा करों" का उल्लेख है, परन्तु यह शब्द साधारणतः १२७५ के बाद में लगाए गए ऊन, रोम युक्त चर्म, खालें और चमड़े पर लगाए गए करों के लिए प्रयोग किया जाता था। ये प्रत्येक ऊन के बोरे पर आध मार्क (mark) और खालों के प्रत्येक "लास्ट" (एक लास्ट=बारह दर्जन) पर एक 'मार्क' के हिसाब से लगाए जाते थे। १३०३ में और परोक्ष कर लगाए गए। इस वर्ष के व्यापारियों के अधिकरणपत्र (Carta Mercatoria) ने विदेशी व्यापारियों को व्यापार के लिए इङ्गलैण्ड की यात्रा करने की अनुमति प्रदान की और उनको नए पैमाने पर निर्यात और आयात कर देने के बदले में "प्रीसेज" और अन्य करों से मुक्त कर दिया। ये कर आँग्ल व्यापारियों पर लगाए गए करों से अधिक थे और इनको "नवीन सीमाकर" (Nava Custuma) कहते थे, जब कि १२७५ में लगाए गए "महान् प्राचीन सीमाकर" (Magna et Antiqa Custuma) कहलाते थे।

करने का आधार है कि बहुधा भारी जुर्मानों से अंशतः या पूर्णतः छूट दे दी जाती थी और किसी भी दशा में सम्राट् को इस स्रोत से अधिक आय नहीं होती थी। १४९१ में अतिरिक्त आयात-कर जिनको "इम्पोजीशन्स" (impositions) कहते थे लगाए गए। समय-समय पर इनमें परिवर्तन किया जाता था और प्रकट रूप से ये आय प्राप्त करने के लिए नहीं वरन् व्यापार के नियमन के लिए लगाए जाते थे। परन्तु एलिजाबेथ और उसके उत्तराधिकारियों ने एकाधिकार, एकस्व (पेटेन्ट और लाइसेन्स बेच कर अच्छी रकमें प्राप्त की थीं।

कभी कभी सम्राट् ऋण और बेनीवोलैन्सेज (benevolences) भी लेते थे। 'बेनीवोलैन्सेज' नाम में एक निःशुल्क भेंट थी जो प्रजाजन सम्राट् को आवश्यकता के समय सहायतार्थ देते थे। कभी कभी इसके लिए बहुत प्रत्यक्ष और परोक्ष दबाव डाला जाता था; कभी संभवतः सम्राट् से कोई पदवी या अन्य आदर के रूप में पुरस्कार मिलने की आशा में स्वेच्छा से भुगतान कर दी जाती थी। "बेनीवोलैन्सेज" लगाना सम्राट् के सहायकों और विरोधियों दोनों में समान रूप से अप्रिय था; ये दूसरों की अपेक्षा पहले लोगों के लिए अधिक भार स्वरूप थीं क्यों कि राजतन्त्र के समर्थकों से तत्परतापूर्वक और उदारतापूर्वक अंशदान करके राष्ट्र के सन्मुख एक उदाहरण उपस्थित करने की आशा की जाती थी। "बेनीवोलैन्सेज" सर्वप्रथम एडवर्ड चतुर्थ के समय माँगे गए थे। रिचार्ड तृतीय के समय ये अवैधानिक घोषित कर दिए गए थे, किन्तु हेनरी सप्तम ने इनको फिर से चालू किया। ट्यूडर काल में कभी कभी इनका वर्णन आता है और जेम्स प्रथम से १६१४ में, १६२० में और पुनः १६२२ में "बेनीवोलैन्सेज" प्राप्त करने के प्रयत्न किए। चार्ल्स प्रथम ने भी "बेनीवोलैन्सेज" प्राप्त करने के प्रयत्न किए परन्तु उसको बहुत कम सफलता मिली और उसके पश्चात् मुद्रा इकट्ठी करने का यह तरीका फिर कभी नहीं अपनाया गया।

मध्य युग में भी कभी-कभी ऋण लिये जाते थे। हेनरी अष्टम ने ऋण लिये और दो बार १५२९ और १५४४ में, संसद् ने उसके ऋण रद्द कर दिए। एलिजाबेथ कर बढ़ाने के लिए अनिच्छुक थी और कभी कभी ऋण लेती थी।

उसने अपने ऋण चुकाने के निश्चित प्रयत्न किए, यद्यपि इसमें सदा समय की पाबन्दी नहीं हो सकी। स्टूअर्ट वंश के शुरू के राजाओं ने भी बहुधा ऋण लेकर मुद्रा प्राप्त करने के प्रयत्न किए।

एक अन्य अध्याय में बतलाया गया है कि ट्यूडर काल के अन्तिम दिनों में और स्टूअर्ट काल के आरम्भ में साधारण मूल्य-स्तर बराबर बढ़ता जा रहा था। इङ्गलैंड के राजाओं पर इस मूल्यवृद्धि का प्रभाव पड़ा। शासन का व्यय बराबर बढ़ रहा था, किन्तु बहुत कुछ अंशों तक राजकीय आय ऐसे स्रोतों से प्राप्त होती थी जो बढ़ाए नहीं जा सकते थे, या जो व्यय की अपेक्षा अधिक धीरे बढ़ते थे। सम्राट् के लिए अपने साधारण उत्तरदायित्व निभाना अधिकाधिक कठिन हो गया, और यही कारण था कि उसको बहुधा ऋण लेना पड़ा। एलिजाबेथ मितव्ययितापूर्वक चल कर गम्भीर वित्तीय संकट से बची रही। जेम्स प्रथम और चार्ल्स प्रथम अपना व्यय अपनी आय तक सीमित नहीं रख सके और वे मुक्तहस्त माने गए। यह आरोप चार्ल्स की अपेक्षा जेम्स के विषय में अधिक सत्य था, परन्तु उनकी वित्तीय कठिनाइयों का वास्तविक कारण उनकी मुक्तहस्तता की अपेक्षा मूल्यों में हो रही वृद्धि अधिक थी। यह वैधानिक सिद्धांत कि राजा को आत्म-निर्भर रहना चाहिए अब तक लागू था और शासन के साधारण कार्यों के लिए अतिरिक्त अनुदान स्वीकार करने के लिए संसद् को आवेदन भेजना बुरा माना जाता था। इस प्रकार सम्राट् की वित्तीय कठिनाइयों ने उसके विरोधियों को आलोचना के अवसर दिए और इस काल के वैधानिक संग्राम में एक प्रश्न राष्ट्रीय वित्त के नियंत्रण का था।

महान् राजद्रोह के समय जिन वित्तीय उपायों को अपनाया गया उनका सविस्तार वर्णन अनावश्यक है, परन्तु १६४३ में लम्बी संसद् द्वारा लगाए गए उत्पादन-कर का उल्लेख करना चाहिए। यह कर देश में उत्पादित वस्तुओं पर लगाया गया था। इस बात में यह सीमा-करों से भिन्न था जो आयात की गई वस्तुओं पर लगाए जाते थे। यह आरम्भ ही से अलोकप्रिय था और १६४६ में कतिपय वस्तुएँ इससे मुक्त कर दी गईं, फिर भी कुछ और वस्तुओं पर, जिनका आयात किया जाता था, उत्पादन-कर लगाया गया, यद्यपि उन पर पहले ही सीमा-कर दिया जा चुका था।

१६६० में राजतंत्र की पुनस्स्थापना पर राष्ट्र की वित्तीय व्यवस्था को अधिक नियमपूर्वक आधार पर संगठित करने का प्रयत्न किया गया। शासन के लिए एक प्रकार का बजट बनाया गया। यह अनुमान लगाया गया कि सम्राट् के साधारण व्यय के लिए १२,००,००० पौंड की रकम प्रतिवर्ष यथेष्ट होगी,[1] और आय के ऐसे स्रोत स्वीकृत किए गए जिनसे यह रकम प्राप्त होने की आशा की जाती थी। राजकीय भूमि पुनः राजा को दे दी गई, किन्तु सामन्ती लागें उठा दी गईं। राजद्रोहियों द्वारा लगाया गया उत्पादन-कर रखा गया, यह सम्राट् को केवल आजीवन ही नहीं परन्तु एक आनुवंशिक आय के रूप में दे दिया गया। 'टनेज' और 'पौन्डेज' जीवन भर के लिए प्रदान किए गए और १६६२ में दो शिलिङ्ग का एक चूल्हा-कर (hearth-tax) घर के प्रत्येक चूल्हे पर लगाया गया, कुटियाएँ इससे मुक्त थीं। राजकीय आय अनुमित राशि तक पहुँचने में सफल नहीं हुई; इससे लगभग दस लाख भी प्राप्त नहीं हुए।

इस प्रकार इस काल की वित्तीय व्यवस्था का यह दोष था कि इसके आय के अनुमान बहुत गलत थे। दूसरी दिशा में भी इसकी आलोचना की जा सकती है। सामन्ती लागों के उठ जाने से भू-स्वामी वर्ग भूमि-सम्बन्धी शताब्दियों से चले आए उत्तरदायित्व से मुक्त हो गया, जब कि उत्पादन-कर के बने रहने से निम्न वर्गों पर विशेष भार पड़ा। इस प्रकार गरीबों पर भार डाल दिया गया और धनवान बचे रहे, यद्यपि यह कल्पना करना अनावश्यक है कि इसी कारण से यह परिर्वतन किया गया था।

चार्ल्स द्वितीय कभी वित्तीय कठिनाइयों से अनुचित रूप से परेशान नहीं हुआ। कभी कभी संसद् से विशेष अनुदान पाने के अतिरिक्त उसको अपने चचेरे भाई चौदहवें लूई (Louis XIV) से समय समय पर बड़ी रकमें मिल जाती थीं। वह चालू खर्चों के लिए लन्दन के स्वर्णकारों से ऋण लिया करता था, जिन्होंने इस शताब्दी में लेनदेन का कारोबार खड़ा कर लिया था, और १६७२ में राजकोष से स्वर्णकारों को भुगतानें रोकने की उसकी कार्यवाही से एक वित्तीय संकट उत्पन्न हो गया था।

---

१. पहले की तरह यह मान लिया गया कि युद्ध आ जाने पर असाधारण अनुदान के लिए संसद् को आवेदन दिया जाएगा।

जेम्स द्वितीय के शासन-काल की वित्तीय स्थिति पर बहुत कम विवेचन की आवश्यकता है उसके शासन-काल के आरम्भ में एक राजभक्त संसद् ने राजकीय आय १९,००,००० पौन्ड प्रति वर्ष निर्धारित की, यह राशि इतनी बड़ी थी कि उसको संसद् को या फ्रान्सीसी राजा को वित्तीय सहायता के लिए प्रार्थना करने में अपने भाई की नकल करने की आवश्यकता नहीं हुई। उसका शासन चार वर्षों से कम चला और १६८८ में उसके फ्रान्स भाग जाने और विलियम तृतीय के सिंहासन पर बैठाए जाने के बाद राष्ट्रीय वित्त के समस्त आधार का पुनस्संगठन किया गया।

तेरहवाँ अध्याय

अठारहवीं शताब्दी में क्षेत्रिक क्रान्ति

एक पहले के अध्याय में दिखलाया गया था कि सोलहवीं शताब्दी की क्षेत्रिक क्रान्ति में बहुत सीमा तक बाड़ाबन्दी हो गई और ग्रामीण समाज का सारा दृष्टिकोण बदल गया। जीवन-निर्वाह के लिए खेत जोतने का स्थान लाभ कमाने के लिए उत्पत्ति करने ने ले लिया। अठारहवीं शताब्दी के उत्तर काल में दूसरी क्षेत्रिक क्रान्ति हुई, जिसमें बचेखुचे खुले खेत अदृश्य हो गए, त्रिक्षेत्र पद्धति का स्थान एक विस्तृत फसलों के हेर-फेर ने ले लिया, वैज्ञानिक तरीकों से खेती की जाने लगी और बड़े फार्मों ने छोटे खेतों को उठा दिया।

अठारहवीं शताब्दी की क्षेत्रिक क्रान्ति का वर्णन करने से पूर्व इन दो आन्दोलनों के बीच के काल—१६०० और १७५० के बीच की डेढ़ शताब्दी—में आंग्ल कृषि का संक्षिप्त विवरण देना वांछनीय है। कभी-कभी सत्रहवीं शताब्दी को ग्रामीण मामलों में स्थिरता का काल माना जाता है। राष्ट्र ने दूसरी दिशाओं में अपनी शक्ति को प्रकट करने के मार्ग खोज निकाले। मनुष्यों के विचार धार्मिक और वैधानिक संग्राम पर केन्द्रित थे, जो स्टूअर्ट काल की प्रधान विशेषता थी। समुद्र-पार विस्तार बढ़ रहा था और विदेशी व्यापार की उन्नति हो रही थी।

कृषि की प्रगति की गति निश्चित रूप से मन्द हो गई थी, किन्तु यह सर्वथा रुकी नहीं थी। बाड़ाबन्दी चालू रही, कभी खेती में सुधार करने के लिए, और बहुधा चरागाह के लिए। शुरू के स्टूअर्ट राजाओं ने ट्यूडर राजाओं के समान ही शक्ति से और शायद अधिक सफलता से बाड़ाबन्दी का विरोध किया, परन्तु इस शताब्दी में आगे चल कर इस आन्दोलन की ओर राज्य का रुख बदल गया। यह मान लिया गया कि खुले खेतों को बोने की पद्धति प्राचीन, नष्टकारी और हानिकारक थी, और बाड़ लगने के बाद भूमि का अधिक अच्छा उपयोग होता था और यह अधिक अनाज और ऊन तथा मांस देती थी। पुरानी आपत्तियाँ कि भेड़-बकरी पालने से जन-संख्या घटती है, दरिद्रता

फैलती है और अकाल पड़ता है, शिथिल पड़ गईं। राष्ट्र की आवश्यकताओं से अधिक मात्रा में अनाज पैदा किया जा रहा था और निर्यात के लिए बच रहता था। वस्त्र उद्योग की उन्नति से कई लोगों को काम मिल गया, जबकि दूसरों को ऐसी दिशाओं में रोजगार मिला जो पहले के युग में खुली हुई नहीं थीं। बाड़ों का पुराना विरोध मध्य युग की निशानी थी; प्रगतिशील विचारों की विजय से इसका अन्त हो गया। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तर काल में और अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में कुछ बाड़ाबन्दी और चकबन्दी हुई, यद्यपि जार्ज तृतीय के शासन काल तक यह आन्दोलन चरम सीमा पर नहीं पहुंचा।

सत्रहवीं शताब्दी में दूसरी ओर प्रगति हुई। देश के कुछ भागों में कच्छ भूमि, वन, दलदल और अनूप के विस्तृत क्षेत्र थे जो अकर्षित और लगभग बिना बसे हुए पड़े थे। सत्रहवीं शताब्दी में इस "वीरान भूमि" के बड़े भाग का पुनरुद्धार किया गया। बेडफोर्ड के अर्ल (सरदार) ने लिन्कनशायर और दूसरे जिलों की अनूप भूमि का जल खाली करवाया, उसने अनूप वासियों का कड़ा विरोध होने पर भी बहुत बड़ी रकम खर्च करके डच इंजीनियरों और श्रमिकों से यह काम करवाया। इस प्रकार एक क्षेत्र जो जलप्राय और लगभग बेकार था एक मूल्यवान खेत और चरागाह में बदल दिया गया। पेनाइन क्षेत्र के दलदल के बाड़ लगा दी गई और खेती आरम्भ कर दी गई, वनों को काटकर कुछ और भूमि प्राप्त कर ली गई।

इस काल में खेती के तरीकों में सुधार भी किए गए। इस दिशा में जो परिवर्तन हुए हैं उनका क्षेत्र प्रायः अठारहवीं शताब्दी के महान् कृषिकारों को दिया जाता है, परन्तु सत्रहवीं शताब्दी में भी कहीं कहीं कृषि के वैज्ञानिक पहलू का विकास करने के प्रयत्न किए गए थे। खुले खेतों की पद्धति के अन्तर्गत सुधार लगभग असंभव था; केवल पट्टाधारी किसानों के बाड़ लगे हुए बड़े फार्मों पर प्रयोग किए जा सकते थे। उद्योगी लोगों ने मवेशियों की नस्ल-सुधार पर भी कुछ ध्यान दिया। ब्लीथ (Blith) द्वारा कृषियोग्य भूमि का जल खाली करने के प्रयत्न किए गए और खाद डाल कर उपजाऊ-शक्ति बढ़ाने की कोशिश की गई। शलजम और अन्य कन्द-मूलों की खेती आरम्भ की गई, यद्यपि उनका प्रयोग अठारहवीं शताब्दी तक विस्तृत नहीं हो पाया। दिनाप्त

फार्मों पर आलू, होप्स (hops)[1] और क्लोवर (clover)[2] बोए जाने लगे।

क्षेत्रिक क्रान्ति के ठीक पहले की आंग्ल ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का संक्षिप्त विवरण अनुपयुक्त नहीं होगा। १७५० तक भी देश कील गभग आधी स्वामि-भूमियों में खुले खेतों की पद्धति विद्यमान थी। इन स्थानों में स्वामि-भू के रिवाज के अधीन खेती, फसलों की साधारण हेर-फेर के अनुसार की जाती थी जो शताब्दियों से अपरिवर्तित चली आ रही थी, कोई मनुष्य इस रिवाज को छोड़ने का विचार नहीं कर सकता था। कुछ लोग जिनकी पाटियां खुले खेतों में थीं, निःशुल्कधारी थे। दूसरे प्रतिलिपिधारी थे, वे मध्यकालीन दासों की सन्तान थे, जिनको भू-स्वामी को बेगार देनी पड़ती थी और यद्यपि यह दायित्व दीर्घ काल से समाप्त हो गया था प्रतिलिपिधारी अब भी भू-स्वामी को बेगार के बदले में सेवा-मुक्ति-लगान देते थे। अपने पहले आने-वाले दासों के विपरीत प्रतिलिपिधारियों की स्थिति सुरक्षित थी, स्वामि-भू के अभिलेख की उनकी "प्रतिलिपि" न्यायालयों द्वारा स्वत्व-पत्र के समान मानी जाती थी, और उन को बेदखल किए जाने की असाधारण स्थिति में वे आक्रमणकर्ता पर अन-धिकार प्रवेश का अभियोग चला सकते थे। कुछ और भी किसान पट्टाधारी थे,[3] जो अपनी भूमि पर साधारण लगान देते थे, परन्तु उनके लिए खुले खेतों में पाटियां रखना असाधारण था। वे गाँवों में रहते थे जिनमें खुले खेतों की पद्धति समाप्त हो गई थी और उनके चकबन्दी किए हुए और बाड़ लगे हुए खेत थे जो बड़ी जागीरों के टुकड़े थे। जिन गाँवों में खुले खेतों की पद्धति

१. एक प्रकार की बेल।

२. एक प्रकार की तीन पत्तों वाली घास।

३. पट्टाधारित भू-धारण की प्रगति की अवस्थाएँ संक्षेप में निम्नांकित थीं
(अ) स्वामि-भू के हवाले का पूंजी-और-भूमि का पट्टा।
(आ) स्वामि-भू के हवाले का साधारण पट्टा।
(इ) स्वामि-भू के हवाले के भागों का साधारण पट्टा।
(ई) पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में खेती के लिए खुले खेतों की थोड़ी बाड़ा बन्दी। कुछ पट्टाधारित खेत बन गए यद्यपि कई खेत प्रतिलिपिधारित रहे।

थी उनमें बाड़ लगे हुए पट्टाधारित खेत थे, वे मध्य युग में भू-स्वामी के हवाले की भूमि पर थे। बाड़ लगे हुए खेतों में रिवाज का जोर कम था, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, उन पर कभी कभी सुधरे हुए तरीकों से खेती करने के प्रयत्न किए जाते थे, यद्यपि इस दृष्टि से देश के कुछ भाग दूसरों की अपेक्षा बहुत आगे बढ़े हुए थे। प्रत्येक स्वामि-भू में जहाँ पुरानी पद्धति जीवित रही सामूहिक चरागाह का विस्तृत क्षेत्र होता था जिस पर किसानों को अपने मवेशी और भेड़ें चराने का रिवाजी अधिकार था, और कुछ एकड़ जंगल होता था जहाँ से लकड़ी काटी जा सकती थी और ईंधन प्राप्त की जा सकती थी। यद्यपि ग्रामीण लोग इन विशेषाधिकारों के लिए वैधानिक स्वत्व नहीं बतला सकते थे तथापि ये अति प्राचीन समय से चले आ रहे थे और किसी ने उनको चुनौती देने का विचार नहीं किया।

देहात में किसानों की दशा बुरी नहीं थी, यद्यपि जो कुछ साधारण सम्पन्नता उनको प्राप्त थी वह केवल कृषि के कारण नहीं थी। यद्यपि जिस कुटिया में किसान रहता था वह स्वयं उसकी सम्पत्ति होती थी या नाममात्र के किराए पर उसको दी हुई होती थी, तथापि प्राचीन तरीकों से खेती करके बीस या तीस एकड़ भूमि से प्राप्त उत्पत्ति एक परिवार को सुखपूर्वक रखने

(उ) कुछ मामलों में "प्रतिलिपियों" के समर्पण और पट्टों की स्वीकृति से कुछ और पट्टाधारित खेत बन गए।

(ऊ) ट्यूडर काल के बाद के दिनों में चरागाहों के फिर से जोते जाने पर खुले खेतों की खेती वापस नहीं अपनाई गई। ऐसी भूमि पट्टाधारित खेतों में बांट दी गई।

(ए) सत्रहवीं शताब्दी में खेतों के लिए बाड़ाबन्दी का जारी रहना और पट्टाधारित खेतों का बनना।

(ऐ) जलप्राय भूमि का जल निकाल कर और दलदल का पुनरुद्धार कर कर्षित क्षेत्र का बढ़ाया जाना। ऐसी भूमि पट्टाधारित खेतों में बाँट दी गई थी।

(ओ) अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में बचे खुचे खुले खेतों की बाड़ाबन्दी और चकबन्दी। पट्टाधारित खेतों में बँटी हुई बड़ी जागीरों का बनना।

के लिए पूरी नहीं होती थी आय का एक और स्रोत होने से वह दरिद्रता से बचा रहता था। वह अपने समय का कुछ भाग अपनी पत्नी और पुत्रियों द्वारा काते हुए सूत का कपड़ा बुनने में लगाता था। अपनी फसल बिगड़ जाने पर वह बुनाई का सहारा ले सकता था। यदि वस्त्र उद्योग में मन्दी आ जाती तो वह अपने खेत से निर्वाह कर सकता था। उसको वृद्धावस्था की चिन्ता नहीं सताती थी और आजकल के श्रमिक के विपरीत उसको कभी कभी बेकारी का भय नहीं रहता था। पिता की मृत्यु से भी परिवार निःसहाय नहीं हो जाता था। परिवार के सब सदस्य खेत में परिश्रम करते थे और सब वस्त्र उद्योग में भी हाथ बंटाते थे।

खुले खेतों की पद्धति की प्रशंसा नहीं की जा सकती थी। इससे भूमि का दुरुपयोग होता था, क्योंकि किसी भी वर्ष तीन में से एक खेत पर जुताई नहीं होती थी, और समय का, क्योंकि एक आदमी के खेत अलग अलग स्थानों पर होते थे और दूर की पाटियों तक जाने में उसको दूर तक चलना होता था। गांव के रिवाज के अनुसार खेती करने से खेती के तरीकों में परीक्षण असंभव था। सब से अधिक परिश्रमी किसान सबसे सुस्त की दया पर निर्भर रहते थे; दूसरे की भूमि पर पैदा होने वाला घास पहले की पर फैल जाता था। इस पद्धति ने देश की अच्छी सेवा की थी, किन्तु यह सैंकड़ों वर्षों तक चल चुकी थी, और जहां यह बनी रही सुधार असंभव हो गया। समय समय पर खेती के तरीकों में जो परिवर्तन हुए थे केवल बाड़-युक्त खेतों पर काम में लाए गए थे।

आगे और परिवर्तन अवश्यम्भावी था। अठारहवीं शताब्दी में जन-संख्या बढ़ रही थी और इस शताब्दी के अन्त के दिनों में वृद्धि की दर बहुत ऊंची थी। अधिक भोजन की आवश्यकता थी और पुरानी पद्धति के अधीन उत्पत्ति नहीं बढ़ाई जा सकती थी इसलिए इसे दूसरी को स्थान देना पड़ा। भोजन के अभाव में मूल्यों में वृद्धि की प्रवृत्ति स्वाभाविक थी; उत्पत्ति में वृद्धि होने पर आय में वृद्धि होने की संभावना सब से दकियानूसी किसान को भी अपने तरीके बदलने के लिए प्रेरित कर सकती थी। इसके अतिरिक्त कारखाना प्रणाली के आने से ग्रामीण वस्त्र-उद्योग की अवनति प्रारम्भ हो गई। यह उन्नीसवीं शताब्दी के आने के बहुत समय तक बिल्कुल समाप्त नहीं हुई, परन्तु

काम की मात्रा घट जाने से और कभी-कभी बेकारी से कुटीरवासी को अधिकाधिक भूमि पर निर्भर होना पड़ा। बुनाई और खेती अलग होते जा रहे थे। किसान ग्रामीण जीवन छोड़ सकता था, अपनी भूमि और कुटिया बेच सकता था, और किसी नए कारखानों वाले नगर में जाकर अपना ध्यान पूर्णतः बुनाई पर लगा सकता था, या वह पूर्णतः कृषि से जीवन निर्वाह कर सकता था। ऐसा समय आ रहा था जब वह खेती और बुनाई दोनों नहीं कर सकता था। परन्तु खुले खेतों की पद्धति से खेती करने से उसका निर्वाह नहीं हो सकता था और जो मनुष्य खेती से निर्वाह करना चाहता था उसको अपने तरीकों में सुधार करना पड़ा।

इस बात की बड़ी आवश्यकता थी कि खुले खेत काटकर चकों को लोगों में बाँट दिया जाए ताकि वे बाड़ें लगा सकें। अठारहवीं शताब्दी में सैंकड़ों गांवों में इस बात की चर्चा थी। गांव के लोग प्रकृति से लकीर के फ़कीर और मन्द गति से बदलने वाले होते हैं और बाड़ा-बन्दी के पक्ष में सर्वसम्मत सन्धि कठिनाई से होती थी। यदि सब लोगों की राय से बाड़ाबन्दी और चकबन्दी की गई तो भी भूमि के बँटवारे की न्यायोचितता के बारे में मतभेद हो जाता था। बहुत कम स्थानों पर इस प्रकार परिवर्तन हुआ; अधिकांश खुले खेतों वाली स्वामि-भूमियों में यह अधिकारियों द्वारा थोपा गया। संसद् को अपील की गई और इसने एक अधिनियम पारित किया जिसके अधीन स्वामि-भू के स्वामी और सम्बन्धित लोगों में से पाँच में से चार के पक्ष में होने पर अल्पमत के विरोध करने पर भी परिवर्तन की स्वीकृति प्रदान कर दी गई। जार्ज द्वितीय के शासन-काल में कभी-कभी ऐसे अधिनियम पारित हुए और जार्ज तृतीय के समय में तो इनकी संख्या बहुत अधिक थी।[1] १८०१ में एक साधारण बाड़ा-बन्दी अधिनियम बनाया गया जिसने कार्य-विधि को सरल बना दिया, परन्तु अब भी बाड़ाबन्दी के प्रत्येक मामले में संसदीय स्वीकृति आवश्यक थी। जार्ज

---

१. यह अनुमान लगाया गया है कि जार्ज द्वितीय के शासन-काल में लगभग अढ़ाई लाख एकड़ भूमि की बाड़ें लगाई गईं, जार्ज तृतीय के शासन-काल में ६० लाख से ऊपर, जार्ज चतुर्थ के शासन-काल में लगभग साढ़े तीन लाख और विलियम चतुर्थ के शासन-काल में अढ़ाई लाख से भी कम।

चतुर्थ और विलियम चतुर्थ के शासन-काल में बाड़ाबन्दी अधिनियम कम बनाए गए, किन्तु इसका कारण यह था कि इस समय तक अधिकांश भूमि की बाड़ाबन्दी हो चुकी थी और बहुत कम कार्य शेष रहा था। खुले खेत अदृश्य हो गए और बाड़ें, जो आजकल देहात की मुख्य विशेषता हैं, खड़ी कर दी गईं।

चकबन्दी और बाड़ाबन्दी अनिवार्य थी। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सुधार सर्वोत्तम संभव ढंग से किया गया। जब बाड़ाबन्दी अधिनियम बन जाता था तो एक गाँव में जाकर खुले खेतों को काटकर भूमि को फिर से बाँटने के लिए एक कमिश्नर नियुक्त किया जाता था। वह सब दावे सुनता था और यह विचार करने का कोई कारण नहीं है कि वह यह कार्य न्यायपूर्वक नहीं करता था। वह केवल कानूनी अधिकारों को मान्यता दे सकता था परन्तु किसानों को अब तक कुछ विशेषाधिकार ऐसे प्राप्त थे जो कानूनी अधिकारों पर आधारित न होकर स्वामि-भू के रिवाजों पर आधारित थे। कमिश्नर किसान द्वारा समर्पित पाटियों के बदले में एक चक दे सकता था और उसने ऐसा किया, परन्तु वह उसको चराई और वनों के "अधिकारों" के छिन जाने की कोई क्षति-पूर्ति नहीं दे सकता था। जो कुछ अन्य दावेदारों को नहीं दिया गया वह स्वामि-भू के स्वामी की सम्पत्ति बन गई, इस प्रकार वह वन भूमि और गोचर भूमि का स्वामी मान लिया गया, जो अब तक गाँव वालों के सामूहिक प्रयोग में आती थी। जिस किसान को कुछ एकड़ का खेत प्राप्त हुआ उसकी स्थिति पूर्वापेक्षा खराब हो गई; उसको झाड़ियों या चहारदीवारों से इसके बाड़ लगाने का खर्चा करना पड़ा और उसके हल के बैलों, सूअरों और मुर्गे-मुर्गियों को चराने का कोई स्थान नहीं रहा। इसके अतिरिक्त उसको इस परिवर्तन से सम्बन्धित कानूनी व्यय का एक भाग देना पड़ा। इस घबड़ाहट में उसकी सम्पत्ति पर जो भी उचित दाम लगाए जाते वह स्वीकार करने को तैयार रहता था। दाम लगाने वालों की कमी नहीं थी। औद्योगिक नगरों में लोग धनवान बन रहे थे; उनमें से कुछ संसद् के सदस्य या जिलों के मजिस्ट्रेट बनने की महत्त्वाकांक्षा रखते थे। परन्तु वे कितने ही धनवान क्यों नहीं हों बिना भू-सम्पत्ति के वे राष्ट्रीय या स्थानीय शासन में कोई भाग नहीं ले सकते

थे।[1] सामाजिक दृष्टि से भी भू-सम्पत्ति समान या अधिक महत्त्वपूर्ण थी। धनवान, किन्तु भूमिहीन, कारखानेदार स्थितिरहित और "नया धनवान" माना जाता था; जब वह भूमि खरीद लेता था तो वह एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति बन जाता था और दूसरे देहाती सरदार उसको अपने समान मानने लगते थे। इसलिए भूमि की जल्द बिक्री हो जाती थी और किसान खुशी खुशी अपनी भूमि इन नए धनवानों को बेच देते थे।

इस प्रकार ग्रामीण निवासियों के वर्ग का, जिनको क्षेत्रपाल (Yeomen)[2] कहते थे, अन्त हो गया। इस वर्ग के अन्त पर बहुत हृदय-स्पर्शी खेद प्रकट किया गया है और इसको अपनी योग्यता से अधिक गुणों के लिए श्रेय दिया गया है।[3] बहुधा यह कहा जाता है कि खुदकाश्त जमींदारों के वर्ग के होने

---

१. संसद् के प्रत्येक सदस्य के लिए जो किसी जिले का प्रतिनिधित्व करता था ६०० पौण्ड वार्षिक की भूमि रखना अनिवार्य था। पौर सदस्य के लिए ३०० पौंड वार्षिक की भूमि की योग्यता थी। प्रत्येक जिले के मजिस्ट्रेट बनने के लिए १०० पौंड वार्षिक की भूमि रखनी पड़ती थी।

२. कुछ लोगों ने इस शब्द का प्रयोग छोटे निःशुल्कधारियों के लिए सीमित रखा है, परन्तु इस शब्द से प्रतिलिपिधारियों और पट्टाधारियों को प्रकट करने के अच्छे आधार हैं (बड़े पादरी लेटीमर ने एडवर्ड षष्ठ के सम्मुख दिये गये अपने प्रसिद्ध और बहुउद्धृष्ठ प्रवचन में अपने पिताके लिये कहा है कि 'वह ऐसा क्षेत्रपाल था जिसकी अपनी कोई भूमि नहीं थी, अधिक से अधिक उसके पास तीन या चार पौंड प्रति वर्ष लगान वाली भूमि थी।' स्पष्टतः लेटीमर का पिता एक पट्टाधारी था। इस विशिष्ट नाम की उपयुक्तता भू-धारण पद्धति पर निर्भर नहीं होकर व्यक्ति विशेष की सामाजिक और आर्थिक स्थिति पर निर्भर करती थी। वे (क्षेत्रपाल) निश्चित रूप से भूमि-हीन श्रमिकों से उच्च श्रेणी के थे और यह भी निश्चित है कि वे भू-स्वामियों से निम्न श्रेणी के थे। जिन क्षेत्रपालों का लोप हो गया वे खुले खेतों पर खेती करने वाले छोटे निःशुल्कधारी और प्रतिलिपिधारी थे।

३. "क्षेत्रपाल" शब्द का "पुष्ट", "शक्तिशाली", "ईमानदार", "योग्य" आदि प्रशंसापूर्ण विश्लेषणों के साथ सम्बन्ध होने के कारण इस वर्ग के गुणों पर निष्पक्ष निर्णय नहीं हो पाता है।

से देश की शक्ति और सम्पन्नता बढ़ती है,[1] परन्तु यह स्मरण रहे कि आँग्ल क्षेत्रपाल एक दिनाप्त क्षैत्रिक पद्धति को अपनाए हुए थे और एक वर्ग के रूप में उनका अस्तित्व प्रगति में बाधक था।

क्षेत्रपालों में से कुछ बढ़ते हुए औद्योगिक नगरों में चले गए और अपनी भूमि की बिक्री से प्राप्त रुपया उड़ाकर कारखानों में श्रमिक बन गए। दूसरों ने, जो अधिक सावधान थे, अपनी पूँजी का सदुपयोग किया और छोटे कारखाने स्थापित कर लिये और कालान्तर में, अपने ही जीवन में या आगे की पीढ़ी के समय में, धनवान बन गए। (यह मानी हुई बात है कि आरम्भ के सफल कारखानेदारों में से कई क्षेत्रपालों की सन्तान थे) किन्तु कई दूसरे उसी भूमि पर बने रहे जिसने एक हजार वर्षों से अधिक उनके पूर्वजों की सहायता की थी। इनमें से कुछ, सम्भवतः अधिकांश, खेतिहर मजदूर बन गए। जो अधिक योग्य और परिश्रमी थे किसान बन गए जो बड़ी जगीरों के मालिकों से, जिनके बनने का वर्णन ऊपर किया जा चुका है, दो सौ या तीन सौ एकड़ के बड़े फार्म लगान पर लेकर अपने रुपयों का कार्यशील पूँजी के रूप में उपयोग करने लगे।

क्षैत्रिक क्रान्ति से पूर्व आँग्ल ग्रामीण समाज की तीन श्रेणियाँ भू-स्वामियों, क्षेत्रपालों और श्रमिकों की थीं। उन्नीसवीं शताब्दी में इनके अनुरूप श्रेणियाँ ठाकुरों, किसानों और श्रमिकों की थीं।

खुले खेतों के स्थान पर बाड़ लगे हुए खेतों की स्थापना और खेतों की चकबन्दी नितान्त आवश्यक थी। अब परीक्षण सम्भव हो गया, परती भूमि छोड़ना बन्द हो गया और नई एवं विस्तृत फसलों की हेरफेर होने लगी। देश के विभिन्न भागों में जलवायु और मिट्टियों के बड़े अन्तर के कारण सब जिलों के लिए खेती की एक-सी योजना उपयुक्त नहीं थी। लार्ड टाउनशैन्ड (Lord Townshend) द्वारा चलाई गई नोरफोक पद्धति लोकप्रिय हो गई

---

१. परन्तु यह दावा सिद्ध नहीं माना जा सकता। फ्रान्स, बैलजियम और अन्य देशों के खुदकाश्त जमींदार दिनाप्त तरीकों से खेती करते हैं, उनके पास यथेष्ट पूँजी नहीं होती, वे कठिन परश्रम करते हैं और उनको सम्पन्न नहीं ...

और कई स्थानों में अपना ली गई। यह निम्नांकित सिद्धान्तों पर आधारित एक चतुर्वर्षीय पद्धति थी:—

(१) एक वर्ष भूमि को परती छोड़ना बन्द कर दिया गया।

(२) एक वर्ष छोड़कर अनाज की फसल बोई जाती थी।

(३) बीच के वर्षों में रामपर्ण (Clover) की फसल और कन्दमूल की फसल उत्पन्न की जाती थी।

नोरफोक पद्धति के सब से साधारण रूप के अन्तर्गत एक के पीछे दूसरे वर्ष में क्रमशः गेहूँ, रामपर्ण, जौ और शलजम की खेती की जाती थी। यह अनुभव किया गया कि जिन वर्षों में रामपर्ण [1] और कन्द-मूल की खेती की जाती थी। भूमि में पुनः उपजाऊ शक्ति उत्पन्न हो जाती थी जिससे एक वर्ष भूमि को परती छोड़े बिना अनाज की फसल पैदा की जा सकती थी, विशेषतः उस अवस्था में जब कि भूमि पर उपयुक्त खाद डाली जाती थी। कन्द-मूल (शलजम आदि) शरद् ऋतु में मवेशियों के खाने के काम में आते थे, इस प्रकार उस समस्या का हल हो जाता था जिससे मध्यकालीन कृषक सदा व्यग्र रहता था। शरद् ऋतु में मवेशियों को घर पर चराने से किसान को भूमि के लिए स्थायी खाद मिल जाता था, जिससे फसलों के चतुर्वर्षीय हेरफेर की सफलता निश्चित हो जाती थी।

अठारहवीं शताब्दी में पशु पालन पर भी बहुत ध्यान दिया गया। इससे पूर्व इङ्गलैण्ड में खेती में काम में आने वाले पशु निम्न कोटि के होते थे। बैल दुर्बल, अस्थि-पंजर और लम्बी टाँगों वाले होते थे और उनका मूल्यांकन उनके वजन के आधार पर न होकर उनको खींचने की शक्ति के आधार पर किया जाता था। भेड़ें दुबली होती थीं और बहुत कम ऊन देती थीं और सब प्रकार के पशु संक्रामक रोगों से बहुत प्रभावित रहते थे। सत्रहवीं शताब्दी में कुछ प्रगतिशील पशुपालकों के प्रयत्नों को छोड़कर, क्षेत्रिक क्रान्ति से पूर्व, विवेकपूर्ण अभिजनन द्वारा पशुओं की नस्ल सुधारने के कोई

१. रामपर्ण की जड़ों में संग्रहीत भूमीय (Nitrate) के भूमि में हाँक दिए जाने से आगामी वर्ष अनाज की फसल को लाभ होता है।

प्रयत्न नहीं किए गए और शरद ऋतु में पशुओं को खिलाने की असंभवता को देखते हुए अनेक पशु पतझड़ में मार डाले जाते थे। परन्तु शलजमों और दूसरे कन्द-मूल के प्रयोग ने शरत्कालीन पशु-खाद्य की समस्या हल कर दी और कई अभिजनकों ने, जिनमें डिशले का रोबर्ट बेकवेल और डरहम के कौलिंग बन्धु थे, मवेशियों और भेड़ों की उत्तम नस्लों को तैयार किया। बैल मांस के लिए पाले जाते थे, अठारहवीं शताब्दी में उनका वजन दुगने से अधिक हो गया। भेड़ें मांस और ऊन के लिए पाली जाती थी; इस शताब्दी में इनका वजन तिगुना हो गया और ऊन के वजन में इससे भी अधिक सुधार हुआ।

जेथरो टल (Jethro Tull) द्वारा खेत में बीज बोने की नाली (drill) के आविष्कार से बीज बोने का एक नया तरीका निकल गया। अठारहवीं शताब्दी से पूर्व बीज बोने वाला अपने साथ बीजों की एक तगारी रखता था जिसमें से वह हाथ से दाँए-बाँए बीज बखेरता था, इस प्रक्रिया में बाईबल के समय से कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। बीज समान रूप से नहीं छाँटा जाता था और बहुत कुछ नष्ट हो जाता था। ड्रिल के प्रयोग से भूमि में एक छिद्र या दरार हो जाती थी और बीज क्रम से इसमें गिरता था। इससे बीज कम लगता था और फसल अच्छी होती थी। टल (Tull) मिट्टी के चूर्णीकिरण के पक्ष में भी था और उसने घोड़ों से सफाई (Horse-hoing) की प्रथा भी निकाली।

खेती के तरीकों में सुधार के आन्दोलन को राजकीय संरक्षण प्रदान किया गया। जार्ज तृतीय ने, जिसको प्रजाजन स्नेह-पूर्वक कृषक जार्ज कहते थे, विन्सर में एक आदर्श खेत स्थापित किया। इस आन्दोलन की बहुत कुछ सफलता कृषिमंडल के मंत्री, आर्थर यंग, के कारण थी, जिसने इङ्गलैंड और फ्रांस की विस्तृत यात्रा की थी। उसने विभिन्न जिलों में प्रयोग किये जाने वाले तरीकों और उपायों की तुलना की और सूचना एकत्रित कर प्रसारित की। यदि यंग नये विचारों का सैद्धान्तिक समर्थक था तो उनकी व्यावहारिक व्याख्या करने वाला होकम का ठाकुर थॉमस कोक था जो आगे चलकर लीसेस्टर का अर्ल बन गया। जब उसको अपनी युवावस्था में होकम की जागीर उत्तराधिकार में मिली तो उसने इसको शोचनीय अवस्था में पाया। बुद्धिमत्तापूर्वक गार और खाद डालकर उसने हल्की भुरभुरी मिट्टी को उपजाऊ गेहूँ बोने योग्य

भूमि में बदल दिया। उसने नए उपाय अपनाए, सूचनाएँ प्राप्त की, और अपने आसामियों को दिनाप्त तरीकों को काम में लाने के लिए प्रोत्साहित किया। उसकी जागीर समस्त पश्चिमी यूरोप में प्रसिद्ध आदर्श बन गई और १८४२ में उसकी मृत्यु से पूर्व (उसकी आयु नब्बे वर्ष से ऊपर थी) उसने अपनी जागीर के सुधारने में पाँच लाख पौण्ड से अधिक व्यय कर दिए। उसको उत्तम फसलों और अधिक मूल्य के रूप में यह सब और इससे भी अधिक मिला और वह बहुत धनवान होकर मरा।

इस अध्याय में वर्णित परिवर्तनों से ग्रेट ब्रिटेन की बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए खाद्य-सामग्री की पूर्ति करने की समस्या केवल अंशतः हल हुई। १७५० के पश्चात् जनसंख्या में इतनी तीव्रगति से वृद्धि हुई कि उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में खाद्य-सामग्री का आयात करना पड़ा। आरम्भ में आयात की मात्रा अधिक न थी और फ्रांसीसी युद्धों के दिनों में देश को अधिकांशतः अपनी ही उत्पत्ति पर निर्भर करना पड़ा। आगे के अध्यायों में यह बतलाया जाएगा कि १८५० तक ग्रेट ब्रिटेन की खाद्यसामग्री का अधिकांश देश ही में उत्पन्न किया जाता था, किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में देश खाद्यसामग्री के आयात पर निर्भर रहने लग गया। किन्तु यद्यपि औद्योगिक क्षेत्रों में जनसंख्या की असाधारण वृद्धि से आयात आवश्यक हो गया, तथापि अठारहवीं शताब्दी की क्षेत्रिक क्रान्ति ने अन्य देशों की तुलना में आंग्ल कृषि को अगुवा बना दिया। वास्तव में आंग्ल कृषि-प्रणाली यूरोप में सर्वोत्तम थी और बहुत समय तक यह आदर्श बनी रही जिसकी महाद्वीपीय देशों ने नकल करने के प्रयत्न किये।

चौदहवाँ अध्याय

औद्योगिक क्रान्ति

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आंग्ल उद्योगों में महान् परिवर्तन हुए। ये परिवर्तन इतने उल्लेखनीय और विस्तृत थे कि उनको औद्योगिक क्रान्ति[1] के नाम से पुकारा जाता है। क्रान्ति का अभिप्राय आधारभूत परिवर्तन से है, राजनीतिक क्रान्ति शासन में पूर्ण परिवर्तन को कहते हैं,[2] कूटनीतिक क्रान्ति अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के आमूल पुनर्स्संगठन को कहते हैं, क्षेत्रिक क्रान्ति कृषि की पद्धति और संगठन में परिवर्तन को कहते हैं, समाजिक क्रान्ति कतिपय सामाजिक वर्गों के सापेक्षिक महत्त्व में परिवर्तन को कहते हैं। इसी प्रकार औद्योगिक क्रान्ति औद्योगिक पद्धत्ति में परिवर्तन था, इसमें दस्तकारी के स्थान पर शक्ति-संचालित यंत्रों से काम होने लगा और औद्योगिक संगठन में घरों के स्थान पर कारखानों में कार्य होने लगा। इन नवीन परिस्थितियों में उद्योग-धन्धों का उद्देश्य बड़ी मात्रा में उत्पत्ति करना था, एक सीमित और स्थिर मण्डी की माँग की पूर्ति करने के प्राचीन आदर्श का स्थान राष्ट्र की सीमाओं से अधिक विस्तृत, और वास्तव में

---

१. प्रायः कहा जाता है कि "औद्योगिक क्रान्ति" (Industrial Revolution) शब्द का प्रयोग सब से पहले अरनोल्ड टोयनबी ने १८८४ में किया था। तो भी ऐसा प्रतीत होता है कि एक फ्रान्सीसी लेखक ब्लान्की ने १८३७ में इसका प्रयोग किया और तत्पश्चात् जेवन्स, एन्जिल्स और कार्ल मार्क्स ने भी ऐसा किया।

२. प्रायः माना जाता है कि "क्रान्ति" शब्द हिंसात्मक और चामत्कारिक विस्फोटों के लिए अधिक उपयुक्त है जैसे कि फ्रान्स में १७८९ में और रूस में १९१७ में हुए हैं। शासन में परिवर्तन जैसे कि कभी-कभी ग्रेट ब्रिटेन और संसदीय संस्थाओं वाले अन्य देशों में कभी-कभी होते हैं प्रायः क्रान्ति नहीं पुकारे जाते। ऐसा परिवर्तन व्यवस्थित और शान्तिमय होता है; इस देश ने इतनी राजनीतिक उन्नति कर ली है कि हिंसा और रक्तपात का सहारा लिये बिना शासन में परिवर्तन करने का उपाय निकाल लिया है, ये फिर भी परिवर्तन क्रान्ति माना जाएगा।

एक संसारव्यापी मण्डी में पूर्ति करने के लिए सस्ती और प्रचुर मात्रा में उत्पत्ति करने के दृढ़ निश्चय ने ले लिया।

एक क्रान्ति के लिए आकस्मिक और हिंसात्मक होना आवश्यक नहीं है, यह क्रमशः और अगोचर हो सकती है। यह सम्भव है कि औद्योगिक क्रान्ति के दिनों में रहने वाले अधिकांश लोग उस समय हो रहे परिवर्तनों से अनभिज्ञ थे और इन परिवर्तनों का ठीक-ठीक समय बतलाना भी कठिन होगा। १७६५ से १७८५ के बीस वर्षों में वस्त्र उद्योग सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण आविष्कार हुए, तथापि औद्योगिक क्रान्ति को इस अवधि तक सीमित रखने का कोई प्रश्न नहीं उठता। १७६५ से पूर्व कई वर्षों में वस्त्र-निर्माण करने के यन्त्रों में प्रयोग और १७८५ के पश्चात् कई वर्षों तक उनमें सुधार किए गए और वस्त्र-उद्योग के पूर्ण रूपान्तर में सत्तर वर्षों से कम समय नहीं लगा। दूसरी दिशा में इससे भी अधिक काल तक परिवर्तन हुए। वाष्प-इंजन का प्रादुर्भाव शक्ति के स्रोत के रूप में अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में हो गया था; उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक इसने पूर्णतः जल-चक्र का स्थान नहीं लिया। घरेलू कार्य से कारखानों में कार्य का परिवर्तन भी अल्पकाल में पूर्ण नहीं हुआ। सोलहवीं शताब्दी में भी एक नियोक्ता द्वारा नियंत्रित स्थान पर बड़ी संख्या में श्रमिकों को एकत्रित करने के उदाहरण मिलते हैं। कुछ उद्योगों में घरेलू प्रणाली से कारखाना प्रणाली में रूप-परिवर्तन आज भी पूर्ण नहीं हुआ है। ऐसा सोचकर कुछ लोगों ने "औद्योगिक क्रान्ति" शब्द की उपयुक्तता के बारे में आपत्ति उठाई है, उनकी दलील है कि जो परिवर्तन देखे जा सकते हैं औद्योगिक विकास के अन्तर्गत हुए हैं और "क्रान्ति" शब्द, जिससे प्रायः आकस्मिकता और हिंसा प्रकट होती है, इनके लिये लागू नहीं होता। किन्तु यदि आंग्ल उद्योगों की १८५० की स्थिति का १७७० की स्थिति से अन्तर देखा जाए तो जो परिवर्तन हुए उनका महत्त्व समझा जा सकता है और उनको क्रान्तिकारी बतलाने की उपयुक्तता स्वीकार की जाएगी।

अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक ग्रेट ब्रिटेन मुख्यतः कृषिप्रधान देश था। नगरों की संख्या बहुत कम थी और वर्तमान मापदण्ड से वे बहुत छोटे थे, और पाँच में से चार व्यक्ति देहाती गाँवों में रहते थे और अपने जीविकोपार्जन के

लिए मुख्यत: कृषि पर निर्भर करते थे। रूई, ऊन, इस्पात, धातु और मिट्टी के बर्तनों और काँच जैसे अधिकांश निर्माणकारी उद्योग जो आजकल बड़े औद्योगिक नगरों में पाए जाते हैं आरम्भ नहीं हुए थे या यदि ये पाए जाते थे तो देहातों में छोटे पैमाने पर चलाए जाते थे। वस्त्र-निर्माण-कार्य कुटीरों में ऐसे लोगों द्वारा किया जाता था जो कृषि-कर्म भी करते थे और यह हाथों या हाथ से चलाए जाने वाले औजारों से किया जाता था। जो मनुष्य खेती करते हैं वे वर्ष भर समान रूप से व्यस्त नहीं होते। जब हाँकने, बोने या काटने जैसी महत्त्वपूर्ण कृषि-क्रियाएँ की जाती हैं किसान और उसके सहायक पूर्णत: व्यस्त होते हैं। परन्तु ऐसे भी समय आते हैं जब कि खेत पर आवश्यक कार्य नहीं होता और अन्य समय में मौसम की प्रतिकूलता या प्रकाश के अभाव में (जैसे कि हेमन्त के मध्य में) घर के बाहर कार्य असंभव हो जाता है। इसीलिये औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व किसान लोग प्राय: अवकाश का समय घर पर काम करने में लगाते थे। ऊन-उद्योग मुख्यत: ऐसे लोगों के हाथ में था जो इसको कुछ एकड़ भूमि से प्राप्त आय में वृद्धि करने के लिए सहायक धन्धा मानते थे या जो, कभी-कभी खेती को कपड़ा बुनने का सहायक धन्धा मानते थे।

इस कुटीर वस्त्र-निर्माण-कार्य में (जैसे कि खेती के कार्य में भी) आदमी, औरतें और बच्चे सब काम करते थे। बच्चे धुनाई का कार्य करते थे और स्त्रियाँ रूई या ऊन के सीधे किए हुए रेशों से लम्बे तार कातती थीं। पुरुष प्राय: हाथ करघों पर कपड़ा बुनते थे, यद्यपि स्त्रियाँ भी कभी-कभी करघों पर काम करती थीं। वस्त्र उद्योग "वस्त्र व्यापरियों" या "बजाजों" के नियंत्रण में था। ये लोग पूँजी वाले थे जो पास की मंडी में रहते थे जहां से वे पड़ौस के गाँवों में आकर ऊन या रूई दे जाते थे और इनसे तैयार किया हुआ कपड़ा ले जाते थे। रंगाई, धुलाई, छपाई और सफाई आदि की सहायक क्रियाएँ बजाजों द्वारा स्थापित कारखानों में उनके द्वारा रखे हुए श्रमिकों द्वारा की जाती थीं। बजाज नगर में अपने गोदाम से नदी के मुहाने पर या पास में स्थित बन्दरगाह को, संभवत: नदी के रास्ते से, कपड़ा भेजता था और वहाँ व्यापारी इसको निर्यात के लिए खरीद लेते थे।

इस पद्धति में कई दोष थे। बजाज को बराबर काम कराने में कठिनाई होती थी, क्योंकि यदि कोई व्यक्ति चाहता तो काम बन्द करके एक दिन की छुट्टी मना सकता था और बजाज के आने के दिन यदि कपड़ा तैयार नहीं होता तो वह कुछ नहीं कर सकता था। बजाजों को अपने काम करने वालों की बेईमानी भी सहन करनी पड़ती थी, क्योंकि यह निर्णय करना असंभव था कि कपड़े में उनका दिया हुआ सारा कच्चा माल काम आ गया था या नहीं ?

अठारहवीं शताब्दी में आँग्ल व्यापार बढ़ रहा था। व्यापारियों ने आँग्ल वस्त्रों के लिए विदेशों में उत्तरोत्तर बढ़ती हुई माँग देखी जिसकी पूर्ति करना उनके हित में था। उन्होंने वस्त्र-निर्माताओं से अधिक माँग की और उन्होंने श्रमिकों को अधिक उत्पादन करने के लिए प्रोत्साहन दिया। वर्तमान पद्धति के अन्तर्गत उत्पत्ति में बहुत अधिक वृद्धि करना संभव नहीं था। वास्तव में बुनकर बहुधा सूत के अभाव में बेकार बैठे रहते थे परन्तु कातने वाले सदा व्यस्त रहते थे। एक बुनकर पूरे समय काम करने पर पाँच या छः कातने वालों द्वारा तैयार किया हुआ सूत प्रयोग कर लेता था। इसलिए उत्पत्ति बढ़ाने के लिए कातने के तरीके में कुछ परिवर्तन आवश्यक था। कातने के तरीके में सुधार करने की आवश्यकता से उन परिवर्तनों के लिए प्रेरणा मिली जो आगे चलकर औद्योगिक क्रांति में बदल गए। कालान्तर में आविष्कारों की एक श्रृंखला ने वस्त्र उद्योग का स्वरूप पूर्णतः बदल दिया, जिनका वर्णन एक आगे के अध्याय में किया गया है।

अठारहवीं शताब्दी में आविष्कृत वस्त्र-निर्माण यंत्रों का सर्वप्रथम उपयोग ऊन में नहीं और रूई के उद्योग में किया गया, यद्यपि कुटीर उद्योग के दिनों में ऊन का उपयोग अधिक होता था। इसके अनेक कारण थे। ऊन उद्योग सैकड़ों वर्षों से चला आ रहा था और परिवर्तन करने से पूर्व निहित स्वार्थों के विरोध पर विजय प्राप्त करना आवश्यक था; सूती वस्त्र उद्योग अपेक्षाकृत नया था और इसमें बिना कठिनाई के यंत्रों का प्रयोग किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त ऊन की पूर्त्ति सीमित थी और आँग्ल चरागाहों से इसकी मात्रा अधिक नहीं बढ़ाई जा सकती थी। दूसरी ओर रूई की पूर्त्ति लीवान्ट और पश्चिमी द्वीपसमूह और १७९४ में रूई के चर्खे के आविष्कार के

पश्चात् संयुक्त राष्ट्र अमरीका से होती थी। फिर यंत्रों का उपयोग ऊन की अपेक्षा रूई के तन्तुओं के साथ अधिक सरलता से हो सकता था। सूती वस्त्र उद्योग की उन्नति हुई और इसने आँग्ल वस्त्र उद्योग में मुख्य स्थान प्राप्त कर लिया। (परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से पूर्व ग्रेट ब्रिटेन में आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड से बड़ी मात्रा में ऊन आने लगी और ऊन उद्योग की बड़ी उन्नति हुई।)

आरम्भ में मशीनें जल-शक्ति से चलाई जाती थीं जो ग्रेट ब्रिटेन के अधिकांश भागों में प्रचुरता से मिलती हैं। प्रारम्भ में कारखाने देहातों में नालों के किनारे बनाए गए और श्रमिकों के रहने को स्थान नहीं होने से कारखानेदारों ने उनके लिए झोंपड़ियाँ बना दीं; इस प्रकार कारखानों के गाँव बन गए।[1] परन्तु जल-शक्ति असंतोषजनक सिद्ध हुई। कभी-कभी बहुत जल आ जाता था और कभी बहुत कम और सरदी के मौसम में नाले के जम जाने से काम रुक जाता था। फिर भी उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक इसका बहुत उपयोग होता था। वाष्प इंजन के आविष्कार से शक्ति का ऐसा स्रोत मिला जो जल से उत्तम था। यह अधिक निश्चित नियंत्रण में था, इससे आवश्यकतानुसार शक्ति की पूर्त्ति की जा सकती थी और इसका कहीं भी प्रयोग किया जा सकता था। इसके प्रादुर्भाव के साथ उन क्षेत्रों में कारखाने स्थापित करना सुविधाजनक हो गया जहाँ कोयला पाया जाता था। कारखानों

---

१. ऐसे जिलों में प्रायः कारखानेदार द्वारा चलाई गई दुकान के अतिरिक्त अन्य दुकानें नहीं पाई जाती थीं। इस प्रकार कामगरों को इसी दुकान से सौदा लेना पड़ता था जहाँ वे कर्जेदार बना लिये जाते थे। सप्ताह के अन्त में उनकी मजदूरी में से यह कर्जा और उनकी झोंपड़ियों का किराया काट लिया जाता था और उनके इतना कर्जा हो सकता था कि वे कभी ऋण से मुक्त नहीं होते थे और अपनी नौकरी छोड़कर नहीं जा सकते थे। कभी-कभी उनको अपनी मजदूरी पूर्णतः या अंशतः जिन्स में लेने के लिए बाध्य किया जाता था। जिन्स में मजदूरी देने को "ट्रक" (Truck) कहते थे और कालान्तर में यह संसद् के एक अधिनियम द्वारा निषेध कर दिया गया और ऐसा करने वाले को कठोर दंड रखा गया। १८८७ में ट्रक निषेध कानून को लागू करने का काम कारखानों के निरीक्षकों को सौंप दिया गया।

के गाँव छोड़ दिए गए और लंकाशायर, यार्कशायर और क्लाइड की घाटी जैसे क्षेत्रों में बड़े कारखानों के नगर बस गए।

घरेलू पद्धति के स्थान पर कारखाना-प्रणाली का आना यंत्रों के आविष्कार का अवश्यंभावी परिणाम था। मशीनें भारी और कीमती होती हैं और शक्ति से चलाई जाती हैं। कुटीर शिल्पी के पास मशीन को खरीदने के साधन नहीं थे और न इसको लगाने का स्थान था और यदि ये कठिनाइयाँ दूर भी हो सकती थीं तो उसके पास इसको चलाने के लिए शक्ति नहीं थी। इसके अतिरिक्त किफायत की दृष्टि से हाथ के औजार की अपेक्षा मशीन से कोई लाभ नहीं होता जब तक कि इसको पूरी तरह और बराबर चलाया नहीं जाए। मशीन पर काम करने के लिए बड़ी मात्रा में कच्चे माल की आवश्यकता होती है और घरेलू श्रमिक के पास इसकी यथेष्ट मात्रा नहीं होगी। ऐसी स्थिति में नई प्रणाली केवल उन लोगों द्वारा अपनाई जा सकती थी जिनके पास आवश्यक साज-सामान जुटाने और लोगों को काम पर लगाने के लिए यथेष्ट साधन (पूँजी) होती थी। एक ओर श्रमिकों और दूसरी ओर पूँजी के स्वामित्व में पृथकत्व के कारण वर्तमान प्रणाली को 'पूँजीवादी' कहते हैं।

फिर भी उद्योग का रूपान्तर शीघ्र नहीं हुआ। वस्त्र उद्योग में इसकी मन्द गति का दूसरे अध्याय में उल्लेख किया गया है। कई दूसरे उद्योगों में यह और भी मन्द था। पोशाक बनाने, सिलाई करने, बूट बनाने, चमड़े का काम करने, घड़ी बनाने, दियासलाइयाँ बनाने और कई अन्य उद्योगों में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक बहुत कुछ काम श्रमिकों के घरों में होता था। इससे यह नतीजा नहीं निकाला जाना चाहिए कि इन उद्योगों में कारखाना प्रणाली का श्रीगणेश ही नहीं हुआ था। कई वर्षों तक दोनों प्रणालियाँ साथ-साथ चलीं और कुछ उद्योगों में घरेलू प्रणाली अब तक भी समाप्त नहीं हुई है।

कुछ अंशों तक नियोक्ताओं और श्रमिकों दोनों की इसको अपनाने की अनिच्छा के कारण परिवर्तन में विलम्ब हुआ। जब नए उद्योगों की स्थापना की गई तो कारखाना प्रणाली के आधार पर उनका संगठन करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। बहुत दिनों से चले आने वाले उद्योगों में सुपरिचित

प्रणाली को त्याग कर एक दूसरी प्रणाली को अपनाने में, जो अन्ततः अधिक उत्तम हो सकती थी, परन्तु जो अनिश्चित थी, दोनों ओर से बहुत कुछ हिचकिचाहट थी। घरेलू प्रणाली में वस्त्र-व्यवसायियों को अपने श्रमिकों के आलस्य, बेईमानी और अयोग्यता से हानि उठानी पड़ती थी, फिर भी उनको ऐसी प्रणाली अपनाने में हिचकिचाहट थी जिसमें इमारतों और मशीनों पर भारी व्यय होगा और उनको ठीक हालत में रखने में भारी ऊपर का खर्चा होता है और ये व्यय मन्दी के समय में भी चलते रहेंगे, जबकि घरेलू प्रणाली में व्यापार की मन्दी का कुप्रभाव नियोक्ताओं पर नहीं और श्रमिकों पर पड़ना था। नियोक्ता परिवर्तन के लिए तब ही तैयार होता था जब कि वर्तमान प्रणाली के दोष असहनीय हो जाते थे।

कुछ उद्योगों में, जैसे आयरलैंड के किसान स्त्रियों द्वारा सन कातने में और इङ्गलैंड में १८१५[1] के पश्चात् ऊनी वस्त्र बुनने में, मशीनों का प्रयोग स्थगित रहा क्योंकि हाथों से काम करने वाले श्रमिकों को इतनी कम मजदूरी दी जाती थी कि मशीनों का लगाना लाभदायक नहीं था।

श्रमिक भी परिवर्तन के लिए तैयार नहीं थे। कारखानों के प्रति "मजदूरी की गुलामी" की भावना थी जो घर में नहीं थी। घर में काम करने का समय कारखाने के बराबर या उससे भी अधिक हो सकता था, परन्तु इसका निश्चय करना स्वयं श्रमिक के हाथ में था। यदि वह घण्टे भर के लिए बाहर जाना चाहता था या एक दिन की छुट्टी मनाना चाहता था तो उसको किसी की आज्ञा नहीं माँगनी पड़ती थी। घर की अपेक्षाकृत स्वतन्त्रता और कारखाने के अनुशासन में अन्तर था। इसके अतिरिक्त घर पर काम के साथ ही साथ थोड़ी-बहुत खेती भी की जा सकती थी, एक कारखाने के मजदूर की हैसियत से भूमि से सम्बन्ध विच्छेद होने का भय रहता था जिसने एक हजार वर्षों से अधिक समय से पूर्वजों का भरण-पोषण किया था।

१, १८१५ में शान्ति की स्थापना के पश्चात् कई हजार आदमी भू-सेना और नौ-सेना से हटा दिये गए और इनमें से कई लोगों ने हाथ की बुनाई का काम अपना लिया। फलस्वरूप बुनकरों की मजदूरी का स्तर बहुत नीचे गिर गया।

आगे चलकर कारखाने का काम श्रमिक के लिए लाभप्रद सिद्ध हुआ। काम के घंटे घर की अपेक्षा अधिक नहीं थे और कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों की दशा, यद्यपि आरम्भ में घृणास्पद थी, तथापि घरों की दशा से सम्भवतः उत्तम थी, जहां सम्भवतः उसी कमरे में काम करना पड़ता था जहाँ भोजन बनाया जा रहा था, कपड़े धोए जा रहे थे और बीमार बच्चों की परिचर्या की जा रही थी। कालान्तर में कारखानों में मजदूरों के सम्मेलन से श्रमिक संघों का संगठन सम्भव हो गया जिसके फलस्वरूप काम की दशा में बहुत सुधार हो गया। ऐसे संगठन का सामाजिक और राजनीतिक महत्त्व भी कम नहीं था। इससे श्रमिक वर्ग को आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों को समझकर उनमें दिलचस्पी लेने का प्रशिक्षण मिला और आगे चलकर मताधिकार और देश के शासन में भाग लेने की योग्यता प्राप्त हो गई। परन्तु यह आशा नहीं की जा सकती थी कि घर में काम करने वाला श्रमिक इन लाभों की कल्पना कर सकेगा, यद्यपि ये अन्ततः सत्य सिद्ध हुए, और वह जहाँ तक सम्भव हुआ अपनी स्वतन्त्रता से चिपका रहा।[1]

मशीनों और इंजनों के लिए लोहे की माँग से लौह उद्योग की पुनः उन्नति हुई और कोयले की आवश्यकता से खान खोदने के उद्योग की बड़ी उन्नति हुई। इनका वर्णन अन्यत्र किया गया है परन्तु यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि एक ही जिलों में कोयले और कच्चे लोहे की प्रचुरता इस समय के ब्रिटिश औद्योगिक विकास का एक महत्त्वपूर्ण कारण था।

औद्योगिक क्रान्ति दूसरे देशों की अपेक्षा इङ्गलैण्ड में जल्दी प्रकट हुई। जिन परिवर्तनों का इस अध्याय में उल्लेख किया गया है और जिनका इन पृष्ठों में अन्यत्र सविस्तार वर्णन किया गया है, अठारहवीं शताब्दी में और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में किए जा रहे थे। फ्रान्स में सम्राट् नेपोलियन के समय में भी मशीनों का प्रयोग करने का प्रयत्न किया गया, परन्तु "बुर्जुआ सम्राट्" लूई फिलीपी (१८३०-४८) के शासन-काल तक कारखाना प्रणाली विस्तृत रूप से नहीं अपनाई गई थी और नेपोलियन तृतीय (१८५२-७०) के अधीन

१. यह सम्भव है कि श्रमिकों के मिलने की कठिनाई कुछ अंशों तक निर्माताओं द्वारा बच्चों को नियुक्त करने की तत्परता का कारण बनी।

और प्रगति हुई। जर्मनी में १८७१ में जर्मन साम्राज्य की स्थापना तक आधुनिक अर्थों में उद्योगीकरण नहीं हुआ था और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दर्शक तक इस आन्दोलन ने रूस को छुआ तक नहीं। गृह-युद्ध (१८६१-५) के बाद तक संयुक्त राष्ट्र अमरीका में बड़े पैमाने पर औद्योगिक विकास नहीं हुआ।

औद्योगिक क्षेत्र में ग्रेट ब्रिटेन के प्रथम होने के कारणों की परीक्षा करनी चाहिए। औद्योगिक क्रान्ति से तुरन्त पहले के वर्षों में फ्रान्स ग्रेट ब्रिटेन का प्रधान औद्योगिक प्रतियोगी था; वास्तव में फ्रान्स ग्रेट ब्रिटेन से बहुत आगे था। ग्रेट ब्रिटेन की वर्तमान औद्योगिक विकास में प्राथमिकता के अनेक कारण बतलाए गए हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह अनेक कारणों से उत्पन्न हुआ था। एक विशिष्ट कारण जिसने इसमें सहायता पहुँचाई वह ब्रिटिश राजनीतिक और वित्तीय स्थायित्व था। १६८८ के पश्चात् इस देश का संविधान जिन सिद्धान्तों पर स्थापित किया गया था वे महाद्वीप पर उन्नीसवीं शताब्दी तक स्वीकार नहीं किए गए, और जेकोबाइट लोगों द्वारा राजनीतिक प्रगति को पीछे हटाने के प्रयत्नों की पूर्ण असफलता ने ब्रिटिश संस्थाओं की दृढ़ता सिद्ध कर दी। वालपूल (Walpole) की बुद्धिमत्तापूर्ण नीति ने देश को बहुत सम्पन्न बनाया, जिससे राजनीतिक शान्ति के साथ ही साथ वित्तीय स्थात्यिव भी प्राप्त हुआ। यह सच है कि ग्रेट ब्रिटेन को अठारहवीं शताब्दी के अधिकांश महायुद्धों में भाग लेना पड़ा किन्तु ये युद्ध महाद्वीप पर या समुद्र पर, या एशिया या अमरीका में लड़े गये थे, और इस देश के आक्रमणों से बचे रहने से औद्योगिक विकास को बड़ी सहायता मिली।

अनेक देशों में वैयक्तिक स्वातन्त्र्य के अभाव में औद्योगिक प्रगति रुक गई थी जब कि अंग्रेज लोग सोलहवीं शताब्दी से इसका आनन्द उठाते आये हैं।[1] यद्यपि फ्रान्स में फ्रान्सीसी क्रान्ति से पूर्व दासता का लगभग अन्त हो गया था, यह योरोप के विभिन्न देशों में उन्नीसवीं शताब्दी का काफी समय बीत जाने तक चलती रही। जब तक कि श्रमिक वर्ग के लोग वैधानिक रूप से भूमि से बँधे हुए थे उनका कारखानों, निर्माणशालाओं, खानों और नौ-

---

१. किसी भी दशा में १६१७ में पिग बनाम केले के निर्णय के समय से।

विश्राम स्थानों में श्रम की पूर्त्ति करने के लिए नगरों में जाकर बस जाना असम्भव था। सब देशों में वास्तविक औद्योगिक प्रगति के लिए दासता का पूर्व अन्त आवश्यक था।

ग्रेट ब्रिटेन की परिस्थितियाँ पूँजी संग्रह करने के पक्ष में थीं—जो औद्योगिक विस्तार के लिए आवश्यक मानी जाती है। विशाल व्यापारिक कम्पनियों की सफलता के फलस्वरूप उनके सदस्यों को सम्पत्ति प्राप्त हुई थी और इस प्रकार विदेशी व्यापार के लाभ से प्राप्त मुद्रा उद्योगों में लगाने के लिए उपलब्ध थी। धार्मिक प्रयोजनों के कारण बरते गए संयम और मित-व्ययिता के फलस्वरूप भी पूँजी इकट्ठी हुई। इस सम्बन्ध में सत्रहवीं शताब्दी में प्यूरिटनिज्म का और अठारहवीं में मैथोडीज्म का प्रभाव भी प्रसंशनीय था। सांसारिक सुखों में आसक्ति से घृणा की जाती थी, किन्तु व्यवसाय में सफलता एक भक्तिभावपूर्ण जीवन का साधारण परिणाम मानी जाती थी। "स्वर्ग इस संसार में असफल व्यक्तियों का निवास स्थान नहीं है।" यदि मनुष्यों को व्यवसाय में सफलता प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया जाए और साथ ही व्यर्थ के व्यय से बचने के लिए कहा जाये तो सम्पत्ति का संग्रह अवश्य होगा, और यह उद्योगों में पूँजी का कार्य करने के लिए उपलब्ध हो गई।

ग्रेट ब्रिटेन को कई प्राकृतिक गुण प्राप्त थे। उसकी भौगोलिक स्थिति संसारव्यापी व्यापार के लिये विशेष रूप से उपयुक्त थी। संसार का कोई भाग उसके जहाजों की पहुँच से बाहर नहीं था। उसके समुद्र-तट पर अति उत्तम बन्दरगाह थे और उसकी नौ-वहन योग्य नदियों के रूप में आभ्यन्तरिक परि-वहन के साधन प्राप्त थे। वहाँ की जलवायु स्वास्थ्यप्रद थी और इससे परिश्रम करने का स्वभाव बनता था। देश के कुछ भागों में यह औद्योगिक कारणों से वस्त्र-उद्योग के लिए विशेष रूप से उपयुक्त थी। प्राकृतिक साधन प्रचुर मात्रा में थे और कोयले तथा लोहे की प्रचुर पूर्ति, एक दूसरे के और समुद्र तट के निकट, औद्योगिक विकास के लिए महत्त्वपूर्ण थे। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि यदि मशीनों और भाप के इंजनों के बनाने के लिए लोहा उपलब्ध नहीं होता और यदि लोहे को गलाने और इंजनों को चलाने के लिए कोयले का अभाव होता, तो इस काल में औद्योगिक विकास नहीं हुआ होता।

औद्योगिक तरीकों और संगठन में होने वाले महान् परिवर्तनों के, जो औद्योगिक क्रान्ति के आन्दोलन में सम्मिलित माने जाते हैं, महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए। वास्तव में वर्तमान उद्योगों की कुछ विशेषतायें औद्योगिक क्रान्ति के "परिणाम" नहीं माने जा सकते। एक कारण की दूसरे पर प्रतिक्रिया मालूम करने में कठिनाई होती है, और हमेशा यह ठीक-ठीक नहीं बतलाया जा सकता कि कारण क्या है और परिणाम क्या है। परन्तु आन्दोलन से सम्बन्धित कुछ बातों का उल्लेख किया जा सकता है।

आधुनिक औद्योगिक संगठन की एक सब से महत्त्वपूर्ण विशेषता पूँजी की प्रधानता है। मध्य युग में उद्योग आधुनिक अर्थों में पूँजीवादी नहीं थे श्रेणीवालों को व्यवसाय चलाने के लिए अपने औजारों के अतिरिक्त बहुत कम आवश्यकता होती थी और यद्यपि सोलहवीं और अठारहवीं शताब्दियों के बीच में वस्त्र उद्योग का अधिक निश्चित रूप से पूँजीवादी आधार पर संगठन किया गया था तथापि उन्नीसवीं शताब्दी में स्थापित बड़े कारखानों की अपेक्षा बहुत कम पूँजी की आवश्यकता होती थी।

औद्योगिक क्रान्ति के दिनों में ग्रेट ब्रिटेन की जनसंख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। प्रथम जन-गणना १८०१ में हुई थी और भिन्न-भिन्न समयों में जनसंख्या के विषय में सही सूचना केवल उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों के लिए प्राप्त है। यह अनुमान लगाया जाता है कि राष्ट्र की जनसंख्या १७०० में पचपन लाख थी और १७५० तक यह बढ़ कर साठ लाख हो गई थी। इस समय से संख्या में वेगवत वृद्धि हुई। आगामी अर्द्ध-शताब्दी में पचास प्रतिशत वृद्धि हुई क्यों कि १८०१ की जन-संख्या नब्बे लाख थी। यह १८५१ तक दुगुनी हो गई और १९०१ तक फिर दुगुनी हो गई। औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व अधिकांश लोग देहात में रहते थे, और ग्रेट ब्रिटेन में सब से घनी आबादी दक्षिण और पूर्व के जिलों में थी। राइन के किनारे के कुछ जिलों, वेस्ट राइडिंग और लंकाशायर को छोड़ कर उत्तरी इङ्गलैण्ड बहुत कम बसा हुआ और लगभग वीरान था। औद्योगिक परिवर्तनों के फलस्वरूप उत्तर, दक्षिण वेल्स और मिडलैण्डस के कोयले और लोहे के क्षेत्रों में अधिक लोग रहने लगे और आजकल उनमें से तीन-चौथाई १०,००० से अधिक जनसंख्या वाले नगरों में रहते हैं।

उद्योगों में नए तरीकों के अपनाने से सब प्रकार की निर्मित वस्तुओं की उत्पत्ति में बहुत वृद्धि हुई। यह मशीनों के प्रयोग का साधारण परिणाम था क्योंकि मशीन थकती नहीं और एक आदमी से बहुत जल्दी काम करती है। मशीन पर काम करने वाला श्रमिक मशीन के आविष्कार से पूर्व जितनी उत्पत्ति कर सकता था उसकी दस गुनी या सौ गुनी उत्पत्ति कर सकता है। अनभिज्ञ श्रमिकों को बहुधा मशीनों का प्रयोग बुरा लगा क्योंकि वे समझते थे कि इनसे बेकारी उत्पन्न होती है और कभी-कभी ऐसे विद्रोह हुए जिनमें कारखानों पर धावा किया गया और मशीनों को तोड़ डाला गया। किन्तु मशीनों द्वारा उत्पादन करने से अन्ततः वस्तुएँ सस्ती हो गईं; माँग में वृद्धि हुई और अन्त में कम नहीं अधिक आदमियों को काम मिला। इसके अतिरिक्त मशीनों के बनाने में एक नई प्रकार के कर्मियों, इंजीनियरों, को भी काम मिला।

इस प्रकार बड़ी मात्रा में तैयार की हुई वस्तुओं का संसार के सब भागों को निर्यात होता था। ग्रेट ब्रिटेन को इस प्रकार अपने औद्योगिक प्रतियोगियों पर जो पहल मिली उससे वह अनेक दूर के देशों में व्यापार की नींव डाल सका। मंडियाँ स्थापित की गईं और ब्रिटिश माल की विदेशों में ख्याति जम गई जो तब से कभी बिगड़ी नहीं है।

औद्योगिक क्रान्ति ऐसे समय हुई जब वाणिज्यवादी विश्वासों के मूलाधार कमजोर पड़ रहे थे और इसके सिद्धान्तों का खण्डन किया जा रहा था। राज्य-निर्बाध नीति का दर्शन उन्नति पर था, और यह भावना कि आर्थिक प्रयत्नों पर राज्य का नियमन और नियंत्रण होना चाहिए समाप्त हो रही थी। विदेशी व्यापार पर विशाल अधिकार-पत्रित कम्पनियों का एकाधिकार जाता रहा और उद्योग-धन्धों पर राज्य का नियंत्रण समाप्त कर दिया गया। इस विचारों के अन्तर का श्रमिक वर्ग पर कुप्रभाव पड़ा। उनको शिल्पियों के परिनियम का संरक्षण मिलना बन्द हो गया और वे आरम्भ में स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सकते थे, क्योंकि आरम्भ में श्रमिक संघों की स्थापना करने के उनके प्रयत्न कानून द्वारा दबा दिए गए।

परिवहन के साधनों में सुधार के बिना बड़े पैमाने पर आर्थिक विकास संभव नहीं हो सकता था। इस विषय का अन्य अध्यायों में वर्णन किया गया है, किन्तु यहाँ यह कहा जा सकता है कि जब तक देश में सर्वत्र छोटे पैमाने पर उत्पादन होता था तो वस्तुओं का उत्पत्ति के स्थान के समीप ही उपयोग होता था, या यदि वे निर्यात की जाती थीं तो उनको समुद्र-तट तक पहुँचाने के लिए नदियों का मार्ग पर्याप्त था। बड़े पैमाने की उत्पत्ति के प्रादुर्भाव के साथ ही साथ परिवहन के उत्तम साधनों की आवश्यकता हुई। एक ही नगर में कई कारखानों में तैयार की हुई वस्तुओं की बड़ी मात्रा इसके बिल्कुल पड़ौस में नहीं बेची जा सकती थी, उनके लिए विस्तृत मंडी होनी चाहिए, और जितनी अधिक मात्रा में वस्तुएँ बनाई जाएँ उतनी ही विस्तृत मंडी होनी चाहिए। वास्तव में अधिकतम उत्पत्ति की अवस्था में समस्त सभ्य संसार ही मंडी होना चाहिए। भारी और बड़े आकार की वस्तुओं को लम्बी दूरियों पर ले जाने के लिए परिवहन की सस्ती सुविधाओं के बिना यह असंभव था; नहरों और रेलों का निर्माण और भाप से चलने वाले जहाजों का विकास औद्योगिक क्रान्ति के साथ ही साथ हुआ।

वास्तव में औद्योगिक क्रान्ति की दो ऐसी अवस्थाओं में अन्तर बतलाया जा सकता है जो परिवहन की सुविधाओं के विकास के साथ-साथ हुईं। पहली अवस्था में उद्योग-धन्धों को सड़कों, नदियों और नहरों पर निर्भर रहना पड़ा और अकेले आदमियों द्वारा या साझेदारी में साधारण आकार के कारखाने स्थापित किए गए। आजकल की मशीनों की तुलना में उस काल की मशीनें प्राचीन थीं और बहुधा भाप से नहीं जल शक्ति से चलाई जाती थीं। रेलों और भाप से चलने वाले जहाजों के विकास के साथ बहुत बड़े कारखाने बनाए जाने लगे और इतनी मात्रा में पूंजी की आवश्यकता होने लगी कि कम्पनियाँ स्थापित की गईं। इस प्रक्रिया में बैंकों की उन्नति और कम्पनियों के कानून के विकास से सहायता मिली। भाप से चलने वाली पेचीदा और शक्तिशाली मशीनों से संसार के सब भागों को निर्यात के लिए बड़ी मात्रा में वस्तुएँ तैयार होने लगीं।

औद्योगिक क्रान्ति के राजनीतिक परिणाम महत्त्वपूर्ण थे। अठारहवीं शताब्दी के मध्य से पूर्व संसद् उचित अंशों तक देश का प्रतिनिधित्व करती थी—वास्तव में जनसाधारण का नहीं परन्तु भू-वर्ग का, और उस समय तक कृषि देश की सम्पत्ति का प्रधान स्रोत थी। नए औद्योगिक नगरों को जो कारखाना-प्रणाली के विकास के साथ बने संसद् में प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं था और छोटे उजड़े हुए नगरों और गाँवों द्वारा लोक-सभा (House of Commons) में प्रतिनिधि भेजने तथा बड़े नगरों को यह अधिकार प्राप्त नहीं होने की नीति-विरुद्ध बात प्रति वर्ष अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि धनवान व्यापारी और निर्माता लोकसभा में प्रवेश पाने के योग्य नहीं थे। भू-वर्ग ने दीर्घ काल तक निर्माता वर्ग को राजनीतिक शक्ति में भाग नहीं देने का कठोर प्रयत्न किया, परन्तु संसदीय सुधार की माँग आगे चलकर इतनी बलवान हो गई कि इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता था।

पन्द्रहवाँ अध्याय

वस्त्र-उद्योगों में क्रान्ति

कृषि के अतिरिक्त, औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व इंगलैण्ड का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्योग ऊनी वस्त्रों का निर्माण था। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, सोलहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक यह उद्योग घरेलू पद्धति के अधीन चलता था और व्यापारियों या बजाजों के नियंत्रण में था, जिनके पास काफी पूँजी होती थी। व्यापारी लोग देहाती झोंपड़ियों में रहने वाली स्त्रियों को कातने के लिए कच्चा माल देते थे। काता हुआ माल इकट्ठा करके बुनकरों को बुनने के लिए दिया जाता था। बहुधा विभिन्न क्रियाएं एक ही झोंपड़ी में की जाती थी, बच्चे कच्चे माल को धुनते थे, स्त्रियां कातती थीं और पिता इसका कपड़ा बुनता था। वस्त्र-व्यापारी कपड़े की रंगाई और सफाई की व्यवस्था ऐसे प्रतिष्ठानों में करता था जहाँ पर बहुत से श्रमिक कार्य करते थे।

देश के कुछ भागों में विशेषकर यॉर्कशायर में, उद्योग का संगठन अन्य प्रकार का था। कारीगर, जो इतने साधन सम्पन्न थे कि एक या दो प्रशिक्षित श्रमिकों को नौकर रख सकते थे, कच्चा माल खरीद लेते थे और रँगाई तथा सफाई सहित क्रमागत सब क्रियाएं करते थे और बना-बनाया कपड़े का टुकड़ा स्थानीय वस्त्र भवन में बेच देते थे, जहाँ पर ऐसी वस्तुएं बिक्री के लिए रखी जाती थीं।

अठारहवीं शताब्दी में ऊन की कमी थी। १६६० में भी पूर्ति के अभाव से गृह उद्योग को बचाने के लिए इंगलैण्ड से ऊन का निर्यात बन्द कर दिया गया था। बढ़िया कपड़ा बनाने के लिए स्पेन से मेरीनो ऊन मँगाई जाती थी। आयरलैण्ड से भी ऊन का आयात होता था और आयरलैण्ड के निवासियों को इसे और कहीं भेजने की मनाही थी। फिर भी फ्रांस में कमी इतनी अधिक थी कि ग्रेट बिटेन और आयरलैण्ड दोनों स्थानों से चोरी से फ्रांस को ऊन

भेजना लाभप्रद था,[1] और इस अपराध के लिए कड़ी सजा दी जाती थी। निर्यात की निषेधाज्ञा १६२५ तक नहीं हटाई गई।

१६८५ में नान्टीज की राजाज्ञा (Edict of Nantes) के उठा लेने के पश्चात् बड़ी संख्या में ह्यूनों (Haguenot) श्रमिक फाँस से आ बसे और अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उनके द्वारा चलाया जाने वाला रेशम उद्योग बहुत महत्त्वपूर्ण बन गया। कच्चा रेशम भारत से, जहाँ ईस्ट इण्डिया कम्पनी इसकी उत्पत्तिं को प्रोत्साहित करती थी, और इटली से आता था। सन उद्योग का भी कुछ महत्त्व था, विशेषतः स्काटलैण्ड में, जहाँ १७७० के पश्चात्, इसको आयरलैण्ड द्वारा प्रतियोगिता से संरक्षण प्राप्त था।

अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में सूती माल का निर्माण महत्त्वपूर्ण नहीं था। रूई लीवान्ट से आती थी जहां पर फ्रांसीसी और डच व्यापारी उपलब्ध पूर्त्ति के क्रय के लिए आंग्ल व्यापारियों से प्रतियोगिता करते थे, और पश्चिमी द्वीप समूह से, जहाँ १७६३ तक अंगरेजों की स्थिति मजबूत नहीं थी। इस प्रकार पूर्त्ति अनिश्चित थी और उद्योग की उन्नति रुक गई। इसकी मन्द प्रगति का एक और कारण ऊनी और रेशमी उद्योगों में लगे हुए लोगों की और ईस्ट इण्डिया कम्पनी की शत्रुता थी, जो आरम्भ ही से भारत से सूती माल का आयात करती थी।

भारत का सूती माल इङ्गलैंड में लोकप्रिय था, और ऊनी तथा रेशमी उद्योगों के हित में, १७०० में, पोशाक या सजावट के लिए, पूर्व से छपे सूती माल का आयात बन्द कर दिया गया।[2] फिर भी सफेद सूती वस्त्र का आयात

---

१. आयरलैण्ड से फ्रांस को चोरी से ऊन भेजने का कार्य आयरलैण्ड सागर (Irish Sea) में एक जहाज से दूसरे जहाज में माल लादकर किया जाता था।

२. यह संरक्षण नीति भारतीय सूती माल के विरुद्ध आंग्ल ऊनी और रेशमी वस्त्रों के हित में अपनाई गई थी; इसका अन्ततः परिणाम यह हुआ कि इङ्गलैंड में सूती वस्त्र-उद्योग स्थापित हो गया। यदि भारत से सूती माल का व्यापार निर्बाध रूप से चालू रखा जाता तो आंग्ल उद्योग का इतनी तेजी से विकास संभव नहीं हो सकता था।

किया जा सकता था। सफेद वस्त्रों की छपाई का उद्योग स्थापित हो गया और भारतीय सूती माल का उपयोग जारी रहा। इसलिए १७२१ में एक अधिनियम पारित हुआ जिसके अधीन दिसम्बर १७२२ के पश्चात्, इङ्गलैंड में, पोशाक के लिए या सजावट के लिए, छपे हुए सूती माल का उपयोग बन्द कर दिया गया, चाहे छपाई यहाँ की गई हो या कहीं और। आँग्ल महिलाएँ जो अब भी इस माल का उपयोग करना चाहती थीं केवल सफेद सूती वस्त्र (केलिको) या मलमल का उपयोग कर सकती थीं। १७०० की मनाही पुनर्निर्यात के उद्देश्य से इङ्गलैंड को लाए गए छपे हुए सूती माल के लिए लागू नहीं होती थी, और आँग्ल व्यापारी इन वस्तुओं को पश्चिमी अफ्रीका, पश्चिमी द्वीपसमूह और अमरीका के दक्षिणी उपनिवेशों में बेच देते थे।

१७२० के पचास वर्ष बाद तक एक कपड़ा जिसमें सन और रूई का मिश्रण था इङ्गलैंड में बनाया जाता था। आंगल निर्माता ताने के लिए यथेष्ट मजबूत सूत बनाने में सफल नहीं हुए थे। और वे सन का ताना और सूत का बाना बनाते थे। १७२१ के अधिनियम के पारित होने के पश्चात् इस सामग्री के प्रयोग की वैधानिकता में कुछ सन्देह था और यह १७३६ के मैंचेस्टर अधिनियम द्वारा निश्चित रूप से वैधानिक घोषित कर दी गई। वस्त्र-उद्योग की इस शाखा के फलने-फूलने के अनेक कारण थे। आयातित सफेद सूती वस्त्रों और मलमल की प्रतियोगिता प्रभावहीन थी क्योंकि उन पर भारी कर लगे हुए थे। इसलिए व्यवहार में स्वदेश की मंडी में इस प्रकार के वस्त्र के लिए एकाधिकार हो गया, और इसके अतिरिक्त, निर्यात पर सहायता देकर इसको प्रोत्साहित किया गया।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में नए कारणों का उदय हुआ जिनसे सूती उद्योग को अधिक महत्त्व मिला। १७०७ में मुगल सम्राट् औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् भारत में दीर्घ काल तक आभ्यान्तरिक अशान्ति रही थी, इन दिनों उस देश में प्रभुत्व स्थापित करने के लिए फ्रांसीसियों और अँगरेजों में युद्ध छिड़ गया। ऐसी परिस्थितियाँ व्यवस्थित व्यापार के लिए अनुकूल नहीं थीं और भारतीय सूती माल की पूर्त्ति रुक जाने से जो आंग्ल व्यापारी उन वस्तुओं का निर्यात करना चाहते थे उनको आंग्ल उद्योगों की उत्पत्ति का सहारा लेना

पड़ा। १७७४ में इङ्गलैंड में छपे हुए सूती वस्त्रों के उपयोग पर १७२१ में लगाई गई निषेधाज्ञा उठा ली गई, जिससे सूती उद्योग के विकास के मार्ग में आने वाली औद्योगिक और वैधानिक रुकावटें एक साथ दूर हो गईं। इस उद्योग के प्रोत्साहन का चौथा कारण संयुक्त राष्ट्र अमरीका के दक्षिणी राज्यों में कपास की खेती का आरम्भ था और शताब्दी के समाप्त होने से पूर्व इस स्रोत से रूई की असीमित पूर्त्ति उपलब्ध हो गई।

सूती वस्त्र के निर्माताओं को जिस मुख्य कठिनाई का सामना करना पड़ा वह कताई के सम्बन्ध में थी। कातने वालों की संख्या बहुत कम थी, और उनका कार्य बुनकरों के कार्य के साथ नहीं चल सकता था, इसलिए, उनको सूत के अभाव में बेकार रहना पड़ता था। अठारहवीं शताब्दी के मध्य में इस समस्या पर ध्यान दिया गया और वायट (Wyatt), पॉल (Paul) और होइज (Highs) आदि ने अनेक मशीनें बनाईं। इनके प्रयत्नों को अधिक सफलता नहीं मिली, परन्तु १७६७ में जेम्स हारग्रीव्ज़ (James Hargreaves)[1] ने, जो ब्लेकबर्न का एक बुनकर था, "स्पिनिङ्ग जेनी" (Spinning Jenny) का निर्माण किया जिस पर एक साथ ग्यारह तकले घूम सकते थे। इससे बाने के लिए उपयुक्त महीन सूत तैयार होता था परन्तु ताने के लिए यथेष्ट मजबूत सूत नहीं निकलता था। आगामी कुछ वर्षों में सूत कातने के लिए 'जेनी' का साधारणतः प्रयोग होने लगा; यह हाथ से चलाई जाती थी और घरों में काम ली जा सकती थी, ताकि जहाँ इसके प्रयोग करने से सूत की उत्पत्ति में वृद्धि हुई इसके लिए घरेलू प्रणाली में परिवर्तन की आवश्यकता नहीं थी।

१७६९ में रिचार्ड आर्कराइट (Richard Arkwright) ने एक कातने की मशीन का आविष्कार किया जो सर्वथा नए सिद्धान्त पर आधारित थी, सूत बेलनों की दो जोड़ियों के बीच में से निकाला जाता था और दूसरी जोड़ी पहली की अपेक्षा द्रुत गति से चलती थी। यह दावा किया गया कि आर्क-राइट का आविष्कार वायट के आविष्कार का रूपान्तर मात्र था और कानूनी कार्यवाही की गई जिसके फलस्वरूप उसका पेटेन्ट रद्द कर दिया गया। परन्तु,

१. कुछ अधिकारी हारग्रीव्ज़ के आविष्कार का समय १७६४ और क्रोम्पटन के अविष्कार का १७७९ बतलाते हैं।

कई आविष्कर्त्ताओं के विपरीत, आर्कराइट चतुर व्यवसायी था और उसने पूँजीपतियों में अपने आविष्कार के प्रति दिलचस्पी उत्पन्न कर दी।

यह मशीन हाथ से नहीं चलाई जा सकती थी, और क्योंकि यह जल-शक्ति से चलाई जाती थी, यह "वाटर फ्रेम" (Waterframe) कहलाई। यह घरों में काम नहीं ली जा सकती थी; यह घरों में रखने के लिए बहुत बड़ी थी और घर में काम करने वाले श्रमिकों के लिए बहुत महँगी थी, और इसके लिए विशेष मकान बनाने पड़ते थे जिससे इसके प्रयोग से कारखाना प्रणाली का प्रारम्भ माना जाता है। 'वाटर-फ्रेम' से तैयार किया हुआ सूत 'जेनी' के सूत से भिन्न था। यह मजबूत और मोटा और ताना बनाने के लिए उपयुक्त होता था। १७७१ में आर्कराइट ने जदेदीह स्ट्रूट (Jedediah Strutt) की शामलात में डरबीशायर में, क्रोमफोर्ड के पास मोजे बनाने के लिए सूत तैयार करने के लिए एक कारखाना स्थापित किया, जिसके सूत से स्ट्रूट (Strutt) मोजे बनाता था। १७७६ तक क्रोम्पटन (Crompton) ने अपनी 'म्यूल' (Mule) नामक मशीन का आविष्कार किया, जिसमें 'जेनी' और 'वाटर-फ्रेम' के सिद्धान्तों को मिलाकर महीन[1] और मज़बूत सूत तैयार किया जाने लगा। अब इङ्गलैण्ड में मलमल बुनना संभव हो गया[2] (अब तक यह भारत से आयात की जाती थी)। कुछ ही समय में ऐसे 'म्यूल' बनाए गए जिन पर सैकड़ो तकले चलते थे। कई वर्षों तक "जेनी" का प्रयोग जारी रहा, क्योंकि कुटीर उद्योग का अन्त धीरे-धीरे हुआ, और कारखाने के सूत का ताना बनाना और हाथ से काते हुए सूत का बाना बनाना साधारण बात थी।

आरम्भ में 'म्यूल' हाथ से चलाए जाते थे और 'जेनियों' की तरह घरों में स्थापित किए जा सकते थे। किन्तु काम बराबर कराने की आवश्यकता से

---

१. प्रति पौंड में लच्छियों के आधार पर सूत का श्रेणीकरण किया जाता था। क्योंकि लच्छी की लम्बाई एक माप की होती थी इसलिए एक पौंड में जितनी अधिक लच्छियाँ आती थीं उतना ही सूत महीन होता था। कताई के पुराने तरीकों से महीन से महीन सूत ३०-४० नम्बर का होता था। "म्यूल" से ६० नम्बर का सूत तुरन्त काता जाने लगा और कालान्तर में ३५० नम्बर तक का सूत काता जाने लगा।

२. बोल्टन में १७६३ में भी भारत से आयातित सत की मलमलें बनाई जाती थीं।

नियोक्ताओं ने अनुभव किया कि 'जेनी' मशीनों (Jennies) और 'म्यूल' मशीनों (Mules) को कर्मशालाओं[1] में लगाना अच्छा होगा। शताब्दी के अन्त से पूर्व ये साधारणतः जल-शक्ति से चलाए जाते थे; कहीं-कहीं वाष्प-शक्ति का प्रयोग किया जाता था, परन्तु शक्ति के स्रोत के रूप में जल के स्थान पर वाष्प का उपयोग धीरे-धीरे हुआ। और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से पूर्व कपड़ों के कारखानों में वाष्प का प्रयोग सामान्य नहीं था। आरम्भ में कातने की मशीनों पर चलाने वालों को बहुत ध्यान देना पड़ता था, किन्तु १८२५ में रिचार्ड रॉबर्ट्स ने एक स्वचालित 'म्यूल' का आविष्कार किया और १८३० में इसमें सुधार किया गया।

इस नई कातने की मशीनरी के विस्तृत प्रयोग से कताई और इसके साथ की क्रिया, बुनाई, में अनुपात वदल गया। अब प्रचुर मात्रा में सूत मिलने लगा;[2] बुनकरों की बहुत माँग थी और उनकी मजदूरी बढ़ गई। पेशेवर बुनकर, जो अब तक रोजगार की अनिश्चितता से दुखी और अस्थिर जीवन निर्वाह करते थे, सम्पन्न हो गए, जबकि कुछ समय के लिए बुनाई का कार्य करने वाले, लोग जो खेती के साथ-साथ बुनाई का काम भी करते थे, अब खेती-बारी छोड़कर अपना सारा समय कपड़े बुनने में लगाना लाभप्रद समझने लगे। अच्छे बुनकारों के अभाव और इन लोगों द्वारा मांगी जाने वाली ऊँची मजदूरी ने वस्त्र-उद्योग की इस शाखा में भी मशीनों के प्रयोग को प्रोत्साहन दिया।

१७७३ में जॉन के (John Kay) ने 'फ्लाइ ग शटल' (flying shuttle) का आविष्कार कर लिया था। बुनकर ढ़रकी को एक हाथ से दूसरे में देने की बजाय इसका प्रयोग डोरियाँ खींच कर करते थे। इस तरकीब से चौड़ा कपड़ा एक आदमी द्वारा बुना जा सकता था और पहले की तरह एक के साथ दो के खड़े रहने की आवश्यकना नहीं होती थी। 'परन्तु फ्लाइङ्ग शटल' के आवि-

---

१. एक कर्मशाला और कारखाने में यह अन्तर है कि कर्मशाला में हाथ के औजार काम आते हैं जबकि कारखाने में मशीनें शक्ति से चलाई जाती हैं।

२. यह भय था कि अतिरिक्त सूत के निर्यात से महाद्वीप पर बुनाई उद्योग की स्थापना में सहायता मिलेगी।

ष्कार के समय सूत का अभाव था और कातने की मशीनों के आविष्कार होने तक इनका कोई महत्त्व नहीं था। १७८५ में एडमन्ड कार्टराइट (Edmund Cartwright) ने शक्ति से चालित करघा बनाया परन्तु यह बेढंगा और निकम्मा था। इसमें सुधार किए गए और सुधरे हुए शक्ति से चालित करघे में जो १८१५ के पश्चात् विस्तृत रूप से प्रयोग किया जाने लगा, रैडक्लिफ (Radcliff) और होरोक्स (Horrocks) सहित अनेक आविष्कर्त्ताओं और यंत्रनिर्माताओं के विचारों को स्थान दिया गया। तो भी हाथ से बुनने का कार्य कई वर्षों तक चलता रहा। जब शक्ति से बुनाई होने लगी तो बुनकरों की मजदूरी घट गई। १८१५ के पश्चात् अनेक सेना से निकाले गये सैनिकों द्वारा यह व्यवसाय अपना लेने से उनकी संख्या बढ़ गई। मजदूरी घटती गई और हाथ करघों पर काम करने वाले बुनकरों को इतनी कम मजदूरी दी जाने लगी कि नियोक्ताओं के लिए मशीनें लगाना लाभप्रद नहीं रहा। हाथ करघे की बुनाई का घर पर या कर्मशाला में इस शताब्दी के मध्य तक अन्त नहीं हुआ।

कुछ कारणों से सूती वस्त्र बनाने के लिए देश के किसी अन्य भाग की अपेक्षा लंकाशायर अधिक उपयुक्त सिद्ध हुआ। यदि कताई शुष्क जलवायु में की जाय तो रूई का धागा टूट जाता है; लंकाशायर में भारी वर्षा होती है और यहाँ का जलवायु नम होता है। पेनाइन (Pennine) और रोसनडेल (Rossendale) की घाटियों के नालों से आरम्भ में मशीनों के लिए जल-शक्ति मिल गई और भाप के इंजन के आने के पश्चात् इसको चलाने के लिए इस जिले का कोयला उपलब्ध था। लंकाशायर के जिले के लिए कच्ची रूई का आयात करने और सूती वस्त्र का निर्यात करने के लिए लीवरपूल (Liverpool) का आदर्श बन्दरगाह है। देश के अन्य भागों में इन अनुकूल परिस्थितियों में से एक या अन्य पाई जाती है; क्लाइड की घाटी के अतिरिक्त, तीनों बातें एक साथ कहीं नहीं पाई जातीं, और वहां वस्त्र-निर्माण की अपेक्षा जहाज बनाने के लिए प्राकृतिक लाभ अधिक हैं, इसलिए क्लाइड क्षेत्र ने लंकाशायर से वस्त्र निर्माण में प्रतियोगिता नहीं की है और जहाजों के बनाने में ध्यान केन्द्रित रखा है। इसलिए सूती वस्त्र के निर्माण के लिए लंकाशायर आदर्श सिद्ध हुआ है। यह उद्योग सुसंगठित है और इसकी मंडियां और व्यापार के मार्ग सुस्थापित हैं।

उत्पत्ति बहुत बढ़ गई।[१] १८१७ के पश्चात् न्यूजीलैंड (New Zealand) में भी बड़ी संख्या में भेड़ें पाली जाने लगीं और १८३० तक एन्टीपोडस (Antipodes) से काफी ऊन का आयात होने लगा। इङ्गलैंड का परम्परागत वस्त्र-उद्योग, ऊन, अठारहवीं शताब्दी में नव-आगन्तुक, रूई, द्वारा अपने स्थान से अलग हटा दिया था; १८३० के पश्चात् प्रति वर्ष इसका महत्त्व बढ़ने लगा, यद्यपि यह रूई को इङ्गलैंड के प्रमुख वस्त्र-उद्योग के रूप में अपने गौरवमय स्थान से हटाने में कभी सफल नहीं हुआ। (वर्तमान समय में ग्रेट ब्रिटेन का ऊनी वस्त्र-उद्योग पूर्णतः आस्ट्रेलिया की ऊन पर निर्भर नहीं है। ग्रेट ब्रिटेन में आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड के साथ ही साथ दक्षिण अफ्रीका और दक्षिण अमरीका से ऊन आती है, और कुछ बढ़िया ऊन स्पेन से भी आयात की जाती है। आस्ट्रेलिया के ऊन-उद्योग के तरीके दिनाप्त हैं। बड़े भेड़-क्षेत्रों में ऊन कतरने और इसके बाद की क्रियाओं के लिए विद्युत-चालित यंत्रों का प्रयोग किया जाता है। ऊन की पूरी तरह सफाई की जाती है और तन्तुओं की लम्बाई और बारीकी के आधार पर श्रेणियाँ बनाई जाती हैं, और इसका इङ्गलैंड की ऊन से अधिक मूल्य मिलता है, क्योंकि इङ्गलैंड का गडरिया इतने छोटे पैमाने पर काम करता है कि अपने आस्ट्रेलिया के प्रतियोगी के तरीकों की नकल नहीं कर सकता। आजकल अधिकांश आस्ट्रेलिया की उत्पत्ति संयुक्त-राष्ट्र अमरीका को भेजी जाती है।

सन उद्योग इङ्गलैड में कभी इतना महत्त्वपूर्ण नहीं था जितना ऊनी और रूई उद्योग। सन आयरलैंड की किसान स्त्रियों द्वारा हाथ से काता जाता था और उनको इतनी कम मजदूरी दी जाती थी कि इस कार्य के लिए मशीनें लगाना लाभदायक नहीं हो सकता था। १८४० तक सन का मशीनों से कातना साधारण हो गया; १८६० से पूर्व तक मशीनों से बुनाई साधारण नहीं हुई। ब्रिटिश द्वीपसमूह में सन उद्योग के मुख्य केन्द्र बेलफास्ट (Belfast) और डँडी (Dundee) हैं।

---

१. जॉन मैकआर्थर (John Macarthur) को १८०५ में भेड़-पालन के लिए ५,००० एकड़ भूमि, तीस सजायाफ्ता गडरियों की सेवाओं सहित, प्राप्त हुई।

रेशम-उद्योग का उल्लेख किया जा चुका है, जो शताब्दियों से इङ्गलैंड में विद्यमान था, और जो सत्रहवीं शताब्दी के अन्त के दिनों में बहुत महत्त्वपूर्व हो गया था, जब ह्यूग्नो शरणार्थी बड़ी संख्या में इस देश में बस गये थे। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, अठारहवीं शताब्दी में यह इतना प्रभावशाली था कि ऊनी उद्योग के साथ मिलकर, सूती वस्त्रों के व्यापार के विरुद्ध अधिनियम पारित करा सका। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में रेशमी वस्त्र बनाने के लिए मशीनें बनाई गईं, और निषेधाज्ञाओं और भारी करों द्वारा इस उद्योग को संरक्षण दिया गया, किन्तु ये चोरी से किए जाने वाले व्यापार के कारण पूर्णत: प्रभावोत्पादक नहीं हुआ। हस्कीसन (Huskisson) द्वारा कर घटा दिए जाने पर भी रेशमी वस्त्र-उद्योग सफलतापूर्वक चलता रहा, परंतु १८६० में कर उठा लिये जाने पर फ्रांसीसी प्रतिस्पर्धा के कारण इसकी अवनति हुई।

रूई, ऊन या सन का कपड़ा बुन लिये जाने के पश्चात्, बिक्री से पूर्व अन्य क्रियाएँ करनी पड़ती थीं। बिना धुले हुए कपड़े की सफाई (bleaching), रंगाई (dyeing), छपाई (printing) और चमकाई (finishing) करनी पड़ती थी। जब सूती वस्त्र हाथ से काता-बुना जाता था तो सफाई के लिए इसको कुछ महीनों के लिए धूप और हवा में सुखा दिया जाता था; यह स्पष्ट है कि बड़े पैमाने पर बनाए हुए सूती माल के साथ ऐसा करना असंभव है। प्रत्येक कारखाने के लिए कपड़े सुखाने के लिए सैकड़ों एकड़ भूमि की आवश्यकता हो सकती थी। सौभाग्य से उद्योग की उन्नति के लिए क्लोरीन से सफाई की क्रिया का आविष्कार हुआ; इस प्रकार कुछ ही दिनों में सूती वस्त्रों की सफाई संभव हो गई। नए रंगों का आविष्कार औद्योगिक क्रांति के समय से अब तक बराबर चला आया है। थामस बैल (Thomas Bell) द्वारा बेलनों द्वारा छपाई की क्रिया के आविष्कार से सूती वस्त्रों की छपाई में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। धातु के बेलन की सतह पर नमूना खोद दिया जाता था और इस पर कपड़ा दौड़ाया जाता था; इस प्रकार बार-बार नमूना कपड़े पर आ जाता था और कपड़ा पूरी तरह से भर जाता था।

वस्त्र उद्योग सम्बन्धी आँकड़ों से उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम साठ वर्षो में उनकी निरन्तर प्रगति प्रकट होती है। इस अध्याय में वस्त्र उद्योग में लगाए गए यंत्र-सम्वन्धी आविष्कारों का वर्णन करना असंभव है, परन्तु "रिंग-स्पीनिंग फ्रेम" (ring-spinning-frame) जिसका आविष्कार लगभग १८३० में हुआ (यद्यपि इसका पूरी तरह से उपयोग १८६० के पश्चात् होने लगा), हीलमैंन (Heilmann) की रूई सँवारने की मशीन (१८४७), और होल्डन (Holden) की (१८४८) और नारथ्रोप का करघा जिसका इसी शताब्दी में आगे चल कर आविष्कार हुआ—उल्लेखनीय है। वस्त्र-उद्योग की प्रत्येक क्रिया में मशीनों का प्रयोग किया जाता है और उद्योगों में बहुत विशिष्टीकरण है। कताई और बुनाई अलग-अलग कारखानों में की जाती है और कुछ कातने वाले कारखाने केवल कुछ श्रेणियों का सूत ही तैयार करते हैं। यार्कशायर (Yorkshire) में बहुत कुछ स्थानीय विशिष्टीकरण है। ब्रेडफोर्ड (Bradford) लम्बे रेशोंवाली ऊन वारस्टेड कातने का केन्द्र है, जिसका अधिकांश भाग लीसेस्टर (Leicester) के मोजे-बनियान बनाने के उद्योग में काम में आने को भेजा जाता है। साधारण ऊन की कताई-बुनाई हडर्सफील्ड (Huddersfield) में होती है। 'शोडी' (Shoddy) ड्यूजबरी (Dewsbury) में बनाया जाता है और 'ट्वीड' (tweeds), कोलने की घाटी (Colne Valley) में बनाई जाती है। सूती और ऊनी दोनों प्रकार के वस्त्रों में सफाई और रंगाई का कार्य अलग उद्योगों में होता है।

अमरीका के गृह-युद्ध के दिनों में सूती वस्त्र-उद्योग को भारी धक्का लगा। संघीय नौ-सेना द्वारा दक्षिणी बन्दरगाहों की नाकाबन्दी (blocade) से लंकाशायर को कच्चा माल आना वन्द हो गया। दूसरे स्थानों से सामग्री मँगवाकर उद्योग को चालू रखने के प्रयत्न किए गए, परन्तु इनकी यथेष्ट पूर्त्ति नहीं हुई। मिलें बन्द कर दी गईं, मालिक वित्तीय कठिनाइयों में फँस गए और बेकार श्रमिकों को बहुत कष्ट उठाना पड़ा। जिन प्रश्नों को हल करने के लिए अमरीकी युद्ध लड़ा जा रहा था उनके महत्त्व और विशालता को समझते हुए साहस और स्थिरता से और बिना किसी प्रकार की अशान्ति के इन कठिनाइयों को सहन करने का श्रेय उन्हीं को है। पूर्व स्थिति पर पहुँचने की क्रिया मन्द

थी। कई दक्ष श्रमिक दूसरे व्यवसायों में चले गए और कुछ देश छोड़ गए। बाद में जब रूई की पूर्त्ति बढ़ गई और नए श्रमिक आए तो वे पुराने श्रमिकों के समान सुदक्ष नहीं थे। अन्य वस्त्र-उद्योगों की उन्नति हुई परन्तु लंकाशायर को कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ीं। अल्स्टर (Ulster) के सन उद्योग और पश्चिम राइडिंग (West Riding) के ऊनी वस्त्र-उद्योग ने बहुत उन्नति की।

रूई के अकाल के परिणामस्वरूप उद्योग द्वारा पूर्त्ति के अकेले स्रोत पर निर्भर करने की अवांछनीयता की ओर ध्यान गया। अमरीकी गृह-युद्ध से कुछ वर्ष पूर्व लंकाशायर के निर्माताओं ने भारत में, नेटाल में और आस्ट्रेलिया में बड़ी मात्रा में कपास की खेती को प्रोत्साहन देने की संभावना पर विचार किया था, परन्तु परिवहन की कठिनाइयों के कारण कुछ भी नहीं किया गया था। भारतीय औपनिवेशिक रेलों के बनने से यह कठिनाई कुछ कम हुई और इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत और मिश्र से काफी मात्रा में रूई आई। मिश्र की लम्बे रेशों वाली रूई अमरीकी रूई के समान उत्तम मानी जाती थी और लंकाशायर के उद्योग के लिए विशेष रूप से उपयुक्त थी।

बीसवीं शताब्दी में पूर्त्ति के अभाव के भय से १६२० में आंग्ल रूई-उत्पादन संघ (British Cotton-growing Association) की स्थापना हुई। इस संस्था ने ब्रिटिश साम्राज्य के विभिन्न उष्णकटिबन्ध के प्रान्तों में रूई के उत्पादन को प्रोत्साहन देने में बड़ी राशि व्यय की है। भारत में एक प्रकार की सुधरी हुई रूई की उत्पत्ति की गई है। पश्चिमी द्वीपसमूह के उत्पादन में वृद्धि हुई है और नाईजीरिया (Nigeria), उगन्डा (Uganda) तथा सूडान (Sudan) में सम्पन्न रूई उत्पादन उद्योग की स्थापना हो गई है।

हाल के वर्षों में लकड़ी के गुद्दे, रूई, कागज और अन्य वस्तुओं का बना हुआ कृत्रिम रेशम बड़ी मात्रा में उत्पन्न किया गया है। यह वस्त्र दीखने में आकर्षक है, टिकाऊ है और इसका मूल्य साधारण है। पोशाक और सजावट सम्बन्धी अनेक कार्यों के लिए यह रूई और सन का स्थान ले रहा है। मंडी में इसके आ जाने से अन्य वस्त्रों की माँग पर प्रभाव पड़ा, और यह भविष्यवाणी करना असंभव है कि यह उनको किन अंशों तक उठा देगा।

सोलहवाँ अध्याय

कोयला

औद्योगिक क्रान्ति के अन्तर्गत जो एक मूलभूत परिवर्तन हुआ वह हाथ के काम के स्थान पर मशीन द्वारा उत्पादन था। मशीनें शक्ति से चलाई जाती थीं, और आरम्भ में यह बहते हुए पानी से चलती थीं; कालान्तर में शक्ति के स्रोत के रूप में वाष्प की उत्तमता ज्ञात हुई और इसके प्रयोग से इंजनों और मशीनों के निर्माण के लिए लोहे की माँग हुई और इनको चलाने के लिए कोयले की आवश्यकता हुई।[१] ग्रेट ब्रिटेन में कोयले और लोहे की प्रचुरता थी; यदि ऐसा नहीं होता तो उसको औद्योगिक प्रधानता नहीं मिल सकती थी।

कुछ अंशों तक शताब्दियों से कोयले का घरेलू कार्यों के लिए प्रयोग होता था; यदि इसके परिवहन की कठिनाई बहुत अधिक नहीं होती तो इसका अधिक विस्तृत प्रयोग हो सकता था। अठारहवीं शताब्दी में अन्य प्रकार की ईंधन के बढ़ते हुए अभाव से इसकी बड़ी माँग हो गई, और कालान्तर में विभिन्न दिशाओं में इसकी उपयोगिता स्वीकार की गई। नगरों की उन्नति के साथ, घरेलू कार्यों के लिए और, वाष्प इंजन के आविष्कार के पश्चात्, इसको चलाने के लिए, कोयले की बड़ी माँग हुई। उन्नीसवीं शताब्दी में रेलें और भाप से चलने वाले जहाज कोयले के बिना कार्य नहीं कर सकते थे। बहुत दिनों तक यह कच्चे लोहे को गलाने के लिए उपयुक्त नहीं माना जाता था, क्योंकि कोयले की गन्धक लोहे से मिलकर उसको कुरकुरा बना देती थी,

---

१. रोम के समय में भी कोयला खानों से खोदा या निकाला जाता था। संभवतः सैक्सन और नोर्मन समय में बहुत कम खानें खोदी गईं, परन्तु तेरहवीं शताब्दी में टीने (Tyne) के क्षेत्र में उद्योग की उन्नति हुई, और समुद्र का कोयला जहाजों से इङ्गलैण्ड भेजा जाता था जहाँ पर यह मुख्यतः घरेलू कार्यों के लिए काम आता था। चौदहवीं शताब्दी तक नोर्दम्बरलैण्ड, डरहम, यॉर्कशायर, लंकाशायर, स्टेफोर्डशायर और दक्षिण वेल्स में कोयले का प्रयोग होने लगा था। कालान्तर में कोयले का महाद्वीप को निर्यात होने लगा।

किन्तु, जैसा कि आगामी अध्याय में वर्णित है, जब डारबी (Darby) ने कोयले को गालने की भट्टियों में काम में लेने से पूर्व कोक (Coke) के रूप में बदल दिया तो समस्या हल हो गई।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से कोयले की राल (Coaltar) में जो 'कोक' बनाने की किया की एक उपोत्पत्ति है, पाये जाने वाले पदार्थों को अलग करने और उनका उपयोग करने में बड़ी प्रगति हुई है। १८५६ में विलियम हेनरी परकिन्स (William Henry Perkins) ने कोयले की राल से विनीली रंग तैयार करने का तरीका निकाला, और इस प्रकार वस्त्र-उद्योग के विकास से सम्बन्धित एक बड़े महत्त्वपूर्ण उद्योग की स्थापना की। आजकल कोयले से अनेक रंग, औषधियाँ, सार, सुगंधित पदार्थ, विलायक पदार्थ, तेल, उर्वरक पदार्थ (खाद) आदि निकाले जाते हैं और छत डालने, सड़क बनाने, और भाचित्र कला (photography) में काम में आने वाले पदार्थों के लिए भी वर्तमान उद्योग कोयले के ऋणी हैं।

कोयले की खानें खोदने का उद्योग एक प्रथम श्रेणी का उद्योग बन सका, इसके पूर्व कई कठिनाइयों पर विजय प्राप्त की गई। खान खोदना कुआँ खोदने के समान है। चारों ओर की भूमि में से पानी खान में भर आता है और जब तक बराबर पानी बाहर नहीं निकाला जाये कोयले की खान में काम नहीं किया जा सकता। अठारहवीं शताब्दी से पूर्व पानी हाथ से निकाला जाता था। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में न्यूकोमेन (Newcomen) ने एक भाप के इंजन का आविष्कार किया जो पानी निकालने के काम में आता था; इस शताब्दी के अंत के दिनों में जेम्स वाट (James Watt) द्वारा आविष्कृत सुधरे हुए इंजन ने इसको हटा दिया। वाष्प-चालित इंजनों से पानी निकालने से गहरी खानें खोदना सम्भव हो गया।

जैसा कि सुविदित है, कोयला परतों (Seams) में पाया जाता है और खोदने वाले का काम पूरी परत को निकालना होता है। इससे परत के ऊपर की छत के गिरने का भय रहता है जब तक कि इसको ठहराने की व्यवस्था नहीं की जाती। अठारहवीं शताब्दी में "स्तम्भ-और-पोल प्रणाली" (Pillar-and-Stall System) अपनाई गई जिसके अनुसार परत में प्रवेश

करते समय कहीं-कहीं कोयले के स्तम्भ छोड़ दिये जाते थे। जब पूरी परत खोद ली जाती थी और छोड़ने का समय आता था, ये स्तम्भ भी हटा दिये जाते थे। स्तम्भ-और-पोल प्रणाली अब भी प्रयुक्त की जाती है, परन्तु कई स्थानों पर इसकी बजाय लम्बी-दीवार प्रणाली (Long-Wall System) का भी रिवाज है। इस प्रणाली में पूरी परत पर एक साथ काम किया जाता है, परन्तु इसमें भी छत को गिरने से बचाने के लिए समान रूप से सावधानी रखना आवश्यक है। १८१० के पश्चात् काम के स्थान पर छत को सहारा देने के लिए मजबूत लकड़ी के स्तम्भ लगाने का रिवाज हो गया।

१९३७ में हवा निकालने के पंखों (Exhaust Fan) के आविष्कार से पूर्व खानों में हवा के आने-जाने का प्रबन्ध करने की समस्या बड़ी कठिन थी।[1] आजकल प्रत्येक खान में दो प्रवेश-मार्ग (Shafts)[2] होते हैं और सब दहलान दोनों मार्गों से सम्बन्धित होते हैं। एक मार्ग से पंखों द्वारा हवा ऊपर की ओर

---

१. कोयले की परतों में से निकलने वाली वातियों (gases) में प्रोदीन्य (methane) भी होती है जिसको साधारणतः कच्छ-वाति या "मार्श गैस" (CH_4) कहते हैं; यह दाह्य-निवाति (fire-damp) या आग पकड़ने वाली होती है; इसमें पाँच या छः प्रतिशत वायु मिलकर उत्स्फोटी मिश्रण बन जाता है। जब कोई विस्फोट होता है तो प्रांगार द्विजारेय या "या कारबन डाइऑक्साइड" (Co_2) बन जाती है; इससे दम घुटने लगता है और इसको पश्च-निवाति (after-damp) कहते हैं। काल-निवाति (choke-damp) में प्रांगार द्विजारेय हो सकती है या प्रांगार-एकजारेय-कारबन मोनो ऑक्साइड (CO),, जो विषैली होती है। प्रांगार-एक जारेय की उपस्थिति इन्द्रिय-ज्ञान से ज्ञात नहीं की जा सकती; इसके परिणाम भयानक, और बहुधा घातक होते हैं। बहुधा अंगार-धूलि (coal dust) और वायु के मिश्रण से विस्फोट हो जाते हैं। इस कारण से होने वाले विस्फोट का भय एक बारीक चूर्ण के रूप में चूर्णानु प्रांगरीय—केलशियम कारबोनेट ($Ca\ Co_3$) के छिड़कने में न्यूनतम हो जाता है, जो निरोधक का काम करता है।

२. १८६२ के पश्चात् प्रत्येक खान में दो मार्गों का होना अनिवार्य कर दिया गया। १८८७ में यह कानून और मजबूत और विस्तृत कर दिया गया। कई खानों में दो से अधिक मार्ग होते हैं।

भेजी जाती है, फलस्वरूप दूसरे मार्ग से हवा नीचे को जाती है और दहलानों को पार करती हुई निकलती है। वायु के आने-जाने की समस्या से जुड़ी हुई प्रकाश की समस्या है, क्योंकि कोयले से निकलने वाली दाह्य-निवाति (fire-damp) उत्स्फोटी होती है और खानों में नंगी बत्तियों का प्रयोग भयानक होता है। फिर भी लौ को पूर्णत: ढका नहीं जा सकता, क्योंकि इसको जलती रखने के लिए जारक (Oxygen) की पूर्ति आवश्यक होती है। १८१५ में सर हम्फरी डेवी (Sir Humphry Davy) द्वारा उनके नाम से विख्यात लैम्प के आविष्कार से यह कठिनाई भी दूर हो गई। इस लैम्प के बनाने में तारों की जाली के प्रयोग से वायु लौ तक पहुँच सकती है, और क्योंकि लौ ठंडी जाली से बाहर को नहीं जाती इसलिए बाहर की गैसें (gases) आग नहीं पकड़ सकतीं। अभी हाल के वर्षों में अधिक महत्त्वपूर्ण दहलानों को प्रकाशित करने के लिए बिजली की रोशनी का प्रयोग किया जाने लगा है। खान के जिन स्थानों में तार नहीं खींचे गए हैं वहाँ ऐसे बिजली के लैम्प काम में लिये जाते हैं जो एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाए जा सकते हैं, परन्तु एक या दो लौ वाले लैम्प भी रखे जाते हैं जिससे कि जाली के भीतर जलने वाली गैस (gas) की "टोपी" से दाह्य-निवाति की उपस्थिति ज्ञात हो सके।

कोयले को सतह पर लाने की भी एक और कठिनाई थी जो उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग मध्य तक दूर नहीं हुई। कभी-कभी इस कार्य के लिए भाप से चलने वाले इंजनों का प्रयोग किया जाता था,[1] परन्तु इस कार्य में प्रयुक्त पटुवे के बने हुए रस्से (cables) खर्चीले और अधिक टिकाऊ नहीं थे। कई खानों के बाजुओं में सीढ़ियाँ बाँध दी जाती थीं और स्त्रियों और बच्चों द्वारा उनके कन्धों पर लटकी हुई टोकरियों में कोयला बाहर लाया जाता था। १८३९ में तारों के बने हुए रस्सों के आविष्कार से कोयला निकाल के इस प्राचीन ढंग के बिना काम करना संभव हो गया और १८४२ में खानों में स्त्रियों और बच्चों को काम पर लगाना कानून द्वारा निषिद्ध कर दिया गया।

---

१. कहा जाता है कि खान में से कोयला निकालने के लिए १७८४ में बनाये गये एक बोल्टन और वाट के इंजन का अस्सी वर्षों तक प्रयोग होता रहा।

एक और कठिनाई जो खान खोदने में उत्पन्न होती है वह गहराई में जाने पर तापक्रम में वृद्धि की है। यह वृद्धि समान रूप से नहीं होती है; इसका औसत प्रति बीस गज गहराई पर एक अंश फैरनहाइट होता है। यह कारण गहराई की एक सीमा उपस्थित करता है जिससे नीचे खान खोदना अव्यावहारिक होता है। फिर भी खान में पहुँचाई जाने वाली हवा को कृत्रिम साधनों से ठंडी करके तापक्रम घटाया जा सकता है।

पहले के समय में परिवहन की कठिनाई से होने वाले व्यय के कारण कोयले की माँग सीमित थी। जब कहीं सम्भव होता यह समुद्र के मार्ग से भेजा जाता था; न्यूकासल से लंदन को कोयला भेजने में बहुत कम कठिनाई होती थी। किन्तु जो नगर समुद्र-तट या नौ-तार्य नदियों से दूर थे उनको कोयला मँगवाने में कठिनाई होती थी। कोयला बहुधा खच्चरों या घोड़ों पर झावों में ले जाया जाता था, इस तरीके से परिवहन-व्यय बहुत बढ़ जाता था। नहर-प्रणाली के निर्माण में और आगे चल कर रेलों का जाल बिछ जाने से, देश के सब भागों को, बिना भारी खर्चे के, कोयला भेजना सम्भव हो गया।

उन्नीसवीं शताब्दी में सतह के पास की परतों के खतम हो जाने से गहरी खानें खोदी जाने लगीं[1] और यह विचार नहीं किया जाना चाहिये कि कोयला खोदने में गहराई की सीमा पायी जा चुकी है। बाजुओं को खोदने की प्रथा बढ़ गई है और दो-दो मील लम्बी सुरङ्गें पाई जाती हैं। कोयला काटने की मशीनों का प्रयोग किया जाने लगा है और मानव-श्रम की आवश्यक मात्रा को घटाने के लिए विभिन्न यंत्रों का प्रयोग किया जा रहा है।

अठारहवीं शताब्दी में और उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में शासन, जनता या खान के स्वामियों द्वारा खानों में काम करने वाले श्रमिकों की दशा पर बहुत कम ध्यान दिया जाता था। पुरुष, स्त्रियाँ और बच्चे प्रति दिन तेरह और चौदह घंटों तक भूमि के नीचे काम करते थे—पुरुष कोयला खोदते थे

---

१. न्यूकोमेन के इंजन के आविष्कार से पूर्व कोई खान एक सौ बीस गज से अधिक गहरी नहीं थी। आजकल एक हजार गज की गहराई असाधारण नहीं है; इङ्गलैण्ड में बारह सौ गज से अधिक गहराई की एक खान खोदी गई है और बेलजियम में चार हजार फुटों की गहराई तक खानें खोदी जाती हैं।

और स्त्रियाँ और बच्चे इसको रास्तों से निकालकर सतह पर ले जाते थे। अन्य व्यवसायों की अपेक्षा मजदूरी अधिक थी और भूमि के नीचे काम करने वाले श्रमिकों को, कुछ अन्य व्यवसायों में लगे हुए श्रमिकों की तरह, कुपोषण सहन नहीं करना पड़ा। खान खोदने का कार्य स्वास्थ्य-नाशक नहीं माना जाता था, यद्यपि यह भयप्रद था और बहुधा गम्भीर दुर्घटनाएँ हुआ करती थी।[1]

अठारहवीं शताब्दी में इङ्गलैण्ड की अपेक्षा स्काटलैण्ड में खान खोदने वालों की दशा अधिक खराब थी। उनको अपनी स्त्रियों और बच्चों के साथ खानों में काम करने के लिए बाध्य किया जाता था; वे छोड़कर नहीं जा सकते थे और यदि वे भाग जाते तो उनको कैद किया जा सकता था और जेल में भेजा जा सकता था। उनके गलों में पीतल की कण्ठियाँ बाँध दी जाती थीं जिन पर उनके नियोक्ताओं के नाम खुदे रहते थे। यदि कोई खान बेच दी जाती थी तो इसके साथ ही इसमें काम करने वाले श्रमिक भी बेच दिये जाते थे। यह दशा मध्य काल में आँग्ल दास-प्रथा से भी बुरी थी, क्योंकि एक वर्ष और एक दिन तक कैद नहीं होने पर बाद में दास (Serf) पर अधिकार नहीं किया जा सकता था, परंतु स्काटलैण्ड की खानों में काम करने वाले श्रमिक इस प्रकार स्वतंत्रता प्राप्त नहीं कर सकते थे। वे दास (Serfs) नहीं गुलाम (Slaves) थे। उनकी सामान्य मजदूरी, पुरुषों की दस पैंस और स्त्रियों की तीन पैंस प्रतिदिन थी। अठारहवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में यह पद्धति कुछ शिथिल हो गई, परंतु इस शताब्दी के अंत तक इसका पूर्णतः अंत नहीं हुआ।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, १८४२ में दस वर्ष से कम के लड़कों और स्त्रियों तथा किसी भी उम्र की लड़कियों द्वारा खानों में कार्य निषिद्ध कर दिया गया और १८५० में खानों के निरीक्षण की पद्धति स्थापित की गई। १८६० में, १८७२ में और पीछे के कुछ वर्षों में कोयले की खानों के नियमन के लिए अधिनियम (Coal Mines Regulation Acts) पारित हुए और १८८१ में गृह-सचिव को खानों में होने वाली दुर्घटनाओं के

---

१. १८१५ से पूर्व भू-गर्भ में मारे गये खान खोदने वाले श्रमिकों के बारे में कोई जाँच नहीं की जाती थी।

कारणों की जाँच करने का अधिकार दे दिया गया। १८६६ में सुरङ्ग लगाने में काम आने वाले विस्फोटक पदार्थों के सम्बन्ध में एक अधिनियम पारित हुआ। १६०८ में पारित आठ घंटों के अधिनियम (Eight Hours Act) ने खानों में काम के घंटे आठ सीमित कर दिए। समय-समय पर न्यूनतम आयु जिस पर लड़कों को भू-गर्भ में कार्य करने की आज्ञा दी जाती थी, बढ़ाई गई।[1] १६११ के कोयले की खानों के नियमन अधिनियम (Coal-Mines Regulations Act) में कोयले की खानों से सम्बन्धित समस्त विधियों की संहिता बना दी गई। इस अधिनियम के अन्तर्गत (जिसका १६१४ के एक और अधिनियम द्वारा संशोधन किया गया था) प्रवेश मार्गों, छतों के सहारों और मशीनों की व्यवस्था, विस्फोटक पदार्थों के प्रयोग, हवा के आने-जाने का प्रबन्ध, सुरक्षा सम्बन्धी सावधानियाँ, दुर्घटनाओं सम्बन्धी प्रक्रिया और खानों के निरीक्षण सहित कई विषय सम्मिलित थे।

इनसे खानों में काम करने वाले श्रमिकों को संतोष नहीं हुआ और १६१४–१८ के युद्ध के पश्चात्, एक उच्च न्यायालय के न्यायाधीश, सर जॉन सैंके (Sir John Sankey) की अध्यक्षता में एक राजकीय आयोग (Royal Commission) इस उद्योग में प्रचलित अवस्थाओं की जाँच करने के लिए नियुक्त किया गया। १६१६ में इस आयोग के उपविभागों ने तीन अन्तरिम प्रतिवेदन प्रस्तुत किए। प्रथम प्रतिवेदन में काम के घंटों को तुरन्त घटाकर सात प्रतिदिन करने और अन्ततः काम का दिन ६ घंटे करने के साथ ही मजदूरी बढ़ाने के अतिरिक्त खानों के स्वामित्व की वर्तमान पद्धति की आलोचना की गई और दबे हुए शब्दों में यह सिफारिश की गई कि खानों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाना चाहिए; दूसरे, प्रतिवेदन में और भी आगे बढ़ कर मजदूरी में तीस प्रतिशत वृद्धि के साथ तुरन्त छः घंटों के दिन का सुझाव

१. यह १८७२ में बारह, १६०० में तेरह और १६११ में चौदह कर दी गई। जब १६४४ के शिक्षा अधिनियम (Education Act) की पाठशालाओं में उपस्थिति सम्बन्धी व्यवस्थाएँ पूर्णतः व्यवहार में आने लगेंगी तो सोलह वर्ष से कम की उम्र वाले किसी लड़के के लिए कोयले की खान में कार्य करना वैधानिक नहीं होगा।

दिया गया और खुले रूप से राष्ट्रीयकरण की सिफारिश की गई, तीसरे प्रतिवेदन में राष्ट्रीयकरण और काम के घंटों में कमी का विरोध किया गया और मजदूरी के विषय पर कुछ भी सिफारिश नहीं की गई। १९२० में प्रकाशित अन्तिम प्रतिवेदन में आयोग के अध्यक्ष ने राष्ट्रीयकरण—राज्य द्वारा खानों के क्रय—की सिफारिश की। सरकार ने इन सिफारिशों में से किसी पर अमल नहीं किया, यद्यपि इसकी निष्क्रियता को तीसरे अन्तरिम प्रतिवेदन की मौन स्वीकृति माना जा सकता है, और कई वर्षों तक खान खोदने के उद्योग की दशा अव्यवस्थित रही।

बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक के आरम्भ में औद्योगिक मन्दी के कारण कोयले की माँग घट गई जिसके फलस्वरूप खान खोदने वालों में बेकारी बढ़ गई। खानों के स्वामियों ने यह दलील दी कि कोयले का मूल्य कम करने की आवश्यकता थी और यह केवल मजदूरी घटा कर किया जा सकता था। खान खोदने वालों द्वारा इसका विरोध स्वाभाविक था और जुलाई १९२५ से अप्रैल १९२६ के बीच में मजदूरी को वर्तमान स्तर पर रखने के लिए राज्य सहायता की व्यवस्था मात्र से हड़ताल टाली गई। एक और राजकीय आयोग ने, इस बार सर हरबर्ट सेम्युअल (Sir Herbert Samuel)—आगे चल कर लार्ड सेम्युअल—की अध्यक्षता में, इस उद्योग की स्थिति का सिंहावलोकन किया। इसने राज्य सहायता की निन्दा की और इसके बन्द करने की सिफारिश की, किन्तु इसने जिन भू-स्वामियों की भूमि के नीचे कोयला खोदा जाता था उनको मिलने वाले अधिकार-शुल्क (royalty) के राज्य द्वारा क्रय का समर्थन किया; इसने साढ़े सात घंटों के काम के दिन, खानों के मुँह पर स्नानालयों, सवेतन वार्षिक छुट्टियों और लाभ-बटाई योजना की स्थापना की सिफारिश की; परन्तु इसने खानों के राष्ट्रीयकरण का सुझाव नहीं दिया और इसकी यह मान्यता थी कि वे निजी स्वामित्व और प्रबन्ध में रहनी चाहिएँ।

इस अन्तिम निर्णय ने सेम्युअल प्रतिवेदन को खान खोदने वालों के लिए अस्वीकार करने योग्य बना दिया। वे सैन्की आयोग के समय ही से निजी स्वामित्व के अन्त की आशा कर रहे थे। इसी समय प्रधान मंत्री, श्री बाल्डविन ने घोषणा की कि अप्रैल, १९२६, के अन्त में राज्य सहायता बन्द कर दी जायगी।

खानों के स्वामियों ने घोषणा की कि मजदूरी घटा दी जाएगी और श्रमिकों ने कार्य बन्द कर दिया ।

खान खोदने वालों की सहानुभूति में देश के सब बड़े उद्योगों में आम हड़-ताल आरम्भ की गई; परन्तु एक सप्ताह से कुछ अधिक चलकर आम हड़ताल टूट गई । खान खोदने वाले कई सप्ताह तक बिना काम के रहे । परन्तु अन्त में उनके साधन समाप्त हो जाने पर वे मालिकों की शर्तों पर काम पर लौटने को बाध्य हुए । १९२६ के कोयले की खानों के अधिनियम (Coal Mines Act) ने भू-गर्भ में प्रतिदिन एक घंटा अधिक कार्य करने की अनुमति दे दी, यद्यपि उसी वर्ष के एक दूसरे अधिनियम, खान खोदने के उद्योगों के अधिनियम (Mining Industries Act) ने सेम्युअल आयोग की कुछ सिफारिशों को अपना लिया ।

कालान्तर में खानों में काम की दशा में सुधार हुआ, परन्तु खान खोदने वाले असन्तुष्ट बने रहे और यह स्पष्ट हो गया कि जब तक खानें निजी स्वामित्व में रहेंगी वे कभी सन्तुष्ट नहीं होंगे । उनकी दीर्घकाल से स्थगित आशा १९४५ में मजदूरदलीय सरकार की स्थापना के बाद ही पूरी हुई । १९४६ में कोयले की खानों के राष्ट्रीयकरण का अधिनियम (Coal Mines Nationalization Act) पारित हुआ । ईंधन और शक्ति के मंत्री द्वारा नियुक्त नौ व्यक्तियों का एक राष्ट्रीय कोयला मंडल (National Coal Board) खानों को अपने अधिकार में लेने के लिए स्थापित किया गया और खानों के मालिकों को मुआ-वजा देने की एक योजना बनाई गई । राष्ट्रीय कोयला मंडल को खानों को चलाने और औद्योगिक और घरेलू उपभोक्ताओं को कोयले की पूर्ति करने का उत्तरदायित्व दिया गया और इसने विभिन्न सम्बन्धित और सहायक उद्योगों को भी अपने नियंत्रण में ले लिया । यह अधिनियम पहली जनवरी १९४७ से लागू हुआ, खान खोदने वालों ने यह दिन एक ऐसी पद्धति के फन्दे से छुटकारे के दिन के रूप में मनाया जिससे वे घृणा करते थे ।

जब तक खानें निजी स्वामित्व में रहीं कुछ लोगों के लिए प्रत्येक सप्ताह एक या दो या अधिक दिनों के लिए भी अनुपस्थित रहना साधारण बात थी । "अनुपस्थितवाद" ने एक गम्भीर समस्या का रूप ले लिया; इससे सतह पर

लाए गए कोयले की मात्रा में बहुत कमी हो जाती थी। मई १९४७ में, कोयले की खानों के राष्ट्रीयकरण के अधिनियम (Coal Mines Nationalization Act) के लागू होने के चार महीनों बाद, इस उद्योग में पाँच दिनों का सप्ताह आरम्भ किया गया।[1] खान खोदने वालों को सप्ताह में केवल पाँच दिन काम करना पड़ता था और उनको उतनी ही मजदूरी दी जानी थी जितनी वे पहले ६ दिनों में कमाते थे। यह आशा की जाती थी कि अनुपस्थित रहने की प्रवृत्ति घट जाएगी और प्राप्त होने वाले कोयले की मात्रा कम नहीं होगी। इन पंक्तियों के लिखने के समय तक यह कहना सम्भव नहीं कि क्या यह आशा पूरी हो जाएगी।

---

१. १९४७ की शरद् ऋतु में जितना कोयला निकाला जा रहा था उससे अधिक की तुरन्त आवश्यकता के कारण, एक अस्थायी और ऐच्छिक साधन के रूप में, ग्यारह दिनों का पक्ष आरम्भ किया गया।

सत्रहवाँ अध्याय

लोहा, इस्पात और यंत्र-निर्माण

इस देश में बहुत प्राचीन काल से लोहे की उत्पत्ति की गई है।[1] रोमन समय में और आँग्ल-सैक्सन काल में बराबर लोहा गलाने का काम[2] होता था और डूम्सडे (Domesday) में देश के कई भागों में लोहे के उद्योग के अस्तित्व का उल्लेख है। मध्य युग में यह उद्योग सम्पन्न अवस्था में था। लोहा और इस्पात केवल चद्दर या जाली के कवच बनाने के काम में लिये जाते थे और चौदहवीं शताब्दी में तथा इसके पश्चात् तोपें[3] बनाने के लिए। इस धातु की इतनी माँग थी कि देश की उत्पत्ति के ऊपर आयात करना पड़ता था।

लगभग अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक लोहा गलाने के लिए लकड़ी के कोयले का प्रयोग किया जाता था, और इस कार्य के लिए लकड़ी के अति व्यय से अधिकांश वन, जो देश के बड़े भाग को ढ़के हुए थे, नष्ट कर दिए गए। लकड़ी को लोह-क्षेत्र तक ले जाने की अपेक्षा अयस्क को वनों में ले जाना अधिक सुविधाजनक था। लोहा गलाने का काम देश के विभिन्न भागों में

---

१. लोहा प्रकृति में अयस्क (ore) के रूप में पाया जाता है जिसमें इस धातु के विभिन्न अनुपात जारक (oxygen), सैकता (Silicon), गन्धक और अन्य पदार्थों के साथ पाए जाते हैं। उत्तम अयस्क में ७०% तक लोहा होता है। पच्चीस प्रतिशत से कम के अयस्क काम में लाने योग्य नहीं होते और जिन अयस्कों में तीस प्रतिशत से अधिक लोहा नहीं होता उनको काम में लेना तब ही लाभप्रद होता है जब अन्य परिस्थितियाँ, जैसे कोयले की पूर्त्ति का निकट और प्राप्य होना, अनुकूल होती हैं।

२. गलाना उस क्रिया को कहते हैं जिससे लोहा अन्य पदार्थों से अलग किया जाता है। अयस्क (ore) को ईंधन के साथ गलाने की भट्टी में मिला दिया जाता है। भट्टी के ऊँचे तापक्रम से लोहा पिघल जाता है और साँचों में ले जाया जाता है। इस प्रकार भट्टी से निकला हुआ लोहा (pig iron) प्राप्त होता है।

३. कहा जाता है कि १३४६ में क्रीसी की लड़ाई (Battle of Crecy) में तोपों का प्रयोग किया गया था।

होता था जिन में अधिक महत्त्वपूर्ण वील्ड (Weald)[1], डीन का वन (Forest of Dean) और श्रौपशायर (Shropshire) का रीकिन (Wrekin) जिला थे। जहाजों के बनाने के लिए लकड़ी का महत्त्व इतना अधिक था कि लोहा गलाने के क्षेत्रों को वनों के सर्वनाश से बचाने के लिए ट्यूडर काल में अनेक अधिनियम पारित हुए, और, यद्यपि इन अधिनियमों को आरम्भ में अधिक कठोरता से लागू नहीं किया गया, तथापि अठारहवीं शताब्दी तक लोहा गलाने के लिए लकड़ी के प्रयोग पर इतने निश्चित प्रतिबन्ध थे कि यह उद्योग लगभग समाप्त हो गया। १७४० तक ग्रेट ब्रिटेन में लोहे की वार्षिक उत्पत्ति १८,००० टन से कम थी और यह देश स्वीडन, रूस, अमरीकी उपनिवेशों और अन्य स्थानों से लोहे के आयात पर निर्भर रहना सीख रहा था।

धातु गलाने के काम के लिए लकड़ी के कोयले के स्थान पर खानों के कोयले का प्रयोग करने की संभावना पर ध्यान दिया गया; जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है बहुत दिनों तक कोयला इस कार्य के लिए अनुपयुक्त माना जाता था क्योंकि कोयले की गन्धक लोहे से मिलकर इसको कुरकुरा बना देती थी। सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में डड डडले (Dud Dudley) नाम के एक व्यक्ति ने इस कठिनाई को हल करने का दावा किया; यदि वास्तव में वह इसमें सफल हुआ था, इस बात पर सन्देह किया जाता है तो उसका रहस्य उसके साथ ही जाता रहा।

अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में कोल ब्रुकडेल (Coalbrookdale) के अब्राहम डार्बी (Abraham Darby) ने कोयले का 'कोक' (Coke) बना कर 'कोक' को लोहे के गलाने में काम में लाने की प्रक्रिया खोज निकाली (या पुनः खोज निकाली)। उसके पुत्र, अब्राहम डार्बी, ने १७३० के पश्चात् यह काम चालू रखा और सांचे बनाने के लिए चिकनी मिट्टी के स्थान पर रेत का प्रयोग किया। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक इसका साधारण ज्ञान हो गया; गले हुए लोहे की उत्पत्ति में उल्लेखनीय वृद्धि हुई और अब से यंत्र-निर्माण उद्योग के लिए सस्ती और प्रचुर पूर्ति उपलब्ध हो गई। इस प्रक्रिया

---

१. सैन्ट पॉल्स केथेड्रल (St. Paul's Cathedral) का कठघरा वील्ड (Weald) में गलाए गए लोहे का बना हुआ था।

में परिवर्तन का एक परिणाम यह हुआ कि लोहे के उद्योग का वनों से सम्बन्ध समाप्त हो गया और नये उद्योग कायले की खानों पर स्थापित किए गए, विशेषकर क्लाइड वेली, थार्कशायर, दक्षिणी वेल्स और काले देश (Black Country) में। फिर भी लकड़ी के कोयले से धातु गलाने का काम धीरे-धीरे बन्द हुआ।[1] यह क्रमशः घटती हुई दर पर उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक चालू रहा।[2]

सांचे के लोहे से (Cast Iron) सस्ता और प्रचुर मात्रा में व्यंगारित लोहा (Wrought Iron) या कुट्टय लोहा (Malleable Iron) तैयार करने का श्रेय हेनरी कोर्ट (Henry Cort) को है जिसने १७८४ में प्रघूनन (puddling) और लोठन (rolling) की क्रियाओं को पूर्ण किया। कोर्ट वेल्लनों को काम में लाने वाला प्रथम व्यक्ति नहीं था; परन्तु उसने पिछले प्रयोगकर्त्ताओं के विचारों में सुधार किया। गलाया हुआ लोहा कोयले से गरम किया जाता था और हिलाया जाता था या घोटा जाता था जब तक कि अशुद्धियाँ नहीं निकल जातीं। तत्पश्चात् धातु को वेल्लनों के बीच में से निकाला जाता था और यह कुट्टय हो जाता था। लोहे की आवश्यकतानुसार मोटी चद्दरें बनाई जा सकती थीं और इनके जहाज, टंकियाँ आदि बनाए जा सकते थे।

अठारहवीं शताब्दी के लोह-निर्माताओं के लिए एक बड़ी कठिनाई भट्टी के लिए प्रभावोत्पादक अभिधमन (blast) पैदा करने की थी। इस दिशा में डार्बी (Darby) ने कुछ प्रयोग किए और १७६० तक रोइबुक (Roebuck) कैरोन की लोहे के कारखाने में सुधरा हुआ अभिधमन काम में ला रहा था। १७९० में वाष्प इंजन का अभिधमन उत्पन्न करने में प्रयोग किया गया। इसके पीछे कई सुधार किये गए और १८२८ में नीलसन (Neilson) ने उष्ण अभिधमन (hotblast) का आविष्कार किया, जिसके परिणाम-

१. यह विश्वास किया जाता था कि लकड़ी के कोयले से गलाए हुए लोहा और इस्पात शल्य-यंत्रों के निर्माण के लिए विशेष रूप से उपयुक्त थे, इससे लकड़ी के कोयले से धातु गलाने के उद्योग के चालू रहने में सहायता मिली।

२. लकड़ी के कोयले से धातु गलाने की अन्तिम भट्टी सूसैक्स (Sussex) में १८२७ में बुझाई गई थी।

स्वरूप धातु गलाने की क्रिया बहुत अधिक वेगवत हो गई और आवश्यक ईंधन की मात्रा बहुत कम हो गई। थोड़े वर्षों में ५०० $^\circ$ फेहरनहाइट तापक्रम पर अभिधमन का प्रयोग किया गया और १८६० तक यह बढ़ाकर १६०० $^\circ$ फेहरनहाइट कर दिया गया। अभिधमन को गरम करने के लिए स्वयं अभिधमन भट्टी की (अब तक) निरर्थक गैसों को काम में लिया गया।[1]

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कई लौह-निर्माताओं ने सक्रिय रूप से अपनी वस्तु के नए उपयोगों के प्रति जनता का ध्यान आकर्षित किया। इनमें विल्किसन (Wilkinson) सब से अधिक प्रसिद्ध है जिसके लोहे के कारखाने बरशम (Bersham) और ब्रोसले (Broseley) में थे। उसके अनेक विचार जो उस समय काल्पनिक माने जाते थे, अब कार्य रूप में परिणत कर दिए गए हैं। उसने लोहे के पुल और लोहे की नावें बनाईं और उसने मकानों, जहाजों और सड़कों के निर्माण के लिए लोहे के उपयोग का प्रस्ताव किया; उसकी मृत्यु पर वह लोहे की पेटी में गाड़े जाने के लिए आदेश छोड़ गया।

ग्रेट ब्रिटेन में लोहे की उत्पत्ति के विकास में स्वीडन और रूस से आयातित लोहे पर, अठारहवीं शताब्दी के अन्त के दिनों में, कर लगाने से सहायता मिली। अन्ततः ये इतने भारी हो गए कि निषेधात्मक हो गए। १८२५ में हस्किसन ने उनको बहुत कम कर दिया, परन्तु इस समय तक यह उद्योग इतना सुस्थापित हो गया था कि करों के घटाने (और आगे चलकर उठाने) से इसको कोई हानि नहीं उठानी पड़ी। इस देश में और अन्य देशों में[2] रेल के निर्माण से, जहाजों के निर्माण में लकड़ी के स्थान पर लोहे और इस्पात के प्रयोग से और मशीनों और इंजनों के सदा बढ़ते हुए उपयोग से लोहे और इस्पात की वस्तुओं की भारी माँग हुई। १८६० तक ग्रेट ब्रिटेन संसार का प्रमुख लोहा

---

१. लोहे और इस्पात के आधुनिक कारखानों में "निरर्थक" गैसों का विभिन्न क्रियाओं के लिए ताप उत्पन्न करने के लिए अधिक से अधिक उपयोग किया जाता है जिससे ईंधन की बहुत बचत हो जाती है और उत्पत्ति-व्यय घट जाता है।

२. कई विदेशी और औपनिवेशिक रेलों के लिए साज-सामान ग्रेट ब्रिटेन में बनाया जाता था।

और इस्पात बनाने वाला देश रहा। इस वर्ष संयुक्त राष्ट्र अमरीका की उत्पत्ति की मात्रा उसकी मात्रा से अधिक थी, किन्तु जर्मनी १६०३ तक उत्पत्ति की मात्रा में उससे आगे नहीं निकल सका।

यह बतलाया जा चुका है कि अयस्क से लोहा अभिधमन भट्टी में निकाला जाता था; इस प्रकार प्राप्त पदार्थ, जिसको कच्चा लोहा (pig iron) कहते हैं, छोटी भट्टी में डालकर दुबारा गलाया जाता था या प्रधूनन भट्टी में डालकर हिलाया जाता था और डंडे, रेल की पटरियों या चद्दरें आदि कुट्टय वस्तुएँ बनाने के लिए वेल्लित किया जाता था। सांचे के लोहे (cast iron) और व्यंगारित लोहे (wrought iron) में मुख्य अन्तर उनमें कार्बन (carbon) की मात्रा में होता है। व्यंगारित लोहा कार्बन-रहित या लगभग ऐसा, होता था और कुट्टय होता था। कार्बन का अनुपात अधिक—दो से पांच प्रतिशत तक—होने से धातु कुरकुरी होती थी और इसको सांचे का लोहा कहते थे। कार्बन के साधारण अनुपात—एक से डेढ़ प्रतिशत तक—वाले लोहे से इस्पात बनाया जाता था। शताब्दियों से इसका ज्ञान था परन्तु लोहे के कारखाने कार्बन की मात्रा पर नियंत्रण करने में असफल थे और उनकी उत्पत्ति बहुधा बहुत दूषित होती थी।

उन्नीसवीं शताब्दी में इस्पात की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बहुत प्रगति हुई। १८५५-५६ में हेनरी बेसेमर (Henry Bessemer) ने प्रधूनन की क्रिया का प्रयोग किए बिना कुट्टय लोहा और इस्पात बनाने की क्रिया निकाली। पिघले हुए कच्चे लोहे की अशुद्धियों को जलाने के लिए एक शक्तिशाली अभिधमन का प्रयोग किया गया। इससे कार्बन, सिलीकोन और मैंगनीज का तेजी से जारण होता था और इस प्रकार से प्राप्त शुद्ध लोहे में लोहे, मैंगनीज और कार्बन की मिश्रातु स्पीगलीसन (Spiegeleisen)[1] की मात्रा मिला दी जाती थी। इस प्रकार से प्राप्त इस्पात में कार्बन का अनुपात ज्ञात रहता था और जिस उद्देश्य के लिए इस धातु की आवश्यकता होती थी उसी प्रकार से

---

१. बाद के दिनों स्पीगलीसन (Spiegeleisen) के स्थान पर बहुधा फेरो-मेंगनीज (ferro-manganese) काम में लाया जाने लगा।

इसमें परिवर्तन किया जा सकता था।[1]

बेसेमर का इस्पात कुट्टय लोहे से बहुत ही उत्तम था। इसकी उत्तमता में अधिक समान थी, और यह अधिक विश्वसनीय, मजबूत और सस्ता था, यह तेजी से और बड़ी मात्रा में बनाया जा सकता था। कालान्तर में इसने रेल की पटरियाँ, गर्डरें, चद्दरें और दूसरी वस्तुएँ बनाने में कुट्टय लोहे का स्थान ले लिया और जैसे-जैसे बेसेमर के इस्पात की उत्पत्ति बढ़ी वैसे-वैसे व्यंगारित लोहे की उत्पत्ति घटती गई। इस प्राविधिक विकास का महत्त्वपूर्ण परिणाम ग्रेट ब्रिटेन में यह हुआ कि लोहे के कारखानों को इस्पात के कारखानों में बदलने के लिए लाखों की पूँजी बरबाद करनी पड़ी।

बेसेमर अपने "कन्वर्टर" (Converter) में अम्ल पदार्थ का पुट देता था और यह ज्ञात हुआ कि उसकी विधि लोहे में से फासफोरस (Phosphorus) निकालने में असमर्थ थी। अम्ल-इस्पात के बनाने में फांसफोरस-रहित अयस्कों[2] की आवश्यकता होती थी। कम्बरलैण्ड और और उत्तरी लंकाशायर के अयस्कों को छोड़कर, ब्रिटेन के अयस्कों में काफी अनुपात में फासफोरस होता है और स्वीडन तथा स्पेन से फासफोरस-रहित अयस्कों का आयात करना पड़ा।[3]

---

१. बाद के वर्षों में इस्पात में दूसरी धातुओं की सूक्ष्म मत्राएँ मिला दी जाने लगीं। टिटानियम (titanium) और वेनडियम (vanadium) ऑक्सीजन (oxygen) और नाइट्रोजन (nitrogen) से मिलकर हवा के बुलबुले दूर करते हैं। सिलिकोन (silicon) और अलुमीनियम (aluminium) ऑक्सीजन (oxygen) से मिल कर धातु में रह जाने वाली कार्बन-मोनो-ऑक्साइड (carbon mono oxide) को कार्बन में बदल देते हैं।

२. एक फॉसफोरस-रहित अयस्क वह होता है जिसमें ·०२ प्रतिशत से कम फासफोरस होता है।

३. वे मुख्य क्षेत्र जिनमें फासफोरस-रहित अयस्क प्राप्त होता है, ग्रेट ब्रिटेन में, कम्बरलैण्ड, उत्तरी लंकाशायर और डीन का वन है। वे स्पेन और स्वीडन और उत्तरी अमरीका में "लेक सूपीरियर" के पास भी मिलते हैं। फासफोरस-युक्त अयस्क अधिक प्रचुरता से होता है। वे क्लीवलैण्ड के जिले, लिन्कनशायर, रटलैण्ड, उत्तरी और दक्षिणी वेल्स, स्टैफोर्डशायर और नोर्दमटन-

कई वर्षों से धातुकर्मिक ऐसी विधि की खोज में थे जिससे अयस्कों से फासफोरस अलग किया जा सके ताकि इस देश के फासफोरस-युक्त अयस्क इस्पात बनाने के काम में आ सकें। स्नेलस (Snelus) ने पैठिक पदार्थों (Basic materials) जैसे चूना, मेगनेशिया और चिकनी मिट्टी का पुट लगा हुआ "कन्वर्टर" काम में लाने के प्रयत्न किए परन्तु सफलता नहीं मिली। सिडनी गिलक्राइस्ट थामस (Sidney Gilchrist Thomas) ने, जो एक गैरपेशेवर रसायन-शास्त्री था और जिसको धातुकर्म का व्यावहारिक ज्ञान नहीं था, अपने चचेरे भाई पर्सी गिलक्राइस्ट (Percy Gilchrist) के सहयोग से, यह समस्या हल कर दी। उन्होंने "कन्वर्टर" में एक अन्य पैठिक पदार्थ (डोलोमाइट) और चिकनी मिट्टी का पुट लगाया और १८७८ तक इस विधि की सफलता का प्रदर्शन करने के लिए यथेष्ट प्रयोग किये जा चुके थे। गिलक्राइस्ट-थोमस विधि के विकास का एक परिणाम यह हुआ कि लोरेन और लक्समवर्ग के अयस्क, जिनमें फांसफोरस का प्रतिशत ऊँचा था, जर्मनी में विशाल इस्पात उद्योग बनाने में काम आ सके। दूसरे देशों के फासफोरस-युक्त अयस्क भी पैठिक इस्पात के बनाने में काम आ सकते थे। अयस्कों की पूर्त्ति में इस वृद्धि से जिससे इस्पात बनाया जा सकता था, इस पदार्थ से उत्पत्ति-व्यय में उल्लेखनीय कमी हुई और इसका उपयोग बहुत बढ़ गया।[1]

इस्पात के उत्पादन की दूसरी विधि को सर विलियम सीमेन्स (Sir William Siemens) ने १८६७ में पूर्ण किया, जब कि उसको सिलीका (Silica) की ईंटें लगी हुई कम गहरे भट्टे की चुल्ली में अयस्क के साथ पिघाले हुए कच्चे लोहे से अम्ल-इस्पात बनाने में सफलता मिली। पीरे मारटीन (Pierre Martin) ने इसी दिशा में फ्रांस के सिरुयल (Sireuil) नामक स्थान पर प्रयोग किए। उसने अयस्क के स्थान पर लोहा और इस्पात के क्षेप्य (रद्दी

शायर सहित ब्रिटिश आइल्स के कई भागों में मिलते हैं। यूरोप महाद्वीप पर वे लोरेन और लक्समबर्ग में, सीरिया में, रूस में, स्पेन में और स्केन्डेनेविया में मिलते हैं।

१. गिलक्राइस्ट थॉमस विधि की एक उपोत्पत्ति, पैठिक धातुमल (basic slag), में चूर्ण के रूप में महत्त्वपूर्ण उर्वरतादायक गुण पाए गए हैं।

इस्पात) का प्रयोग किया और भट्टी में डाले जाने वाले पदार्थों की ऐसी व्यवस्था की कि धातु में कार्बन की मात्रा पर नियंत्रण स्थापित कर सका। गिलक्राइस्ट और थॉमस के आविष्कारों को सीमेन्स-मारटिन विधि और बेसेमर विधि में लगाया गया; खुली-चुल्ली (open hearth) में पैठिक पदार्थों का पुट दिया गया और पैठिक इस्पात बनाया गया।

खुली-चुल्ली की पद्धत्ति बेसेमर की विधि का स्थान ले रही मालूम होती है। जब तक इस पिछली विधि से इस्पात बना कर लाभ कमाया जा सकता है, निर्माता एक विधि को त्याग कर दूसरी को अपनाने में होने वाला खर्चीला पुनर्गठन करने में हिचकेंगे। परन्तु नए कारखानों में प्रायः सीमेन्स-मारटिन की खुली-चुल्ली-पद्धत्ति अपनाई जाती है और आगे पीछे "कन्वर्टर" का उपयोग पुराना पड़ जाएगा। इस में भी कोई सन्देह नहीं है कि भविष्य में फासफोरस-युक्त अयस्कों की प्रचुरता और सस्ताई, और उपोत्पत्ति के मूल्य (यह भी गौण कारण नहीं है) के कारण भविष्य में मुख्यतः पैठिक इस्पात की उत्पत्ति की जाएगी। कई वर्षों से संसार में अम्ल-इस्पात की उत्पत्ति स्थिर रही है जब कि पैठिक इस्पात की उत्पत्ति बढ़ गई है।

सर विलियम सीमेन्स ने १८७८ में लोहा गलाने के लिए बिजली की भट्टी निकाली थी और तब से इस्पात की उत्पत्ति में इसका छोटे पैमाने पर उपयोग किया गया है। इसमें बहुत ऊँचा तापक्रम बनाया जा सकता है—३५००° सैन्टीग्रेड तक तापक्रम पहुँच चुका है। परन्तु यह अभिधमन भट्टी से प्रतिस्पर्धा तब ही कर सकेगी जब कि बिजली बहुत ही सस्ती दरों पर उपलब्ध हो सकेगी। फिर भी साधारण मात्रा में विशेष उच्च कोटि का इस्पात बनाने में इस का बड़ा उपयोग है।

यह कल्पना नहीं की जा सकती कि इस्पात का युग सदा चलता रहेगा। कई मिश्रातुओं का आविष्कार किया जा चुका है जो "विशुद्ध" इस्पात से अधिक उत्तम होती है। इस्पात में थोड़ी मात्रा में निकल, क्रोमियम, मेंगनीज, टंगस्टन, मोलीबडेनम या वेनाडियम मिलाने से अधिक कठोरता आ जाती हैं और यंत्रों से तेज धार बनाई जा सकती है। इस्पात में क्रोमियम मिलाने से वस्तु के जंग नहीं लगता। इस्पात और अलुमिनियम की मिश्रातु हल्की और मजबूत होती

है और वायुयानों के बनाने में विशेष रूप से उपयोगी होती है। धातु-विज्ञान की उन्नति आगे भी संभव है।

थामस सावरे (Thomas Savery) नें १६९८ में एक प्रकार के भाप के पम्प का आविष्कार किया था, परन्तु इसका व्यापक उपयोग नहीं हुआ। थामस न्यूकोमेन (Thomas Newcomen) का इंजन अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में आविष्कृत किया गया था, उसका सर्वप्रथम पेटेन्ट १७०५ में लिया गया था। इस इंजन में अनेक दोष थे। इस की शक्ति अधिक नहीं थी, इसमें ईंधन बहुत जलता था और अविश्वसनीय तथा असुरक्षित भी था। फिर भी न्यूकोमेन के इंजनों का अठारहवीं शताब्दी में कई कार्यों के लिए व्यापक प्रयोग किया जाता था और विशेषत: खानों से पानी निकालने के लिए। जान स्मीटन (John Smeaton) और जेम्स वाट (James Watt) ने इसमें सुधार किए थे।

१७८२ में वाट ने एक नए सिद्धांत पर बनाए गए इंजन के लिए पेटेन्ट प्राप्त किया जो परिभ्रामी या चक्रवत् गति पर चलता था; इसमें ईंधन कम लगती थी और कार्य अधिक होता था। इसकी सफलता का कुछ श्रेय वाट के साझेदार मेथ्यू बोल्टन (Matthew Boulton)[१] को था, जिस को स्तम्भों (Cylinders) में सही सही छिद्र करने में सफलता मिली।[२] वाट का इंजन पम्प चलाने और मशीनें चलाने में अपनाया गया परन्तु इसका उपयोग बहुत जल्दी साधारण नहीं हुआ, क्योंकि इंजनों के बनाने में बोल्टन और वाट की फर्म को एकाधिकार था।[३] जिसके पास पेटेन्ट थे और जो प्रति वर्ष एक सीमित संख्या में इंजन बना सकती थी।

---

१. मेथ्यू बोल्टन और जेम्स वाट की साझेदारी बहुत ही सफल हुई, वाट में आविष्कार करने की अपूर्व बुद्धि थी और बोल्टन अपने श्रमिकों को सही कारीगरी सिखलाता था। बोल्टन एक चतुर व्यवसायी था जिसने सोहो (Soho) बरमिंघम (Birmingham) में सुदृढ़ आधार पर फर्म के कारखाने स्थापित किए।

२. इसका श्रेय विल्किसन (Wilkinson) को भी दिया जाता है।

३. उन से लाइसेन्स प्राप्त तीन या चार दूसरी फर्मों सहित जो इंजन या उनके भाग बनाती थी। १८०० तक ग्रेट ब्रिटेन में बोल्टन और वाट के चौरासी इंजन थे।

वाष्प ईंजन के आर्थिक महत्त्व की अतिशयोक्ति नहीं की जा सकती। यह कुशलतापूर्वक, मितव्ययितापूर्वक और विश्सनीय ढंग से कार्य कर सकता है और इसकी सफलता अनेक अनुकूल बाह्य परिस्थतियों पर निर्भर नहीं कर सकती। जल-चक्र या पवन चक्की से शक्ति प्राप्त की जा सकती है; जब पानी जम जाता है या सूख जाता है तो जल-चक्र निरर्थक हो जाता है, इस प्रकार हवा के ठहर जाने से पवन-चक्की भी रुक जाती है। किन्तु वाष्प इंजन थकता नहीं और बिना रोके हुए एक अनिश्चित काल के लिए चलाया जा सकता है। इससे उत्पन्न शक्ति से कई कार्य किए जा सकते हैं। यह खानों से जल निकालने क्रेन (भारी वजन उठाने का यंत्र) चलाने, मशीने चलानें, सड़कों या पटरियों पर गाड़ियाँ खींचने और भाप के जहाजों को चलाने के काम में लिया जा सकना है।

आरम्भ में इंजनों और मशीनों में निम्न स्तर की कारीगरी के दोष बहुत होते थे। शुरू ही शुरू के यंत्रकार वे लोग थे जिनको लोहारों, खातियों या पहिये बनाने वालों के काम के लिए प्रशिक्षण मिला था। जो कोई औजारों के प्रयोग में दक्ष होता था यंत्र-निर्माण में लग सकता था, और कालान्तर में सुदक्ष इंजीनियरों का दल बन गया। अठारहवीं शताब्दी में जब किसी कारखाने में कोई मशीन लगाई जाती थी तो सफाई किए, या इसकी ढ़ेबरियों को कसे या ढीला किए, सहारा लगाए और इसके हिस्सों के रेती लगाए बिना इसका चलना निश्चित नहीं होता था; और इतना करने पर भी टूट-फूट बहुत होती थी। उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे चतुर्थांश में खरादों (lathes), भाप के हथौड़ों, छिद्र करने और रन्दा लगाने की मशीनों के आविष्कार से ऐसे सही और सच्चे भाग बनाना संभव हो गया जो तुरन्त जमाए जा सकते थे और संग्रहीत होते ही मशीन निर्विघ्नता से कार्य करती थी। सही और सच्चे अतिरिक्त भाग बनाए जा सकते थे और यदि मशीन का कोई भाग खराब हो जाता तो वह तुरन्त बदला जा सकता था, ताकि मशीन अधिक समय तक बेकार नहीं रहती।

अठारहवाँ अध्याय

सड़कें और नहरें

कई शताब्दियों तक आंग्ल सड़कों की दशा बहुत असन्तोषजनक थी। मध्ययुग में यात्रा की मात्रा, यद्यपि बिल्कुल नगण्य नहीं थी, अच्छी सड़क प्रणाली के निर्माण के लिए अपर्याप्त थी और न राष्ट्रीय और न स्थानीय अधिकारियों ने इस समस्या पर गम्भीर ध्यान दिया। चर्च सड़कों की रक्षा को प्रोत्साहन देता था और कभी मठों द्वारा सड़कों की मरम्मत कराई जाती थी। १५५५ तक राज्य ने उनके सुधार की ओर कोई ध्यान नहीं दिया; इस वर्ष एक अधिनियम पारित हुआ जिससे प्रत्येक क्षेत्र (parish) में सड़कों की मरम्मत का उत्तरदायित्व उस क्षेत्र के निवासियों द्वारा नियुक्त दो भू-मापकों पर डाला गया; क्षेत्र के प्रत्येक आदमी से जो पच्चास पौण्ड के मूल्य की भूमि का स्वामी था, सामग्री और औजार माँगे जा सकते थे और उसको प्रतिवर्ष छः दिनों का श्रम सड़कों के लिए देना पड़ता था। यह अधिनियम कठोरता से लागू नहीं किया गया और अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में इस देश की सड़कों की दशा मध्ययुग की अपेक्षा बहुत कम अच्छी थी।

अठारहवीं शताब्दी से पूर्व देश के सब भागों में अच्छी सड़कें बनाना प्राविधिक या आर्थिक दृष्टि से सम्भव नहीं हो सकता था।[1] सड़क निर्माण के प्राविधिक शिल्प की कमी थी और यद्यपि यह अनुभव से प्राप्त की जा सकती थी, ऐसे साहस के लिए जन-संख्या कम और सम्पत्ति अपर्याप्त थी। सड़कों का

---

1. इस तर्क को ध्यान में रखते हुए यह उल्लेखनीय प्रतीत हो सकता है कि रोमन साम्राज्य के सब भागों में अच्छी सड़कें थीं। इस मामले में यह ध्यान में रखना चाहिए कि अनुभव से प्राविधिक दक्षता प्राप्त हो गई थी और यहाँ आर्थिक कारण का प्रश्न ही नहीं उठता। श्रम की पूर्त्ति गुलाम करते थे और भूमि और सामग्री, स्वामियों की क्षतिपूर्ति किए बिना ही, जबर्दस्ती छीन लिये जाते थे।

जाल बिछाना तब तक सम्भव नहीं था जब तक कि देश इसके लिए व्यय सहन कर सकता था और जब तक कि इस बात के स्पष्ट प्रमाण थे कि उनकी आवश्यकता थी।

निम्नाँकित सुधारों से पूर्व मुख्य सड़कें भी, जो महत्त्वपूर्ण नगरों को मिलाती थी, वर्षा-ऋतु में कीचड़ के कारण अगम्य हो जाती थीं। जब मरम्मत की जाती थी तो कभी-कभी एक गलत सिद्धान्त अपनाया जाता था और सड़क की आकुब्जता (Camber) बहुत ढाल वाली बना दी जाती थी। संभवतः सड़क की मरम्मत करने वाले यह आशा करते थे कि कम ढाल की अपेक्षा अधिक ढाल होने से पानी आसानी से किनारों की ओर बहेगा परन्तु वे भूल जाते थे कि ऐसी सड़क पर गाड़ियों के लिए ठीक बीच में चलना आवश्यक होगा और सब गाड़ियों और ठेलों के पहिए सड़क के एक ही भाग पर दौड़ेंगे। इससे खड्डे पड़ जाते थे जो धीरे-धीरे गहरे हो जाते थे और पुनः कीचड़ पैदा हो जाता था। यात्रियों के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने के लिए गाड़ियों की अपेक्षा घोड़े अधिक सुविधाजनक रहते थे, जब कि माल बहुधा ठेलों की अपेक्षा घोड़ों या खच्चरों पर लाद कर भेजा जाता था, जब तक कि इसको जल मार्ग से भेजना संभव नहीं होता था। अन्तर्देशीय यातायात के लिए नौतार्य नदियों का व्यापक प्रयोग किया जाता था।

सड़कों में सुधार अठारहवीं शताब्दी के विशेष ढंग से किया गया। आजकल इस बात में कोई सन्देह नहीं करेगा कि सड़कों की रक्षा करना सार्वजनिक प्राधिकारी का कर्त्तव्य होना चाहिए; जिस समय में राज्य के कार्यों का क्षेत्र बढ़ाने में व्यापक अरुचि थीं और राज्य-निर्बाध-नीति की उत्तमता में बढ़ता हुआ विश्वास था, यह समझा जाता था कि सड़कों की रक्षा का कार्य सुरक्षापूर्वक निजी साहस पर छोड़ा जा सकता है। विवर्तद्वार व्यवसायी-संघों (Turnpike trusts) की स्थापना हुई। किसी एक धनवान व्यक्ति, या व्यक्तियों के संघ, को सड़क के एक टुकड़े पर नियंत्रण का अधिकार दे दिया जाता था। इसकी मरम्मत कर दी जाती थी और इसको ठीक हालत में रखा जाता था, और इस टुकड़े के प्रत्येक सिरे पर फाटकें लगा दी जाती थीं। प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक जानवर और प्रत्येक गाड़ी के लिए सड़क के उपयोग के लिए मार्ग-कर

देना पड़ता था और इस प्रकार प्राप्त मुद्रा में से सड़क की मरम्मत का व्यय निकाल कर जो कुछ शेष रहता था वह विवर्तद्वार व्यवसायी-संघ का लाभ होता था। इस प्रकार यह सिद्धान्त बना दिया गया था कि नड़क की रक्षा के व्यय का प्रभार जन-साधारण पर नहीं होकर, इसको काम में लेने वालों पर होना चाहिए।

प्रथम विवर्तद्वार अधिनियम (Turnpike Act) १६६३ में, चार्ल्स द्वितीय के शासन-काल में, पारित हुआ था, परन्तु यह पद्धति जार्ज द्वितीय के शासन-काल तक अधिक प्रचलित नहीं हुई। १७४५ में परिवहन की कठिनाइयों से "युवक दावेदार" (Young Pretender)[1] के डरबी की ओर कूच को रोकने के सरकारी प्रयत्नों में रुकावट पड़ी। संभवतः इसके अनुयायियों के विद्रोह से जनित भय ने राष्ट्र को सड़कों की रक्षा के लिए अधिक प्रयत्न करने के लिए प्रेरित किया, क्यों कि इस घटना के पश्चात् विवर्तद्वार अधिनियमों की संख्या बढ़ गई, और १७६० और १७७४ के बीच में चार सौ पचास ऐसे अधिनियम पारित हुए। इस प्रकार स्थापित पद्धति से देश में अच्छी मुख्य सड़कें बनने में सहायता मिली, यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक भी सड़कों की दशा के सम्बन्ध में आपत्तियाँ साधारण थीं। कुछ अंशों तक ये आलोचनाएँ विशेष कर उप-सड़कों और देहाती मार्गों के लिए लागू होती थी, जिन पर यातायात बहुत कम था और जिनमें विवर्तद्वार व्ययवसायी-संघों की रुचि नहीं थी। परन्तु इस काल के एक प्रसिद्ध यात्री, आर्थर यंग (Aurthur Young) ने कुछ विवर्तद्वार सड़कों की भी आलोचना की है और ऐसी सड़कों के उदाहरण दिये हैं जिन पर चार-चार फुट गहरे खड्डे पाए जाते थे। फिर भी अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक सड़कों में इतना सुधार हो गया था कि प्रमुख नगरों के बीच में बराबर बग्घियाँ चला करती थीं।

अठारहवीं शताब्दी के अन्त और उन्नीसवीं के प्रारम्भ में सड़क बनाने के तरीकों में कुछ प्रगति हुई। जान मेटकाफ (John Metcalfe) ने इङ्गलैंड के उत्तर में कई लम्बी सड़कें वनवाईं, और थामस टेलफोर्ड (Thomas Telford) ने स्काटलैण्ड में और इङ्गलैण्ड के उत्तर में सैंकड़ों मील लम्बी सड़कें

---

1. जेम्स द्वितीय का पौत्र, जो इङ्गलैण्ड के राज्य-सिंहासन का दावेदार था।

बनवाई। जॉन मैकएडम (John Mc Adam) ने अच्छे आधार पर सुवेल्लित छोटे कोणदार कठोर पत्थर के टुकड़ों की सत्तह बनाने की योजना आरम्भ की। इस प्रकार की सड़कों में बहुत कम आकुब्जता होती है, ताकि सड़क की पूरी सतह पर गाड़ियों का यातायात हो सकता है और टूटफूट बीच तक सीमित नहीं होती। इस प्रकार की सड़कें इतनी अच्छी रहीं कि कुछ वर्षों पूर्व तक यह तरीका उपयोग में आता रहा है और अब भी कुछ अंशों तक उप-सड़कों पर काम में लिया जाता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विवर्तद्वार व्यवसायी-संघों के संमिश्रण का आन्दोलन चला। परिणामस्वरूप बड़े प्राधिकारी बनाए गए, जिनके पास यथेष्ट धन था, जो अधिक दक्ष भू-मापक रख सकते थे और सड़क-निर्माण कार्य की कुशलता बढ़ गई। परन्तु बुरे दिन आने वाले थे। विवर्तद्वार आधिकारियों को "रेलों के संकट" का सामना करना पड़ा। सड़कों पर यातायात की मात्रा घट गई और व्यवसायी-संघों की आय कम हो गई। एक के बाद एक वे विलीन हो गए और सड़कों की मरम्मत का कार्य स्थानीय प्राधिकारियों पर आ पड़ा।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में जब इङ्गलैण्ड में स्थानीय शासन का पुन-र्गठन हुआ तो सड़कों की रक्षा का उत्तरदायित्व काउन्टी परिषदों, पौर-परिषदों और जिला परिषदों में बाँट दिया गया। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में मोटर यातायात के विकास के कारण सड़कों को एक नया महत्त्व मिल गया है। मोटर यातायात आकार, वजन और गति में इतना बढ़ गया है कि सड़क बनाने के पुराने तरीके आजकल की आवश्यकताओं के लिए सर्वथा अपर्याप्त सिद्ध हुए हैं। मोटरों पर लगाए गए करों की आय अंशतः सड़कों के निर्माण और रक्षा के लिए लगा दी गई है। सड़क बनाने के तरीकों में बहुत उन्नति हुई है और एक टिकाउ सत्तह तैयार करने के लिए विभिन्न पदार्थों का प्रयोग किया गया है। मजबूत आधार पर जमाई गई कंकरीट से उत्तम परिणाम निकले हैं। परन्तु आधार सदा यथेष्ट मजबूत नहीं रहे हैं और सड़कों को आधुनिक यातायात की माँगों के लिए यथेष्ट मजबूत बनाने के लिए भविष्य में सड़क-निर्माताओं को अधिक गहरी नींवें लेनी पड़ेंगी।

अठारहवीं शताब्दी में औद्योगिक विकास के कारण भारी और भीमकाय वस्तुओं के यातायात के लिए अधिक उत्तम साधनों की माँग सड़कों में किसी प्रकार के सुधार से पूरी नहीं हो सकी। यह आवश्यकता औद्योगिक क्रान्ति की प्रारम्भिक अवस्थाओं में नहरों के निर्माण से पूरी की गई। एक सबसे पुरानी नहर वह थी जिसने एरे (Aire) और केल्डर (Calder) को मिलाया; यह सत्रहवीं शताब्दी के अन्त से पूर्व पूर्ण कर दी गई थी। यह एक कृत्रिम जल-मार्ग था जिस पर लद्दू नावें रस्से बान्धकर खींची जा सकती थीं, और इसमें कई फाटक लगे हुए बान्ध थे जिससे नावों को ऊँचा या नीचा करके निकाला जा सकता था। इसको सदा अच्छी हालत में रखा गया और इसका आज भी उपयोग किया जाता है। १७२०-१ के वर्षों में इरवैल (Irwell) और मरसे (Mersey) नदियों के मोड़ों को सीधे मार्ग खोद कर मिला दिया गया, इस प्रकार लीवरपूल और मेनचेस्टर के बीच में जल-यातायात सुगम हो गया, इसी प्रकार के अनेक अन्य कार्य आगामी तीस या चालीस वर्षों में किए गए। परन्तु उन सबों का सम्बन्ध नदियों को चौड़ा करने, गहरा करने या सीधा करने से था।

ब्रिजवाटर नहर का नियोजन और निर्माण १७५९ और १७६१ के बीच में जेम्स ब्रिन्डले (James Brindley) ने किया और ब्रिजवाटर के ड्यूक ने इसकी वित्तीय व्यवस्था की। ब्रिन्डले का उद्देश्य अपनी नहर को नदियों से अलग रखना था ताकि इस पर बाढ़ या सूखे का कोई प्रभाव नहीं पड़े। यह नहर एक दृष्टि से प्रयोगात्मक थी, क्योंकि निर्माण-कला सम्बन्धी अनेक कठिनाइयों को जीतना पड़ा; इरवैल (Irwell) नदी से अलग रखने के लिए इसको उस पर पुल बान्ध कर ले जाना पड़ा। इस नहर ने मेनचेस्टर को वोरस्ले में ड्यूक की कोयले की खान से मिला दिया और इसका उद्देश्य खान से उस महान् नगर को कोयला पहुँचाने में सहायता पहुँचाना था। यह प्रत्येक दृष्टि से सफल रही। मैनचेस्टर में कोयला सस्ता हो गया और आगे चलकर ड्यूक ने इसकी बिक्री से बहुत धन कमाया। एक दूसरी नहर मेनचेस्टर को रनकोर्न (Runcorn) और लीवरपूल (Liverpool) से मिलाने के लिये बनाई गई। इस साहसी कार्य में जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा उनका सम्बन्ध

केवल निर्माण-कला ही से नहीं था परन्तु वित्त से भी था। लंकाशायर में बहुत कम लोगों को विश्वास था कि यह पूरी हो जायगी और उन्होंने अपनी पूँजी इसमें नहीं लगाई। इस कार्य के लिये पूँजी लगाने के लिए ब्रिजवाटर के ड्यूक को लन्दन जाना पड़ा।

ब्रिन्डले की सफलता से देश के अन्य भागों में नहरों के निर्माण को प्रोत्साहन मिला। आगामी चालीस वर्षों (१७६०-१८००) में, और विशेषकर 'नहरों की सनक" के काल (१७९१-७) में, बनाए गए जल-मार्गों की गणना करना अनावश्यक है। यह कहना पर्याप्त है कि अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक इङ्गलैण्ड में नहरों का जाल बिछ गया। वर्तमान जल-मार्गों, नदियों का यथा-सम्भव प्रयोग किया गया, उनको, नहरों से अलग, अन्तर्देशीय नौ-वहन मार्ग कहा जाता था। नदियों के नौ-वहन में सुधार करने के लिए नहर-निर्माण सम्बन्धी बहुत कार्य किया गया, उनका नियोजन इस प्रकार किया गया कि जिन स्थानों पर नदियाँ नौ-वहन योग्य नहीं रहतीं उनको मिला दिया जाए।

राज्य ने नहरों के निर्माण में कोई सहायता नहीं दी;[1] यह कार्य निजी कम्पनियों ने किया और उन्होंने इसकी वित्तीय व्यवस्था की। राज्य निर्बाध-दर्शन के प्रचलित होने से यही आशा की जाती थी; यह नहर-प्रणाली में समानता के अभाव का कारण है जो इस प्रणाली की अनोखी और खेदपूर्ण विशेषता है। नहरों की चौड़ाई, गहराई, पुलों की ऊँचाई और फाटकों के आकार में अन्तर हैं और इससे सीधे यातायात में कठिनाई होती है। छोटी की अपेक्षा बडी लद्दू नावों में माल लादने में बचत होती है; परन्तु केवल बीस टन की लद्दू नावें ही समस्त प्रणाली में आ-जा सकती हैं। नहर कम्पनियाँ माल लाती-ले-जाती नहीं थीं। उन्होंने विवर्तद्वार व्यवासायी-संघों की नकल की और एक मार्ग बना दिये जिसको कोई भी मार्ग-शुल्क देकर काम में ला सकता था।[2]

---

१. राज्य ने स्काटलैंड में केलीडन नहर (Caledonian Canal) और क्रीनन नहर (Crinan Canal) बनाई, परन्तु ये व्यापारिक उद्देश्य से नहीं बनवाई गई थीं।

२. मार्ग-शुल्क की प्रणाली आरम्भ में सरल थी, परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में यह बहुत पेचीदा हो गई। वस्तुओं का वर्गीकरण रेलों की तरह था और रेल के भाड़ों की तरह मार्ग-शुल्क दूरी के साथ घटते जाते थे।

यदि नहर कम्पनियाँ आरम्भ ही से माल लादने का काम भी करती होतीं तो वे सीधे यातायात की व्यवस्था की आवश्यकता अनुभव कर लेतीं। छोटी नहरों को चौड़ा और गहरा बना दिया गया होता जब तक कि कार्य करना संभव था। बाद के दिनों में जब यह आवश्यकता अनुभव की गई तो इस रूपान्तर का खर्चा इतना बढ़ गया जो उठाया नहीं जा सकता।

इन सब दोषों के होते हुए भी नहरों ने यातायात के अब तक उपलब्ध साधन से अधिक उत्तम साधन उपलब्ध किया, इनके बिना औद्योगिक विकास असंभव हो गया होता। इनके द्वारा दक्षिण और पूर्व के कृषि-क्षेत्रों से उत्तर और पश्चिम के बड़े नगरों को खाद्य-सामग्री पहुँचाई गई।[1] कारखानों के क्षेत्रों में नहरों से कच्चा माल भेजा गया, उदाहरणार्थ चीनी के बर्तनों के कारखानों के लिए चिकनी मिट्टी कोर्नवाल से आती थी और इस यात्रा का एक भाग नहरों के द्वारा होता था। निर्मित वस्तुएँ देश के सब भागों को और बन्दरगाहों को नहरों से भेजी जाती थीं और कोयला भेजने की समस्या का इसी प्रकार हल हुआ। बहुत कुछ यातायात जो अब तक समुद्र के रास्ते से होता था नए जल-मार्गों से भेजा जाने लगा।

कई वर्षों तक नहर कम्पनियों को बहुत लाभ हुआ उन्होंने अपनी साधारण पूँजी पर अच्छे लाभाँश दिए और ऐसी कोई बात नहीं हुई जिससे इस प्रणाली में सुधारों को प्रोत्साहन मिले। रेलों के प्रादुर्भाव से उनका महत्त्व और सम्पन्नता घट गए, कुछ कम्पनियाँ आपस में मिल गईं और कुछ ने माल लाना-ले-जाना आरम्भ कर दिया।[2] परन्तु उनकी सुव्यवस्था का समय अब जाता रहा था। इसमें भी सन्देह है कि क्या वे रेलों की प्रतिस्पर्धा का सामना कर सकती थीं, जो अधिक वेगवत, अधिक समय की पाबन्द और कई दृष्टियों से अधिक सुविधाजनक थीं। रेल के डिब्बे खान के मुँह से सीधे घाट तक ले जाए जा सकते थे, और जहाजों में कोयला लादने का कार्य इतना सरल हो जाता था

---

१. कृषि की उत्पत्ति की मण्डी के विस्तार का कृषि पर बहुत लाभदायक प्रभाव पड़ा।

२. १८४५ में साधारणतः नहर कम्पनियों को माल ढोने का अधिकार दे दिया गया; बहुत कम ने इसका लाभ उठाया।

जितना नहरों से कोयला भेजने में असंभव था। नहरों को एक और दिशा से प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ा। उनको अठारहवीं शताब्दी के तटीय जहाजों से बहुत यातायात मिलता था, उनको यह उन्नीसवीं शताब्दी के तटीय वाष्प-पोतों को देना पड़ा।

नहरों को जिस प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ा उसमें से कुछ इस प्रकार की थी जिसको कभी-कभी "अनुचित" कहा जाता है (यद्यपि नैतिक अर्थों में इस विशेषण का औचित्य स्थापित करना कठिन है)। रेल कम्पनियों ने प्रतिस्पर्धा का अन्त करने के लिए कुछ नहरें खरीद लीं, और यदि खरीदी जाने वाली (और संभवतः बन्द की जाने वाली) नहर मौके की होती थी तो दूसरी नहरों पर प्रभाव पड़ता था और सम्पूर्ण नहर प्रणाली कमजोर पड़ती थी। ऐसी कार्यवाही से नहरों को एक और कठिनाई सहन करनी पड़ती थी, वह यह कि इससे रूपान्तरीकरण, एकीकरण और सीधा शुल्क बतलाने में एक अतिरिक्त बाधा उपस्थित होती थी। कुल मिला कर नहरों की लम्बाई का लगभग एक तिहाई भाग रेल कम्पनियों के नियंत्रण में चला गया।

इस "अनुचित" प्रतिस्पर्धा के रूप और क्षेत्र के बारे में बहुत कम वाद-विवाद हुआ है। रेल-कम्पनियों की सफाई में यह तर्क दिया जाता है कि वे स्वरक्षा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कर रही थीं। एक नहर कम्पनी प्रस्तावित रेल योजना के विरोध में आपत्ति उठा सकती थी इस आशा में कि विरोध को शान्त करने के लिए रेल कम्पनी को नहर को खरीदना पड़ेगा। कुछ नहर कम्पनियाँ अपना व्यवसाय बदल कर रेलें चलाने का विचार कर रही थीं। अनेकों ने संसदीय अधिकार प्राप्त कर लिये और एक या दो ने तो अपना व्यवसाय बदल भी लिया। रेल कम्पनियों के विरोध में नहरें बन्द करने का आक्षेप बहुत कम सिद्ध किया जा सकता है, और साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि स्वतंत्र नहरो की तुलना में रेल-कम्पनियों की नहरों की दशा अच्छी थी।

रेल-कम्पनियों के समर्थक कहते हैं, और इसमें कुछ सत्य का आभास है, कि नहरों की अवनति का कारण रेलों की प्रतिस्पर्धा नहीं थी। वे कहते हैं कि नहरों की तुलना में रेलों की जन्मजात उत्तमता को छोड़ कर, नहर

कम्पनियों की दुर्भाग्यपूर्ण अवस्था के कारण उनको अच्छी हालत में नहीं रखना, आधुनिक आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं चलना, उनकी मन्दगति या सुस्ती, संगठन का अभाव, और, इन सब से अधिक, परिवहन के, जिस साधन पर उनका नियंत्रण था उस पर विश्वास का उठ जाना थे।

१८८८ में वैधानिक अधिकार के बिना रेलवे कम्पनियों द्वारा नहरों का हथियाना निषिद्ध कर दिया गया। यदि इसका उद्देश्य रेलों के साथ प्रतिस्पर्धा करने योग्य नहर-प्रणाली को कायम रखना था तो यह कदम बहुत देरी से उठाया गया, क्योंकि कई नहरों का क्रय हो चुका था। इस अधिनियम ने केवल उनको रेलों के प्रबन्ध में लाने की क्रिया को पूर्ण नहीं होने दिया; यदि इसको निषिद्ध करने की जगह प्रोत्साहित किया जाता तो नहरों का एकीकरण और नवीनीकरण हो जाता।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त के दिनों में मेनचेस्टर में यातायात की कठिनाइयों ने लंकाशायर के कुछ व्यवसायियों को लीवरपूल से मेनचेस्टर तक एक जहाजी नहर बनाने के लिए एक कम्पनी चलाने को प्रेरित किया। यह नहर, जिसके बनाने में ६ वर्ष लगे, और जो छत्तीस मील लम्बी है, आधुनिक निर्माण-कला का एक चमत्कार है। यह प्रत्येक दृष्टि से सुसज्जित है। और समुद्र पार जाने वाले जहाज अपने माल सहित मेनचेस्टर तक आ जाते हैं। मेनचेस्टर की जहाजी नहर के द्वारा होने वाले यातायात की मात्रा इतनी है कि मेनचेस्टर राज्य में सातवाँ बन्दरगाह है।[1] और यह उल्लेखनीय है कि लीवरपूल के द्वारा होने वाले व्यापार की मात्रा में कमी किए बिना यह संभव हो गया है।

नहरों की उपयोगिता का सर्वथा अन्त नहीं हो गया है। भारी और भीमकाय वस्तुओं के लाने-ले जाने के लिए, जिनके लिए यातायात की गति आवश्यक नहीं होती, उनका अब भी प्रयोग किया जाता है। वास्तव में यह कहा गया है कि रेलों की तुलना में उनकी अवनति हुई है, निरपेक्ष दृष्टि से नहीं। परन्तु यह नतीजा निकालने में नहरी यातायात के आंकड़ों का गम्भीर अध्ययन नहीं किया गया। उनके द्वारा होने वाले व्यापार के वजन के १८८८, १८९८

१. १९३७ में व्यापार के मूल्य के हिसाब से मेनचेस्टर का स्थान सातवाँ था, यदि वजन का हिसाब लगाया जाय तो दसवाँ।

और १६०५ के वर्षों के सरकारी विवरण पत्र तैयार किए गए थे, और इन तीन वर्षों के योगों की तुलना से यातायात के आकार में वृद्धि प्रकट होती है। परन्तु १६०५ की अपेक्षा पूर्व वर्षों के विवरण-पत्र अपूर्ण थे और इसलिए इन की तुलना अमान्य हो जाती है। इसके अतिरिक्त १६०५ के आँकड़े मेनचेस्टर की जहाजी नहर के द्वारा होने वाले यातायात के सम्मिलित करने से बढ़ गए हैं, जिसकी अपनी अलग श्रेणी है। इन विवरण-पत्रों में अविश्वास का एक और कारण है। जो माल एक से अधिक नहरों से होकर जाता है वह प्रत्येक सम्बन्धित कम्पनी के विवरण-पत्रों में दिखलाया जाता है, परिणामस्वरूप विवरण-पत्रों में पुनरावृत्ति हो जाती है जो अनुमानतः चालीस प्रतिशत है।

१६०६ के मार्च में संयुक्त राज्य में नहरों की दशा और अन्तर्देशीय नौ-वहन मार्गों की जाँच करने और सरकार को सिफारिशें करने के लिए एक राजकीय आयोग नियुक्त किया गया था। इस आयोग का अन्तिम प्रतिवेदन १६०६ में प्रकाशित किया गया था। इसके विचार से मरसी, हम्बर, थेम्स और सेवर्न के मुहानों के मिलाने वाले "क्रास" (cross) का सुधार भविष्य की किसी सुधार योजना का आवश्यक अंग होना चाहिए। कुछ आयुक्तों का विचार था कि 'क्रास' में संयुक्त नहरों को चौड़ा कर देना चाहिए जिससे तीन सौ टन तक के लद्दू जहाज आ सकें और नौ-तार्य नदियों में सात सौ पचास टन तक के लद्दू जहाज काम में आने चाहिएँ, दूसरों का विचार था कि एक अधिक साधारण योजना, जिसके अधीन नहरों में सौ टन के जहाज आ सकें और नदियों में इससे बड़े, यथेष्ट होगी, और यह इस विषय पर आयोग की सिफारिशों का आधार था। आयोग के अनुसार सुधार कार्य मौजूदा नहर कम्पनियों को नहीं सौंपा जा सकता, उन्होंने जल मार्ग-मण्डल (Waterways Board) की स्थापना की सिफ़ारिश की, जो कम्पनियों से नहरें ले कर सुधार कीं योजनाए अपनाएगा। (नहर कम्पनियों के भागधारियों को मण्डल द्वारा जारी किए हुए स्कन्ध (Stock) क्षतिपूर्ति के रूप में दे दिए जाएँगे)। परन्तु आयोग इन सिफारिशों को कार्यान्वित करने के व्यय के पूर्ण एवं विश्वसनीय अनुमान नहीं लगा सका, और इसको सन्देह था कि यदि राज्य ने किसी प्रकार की सहायता प्रदान नहीं की तो सुधारों के लिए आवश्यक पूँजी लगाने के लिए जनता में नहर-प्रणाली

में यथेष्ट विश्वास का अभाव पाया जा सकता है; इसने सिफारिश की कि तुरन्त आर्थिक लाभ का ध्यान छोड़ कर साधारण नीति के आधार पर सरकार को वित्तीय उत्तरदायित्व स्वीकार करना चाहिए।[1]

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यदि राजकीय आयोग की सिफारिशों पर अमल किया जाता तो स्थानीय उद्योगों को लाभ होता। मिडलैण्ड में कतिपय वर्गों की वस्तुओं का परिवहन-व्यय घट जाता, परन्तु यह संभव है कि नहरों को जो यातायात प्राप्त होता वह रेलों को नहीं होता। मिडलैण्ड क्षेत्र में नहरों की प्रतिस्पर्धा का सामना करने के लिए रेल-कम्पनियों को अपना भाड़ा घटाना पड़ता और उनके लाभाँश घट सकते थे। नहर-प्रणाली के प्रस्तावित सुधार से औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन देने और नया यातायात उत्पन्न करने में जितनी सफलता मिलती इससे उतना ही स्थायी सार्वजनिक लाभ मिल सकता था।[2]

---

१. राजकीय आयोग की सिफारिशें कभी कार्यान्वित नहीं की गईं। इसके प्रतिवेदन के प्रकाशित होने के कुछ वर्षों बाद तक सरकार का ध्यान राजनीतिक प्रश्नों पर लगा रहा। तत्पश्चात् यूरोपीय युद्ध आ गया और युद्धोत्तर वित्तीय कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। १९३० में राजकीय परिवहन आयोग (Royal Commission on Transport) ने अपना प्रतिवेदन दिया और साधारण शब्दों में नहर-प्रणाली के सुधार की समर्थन किया और यह विश्वास प्रकट किया कि यह "राष्ट्रीय परिवहन योजना का एक उपयोगी अंग बन सकती है।"

२. १९४७ में परिवहन अधिनियम के अधीन (मेनचेस्टर की जहाजी नहर और ब्रिजवाटर नहर को छोड़कर) नहरें और रेलें परिवहन आयोग (Transport Commission) के नियंत्रण में चली गई हैं।

उन्नीसवाँ अध्याय

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री

इस पुस्तक के पहले के अध्यायों में आँग्ल इतिहास के विभिन्न कालों में प्रचलित आर्थिक विचारों का कुछ वर्णन किया गया है। मध्यकालीन आर्थिक सिद्धान्त नीति-शास्त्र से सम्बन्धित थे और धार्मिक सिद्धान्तों पर आधारित थे। वाणिज्यवादी सिद्धान्त, जो पन्द्रहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक मान्य थे, मध्य युग के अन्त में पैदा होने वाली राष्ट्रीयता की भावना का आर्थिक रूप थे। न तो मध्यकालीन और न वाणिज्यवादी आर्थिक मतों की मान्यता किसी एक महान् विचारक या अर्थशास्त्रियों के "सम्प्रदाय" के कारण थी। एक के पीछे चर्च की समस्त शक्ति थी; दूसरा तात्कालिक परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम था।

राजनीतिक दर्शन का विद्यार्थी जानता है कि वह "राजनीतिक विज्ञान के पिता", अरस्तु, का कितना ऋणी है, और राजनीति शास्त्र का विकास उन दार्शनिकों की लम्बी शृंखला के कारण हुआ जिन्होंने अरस्तु का कार्य आगे बढ़ाया, उसकी आलोचना की, कभी-कभी उसको गलत समझा और कुछ समय के लिए उसको छोड़ दिया, उसका परिवर्द्धन किया, और, आधुनिक काल में, उसकी सराहना करने लगे हैं। आर्थिक विचारकों की ऐसी कोई शृंखला नहीं है[1] जिनकी कृतियों के द्वारा अर्थशास्त्र के विकास का सम्बन्ध किसी प्राचीन महान विचारक के कार्य से जोड़ा जा सके।[2]

---

१. निःसन्देह स्मिथ से पहले भी अर्थशास्त्र के लेखक हुए हैं—उदाहरण के लिए चाइल्ड, पेटी, नोर्थ, ग्रीगोरी किंग आदि—परन्तु उनकी रचनाएँ अधिकांश विवाद-पूर्ण पुस्तिकाएँ थीं, और उन्होंने आर्थिक सिद्धान्तों की पूर्ण व्याख्या का प्रयत्न नहीं किया।

२. अरस्तु ने सम्पत्ति प्राप्त करने की कला का उल्लेख किया है। परन्तु वह धनोपार्जन को एक साध्य नहीं मानता था; यह तो साधारण सामाजिक जीवन की एक सहायक क्रिया थी। उसने विनिमय और चलार्थ पर कुछ विचार प्रकट किए हैं जो आधुनिक आर्थिक सिद्धान्तों की दृष्टि में सत्य माने जाएँगे।

फिर भी, एक शताब्दी से कम के काल में, मोटी तौर पर औद्योगिक क्रान्ति के समय में, अनेक अर्थशास्त्रियों ने क्रमबद्ध रूप में संसार के सन्मुख अपने विचार रखे। फ्रान्स में, विचारकों के एक दल ने, जिसको भूमि-प्रधानतावादी (Physiocrats) कहते हैं और जिनमें केने (Quesnay) मुख्य था, आर्थिक सिद्धान्तों के विभिन्न पहलुओं पर अपने विचार प्रकट किए हैं। केने और उसके सहयोगियों और शिष्यों ने, जिनमें मिराबाउ (Mirabeau) अधिक प्रसिद्ध क्रान्ति के काल के मिराबाउ का पिता—दी ला रीवीरे (De la Riviere), दी नीमूर (De Nemours), तरगो (Turgot) और ले त्रोस्ने (Le Trosne) थे, समाज की "प्राकृतिक व्यवस्था" की कल्पना की जो फ्रान्स में उस समय प्रचलित समाज के कृत्रिम राजनीतिक और आर्थिक ढाँचे से और इङ्गलैण्ड में समझे जाने वाले वाणिज्यवादी सिद्धान्तों से सर्वथा भिन्न थी। उनकी मान्यता थी कि इस "प्राकृतिक व्यवस्था" के पुनस्थापन के लिए जो प्रतिबन्ध और नियमन पैदा हो गए हैं उनका अन्त आवश्यक है और इसलिए उन्होंने राज्य निर्बाध नीति का समर्थन किया। उनके अनुसार सम्पत्ति का स्रोत केवल कृषि थी। केवल भूमि जोतने ही से लागत से अधिक प्राप्त होता था। किसान द्वारा भूमि में रखे गए अनाज के प्रत्येक दाने के लिए उसको तीस-गुनी, साठ-गुनी या सौ-गुनी प्राप्ति होती थी। वाणिज्य और कल-कारखाने आवश्यक हो सकते हैं, परन्तु, भूमि प्रधानतावादियों के अनुसार, इनसे सम्पत्ति की वृद्धि नहीं होती, उद्योग-धन्धों की उत्पत्ति का मूल्य कच्चे माल और उस पर किए गए श्रम के मूल्य के बराबर होता है। इनसे कोई "विशुद्ध वृद्धि" प्राप्त नहीं होती और वे इन व्यवसायों को अनुत्पादक मानते थे। यहाँ पर भूमि प्रधानतावादियों की गलतियों की छानबीन करना आवश्यक नहीं है, परन्तु उनको आधुनिक अर्थशास्त्र के प्रवर्त्तकों के रूप में स्वीकार करना उचित है।

भूमि प्रधानतावादियों के ठीक बाद में एडम स्मिथ (Adam Smith) आया, जिसकी महान् रचना "राष्ट्रों की सम्पत्ति" (The Wealth of Nations) का, जो १७७६ में प्रकाशित हुई थी, अर्थशास्त्र की बाइबिल (Bible) के रूप में आदर किया जाता है। स्मिथ कुछ सीमा तक भूमि प्रधानतावादियों का ऋणी था, और वह उनके प्रति अपना ऋण स्वीकार करने को तैयार था,

एडम स्मिथ ऐसे समय में रहता था जबकि वाणिज्यवादी सिद्धान्तों के अनुसार आर्थिक प्रयत्नों का संचालन किया जाता था। वह इस नियमन प्रणाली का कट्टर विरोधी था और उसने स्वतन्त्रता की आवश्यकता पर जोर दिया—अर्थात् उसने जहाँ-कहीं भी नियमन और प्रतिबन्ध, एकाधिकार और विशेषाधिकार विद्यमान थे उनके अन्त करने की माँग की। उसका विश्वास था कि जब व्यक्तियों में अबाधित प्रतिस्पर्धा होगी तब प्रत्येक व्यक्ति अधिकतम लाभ का मार्ग अपनाएगा।[1] कुछ मामलों में, जब स्वतन्त्र व्यवहार से दूसरों की स्वतंत्रता या राष्ट्र की सुरक्षा या इसके नैतिक कल्याण को आघात पहुँचने की आशंका हो तो कुछ अंशों तक नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है, और यह मानते हुए कि नौ-वहन अधिनियमों (Navigation Acts) से राष्ट्रीय सुरक्षा में सहायता मिलती है उसने इनका समर्थन किया।[2] उसने यह भी स्वीकार किया कि वास्तविक जीवन में आर्थिक क्रियाओं पर राज्य का नियन्त्रण एक दम

वर्ग के लोगों का व्यवहार सदा समान होगा अर्थात् वे सदा अपने हित में कार्य करेंगे। यह कल्पना निराधार थी और यह मानना पड़ेगा कि अर्थशास्त्र का यह अमूर्त्त विवेचन, जिसने इसमें से सब मानवीय भावनाओं को निकाल दिया; इसके लिए "शोकयुक्त विज्ञान" (Dismal Science) का नाम कमाने के लिए उत्तरदायी है। परन्तु यह स्वीकार करना होगा कि स्मिथ, माल्थस और रिकार्डो का अमूर्त्त विवेचन उनके समय की परिस्थति पर आधारित था, और उनकी यह आलोचना करना उचित है कि उन्होंने अपने चारों ओर जो तथ्य देखे उनका बहुत निकट सामान्यी करण कर दिया और उन्होंने परिवर्तित परिस्थितियों की संभावनाओं पर ध्यान नहीं दिया।

१. यह सिद्धान्त कि शासन को अधिक से अधिक संख्या का अधिक-से-अधिक भला करना चाहिए जेरेमी बैनथम (Jeremy Bentham) द्वारा अपनी पुस्तक "फ्रगमेन्ट ऑन गवर्नमेन्ट" (Fragment on Government) में, जो १७७६ में प्रकाशित हुई थी, प्रतिपादित किया गया था। इससे उसने यह तर्क किया कि विवेक-रहित प्रतिबन्ध हटा दिए जाने चाहिएँ।

२. नौ-वहन अधिनियमों के विषय पर स्मिथ के विचार प्रायः उद्धृत किए जाते हैं। परन्तु सदा इस बात पर ध्यान नहीं दिया जाता कि इस विषय पर उस के विचारों में और उसकी साधारण युक्तियों में विरोध है और ये विचार मूलतः

समाप्त करने से कष्ट हो सकता है और उसने स्वीकार किया कि स्वतन्त्रता की स्थापना अंशवत् होनी चाहिए। ऐसा प्रकट होता है कि उसने अपने सिद्धान्तों के पूर्णतः अपनाए जाने की संभावना पर विचार नहीं किया, कम से कम अल्प-काल में नहीं, परन्तु वह आशा करता था कि समय-समय पर उसके आदर्श, स्वतन्त्रता की ओर प्रगति होगी।

यह मान कर चलते हुए कि सम्पत्ति केवल श्रम से उत्पन्न की जा सकती है, स्मिथ ने विशिष्टीकरण या श्रम-विभाजन के लाभ बतलाए। उनका यहाँ वर्णन करना आवश्यक नहीं है, जैसा कि उसने किया है, यह बतला देना काफी है कि यदि प्रत्येक मनुष्य अनेक व्यवसायों या क्रियाओं को अपनाने की अपेक्षा अपना सारा ध्यान एक पर लगावे तो कुल उत्पत्ति बहुत बढ़ जाती है। परन्तु श्रम के इस प्रकार के संगठन के लिए वस्तुओं का विनिमय होना आवश्यक है; जो मनुष्य केवल एक ही वस्तु बनाता है या एक ही क्रिया करता है केवल अपनी उत्पत्ति पर जीवित नहीं रह सकता, चाहे वह कितनी भी क्यों नहीं हो। उसको अपनी बनाई हुई वस्तु का दूसरों की बनाई हुई वस्तुओं से विनिमय करने की सुविधा चाहिए। इसलिए श्रम-विभाजन के लिए विनिमय आवश्यक है और स्वतन्त्र विनिमय के मार्ग में प्रत्येक बाधा से श्रम-विभाजन का व्यावहारिक क्षेत्र घट जाता है। जो बात व्यक्तियों के लिए सही है, वही राष्ट्रों के लिए लागू होती है। व्यक्तियों की योग्यता में अन्तर होता है और राष्ट्रों के प्राकृतिक साधनों में अन्तर पाया जाता है। अधिकतम लाभ केवल उसी समय प्राप्त होता है जब प्रत्येक राष्ट्र उस वस्तु के उत्पादन पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है जिसके लिए प्रकृति ने उसको सब से अधिक योग्य बनाया है और अपनी अतिरिक्त वस्तुओं का संसार के अन्य भागों की उत्पत्ति से विनिमय करता है। व्यापार की स्वतन्त्रता पर प्रत्येक प्रतिबन्ध से यह अधिकतम लाभ घटता है और संसार की कुल सम्पत्ति घटती है।

कमजोर हैं। उसने स्वीकार किया कि सत्रहवीं शताब्दी के युद्धों में डच लोगों पर अंगरेजों की विजय नौ-वहन अधिनियमों के कारण नहीं थी, इनको बने हुए इतना समय नहीं हुआ था कि बड़े परिणाम निकल सकें, और इससे यह नतीजा निकालना स्वाभाविक है कि इङ्गलैंड की सामुद्रिक शक्ति जिसको स्मिथ नौ-वहन अधिनियमों का परिणाम मानता है इनके पारित होने से पहले मौजूद थी।

स्वतंत्र व्यापार के समर्थन ने स्मिथ को विनिमय की रचना का विवेचन करने और मुद्रा की प्रकृति और कार्यों का स्पष्टत: उल्लेख करने के लिए प्रेरित किया। वस्तुओं का वस्तुओं से विनिमय करने में अर्थात् अदल-बदल में कुछ असुविधाएँ होती हैं जो स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हैं और जो विनिमय को दो अलग-अलग क्रियाओं—क्रय और विक्रय में बांट कर दूर की जा सकती हैं। इसके लिए एक माध्यम—मुद्रा की आवश्यकता होती है जो सर्वत्र वस्तुओं के बदले में स्वीकार की जाती है क्योंकि इसका अन्य वस्तुओं से विनिमय किया जा सकता है। इन विचारों के सविस्तार विवेचन से स्मिथ बहुमूल्य धातुओं के विषय में वाणिज्यवादी भ्रान्तियाँ बतला सका, उसने मुद्रा और सम्पत्ति में अन्तर बतलाया और उसने बतलाया कि मुद्रा (धात्विक या कागजी) की मात्रा में वृद्धि से, अन्य बातों के पूर्ववत् रहने पर, केवल कीमतें बढ़ जाती हैं। यह बात तब से बार-बार सिद्ध की जा चुकी है।

थॉमस माल्थस नाम के पादरी ने आर्थिक विषयों पर अनेक पुस्तकें लिखीं, परन्तु इस विज्ञान की उन्नति में उसका सब से महत्त्वपूर्ण अंशदान उसकी "जनसंख्या पर लेख" (Essay on Population) नामक पुस्तक ने किया। यह सर्वप्रथम १७९८ में प्रकाशित हुई थी और बहुत कुछ संशोधनों सहित १८०३ में पुन: प्रकाशित की गई थी। इसके आगे समय-ससय पर इसके अनेक संस्करण निकले और प्रत्येक अवसर पर पुस्तक में संशोधन किया गया।

माल्थस के विचारों पर तात्कालिक परिस्थितियों का गहरा प्रभाव पड़ा। जनसंख्या तेजी से बढ़ रही थी, यह घटना फ्रांसीसी युद्धों के कारण साधारणत: संतोषजनक मानी जाती थी। परन्तु फसलें सदा उत्तम नहीं होती थीं, और युद्ध के कारण बड़ी मात्रा में खाद्य-पदार्थों का आयात संभव नहीं था। समय-समय पर अभाव, कष्ट और अकाल भी पड़े और दरिद्र वर्गों की दुर्गति के कारण १७९५ में स्पीन हमलैण्ड (Speenhamland) में प्रारम्भ की गई भत्ता (सहायता) पद्धति का बहुत व्यापक उपयोग किया गया। श्रमवर्ग अकिंचन हो गया, ग्राम्य-सहायता स्वीकार करना अपमानजनक नहीं रहा और दरिद्रतम लोगों में विवेकहीन बालविवाह का रिवाज चल पड़ा.

मात्थस ऐसी अवस्था को संतोष और समर्थन की दृष्टि से नहीं देख सका। अपने "लेख" में उसने पहले खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति के प्रश्न पर विचार किया। उसने अनुभव किया कि, बड़ी मात्रा में आयात के अभाव में, जिसकी उसने कल्पना भी नहीं की, बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए खाद्य-पदार्थ केवल कर्षित भूमि पर अधिक गहरी खेती से या अन्य भूमि पर खेती करने से उत्पन्न किए जा सकते हैं। एक ओर उत्पत्ति ह्रास नियम लागू हो जाएगा; माल्थस इसको स्पष्ट रूप से समझता था, यद्यपि यह नाम प्रयोग में नहीं लिया जाता था। दूसरी ओर, यदि बिना जोती हुई भूमि पर खेती की जाय तो यह निम्न श्रेणी की भूमि होगी, जो वर्तमान कर्षित भूमि से कम उत्पत्ति देगी।

जनसंख्या की वृद्धि पर ध्यान देने पर माल्थस इस नतीजे पर पहुँचा कि सन्तानोत्पत्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति इतनी बलवान है कि जनसंख्या के पच्चीस वर्षों के काल में दुगुनी होने की आशा की जा सकती है, यदि कोई निम्नाँकित प्रतिबन्ध इसको नियंत्रण में नहीं रखता हो।[1] जीवन-स्तर में प्रत्येक सुधार से इन प्रतिबन्धों का जोर कम पड़ जाता है और इस प्रकार सीधी तौर से जनसंख्या की वृद्धि को प्रोत्साहन मिलता है।

ये दो बातें मिला दी गई और गणित की शब्दावली में प्रकट की गई। जनसंख्या में ज्यामितिक या गुणोत्तर अनुपात में बढ़ने की प्रवृत्ति होती है परन्तु खाद्य-पदार्थों की पूर्ति में समान्तर वृद्धि की प्रवृ होती है। यह नतीजा निकाला गया कि जनसंख्या में जीवन-रक्षा के साधनों से अधिक बढ़ जाने की प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति पर राजनीतिज्ञों और अर्थशास्त्रियों को सावधानी से और बराबर ध्यान देना चाहिए। यदि इस पर किसी प्रकार नियंत्रण नहीं किया गया तो श्रमिक वर्ग का जीवन-स्तर घटेगा और सर्वत्र दरिद्रता और दुःख फैल जायगा।[2]

जनसंख्या की वृद्धि को रोकने वाले अवरोध दो प्रकार के थे। प्राकृतिक

---

१. माल्थस के कुछ आलोचकों ने यह आपत्ति उठाई है कि पच्चीस वर्षों का काल बहुत कम है। परन्तु काल की अधिकता का नतीजे पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

२. माल्थस भूल गया कि जनसंख्या की वृद्धि से जिसका उसको भय था, अधिक श्रम-विभाजन हो सकेगा, और इससे धन की उत्पत्ति में वृद्धि हो सकती है।

अवरोध वे कारण थे जो वर्तमान जनसंख्या का नाश करते थे; इनमें प्लेग, महामारी, अकाल, युद्ध और बाढ़ तथा भूकम्प जैसी विपत्तियाँ सम्मिलित थी।[1] कृत्रिम अवरोध का प्रभाव मनुष्यों की उत्पत्ति को रोकना था, यह आत्म-संयम का रूप लेता था जिससे माल्थस का अभिप्राय विवाह नहीं करने या देरी से करने से था।

माल्थस अपने आप को आशावादी कहता था, और वह प्राय: निराशावादी नहीं माना जाता है, परन्तु उसके समस्त तर्क की प्रवृत्ति निराशावाद की ओर है। यदि उसके निष्कर्ष बिना संशोधन के स्वीकार कर लिये जाएँ तो यह समझना कठिन है कि जनता की दशा में स्थायी और यथेष्ट सुधार कैसे किए जा सकते हैं। अधिकांश श्रमिक वर्गों को सदा केवल प्राण-रक्षा के स्तर पर जीवन व्यतीत करना पड़ता है, जीवन-स्तर में निश्चित सुधार होते ही जन-संख्या में वृद्धि होगी जिससे पुन: स्तर गिर जायगा। इस दुष्ट चक्र से बचने का केवल एक मार्ग आत्म-संयम है, और यह संदिग्ध है कि क्या माल्थस स्वयं इसको वास्तव में प्रभावोत्पादक मानता था।

तो भी, विगत सौ वर्षों का अनुभव माल्थस की मान्यता की पुष्टि नहीं करता। उसके "लेख" के प्रकाशन से इस देश की जनसंख्या पाँच गुनी हो गई है, और जन-साधारण का जीवन स्तर बहुत उन्नत हो गया है। माल्थस की भविष्यवाणी और वास्तव में जो घट चुका है उनमें अन्तर के कारण उसके विचारों के विरोध में प्रतिक्रिया हुई है। और कई लोगों का विचार है कि वह सर्वथा गलत था।

संभवत: सब से गम्भीर आलोचना जो माल्थस की जा सकती है वह यह है कि उस पर अपने समय की परिस्थितियों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था और उसने भविष्य में और संसार के अन्य भागों में अन्य कारणों के उदय की संभावना पर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया—ऐसे कारण जिनसे उसके निष्कर्ष बहुत कुछ बदल सकते हैं। खेती की भूमि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उसके विचार, जहां तक वे गए, सही थे, परन्तु कालान्तर में परिस्थिति के बदलने पर

---

1. **और, असभ्य समाजों में स्वजातिभक्षण, बाल-हत्या और वृद्ध-हत्या**

वे दूषित हो गए। माल्थस के समय में खेती के तरीकों में सुधार के प्रयत्न किए जा रहे थे; उसने इनको स्वीकार किया, परन्तु उससे इतनी आशा नहीं की जा सकती थी कि वह यह समझ ले कि उन्नीसवीं शताब्दी में ये और दूसरे सुधार इतने सामान्य रूप से अपना लिये जाएँगे कि भूमि की उत्पत्ति में ह्रास के स्थान पर वृद्धि होने लगेगी। इसके अतिरिक्त, जिस भूमि पर अब तक खेती नहीं की गई थी वह कर्षित भूमि से अनिवार्यतः कम उपजाऊ नहीं थी; यह पहुँच से बाहर होने से इस पर खेती करना कम लाभप्रद हो सकता था। उन्नीसवीं शताब्दी में परिवहन के साधनों के विकास से यह मंडियों की पहुँच में आ सकती थी और आ गई; इस प्रकार लाभप्रद खेती के लिए उपलब्ध भूमि का क्षेत्रफल बहुत बढ़ गया।

उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश उद्योगों और वाणिज्य का जो रूपान्तर हुआ माल्थस उसकी भी कल्पना नहीं कर सकता था। वह पहले से यह नहीं देख सका कि ग्रेट ब्रिटेन अपनी खाद्य-पदार्थों की पूर्त्ति का अधिकांश भाग सुदूर महाद्वीपों से आयात करेगा और इनके लिए निर्मित वस्तुएँ, कोयला, जहाजी और वित्तीय सेवाएँ देगा। विगत शताब्दी में जिस बड़े पैमाने पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार किया गया है उसके कारण जिन संभावनाओं का माल्थस को भय था वे अनिश्चित काल के लिए स्थगित हो गई हैं। समस्त संसार में खाद्य-पदार्थों की उत्पत्ति संसार भर की जन संख्या की आवश्यकताओं से अधिक हुई है।[1] कुछ क्षेत्रों में और कुछ लोगों के लिए समय-समय पर खाद्य-पदार्थों का अभाव, और अकाल भी, हुआ है, परन्तु यह परिवहन के साधनों की कमी और समाज के आर्थिक ढाँचे के दोषों के कारण हुआ है और ये विषय उपचार-रहित नहीं हैं। संक्षेप में माल्थस के विरोध में यह कहा जाता है कि उसने समझा था कि जन-

---

१. इस कथन और पृ० २१८ के कथन और १९४९ में युद्ध की समाप्ति पर प्रचलित अवस्था में मेल नहीं बैठता। परन्तु विश्व की खाद्य-पदार्थों की पूर्त्ति में कमी युद्धजनित आर्थिक अव्यवस्था का परिणाम है। ग्रेट ब्रिटेन में जन्म-दर में वृद्धि बड़ी संख्या में पुरुषों के सेना से छुटकारा पाकर अपने घरों को लौटने के कारण हुई है। (१९१४-१८ के युद्ध के पश्चात् भी इसी प्रकार जन्म-दर में वृद्धि नज़र आई थी।) इन घटनाओं को स्थायी मानने का कोई ठोस आधार नहीं है।

संख्या में जीवन-रक्षा के साधनों से आगे बढ़ने की प्रवृत्ति होती है; उसके समय से मानव जाति का यह अनुभव रहा है कि सुधार की गति जन संख्या की वृद्धि से अधिक रही है।

यदि यह सत्य है कि व्यापक दृष्टिकोण ने उत्पत्ति पर माल्थस के विचारों में संशोधन करने के लिए बाध्य किया है, तो यह भी समान रूप से सत्य है कि वर्तमान अनुभव के प्रकाश में जन संख्या में वृद्धि के कारणों पर उसका मत बिना संशोधन के स्वीकार नहीं किया जा सकता। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से श्रमिक वर्गों और मध्यम वर्गों की सुविधाओं का स्तर, कभी-कभी गिरने पर भी, बहुत उन्नत हो गया है। भौतिक अवस्था में इस सुधार के साथ-साथ जन्म-दर नहीं बढ़ी है, इसके विपरीत जन्म-दर में बराबर कमी वर्तमान युग की एक सब से अधिक उल्लेखनीय सामाजिक घटना है। जन-संख्या में वृद्धि, वास्तव में, जारी रही है, परन्तु यह मृत्यु-दर में कमी के कारण है। लोग अधिक समय तक जीवित रहते हैं, परन्तु बच्चे कम पैदा होते हैं, और जन-संख्या की औसत उम्र बराबर बढ़ रही है। मृत्यु-दर में कमी के कारण जन-संख्या की वृद्धि अनिश्चित काल तक नहीं चल सकती; इसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं है कि जन्म-दर में कमी जारी रहेगी।[१] शीघ्र ही एक ऐसी स्थिति आएगी कि जिससे आगे जन संख्या नहीं बढ़ेगी और कालान्तर में लोगों की संख्या घटने लगेगी। इस वृद्धि की दर में कमी और भविष्य में जन-संख्या की संभावित कमी के संभावित परिणामों का विवेचन करने के लिए यह स्थान नहीं है; यहाँ यह बतलाना आवश्यक है कि तथ्य माल्थस की भविष्यवाणी की पुष्टि नहीं करते हैं। जो लोग एक शताब्दी पूर्व प्रचलित जीवन स्तर से उच्च स्तर व्यतीत करने के अभ्यस्त हो गए हैं, अपने लिए और अपने बच्चों के लिए, इसको बनाए रखने और बढ़ाने के लिए कटिबद्ध मालूम होते हैं। वे लोग पहले की अपेक्षा देरी से शादी करते हैं, और जब माल्थस ने अपने विचार बनाए उस समय की अपेक्षा परिवार बहुत छोटे होते हैं।

माल्थस का समकालिक "प्रतिष्ठित सम्प्रदाय" का एक दूसरा सदस्य, डेविड रिकार्डो था, जिसकी सबसे महत्त्वपूर्ण रचना "राज्यार्थव्यवस्था के

---

१. पृष्ठ २१७ के नीचे की टिप्पणी देखिए।

"सिद्धान्त" (Principles of Political Economy) १८१७ में, उसकी मृत्यु के केवल कुछ वर्षों पूर्व प्रकाशित हुई थी। इस ग्रन्थ में उसने लगान का सिद्धाँत प्रतिपादित किया, जो यद्यपि उसके द्वारा निकाला हुआ नहीं है, उसके नाम से सम्बन्धित है। उसने एक मूल्य का सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया जिसके अनुसार, कपितय मर्य्यादाओं सहित, मूल्य उत्पत्ति कार्य में लगाए गए श्रम के अनुपात में होता है, परन्तु मूल्य के सारे विषय का जॉन स्टूअर्ट मिल ने अधिक पूर्णता से विवेचन किया है।

रिकार्डो की लगान की परिभाषा के अनुसार, जो बहुत संतोषप्रद नहीं है, लगान "भूमि की उत्पत्ति का वह भाग है जो भू-स्वामी को भूमि की मौलिक और अनाशी शक्तियों के लिए दिया जाता है।" यह निर्धारित करना कठिन है कि भूमि की शक्तियां किस सीमा तक मौलिक हैं और कहां तक दक्षतापूर्वक ध्यान देने और खेती करने का परिणाम हैं। भूमियां अनेक बातों में भिन्न होती हैं—विशेषतः प्राकृतिक उर्वरता और मंडियों से निकटता में। लोगों की खाद्य-पदार्थों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए यथेष्ट भूमि पर खेती करनी पड़ती है, और, मोटी तौर से, अधिक लाभदायक भूमि पर खेती की जाएगी और कम लाभदायक को वनों के रूप में छोड़ दिया जाएगा या दूसरी प्रकार उपयोग किया जाएगा। अधिक लाभदायक भूमियों में भी अन्तर होंगे, परन्तु इनमें से खराब से खराब पर भी हानि उठाए बिना खेती होनी चाहिए, या इस पर खेती बन्द कर दी जाएगी। लगान कर्षित भूमियों में सबसे कम उपजाऊ भूमि की उत्पत्ति और अच्छी भूमियों की उत्पत्ति में अन्तर होता है। यह स्पष्ट है कि सीमान्त या आसपास की भूमि पर अनाज का मूल्य बढ़ने पर खेती की जाएगी और अनाज का मूल्य घटने पर इसको छोड़ दिया जाएगा। दूसरे शब्दों में लगान अनाज का मूल्य निर्धारित नहीं करता; अनाज के मूल्य के कारण इसका जन्म होता है। जन संख्या में निरन्तर वृद्धि की प्रवृत्ति से घटिया भूमि पर खेती आवश्यक हो जाती है, और बढ़िया भूमि और घटिया भूमि के बीच में जितना अधिक अन्तर होता है उतना ही लगान अधिक होता है।

क्योंकि उत्पत्ति के अन्य साधनों (श्रम और पूँजी) की पूर्त्ति परिवर्तनीय और स्पर्धामूलक थी, जब कि कुल मिलाकर भूमि की पूर्ति स्थिर थी, रिकार्डो

ने देखा कि जन संख्या में वृद्धि से खाद्य-पदार्थ मँहगे हो जाएँगे, मजदूरी और लाभ घट जाएँगे, और अधिकाधिक राष्ट्रीय आय लगान के रूप में भू-स्वामियों को प्राप्त होगी। उसने यह भी कल्पना की (सिद्ध नहीं किया) कि श्रम और पूँजी को दिए जाने वाले भाग की तुलना में यह एक प्रकार का अपव्यय था, और इसीलिए वह अनाज अधिनियमों (Corn Laws) के उठाने का पक्का समर्थक और उद्योगों के लिए राज्य-निर्बाध नीति में विश्वास करने वाला था।

रिकार्डो के लगान के सिद्धान्त का यह बहुत संक्षिप्त वर्णन है। उसके विचारों की कई अधारों पर आलोचना की गई है। यह कहा गया है कि एक नये देश में किसी कारणवश प्राकृतिक रूप से अधिक उपजाऊ भूमि से पहले घटिया भूमि पर खेती आरम्भ की जा सकती है, परंतु खेती के साधारण ऐतिहासिक क्रम के उल्टा हो जाने से रिकार्डो के सिद्धान्त की सत्यता पर वास्तविक प्रभाव नहीं पड़ता। एक और आपत्ति यह उठाई गई है कि यदि यह सिद्धांत सत्य है तो सीमान्त पर ऐसी भूमि होनी चाहिए जिससे कुछ भी लगान नहीं मिलता --परन्तु ऐसी कोई भूमि नहीं मिल सकती है। परन्तु व्यवहार में किसान भू-स्वामी को लगान देता है वह रिकार्डो द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों पर निर्धारित सही आर्थिक लगान नहीं होता। इसमें भू-स्वामी द्वारा भूमि पर लगाई गई पूंजी का व्याज भी सम्मिलित होता है। ऐसे खेत हैं जिन पर बहुत कम "लगान" दिया जाता है, जो सर्वथा उपर्युक्त कारण से हो सकता है। फिर, एक किसान अपने पूरे खेत के लिए लगान देता है, जिसमें अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की भूमि हो सकती है, और यह हो सकता है कि घटिया भूमि से स्वतः कुछ भी लगान नहीं मिलता हो। तब फिर, वर्तमान संसार में सीमान्त भूमि जिसके लिए कुछ भी लगान नहीं दिया जाता कनाडा या आस्ट्रेलिया के दूर के क्षेत्रों में मिल सकती है।

रिकार्डो के विरुद्ध जो अधिक गम्भीर आलोचना की जा सकती है वह माल्थस के विरुद्ध की गई आलोचना के समान है। माल्थस की तरह उस पर भी अपने समय की परिस्थितियों का गहरा प्रभाव पड़ा था, और उसने अपने चारों ओर जो कुछ देखा उससे निष्कर्ष निकाल लिये और इस बात पर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया कि ऐसे कारण पैदा हो सकते हैं जिनसे उन निष्कर्षों में

हेरफेर करना पड़े। उसकी पुस्तक के प्रकाशन से पूर्व पच्चीस वर्षों में ग्रेट ब्रिटेन में जनसंख्या बराबर बढ़ रही थी और यह खाद्य-पदार्थों में आत्म-निर्भर था। खाद्य-पदार्थों की कीमतें बढ़ गई थी, अधिकाधिक भूमि पर खेती की जा रही थी, और लगान बराबर बढ़ रहे थे। रिकार्डो के विचारों का उदाहरण देने के लिए परिस्थिति अनुकूल थी—या यों कहना अधिक सही होगा कि रिकार्डो के विचार उस समय में देश की परिस्थिति से निकाले गए थे।

रिकार्डो यह मानता था कि मनुष्य पारस्परिक व्यवहार में, बिना संशोधन या अपवाद के, केवल स्पर्धामूलक भावना से प्रभावित होते हैं। वह यह मानकर चला कि राज्य-निर्बाध दर्शन के सिद्धान्त, जो उसके समय में प्रबल थे, सर्वत्र और सर्वदा लागू रहेंगे। परन्तु ऐसा नहीं है, और निश्चितरूप से यह सत्य नहीं है कि भूमि का लगान सदा अबाधित प्रतिस्पर्धा से निर्धारित होता है। यह कुछ अंशों तक आयरलैण्ड की लगभग वास्तविक स्थिति प्रकट कर सकता है जहाँ पर आँग्ल भू-स्वामियों के अभिकर्ता किसानों से अत्यधिक लगान लेते थे; स्वयं इङ्गलैण्ड में भू-स्वामी किसानों से कठोरतापूर्वक मोलभाव करने के कम आदी थे और एक नये आने वाले से अधिक लगान प्राप्त करने के लिए पुराने किसान को बेदखल करने या उसका लगान बढ़ाने का रिवाज नहीं था।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में समुद्र-पार से खाद्य-पदार्थों के आयात से इङ्गलैंड में खेती से प्राप्त लगानों पर गहरा प्रभाव पड़ा। बहुत सारी भूमि पर खेती बन्द कर दी गई और लगान अनिवार्यत: घट गए। रिकार्डो जिसने अपने विचार इस कल्पना पर आधारित किए थे कि देश आत्म-निर्भर था और सदा ऐसा रहेगा, इस संभावना का विचार नहीं कर सका। उन्नीसवीं शताब्दी में यान्त्रिक परिवहन की उन्नति से नई दुनिया की भूमि और ग्रेट ब्रिटेन की भूमि में स्पर्धा होने लगी। फिर भी इससे रिकार्डो के विचारों की मूल सत्यता पर प्रभाव नहीं पड़ता।

रिकार्डो के कार्य के पश्चात् जेम्स मिल ने कार्य किया, जिसकी "राज्यार्थ-व्यवस्था के मूलतत्व" (Elements of Political Economy) १८२१ में प्रकाशित हुई। जेम्स मिल ने रिकार्डो का लगान का सिद्धांत स्वीकार किया,

परन्तु उससे आगे बढ़ कर उसने लगान पर विशेष कर का समर्थन करने के लिए इसका उपयोग किया। उसके मतानुसार लगान पर इतना कर लगाना उचित है कि यह पूर्णतः लोप हो जाए, क्योंकि इसका प्रादुर्भाव प्राकृतिक गुणों के कारण होता है जिनके लिए भू-स्वामी कुछ भी नहीं करता। इसके अतिरिक्त, लगान पर लगाया हुआ कर दूसरों पर डाल कर बचा नहीं जा सकता। इस प्रकार जेम्स मिल भूमि के राष्ट्रीयकरण के आन्दोलन का प्रवर्त्तक था।

जे आर. मेक्कलू ने "राष्ट्रों की सम्पत्ति" (Wealth of Nations) और रिकार्डो की अधिकांश रचनाओं का सम्पादन करके उनको पुनः प्रकाशित किया और १८२५ में उसने अपनी "राज्यार्थव्यवस्था के सिद्धान्त" (Principles of Political Economy) प्रकाशित की। उसने राज्य-निर्बाध-नीति के सिद्धान्तों के आधार पर संगठन अधिनियमों (Combination Laws) के उठाए जाने का समर्थन किया; उसका कहना था कि श्रमिकों को संगठन बनाने और हड़ताल करने का अधिकार देने से कोई हानि नहीं हो सकती। उसकी मान्यता थी कि हड़ताल अनुचित रूप से कम मजदूरी को उचित स्तर पर लाने में उययोगी हो सकती है परन्तु इससे मजदूरी स्थायी रूप से इस स्तर से ऊपर नहीं जा सकती। यदि इसमें अस्थायी रूप से ऐसा हुआ तो रोजगार की मात्रा में कमी से मजदूरी फिर गिर जायगी। संक्षेप में उसके अनुसार खुद हड़ताल से हड़ताल करने के अधिकार का महत्त्व अधिक है।

नासो सीनियर (Nassau Senior) ने आर्थिक विषयों पर बहुत लिखा और भाषण दिए। "राज्यार्थव्यवस्था" पर उसका एक लेख १८३६ में एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका" (Encyclopaedia Britannica) में प्रकाशित हुआ जो आगे चल कर एक पुस्तक के रूप में निकाला गया। राज्यार्थव्यवस्था के विज्ञान के प्रति उसका अंशदान दो दिशाओं में था। उसने संयम का पूँजी के पारिश्रमिक के औचित्य के रूप में विवेचन किया। धन का उपभोग नहीं करने से पूंजी इकट्ठी होती है। इसमें आत्म-त्याग करना होता है, जिसके लिए पुरस्कार मिलना चाहिए, जैसा कि, वास्तव में, इसकी सहायता से उत्पादित धन का एक भाग देकर किया जाता है। सीनियर ने यह भी समझ लिया कि लगान केवल खेती की भूमि ही से नहीं मिलता और जहाँ-कहीं प्राकृतिक

गुणों में अन्तर होता है वहाँ लगान मिलता है। कुछ कोयले की खानों पर कम लागत में कार्य किया जा सका है और उनमें उत्पत्ति दूसरों से अधिक हो सकती है, उनकी वास्तविक उत्पत्ति में अन्तर "लगान" होता है। किसी एक दुकान का लाभ, इसकी उत्तम स्थिति के कारण, दूसरी से अधिक हो सकता है; यह लाभ का अन्तर 'लगान' हुआ। व्यावसायिक व्यक्तियों की दक्षता में अन्तर के कारण भी उनकी आय में अन्तर हो सकते हैं जो 'लगान' माने जाएँगे। इस प्रकार 'लगान' एक विलक्षण आर्थिक विषय नहीं होकर एक सामान्य बात बतलाई गई।

सीनियर ने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के कार्य को पूर्ण किया और उसका संक्षिप्त वर्णन दिया। उसके अनुसार अर्थ-विज्ञान केवल चार आधारभूत सिद्धान्तों पर आधारित था—स्वार्थ का सिद्धान्त,[1] जनसंख्या का सिद्धान्त, उद्योगों में उत्पत्ति वृद्धि का सिद्धान्त और कृषि में उत्पत्ति ह्रास का सिद्धान्त इन चार सिद्धान्तों से सारा राज्यार्थव्यवस्था का विज्ञान निकाला जा सकता है। इसको पूर्ण करने के लिए और किसी की आवश्यकता नहीं है।

जॉन स्टूअर्ट मिल (John Stuart Mill) जेम्स मिल का पुत्र था। उस की शिक्षा अपने पिता की देखरेख में हुई थी। इसलिए उसका पालन-पोषण प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों पर हुआ था और अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में वह इस सम्प्रदाय का समर्थक था। कालान्तर में उसमें प्रतिष्ठित सिद्धान्तों के विरुद्ध कुछ प्रतिक्रिया हुई और उसकी बाद की रचनाओं में पहले के विचारों की तुलना में परिवर्तन और विपरीतता प्रकट होती है। इस कारण साधारणतः उसको प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों में से एक नहीं माना जाता है, यद्यपि इस अध्याय में उसके कार्य का उल्लेख अनुपयुक्त नहीं है, क्योंकि उसकी रचनाओं में इस दल के सिद्धान्तों का ह्रास प्रकट होता है। उसका कार्य अन्त-र्वर्त्ती था; मिल ने व्यक्तिवाद के समर्थक के रूप में अपना कार्य आरम्भ किया, जो कि प्रतिष्ठित सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की विशेषता थी, परन्तु अपने जीवन के उत्तर काल में वह समाजवाद की दिशा में चला गया।

---

१. कि मनुष्य ऐसा व्यवहार करेगा कि उसको अधिकतम आनन्द और न्यूनतम कष्ट प्राप्त हो। इसको आनन्दजीवी सिद्धान्त कहते हैं।

मिल ने अनेकों पुस्तकें प्रकाशित कीं, जिनमें महत्तम, जो उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक अपने विषय की मान्य पाठ्य-पुस्तक गिनी जाती थी, उस की १८४८ में प्रकाशित "राज्यार्थव्यवस्था के सिद्धान्त" (Principles of Political Economy) थी। इस पुस्तक में उसने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के विचारों को व्यवस्थित और क्रम-बद्ध किया, उनकी काट छाँट करके उनको एक रूप बनाया, परन्तु साथ ही साथ उसने इस प्रतिष्ठित मत को चुनौती दी कि अर्थशास्त्र कतिपय अपरिवर्तनीय, सार्विक और आधारभूत सिद्धान्तों पर आधारित है। उसने धन की उत्पत्ति और वितरण में लागू होने वाले नियमों में अन्तर बतलाया। केवल उत्पत्ति के नियम "प्राकृतिक" और अपरिवर्तनीय थे, वितरण के नियम कृत्रिम थे, और विशेष सामाजिक व्यवस्था की देन थे। कुल उत्पत्ति का लगान, मजदूरी और लाभ के रूप में बंटवारा सार रूप नहीं था, इसमें परिवर्तन किया जा सकता था। और इस स्थिति से आगे बढ़ कर यह कहना कि इसमें परिवर्तन होना चाहिए कोई दूर की बात नहीं थी।

अतएव मिल सामाजिक सुधारों का समर्थक बन गया और उसने अर्थ-शास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर इनका औचित्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया। उसके विचार से मजदूरी की प्रथा त्याग दी जानी चाहिए और इसके स्थान पर सहकारी उत्पादन की व्यवस्था स्थापित की जानी चाहिए। उसने अपने पिता की तरह भूमि पर ऐसा कर लगाने का समर्थन किया कि जिससे यह लगभग समपहरण कर ली जाय। इसके औचित्य के लिए यह दलील दी गई कि भू-स्वामियों को उस प्राकृतिक वरदान में हिस्सा बँटाने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है जिसको प्राप्त करने के लिए उन्होंने कुछ भी प्रयत्न नहीं किया था। अन्ततः, उसने सम्पत्ति की अत्यधिक असमानता को कम करने के लिए उत्तराधिकार पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रस्ताव रखा।

बाद के दिनों में अर्थशास्त्र के लेखकों की संख्या बहुत बढ़ गई है। उनमें से अधिकांश ने यह मानते हुए कि अर्थ-विज्ञान प्रतिष्ठित लेखकों का ऋणी है, न्यूनाधिक अंशों में प्रतिष्ठित विचारधारा को छोड़ दिया है। जब तक राज्य-निर्बाध दर्शन का प्रभाव बना रहा राजनीतिज्ञों को समाज-सुधार का प्रयत्न नहीं करने का, एक कारण नहीं तो, बहाना मिलता रहा। परन्तु जैसे-जैसे यह अधिक

स्पष्ट होता गया कि सम्पत्ति और कल्याण (welfare) सदा पर्यायवाची नहीं होते, और जैसा कि रसकिन ने कहा है, सम्पत्ति का अर्थ "अकल्याण" (illth) भी हो सकता है। राज्य के कार्यों के प्रति विरोध घटता गया और विचारों का यह परिवर्तन अर्थशास्त्रियों की रचनाओं में प्रकट हुआ जिन्होंने आर्थिक सिद्धांतों को समाज-सुधार के समर्थन का आधार बनाने में हिचक नहीं की। परन्तु हाल के वर्षों में कुछ अर्थशास्त्रियों ने यह विचार प्रकट किया है कि अर्थशास्त्र को एक अमूर्त्त विज्ञान मानना चाहिए, जिसके सिद्धान्त किसी भी दिशा में प्रचार किए बिना प्रतिपादित किए जा सकते हैं। अब यह सुझाव दिया जा रहा है कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध "जो होना चाहिए" के स्थान पर "जो है" से होना चाहिए। कम से कम इस बात में हम पुनः प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा अपनाई गई स्थिति की ओर जा रहे हैं।

बीसवाँ अध्याय

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कृषि

१७९३ से १८१५ तक ग्रेट ब्रिटेन लगभग लगातार फ्रांस से युद्ध में लगा रहा। १८१५ के पश्चात् १८५० तक वह फिर किसी बड़े युद्ध में नहीं लगा अतएव उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में युद्ध-काल में कृषि की अवस्था का शाँति। के समय की अवस्था से अन्तर बतलाने का अवसर मिलता है।

फ्रांसीसी क्रान्ति और नेपोलियन के युद्धों का काल भू-स्वामियों और किसानों के लिए बड़ी सम्पन्नता का था। १७५० और १८०१ के बीच में देश की जनसंख्या और परिणामस्वरूप खाद्य-पदार्थों की माँग में पचास प्रतिशत वृद्धि हो गई थी, और यद्यपि इस काल में कृषि कला और संगठन में सुधार किए गए थे, तथापि उत्पत्ति मांग के बराबर नहीं बढ़ सकी थी। अठारहवीं शताब्दी के अन्त के वर्षों में फसलों की उत्पत्ति औसत से कम थी, और यह संभव है कि सामान्य स्थिति में देश में उत्पन्न खाद्य-पदार्थों की उत्पत्ति के पूरक के रूप में युरोप के महाद्वीप से बड़ी मात्रा में आयात करना पड़ता। नेपोलियन के युद्ध के दिनों में जनता को खाद्य-पदार्थों की पूर्त्ति करने की कठिनाई बढ़ गई। १८०९ में इङ्गलैण्ड की फसल खराब हुई और १८१० में उससे भी अधिक खराब; १८१२ में अनाज की कीमत १६० शि० प्रति क्वार्टर तक बढ़ गई। केवल फ्रांस से गेहूँ का आयात करके अकाल टाला गया जिसकी अनुमति, ब्रिटिश द्वीप-समूह की नाकाबन्दी के बावजूद, नेपोलियन ने लाइसेन्स के अधीन प्रदान कर दी।[1]

---

1. नेपोलियन की महा द्वीपीय पध्दति (Continental System) का उद्देश्य आंग्ल निर्यात व्यापार का नाश करना था। ऐसा प्रतीत होता है कि वह आशा करता था कि इस देश के निर्यात व्यापार के नाश होने से आंग्ल व्यापार की बाकी पर इतना गम्भीर प्रभाव पड़ेगा कि वित्तीय कठिनाइयां ग्रेट ब्रिटेन को उससे संधि करने के लिए बाध्य कर देंगी। उसके मतानुसार आँग्ल आयात के चालू रहने से विपरीत बाकी में वृद्धि होगी। वह भूल गया कि १८०९ और १८१२ के बीच में वह फ्रांस से अनाज की पूर्त्ति रोक कर ग्रेट ब्रिटेन को भखे मार कर घुटने टिका सकता था।

देश में खाद्य-पदार्थों की उत्पत्ति में बड़ी वृद्धि केवल अधिक विस्तृत क्षेत्र में खेती करके की जा सकती थी। अन्य उद्योगों में उत्पत्ति में वृद्धि होने से मूल्य घटने लगता है। कृषि की यह एक विशेषता है कि कृषित क्षेत्र में वृद्धि का उलटा प्रभाव पड़ता है (जब तक कि बाजार भाव पर सस्ते खाद्य-पदार्थों के बड़ी मात्रा में आयात का प्रभाव नहीं पड़े)। भूमि समानरूप से कृषि के लिए उपयुक्त नहीं होती है, जलवायु सर्वत्र समान नहीं होता, और भूमि की उर्वरता और स्थिति भिन्न-भिन्न होती है। यह माना जा सकता है कि जिस भूमि पर वर्तमान में खेती की जा जाती है वह मुख्यत: इस उद्देश्य के लिए सब से अधिक उपयुक्त होती है और जिस भूमि पर नए सिरे से हल जोता जाता है वह, किसी न किसी दृष्टि से, कम उपयुक्त होती है; यह कम उपजाऊ होती है या इसकी स्थिति कम अच्छी होती है। ऐसी भूमि से खेती करने की लागत निकालने पर वास्तविक आय वर्तमान कृषित भूमि से कम होती है। परन्तु यह आय किसान की लागत निकालने के लिए यथेष्ट होनी चाहिए, क्योंकि वह हानि उठाकर खेती नहीं करेगा। अनाज का मूल्य इतना बढ़ना चाहिए कि उसके लिए घटिया भूमि पर खेती करना लाभदायक हो जाए। और क्योंकि आधुनिक परिवहन की सुविधाओं के उपलब्ध होने पर, देश में एक ही वस्तु के दो या अधिक मूल्य नहीं हो सकते, सब अनाज का मूल्य बढ़ना चाहिए, चाहे वह अच्छी भूमि से प्राप्त हुआ हो चाहे बुरी से। दूसरे शब्दों में, जब तक कि अनाज के मूल्य में इतनी वृद्धि नहीं हो जाए कि खेती करना लाभदायक हो अतिरिक्त भूमि पर हल नहीं जोता जाएगा। परिणामस्वरूप, नेपोलियन के युद्ध के दिनों में खेती के क्षेत्रफल में लगातार वृद्धि के साथ-साथ अनाज के मूल्यों में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई,[1] और मूल्यों में वृद्धि होने से लगानों में वृद्धि हुई।

इस अवस्था से भू-स्वामियों और किसानों दोनों को समृद्धि मिली। जब पट्टा समाप्त हो जाता था तो भू-स्वामी इसके नवीनीकरण के लिए अधिक लगान मांग सकता था, और कालान्तर में भू-स्वामियों की आय बहुत बढ़ गई। पट्टे की अवधि में किसान को अनाज के ऊँचे मूल्य से लाभ होता था; जब उसका पट्टा समाप्त होता था तो उससे अधिक लगान माँगा जा सकता था,

---

१. तो भी अनाज के मूल्यों में काफी घट बढ़ रही।

परन्तु उसको अनाज की कीमतों में आगे होने वाली वृद्धि का लाभ मिलता रहता था।

छोटे भू-धारियों को इस काल की समृद्धि में भाग नहीं मिला। जो अनाज वे खुले खेतों में पैदा करते थे वह बड़े पैमाने पर खेती करने वाले किसानों की उत्पत्ति की तुलना में मात्रा में कम और उत्तमता में घटिया होता था। उनके मवेशी, जो खुले सामूहिक चरागाहों पर चरते थे, दिनाप्त पशुपालकों द्वारा बेचे जाने वाले जानवरों का मुकाबला नहीं कर सकते थे। वस्त्र उद्योगों में कारखाने उनका स्थान ले रहे थे। यह भी अनुभव किया जाने लगा कि अनुत्पादक सामूहिक विस्तृत क्षेत्रों पर हल जोता जाना चाहिए, और बाड़ाबन्दी आन्दोलन जारी रहना चाहिए। १७९३ तक छोटे निःशुल्कधारियों और प्रतिलिपिधारियों की संख्या बहुत थी, युद्ध ने इस वर्ग की समाप्ति की गति को जिसका उल्लेख पहले के अध्याय में किया जा चुका है, बढ़ा दिया। १८१५ तक बाड़ लगा हुआ बड़ा खेत आंग्ल ग्रामीण अर्थव्यवस्था की सामान्य इकाई बन गया और खुले खेतों की प्रणाली अपवादस्वरूप रह गई।

कृषि से सम्बन्धित जनता के एक दूसरे वर्ग—श्रमिकों ने सामाजिक दृष्टि से उनसे ऊपर वाले वर्गों की समृद्धि में हाथ नहीं बंटाया। अठारहवीं शताब्दी के अन्त के दिनों में खेतीहर मजदूरों को दी जाने वाली मजदूरी की दरें बराबर घटती गईं और इसी समय उनको खाद्य-पदार्थों की बढ़ती हुई कीमतों का सामना करना पड़ा और वस्त्रनिर्माण का कार्य उनके हाथ से जाता रहा। उनकी दशा निराशाजनक हो गई, और मजदूरी के पूरक के रूप में दरिद्र सहायता के लिए निर्धारित राशि में से उनको मौद्रिक अनुदान प्रदान करने की पद्धति का विकास हुआ। यह पद्धति, जिसका अन्यत्र सविस्तार वर्णन किया गया है, सर्वप्रथम स्पीनहैमलैण्ड में १७९५ में आरम्भ की गई की, और एक या दो वर्षों में यह देश के अधिकांश भागों में प्रचलित हो गई।

१८१५ में शान्ति की स्थापना से बड़ी मात्रा में आयात संभव हो गया,[1] और यह स्पष्ट था कि बड़ी मात्रा में विदेशी अनाज के आने से मूल्यों में गिरावट

---

१. अनाज पोमीरानिया और दक्षिण रूस से आयात किया जाता था; यह डानजिग और ओडीसा के बन्दरगाहों से जलपातों पर लादा जाता था।

होगी, विशेषकर उन वर्षों में जब कि आँग्ल फसलें कमजोर थीं। ऊँचे मूल्य और ऊँचे लगान, जिन पर किसानों और ठाकुरों की समृद्धि आधारित थी, समाप्त हो जाएँगे। परन्तु भूमि में हत रखने वाले अपनी समृद्धि को बनाए रखने के लिए प्रयत्न किए बना इसका त्याग करने को तैयार नहीं थे, और क्योंकि संसद् के दोनों सदनों का प्रत्येक सदस्य भू-स्वामी था संसद् को इस समस्या का सामना करने के लिए तैयार करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। १८१५ में एक अनाज अधिनियम (Corn law) पारित हुआ जिसके अधीन गेहूँ का आयात (या बाँड से छुटकारा) निषेध कर दिया जब तक कि आँग्ल मंडी में गेहूं का मूल्य कम से कम ८० शि० प्रति क्वार्टर नहीं हो।[1] यह अधिनियम दूसरे अनाजों के लिए भी लागू होता था और ऐसे ही अंक निवारिका (rye) के लिए ५३ शि०, जौ के लिए ४० शि० और जई (oat) के लिए २६ शि० थे।

---

१. यह आधुनिक समय का प्रथम अनाज अधिनियम नहीं था। एडवर्ड चतुर्थ के समय से ऐसे अधिनियमों की एक लम्बी शृँखला पारित की जा चुकी थी। १६८९ में अनाज सहायता अधिनियम के अधीन गेहूं के निर्यात पर सहायता दी जाती थी जबकि गेहूं का मूल्य ४८ शि० प्रति क्वार्टर से नीचे चला जाता था (निवारिका ३२ शि०; जौ २४ शि०)। यह अधिनियम अनाज की उत्पत्ति को प्रोत्साहित करने और इसके मूल्य में उचित अंशों तक स्थायित्व लाने में सफल हुआ। (इसकी सफलता और चौदहवें लुई के शासन-काल के एक फ्रांसीसी वित्त-व्यवसायी और अर्थशास्त्री, कोल्बर्ट, द्वारा फ्रांस से अनाज का निर्यात निषिद्ध करने के लिए जारी की गई राजाज्ञा की असफलता में अन्तर बतलाया जा सकता है। कोल्बर्ट का उद्देश्य फ्रांस में अनाज की प्रचुरता सुनिश्चित करना था, परन्तु इस निषेध का परिणाम यह हुआ कि प्रचुरता के वर्ष में फ्रांसीसी किसान के अनाज का ग्राहक नहीं मिलता था और भूमि पर खेती बन्द कर दी गई।) अनाज सहायता अधिनियम ने लगभग सौ वर्षों तक आशाएं पूरी की, परन्तु जन-संख्या में वृद्धि के कारण बढ़ते हुए अभाव और ऊंची जाती हुई कीमतों के कारण १७७३ का अनाज अधिनियम पारित किया गया, जिसका उद्देश्य मूल्य ४८ शि० प्रति क्वार्टर से बढ़ने पर नाम मात्र का कर देने पर आयात की अनुमति देना था ताकि मूल्य इस दर के आसपास स्थायी हो जाये।

इस अधिनियम के पक्ष में यह दलील दी गई कि कृषि की निरन्तर समृद्धि देश के कल्याण के लिए महत्त्वपूर्ण थी और यह आशा की जाती थी कि अनाज अधिनियम जन-साधारण को हानि पहुँचाए बिना भूमि में हित रखने वालों को लाभ पहुँचाएगा। यह आशा की जाती थी कि इस अधिनियम से अनाज के मूल्यों में थोड़ा बहुत स्थायित्व आएगा और घट बढ़ कम हो जाएगी। यदि अनाज की कीमत ८० शि० प्रति क्वार्टर से नीचे गिरी तो आयात के बन्द हो जाने से भारी गिरावट नहीं होगी; जब बाजार भाव ८० शि. से ऊपर होगा तो विदेशी गेहूं के आयात से वृद्धि की गति मन्द पड़ जाएगी।

१८१५ के अनाज अधिनियम के विरोध में सब से बड़ी दलील यह थी कि यह समस्त राष्ट्र को हानि पहुंचा कर एक वर्ग-विशेष की समृद्धि जुटाने का

इसके अनुरूप मूल्य निवारिका का ३२ शि० था, जौ का २४ शि० और जई का १६ शि०। जब गेहूं का मूल्य ४० शि० से नीचे होता था निवारिका का २८ शि० से नीचे, जौ का २२ शि० से नीचे और जई का १६ शि० से नीचे तो निर्यात सहायता जारी रखी गई, परन्तु मूल्य बहुत कम इतने नीचे गिरते थे, और सहायता का उपयोग बन्द हो गया। १७७३ के अधिनियम से आशाएँ पूरी नहीं हुईं; मूल्यों में वृद्धि होने से सदा प्रचुर मात्रा में आयात नहीं होता था, क्योंकि विदेशी उत्पादक एक अनिश्चित मण्डी के लिए उत्पत्ति करने को तैयार नहीं थे। १७९१ में एक और अनाज अधिनियम १७७३ के अधिनियम में संशोधन करते हुए पारित किया गया। जब देश में गेहूं का मूल्य ४४ शि० प्रति क्वार्टर से नीचे होता था तो निर्यात पर सहायता दी जाती थी और जब देश में मूल्य ५० शि० प्रति क्वार्टर से नीचे होता था तो आयात पर भारी कर लगाया जाता था। जब देश में मूल्य ५४ शि० प्रति क्वार्टर से ऊपर चला जाता था तो कर केवल नाम मात्र का रह जाता था। यह आशा की जाती थी कि निर्यात पर सहायता और आयात पर भारी कर से देश में अनाज की उत्पत्ति को प्रोत्साहन मिलेगा, जब कि यह आशा की जाती थी कि मूल्य ऊंचा होने पर कर में कमी से आवश्यकता के समय आयात को प्रोत्साहन मिलेगा और इसलिए रोटी के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि नहीं होगी। वास्तव में देश में उत्पत्ति बढ़ी; बाड़ाबन्दी जारी रही और नई भूमि पर खेती की गई, परन्तु युद्ध के दिनों में आयात अनिश्चित हो गया, जिससे युद्ध काल में मूल्यों में बराबर वृद्धि होती रही।

प्रस्ताव था। प्राचीन काल में राष्ट्र का हित कृषि की सफलता में निहित था। अब यह बात नहीं रही थी, क्योंकि लोग बड़ी संख्या में कारखानों, व्यापार और जहाजी व्यवसाय में लगे हुए थे। यह स्पष्ट था कि अनाज अधिनियम ठाकुरों और किसानों के कल्याण के लिए उनके कल्याण को बलिदान करने का एक प्रयत्न था। आगामी तीस वर्षों में यह अधिकाधिक स्पष्ट हो गया कि सस्ते खाद्य-पदार्थों के आयात के बदले में निर्मित वस्तुओं के निर्यात से राष्ट्रहित की अधिक सेवा होगी। इसके अतिरिक्त इस नीति से आँग्ल जहाजी व्यवसाय क लाभ होगा क्योंकि जहाजों को दोनों दिशाओं में माल लाने-ले जाने को मिलेगा।

१८१५ के अनाज अधिनियम का वास्तविक परिणाम वह नहीं निकला जो इसके समर्थक आशा करते थे। रोटी मँहगी हो गई और दरिद्र लोगों को कष्ट सहन करना पड़ा, अनाज का मूल्य स्थिर नहीं हुआ और भूमि में स्वार्थ रखने वालों को पूर्वकल्पित लाभ नहीं मिले। यह आशा नहीं की जा सकती थी कि विदेशी किसान एक अनिश्चित मण्डी के लिए अनाज उत्पन्न करेंगे, और जब आँग्ल फसल खराब होती थी तो मूल्य बढ़ जाते थे जो आयात से बहुत कम घट पाते थे। १८१७ में गेहूं का मूल्य ११८ शि० ७ पैं० हो गया; १८२२ में यह ३६ शि० ४ पैं० पहुँच गया, ऐसी परिस्थिति में खेती एक प्रकार का जुआ हो गई, और किसान लोग युद्ध-काल में बढ़े हुए ऊँचे लगान देने में असमर्थ हो गए। लाभप्रद खेती की सीमा के ऊपर या पास की बहुत सी भूमि बिना खेती के पड़ी रही और अनिवार्यतः लगान घट गए।

जो मन्दी आई करों के भार के कारण अधिक कष्टदायक हो गई। श्रमिक वर्गों को दी जाने वाली सहायता के कारण दरिद्र-शुल्क (Poor Rate) भारी थे और राष्ट्रीय ऋण के आकार के कारण राष्ट्रीय करों का भार बहुत था।

भू-स्वामियों और किसानों की समृद्धि बनाए रखने में असफल होने के कारण अनाज अधिनियम में संशोधन किया गया। १८२२ में अधिकतम दरों का एक नया स्तर निर्धारित किया गया[1] और १८२८ में पुराने नियमों के अधीन

---

1. गेहूं ७० शि०; निवारिका ४६ शि०; जौ ३५ शि०; जई २५ शि०।

आयात को पूर्णतः निषेध करने के स्थान पर वस्तुओं के मूल्यानुसार कर निर्धारित किए गए।[1] परन्तु इससे भी मूल्यों का स्थायित्व प्राप्त नहीं हुआ, और १८४२ में[2] इसमें संशोधन किया गया परन्तु कोई अच्छा परिणाम नहीं निकला।

अनाज अधिनियम-विरोधी संघ (Anti-Corn Law League) की स्थापना १८३८ में[3] लंकाशायर के कारखानेदारों के एक दल द्वारा रिचार्ड कोबडन, जॉन ब्राइट और चार्ल्स वीलीयर्स के नेतृत्व में की गई थी। इसका मुख्य उद्देश्य १८१५ और बाद के वर्षों के अनाज अधिनियमों के वास्तविक परिणामों के बारे में जनमत को शिक्षित करना था। इसके प्रवर्त्तक, जो लंकाशायर के कारखानेदार थे, समझते थे कि अनाज के मुक्त आयात से भोजन सस्ता हो जाएगा। श्रमिक वर्गों को दी जाने वाली मजदूरी का स्तर निश्चित करने में भोजन व्यय एक महत्त्वपूर्ण बात थी; मजदूरी की दर जितनी कम होगी उद्योगों में लागत व्यय उतना ही कम होगा। कोबडन और उसके साथी संसार के सब भागों में आँग्ल निर्मित वस्तुओं की बिक्री बढ़ाने के साधन के रूप में अनाज अधिनियमों का विखण्डन चाहते थे।

१८४१ के आम चुनावों में उस संघ को बहुत कम सफलता मिली, क्योंकि लोकसभा में अनाज अधिनियमों को बनाए रखने के लिए कटिबद्ध सदस्यों का बहुमत भेजा गया, और सर रॉबर्ट पील (Sir Robert Peel) के प्रधान-मंत्रित्व में संरक्षणवादी मंत्रि मंडल बना। फिर भी पील हठधर्मी नहीं था और उसने आगे चल कर यह अनुभव किया कि अनाज अधिनियमों की नीति

---

१. जब गेहूं का मूल्य ६४ शि० प्रति क्वार्टर से नीचे होता था तो कर २५ शि० ८ पैं० था। जब मूल्य ६४ शि० और ६६ शि० के बीच में होता था तो कर घटा कर १६ शि० ८ पैं० कर दिया जाता था। जब मूल्य ७३ शि० से ऊपर होता था तोकर केवल १ शि० कर दिया जाता था।

२. जब गेहूं का मूल्य प्रति क्वार्टर ५१ शि० या कम होता था तो कर २० शि० था। जब मूल्य ६० शि० होता था तो कर घटकर १२ शि० हो जाता था। जब मूल्य ७३ शि० या ऊपर होता था तो कर १ शि० होता था।

३. इस संघ की स्थापना सितम्बर १८३८ में निजी तौर से की गई थी। जनता को जनवरी १८३९ तक कोई घोषणा प्रकाशित नहीं की गई थी।

केवल तब ही उचित मानी जाएगी जब यह राष्ट्र की आवश्यकताओं के लिए यथेष्ट खाद्यान्न उत्पन्न करने में सफल हो। यह इसमें असफल रही; प्रतिवर्ष आयात करने की आवश्यकता बढ़ती जाती थी। १८४५ में जब आयरलैण्ड में आलुओं का अकाल पड़ा और आंग्ल फसल कमजोर थी तो यह प्रश्न तीव्र हो गया। पील को विश्वास हो गया कि अनाज अधिनियमों को ढीला करना होगा और एक बार स्थगित करने के पश्चात् वे कभी दुबारा लागू नहीं किए जा सकेंगे। १८४६ के आरम्भ में वे विखण्डित कर दिए गए। करों की नीची दरें लगा दी गईं[१] और १८४९ में इनके स्थान पर एक शिलिंग प्रति क्वार्टर का एक नाममात्र का कर लगा दिया गया। यह १८६९ में उठा लिया गया और तब से देश में अनाज का कर-मुक्त प्रवेश होने लगा।

१. जब तक गेहूं का मूल्य ४८ शि० प्रति क्वार्टर से कम होता था १० शि० का कर देना पड़ता था। मूल्य में एक शिलिंग की वृद्धि होने से कर में एक शिलिंग की कमी कर दी जाती थी, परन्तु न्यूनतम कर ४ शि० प्रति क्वार्टर था। अन्य अनाजों पर कर की समानुपाती दरें लगी हुई थीं। ब्रिटिश उपनिवेशों से आयातित अनाज बिना कर आने दिया जाता था।

इक्कीसवाँ अध्याय

कारखाना पद्धति और कारखाना अधिनियम

सोलहवीं शताब्दी में वस्त्र-निर्माण कार्य के लिए पुरुषों और स्त्रियों के एक छत के नीचे एकत्रित होने का उल्लेख एक पहले के अध्याय में किया जा चुका है, परन्तु सब से पहला कारखाना जिसमें शक्ति से संचालित यंत्रों का प्रयोग किया गया वह १७१५ में डरबी में स्थापित एक रेशमी मिल थी। यह एक अपवाद था और वस्त्र-निर्माण उद्योगों में कारखाना पद्धति की स्थापना अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश तक नहीं हुई।

सैंकड़ों वर्षों से इङ्गलैंड में श्रमिकों की अवस्था, आरम्भ में स्थानीय, और आगे चलकर राष्ट्रीय, नियमन के अधीन चली आई थी, और कुछ बातों में श्रमिकों के कार्यों पर रिवाज का नियंत्रण था जो कानून की तरह ही प्रभावोत्पादक था। जार्ज तृतीय के समय तक उद्योग-धन्धों पर श्रेणियों का नियंत्रण समाप्त हो चुका था, और कारीगरों के परिनियम (Statute of Artificiers) की धाराओं का अमल नहीं किया जाता था। राज्य-निर्बाध-नीति के सिद्धान्त साधारणत: मान्य थे; एक ही वर्ग के लोगों में और भिन्न-भिन्न वर्गों में पूर्ण और स्वतन्त्र प्रतियोगिता के गुणों में पूर्ण विश्वास था। कारखानों के बनाने और साज-सामान जुटाने में किसी प्रकार के सार्वजनिक नियमन या प्रतिबन्ध लगाने का प्रयत्न नहीं किया गया, इनमें से कई ऐसी इमारतों में थे जो आरम्भ में किसी दूसरे उद्देश्य के लिए बनाई गई थीं, और ये प्राय: संतोषप्रद नहीं थीं। जब कारखाने विशेष रूप से बनाए जाते थे तो उनका नक्शा ऐसा बनाया जाता था कि मालिक को अधिकतम लाभ मिले और काम करने वालों के स्वास्थ्य, सुविधा और सुरक्षा पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। आधुनिक स्तरों से देखा जाए तो ये अधिकांश इमारतें यथेष्ट प्रकाश के बिना, कम हवादार, अस्वास्थ्यकर, गन्दी और भीड़ी हुई होने से निन्दनीय थीं। खतरनाक मशीनों के आड़ नहीं लगाई जाती थी और गम्भीर और घातक दुर्घटनाओं का होना साधारण बात थी।

कारखानेदारों ने अनुभव किया कि उनके कारखानों में बहुत कुछ कार्य स्त्रियों और बच्चों द्वारा किया जा सकता है, जिनका श्रम आदमियों से सस्ता पड़ता है। १६०१ के दरिद्र अधिनियम (Poor Law) के अधीन अकिंचन बच्चों को किसी व्यवसाय में शिशिक्षु रखना पड़ता था और नियोक्ताओं के लिए कर्म-गृहों में जाकर अकिंचन बच्चों के दलों को "शिशिक्षुओं" के रूप में स्वीकार करना साधारण बात हो गई। इन बच्चों को कारखानों में ले जाया जाता था जहाँ उनसे बहुत घंटों तक—प्रति दिन बारह से सोलह घंटों तक—काम लिया जाता था। उनको रविवार को भी विश्राम नहीं करने दिया जाता था, उस दिन मशीनों की सफाई करने का रिवाज था। कारखाने-दार उनको भोजन, वस्त्र और निवास-स्थान देता था, और, जबकि कुछ अच्छे नियोक्ता दयावान होते थे जो बच्चों के साथ अच्छा व्यवहार करते थे और उनके हितों के प्रति उदासीन नहीं थे, अधिकांश बाल-श्रम की पद्धति को केवल लाभ के साधन के रूप में मानते थे। अग्रजन (Foreman) जो बालकों के कार्य की देख-रेख करते थे उनको काम में लगा रखने के लिए चाबुक और डंडे का प्रयोग करने में नहीं हिचकते थे। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि इन बाल-श्रमिकों की दशा दासता से भिन्न नहीं थी।

कारखानों में बाल-श्रमिकों की दशा के बारे में सच्ची जानकारी जन-साधारण को नहीं हुई, और, जब इसकी जानकारी फैली भी तो पाँच, छः, या सात वर्ष के बालकों को कारखानों में काम करते हुए सुनकर जनता क्षुब्ध नहीं हुई। यह विचार कि श्रमिक वर्गों का एक बालक जब तक चौदह या पन्द्रह वर्ष का नहीं हो जाए उसको काम-कमाई आरम्भ नहीं करनी चाहिए और तब तक उसका समय अध्ययन और खेल-कूद में लगना चाहिए बहुत आधुनिक है। कारखाना पद्धति के प्रादुर्भाव से पूर्व भी बाल-श्रम का रिवाज था; यह संभव है कि वस्त्र-निर्माण कार्य की कुटीर पद्धति में तीन या चार वर्ष के छोटे बच्चों से सरल प्रक्रियाओं में सहायता की आशा की जाती थी। कारखानों में बालकों की नियुक्ति को स्वतः बुरा नहीं माना गया।

फिर भी, कालान्तर में, जैसे-जैसे कारखानों में कार्य करने वाले बालकों की दशा की जानकारी फैली, सार्वजनिक सद्विवेक हिल उठा। दयावान पुरुषों और

स्त्रियों ने माना कि बालकों को नियुक्त करना और मामूली सजा देना उचित है, परन्तु उन्होंने यह मानने से इन्कार कर दिया कि निर्दयता, कुपोषण और अत्यधिक समय तक काम कराना बालकों की नियुक्ति की प्रथा के आवश्यक अंग थे। फिर भी राजनीतिज्ञों और अर्थशास्त्रियों का विश्वास था कि उद्योग-धन्धों की समृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि उनमें हस्तक्षेप नहीं किया जाय और राज्य के लिए नियोक्ता और श्रमिक के बीच "स्वतंत्र" संविदा में हस्तक्षेप करना अनुचित होगा। यह माना जाता था कि नियुक्ति का सर्वोत्तम संविदा, जो सब से अधिक संतोषजनक होगा, निःसन्देह वह होगा जो मजदूर और मालिक के बीच में मोल-भाव के द्वारा, बिना बाहरी हस्तक्षेप के, किया गया हो।

थोड़ा विचार करने से इस मत की मूर्खता प्रकट हो जाएगी। नियुक्ति की खोज करने वाला श्रमिक अपने संभावित नियोक्ता से बराबरी पर मोल-भाव नहीं कर सकता। यदि वह बाल-बच्चों वाला हुआ तो उसको काम नहीं मिलने पर उसके आश्रितों को बहुत कष्ट हो सकता है। नियोक्ता के लिए इसमें कुछ अन्तर नहीं पड़ता चाहे वह किसी एक आदमी को रखता है या दूसरे को। इन अवस्थाओं में श्रमिक को नियोक्ता की शर्तें माननी पड़ती हैं चाहे वे कितनी ही असन्तोषजनक हों। और यदि वयस्क श्रमिक मालिकों से बराबरी पर मोल-भाव नहीं कर सकते तो यह निश्चित है कि बच्चे, जिनकी बुद्धि अविकसित होती है और जिनका सांसारिक ज्ञान सीमित होता है, नियुक्ति की सन्तोषप्रद शर्तें कैसे प्राप्त कर सकते हैं। अतएव यह माना जाने लगा कि राज्य के लिए, जो स्वयं अपने लिए संतोषप्रद मोल-भाव नहीं कर सकते उनके लिए आगे कदम बढ़ा कर उनकी सहायता करना राज्य-निर्वाध नीति के प्रतिकूल नहीं होगा।

१७८४ में मेनचेस्टर के मजिस्ट्रेटों के एक प्रस्ताव द्वारा कारखाना पद्धति के, जैसी की यह लंकाशायर में बन रही थी, दोषों की ओर ध्यान गया। उन्होंने स्थानीय शिशिक्षुओं के प्रतिज्ञापत्रों को स्वीकार करने से इन्कार करने का निश्चय किया यदि इन से यह प्रकट होता था कि उनसे रात को या प्रति दिन दस घण्टे से अधिक कार्य करने की आशा की जाती थी। १७९५ में कारखानों

में बाल श्रमिकों की दशा की जाँच करने के लिए मेनचेस्टर स्वास्थ्य मंडल की स्थापना की गई। इस मंडल को पता चला कि वर्तमान दशा बालकों के साधारण स्वास्थ्य के लिए हानिकारक थी, कि उससे संक्रामक रोगों के फैलने में सहायता मिलती थी, कि काम के घण्टे अत्यधिक थे, और कि इस प्रकार से नियुक्त बालकों को किसी प्रकार की शिक्षा या नैतिक या धार्मिक उपदेश नहीं मिलता था। परन्तु इसने माना कि जिन दोषों के लिए शिकायत की गई थी वे सब कारखानों में समान रूप से विद्यमान नहीं थे, और कारखाना अधिनियमों की एक संहिता की स्थापना की माँग करने में यह इससे अधिक कोई सुझाव नहीं दे रहा था कि खराब कारखानों में विद्यमान अवस्थाएँ अधिक दयावान नियोक्ताओं के अधीन प्रचलित अवस्थाओं के स्तर पर लाई जानी चाहिएँ। यह ध्यान देने की बात है कि यह विशेषता कारखानों के विधान में न्यूनाधिक रूप में सदा विद्यमान रही है। सदा अवस्थाओं में बड़ा अन्तर रहा है, कुछ कारखानों ने आदर्श का काम दिया है जिनके स्तर तक सुधारकों की इच्छा दूसरों को लाने की रही है।

उन्नीसवीं शताब्दी में कई कारखाना अधिनियम बनाए गए, जिनका उद्देश्य उनको, और केवल उनको, संरक्षण देना था जो नियुक्ति की शर्तें तय करने में सहायता और संरक्षण की आवश्यकता रखते थे। आरम्भ में संसद् का विचार था कि केवल बहुत कम श्रमिकों को इस प्रकार के संरक्षण की आवश्यकता थी, परन्तु समय-समय पर श्रमिकों के अन्य वर्गों को सम्मिलित करके "संरक्षित" वर्ग का क्षेत्र विस्तृत कर दिया गया। इस प्रकार के सब से पहले के अधिनियम केवल शिशिक्षुओं के लिए लागू किये गए थे, समय-समय उनको कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों के दूसरे वर्गों के लिए भी बढ़ा दिया गया, परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक यह नहीं अनुभव किया गया कि पूरी आयु वाले पुरुष अपने लिए नियुक्ति की न्यायोचित शर्तों की मांग करने की स्थिति में नहीं थे और दूसरों के साथ-साथ उनको राज्य के संरक्षण की आवश्यकता थी।[1]

---

१. तब भी पुरुषों को दिया गया संरक्षण परोक्ष था। संसद् ने सदा इस सिद्धान्त की रक्षा करने का प्रयत्न किया है कि वयस्क पुरुष की अपनी नियुक्ति

उन्नीसवीं शताब्दी में रुकरुक कर कारखानों के विधान के सम्बन्ध में जो विवाद उठ खड़ा हुआ उसके समर्थकों और विरोधियों द्वारा दी गई दलीलों का उल्लेख से अधिक करना असम्भव है। यह ध्यान देने की बात है कि कारखानों के विधान के विरोध के कारण इस पूरे काल में समान नहीं थे, जैसे-जैसे एक-एक दुःखदायी भविष्यवाणी अनुभव से असत्य सिद्ध हुई वैसे ही अन्य दलीलें दी गईं। फिर भी जब कारखाना अधिनियमों का क्षेत्र बढ़ा कर नए संस्थानों पर लागू करने के प्रस्ताव रखे गए, तो जो दलीलें पहले ही असत्य सिद्ध हो चुकी थीं वे फिर लागू कर दी गईं। उदाहरणार्थ, प्रारम्भिक वर्षों में यह कहा जाता था कि बालकों और नवयुवकों के श्रम पर प्रतिबन्ध उद्योगों के लिए नाशकारी होगा और वे विदेश जहाँ साहसी नियोक्ताओं पर कारखाना अधिनियमों के बन्धन नहीं हैं ग्रेट ब्रिटेन द्वारा खोया हुआ व्यापार हथिया लेंगे। सारी उन्नीसवीं शताब्दी में वस्त्र-उद्योगों की सम्पन्नता ने इस दलील को असिद्ध कर दिया, फिर भी जब नियमन बढ़ा कर अन्य कारखानों को लागू करने के प्रश्न पर विचार किया जा रहा था तो इसी प्रकार की दलीलें दी गईं।

कारखानों के विधान का कुछ विरोध मिथ्या-परोपकारी आधार पर किया जाता था। यह दलील दी जाती थी कि श्रमिकों के लिए वर्तमान अवस्थाएँ सर्वोत्तम थीं, कि और किन्हीं अवस्थाओं में सब को काम पर नहीं लगाया जा सकता था, कि "बहुत अधिक कार्य और वहुत कम भोजन" के बीच चुनाव करना था, और कि श्रमिकों के अवकाश के घंटों में वृद्धि करने से दुराचार और अपराध बढ़ेंगे। कालान्तर में इस प्रकार की भद्दी दलीलें देना बन्द हो गया, परन्तु जब अन्य उद्योगों को नियंत्रण में लेने के प्रस्ताव रखे गए तो बहुधा यह कहा जाता था कि कर्मी स्वयं वैधानिक संरक्षण नहीं चाहते थे और उनको इससे लाभ नहीं होगा।

का संविदा बनाने की स्वतंत्रता का नाश नहीं होना चाहिये। फिर भी १८४७ और १८५० के अधिनियम इस प्रकार बनाए गये थे कि परोक्ष रूप से पुरुषों के काम के घण्टों पर प्रतिबन्ध लग जावे। बाद के अधिनियमों ने कतिपय खतरनाक व्यवसायों में मर्द श्रमिकों की अवस्थाओं पर प्रत्यक्ष नियंत्रण और देखरेख स्थापित कर दी। सफाई व्यवस्था भी श्रमिकों की आयु या योनि पर ध्यान दिये बिना लागू की जाती है।

सैद्धान्तिक आधार पर कारखानों के विधान का विरोध—कि राज्य को श्रम की अवस्थाओं में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए—इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जोर पर था परन्तु बाद के वर्षों में जब राज्य-निर्बाध-नीति का प्रचलन कम पड़ गया तो यह भी कमजोर पड़ गया। अत्यधिक कार्य के बहुत प्रबल प्रमाण विद्यमान थे और जनमत नियमन की आवश्यकता मानने लग गया। फिर भी व्यक्तिवाद के प्रबल समर्थक इस "आशावादी" विचार को पकड़े रहे कि दोषों की अतिशयोक्ति की जाती थी और कालान्तर में राज्य के हस्तक्षेप के बिना ही परिस्थिति स्वयं सुधर जाएगी।

एक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री, नासो सीनियर ((Nassau Senior) ने यह मत प्रकट किया कि नियोक्ता का लाभ कारखाने के समय के अन्तिम घंटे में श्रमिकों द्वारा किए गए कार्य से होता है। यदि काम का समय एक घंटा कम कर दिया गया तो कुछ भी लाभ नहीं रहेगा। यह दलील गलत थी क्योंकि इसको प्रकट करने में सीनियर कतिपय महत्त्वपूर्ण कारणों पर ध्यान देना भूल गया, और यहाँ यह बतला देना काफी है कि बुद्धिमान नियोक्ताओं के अनुभव ने उनको सिद्ध कर दिया कि काम के घंटों में अत्यधिक वृद्धि से उत्पत्ति में वृद्धि नहीं होती थी। उनको पता चला कि जब किसी कारखाने में प्रतिदिन बारह घंटों के स्थान पर ग्यारह घंटे कार्य होने लगता था तो उत्पत्ति में वास्तव में वृद्धि होती थी, कार्य अधिक उत्तम श्रेणी का होता था और श्रमिकों में रोग की मात्रा घट जाती थी। काम के घंटे घटा कर दस करने पर इसी प्रकार के परिणाम निकले, और कुछ मनुष्य समझने लगे, यद्यपि केवल अस्पष्ट रूप से ही सही, कि वास्तविक समस्या काम के समय की "सर्वोत्तम" अवधि ज्ञात करने की थी।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में कारखानों के विधान के विस्तार का विरोध, जहाँ तक इसका का सम्बन्ध स्त्रियों से था, यह आश्चर्य है कि उनकी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति में सुधार के आन्दोलन से—स्त्रियों के अधिकारों के आन्दोलन से—सम्बन्धित था। उच्च और मध्य वर्गों की स्त्रियों को मताधिकार से और विद्वान व्यवसायों से अपना वंचन बुरा लगता था, और जो इन अयोग्यताओं के दूर करने के लिए आन्दोलन

कर रहे थे उनमें से कुछ ने कारखानों में स्त्रियों के कार्य पर लगाई गई मर्यादाओं को अपनी योनि पर अतिरिक्त अन्याय के रूप में देखा। उन्होंने समझा कि पुरुषों के श्रमिक संघ इन प्रतिबन्धों का समर्थन इसलिए करते हैं कि अन्ततः स्त्रियां कारखानों में नियुक्ति से सर्वथा वंचित हो जाएंगी। ऐसे विचार गलत थे। स्त्रियों के अधिकारों के समर्थकों का संसार में उपयोगी कार्य के करने से शिक्षित महिलाओं के निषेध के विरोध में आपत्ति उठाना उचित था। परन्तु श्रमिक वर्गों की स्त्रियां इस प्रकार वंचित नहीं थीं। उनको अत्यधिक कार्य दिया जाता था, और बहुत कम मजदूरी दी जाती थी। कारखानों के विधान का उद्देश्य उनको शोषण से बचाना था और पुरुषों के संघों ने इस आन्दोलन का समर्थन किया क्योंकि पुरुष आशा करते थे कि, परोक्ष रूप से, वे भी इसी प्रकार की सुविधाएं प्राप्त कर सकेंगे।

प्रथम कारखाना अधिनियम जिसका प्रस्ताव, अधिक प्रसिद्ध सर रॉबर्ट पील के पिता, सर रॉबर्ट पील (Sir Robert Peel) ने रखा, और जो स्वयं एक कारखानादार था, १८०२ में पारित हुआ। इसका नाम "शिशिक्षुओं के स्वास्थ्य और नैतिक आचार का अधिनियम" था[१] और इसका सम्बन्ध केवल सूती और ऊनी कारखानों के शिशिक्षुओं से था। उनके काम के घंटे प्रति दिन बारह सीमित किए गए, और जून १८०४ के पश्चात् उनको रात के नौ बजे बाद काम पर नहीं रखा जा सकता था। उनके वस्त्र, उनकी शिक्षा, उनके धार्मिक उत्सव, उनके निवास स्थान, कारखाने के आहतों की दशा और संक्रामक रोग फैलने पर चिकित्सा की व्यवस्था जैसी बातों पर नियम बनाए गए। प्रत्येक जिले में कारखानों के निरीक्षण के लिए शान्ति अधिकरणिकों द्वारा दो दर्शक नियुक्त किए जाते थे, एक शान्ति अधिकरणिक होना चाहिए था और दूसरा इंगलैंड की चर्च (या स्काटलैंड की चर्च) का पादरी। यह दर्शक पद्धति अप्रभावोत्पादक रही, अनिपुण निरीक्षकों का, जो संभवतः कारखानादार से मित्रता का सम्बन्ध रखते हों, कभी-कभी आना इस अधिनियम से कपटपूर्वक बचने का पता चलाने के लिए निरर्थक था।[२]

---

१. १८०२ के अधिनियम को संभवतः कारखानों के विधान की संहित में सम्मिलित करने की अपेक्षा दरिद्र संहिता का भाग मानना उचित होगा।

२. १८०२ का अधिनियम १८७८ में विखण्डित कर दिया गया।

फिर भी यह सर्वथा निरर्थक नहीं हो सकता था क्योंकि कुछ कारखानेदारों ने इस अधिनियम से बचने के लिए अकिंचन शिशिक्षुओं की नियुक्ति बन्द करके उनके स्थान पर मजदूरी पर बालकों को नियुक्त करने का विचार किया। १८०२ का अधिनियम इनके लिए लागू नहीं होता था, और जब, जल-शक्ति के स्थान पर वाष्प-शक्ति के अपनाए जाने से दूर देहात की बजाए बड़े नगरों में कारखाने स्थापित किए गए, इनको यथेष्ट संख्या में और बहुत कम लागत पर प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। वयस्क श्रमिकों की मजदूरी इतनी कम थी कि उनको अपने बालकों की नियुक्ति की अनुमति देने के लिए बाध्य होना पड़ा, और यदि उनसे अत्यधिक समय तक काम लिया जाता था, या उनके साथ निर्दयता का व्यवहार किया जाता था, तो उनके माता-पिता आपत्ति उठाने का साहस नहीं करते थे, इस भय से कि कहीं स्वयं उनको रोजगार से हाथ न धोना पड़े। १८१५ में सर रॉबर्ट पील ने बालकों के श्रम के सम्बन्ध में एक विधेयक लोक सभा में प्रस्तुत किया, और यद्यपि यह कानून नहीं बन पाया, आगामी वर्ष सदन ने बालकों के श्रम की अवस्थाओं की जाँच करने के लिए एक समिति नियुक्त की, चाहे वे शिशिक्षु हों या गैर-शिशिक्षु। न्यूलनार्क के एक निर्माता, रॉबर्ट ओवन (Robert Owen) ने, जिसका कारखाना एक आदर्श था जिसमें दस वर्ष से कम उम्र का कोई बालक नियुक्त नहीं किया जाता था और काम के घण्टे हलके थे, सब कारखानों पर निश्चित प्रतिबन्ध लगाने की मांग की। नए विधान के विरोध ने जोर पकड़ा, परन्तु १८१९ में एक अधिनियम पारित हुआ जो सूती कारखानों में नियुक्त सब बालकों पर लागू होता था, चाहे वे शिशिक्षु की स्थिति में हों या मजदूरी पाने वालों की, तथापि यह सूती कारखानों के अतिरिक्त दूसरों में लागू नहीं होता था। नौ वर्ष से कम आयु वालों को काम पर नहीं लगाया जा सकता था और सोलह वर्ष से कम वालों से प्रतिदिन बारह घण्टों से अधिक काम नहीं लिया जा सकता था। खाने के लिए डेढ़ घण्टा देना पड़ता था, ताकि कारखानों के अहातों में बालकों की उपस्थिति प्रति दिन साढ़े तेरह घण्टों से अधिक नहीं हो सकती थी। इस प्रकार जो स्तर निर्धारित किया गया था वह ओवन (Owen) और आर्क-राइट (Arkwright) के कारखानों में पहले से प्रचलित स्तर से नीचा था।

इससे पूर्व के अधिनियमों की तरह यह भी पूरी तरह से लागू नहीं किया गया और इससे आसानी से बचा जा सकता था। १८२०, १८२५ और १८३० के अतिरिक्त अधिनियमों ने कानून में मामूली संशोधन किए, और १८३१ के अधिनियम ने उनको विखण्डित कर दिया।

१८३१ के कारखाना अधिनियम ने अठारह वर्ष से नीचे के नवयुवकों के लिए सूती कारखानों में श्रम बारह घंटे प्रति दिन सीमित कर दिया और शनिवार को नौ घंटे, और इसने इक्कीस वर्ष से नीचे के नवयुवकों के लिए रात का काम निषिद्ध कर दिया।[1] यह पहले के अधिनियमों से अधिक प्रभावोत्पादक नहीं रहा; उनकी तरह यह भी केवल सूती कारखानों पर लागू होता था, इसकी खुले तौर पर अवज्ञा की गई, और यद्यपि कभी-कभी अभियोग चलाए गए, विधि की अवज्ञा करने वाले कारखानेदारों पर जो जुर्मानें किए गए वे कभी-कभी श्रमिकों की मजदूरी में से काट कर चुका दिए गए।[2]

परन्तु कारखानों में सुधार के ऐसे प्रबल समर्थक जैसे रिचार्ड ओस्टलर (Richard Oastler) और मीचियल सैडलर (Michael Sadler) अन्ततः जनमत जाग्रत करने में सफल हुए, और राजनीतिज्ञ अनुभव करने लगे कि कारखानेदारों द्वारा विधि की खुली अवज्ञा, जो गत तीस वर्षों से चल रही थी, चालू नहीं रखी जा सकती। जाँच से और प्रमाण मिले; लोक सभा में कारखानों के सुधार के विषय का समर्थन लार्ड एशले (Lord Ashley) ने किया, और १८३३ में एक विधेयक, जिसको प्रथम प्रभावोत्पादक कारखाना अधिनियम कह सकते हैं, लार्ड एल्थोर्प (Lord Althorp) द्वारा प्रस्तुत किया गया और यह कानून बना दिया गया। यह वस्त्र निर्माण के सब कारखानों (रेशमी मिलों को छोड़ कर)[3] पर लागू होता था और इसने नौ वर्ष से कम के बालकों की

१. १८३१ के अधिनियम के अनुसार, यदि कारखाने की मशीनें रात को चलाई जाती थीं, तो यह सिद्ध करने का भार कि कोई संरक्षित व्यक्ति नियुक्त नहीं था कारखानेदार पर डाला गया।

२. यह अधिनियम १८३३ वाले से विखण्डित कर दिया गया।

३. १८३३ के अधिनियम के अधीन रेशमी मिलों में भी रात को काम निषिद्ध था। इन कारखानों में बालकों को नौ घंटे प्रतिदिन कार्य करने की आज्ञा थी।

नियुक्ति का निषेध जारी रखा,[१] नौ से तेरह वर्ष के बालकों को कारखानों में प्रति दिन नौ घंटों या अड़तालीस घंटे प्रति सप्ताह तक कार्य करने की आज्ञा थी,[२] और उनको प्रतिदिन कम से कम दो घंटों के लिए पाठशाला जाना पड़ता था। तेरह से अठारह वर्ष तक के नवयुवक बारह घंटे[३] प्रतिदिन या प्रति सप्ताह उन्हत्तर घंटे तक कार्य कर सकते थे, और उनके लिए रात को कार्य करना निषिद्ध था।[४] इस अधिनियम का अमल कराने के लिए चार कारखानों के निरीक्षक नियुक्त किए गए, और उनको विधि की अवज्ञा करने वाले कारखानेदारों पर जुर्माना करने का अधिकार दे दिया गया।

१८३३ के कारखाना अधिनियम के महत्त्व पर अत्यधिक जोर नहीं दिया जा सकता; क्योंकि, यद्यपि समय समय पर इसमें मामूली संशोधन हुए हैं, इस के सिद्धान्त एक दीर्घ काल तक कारखानों के विधान का आधार रहे हैं. और इसकी दूसरे देशों में नकल भी की गई है। पहले के अधिनियमों से इसमें एक अन्तर यह था कि यह उनकी तरह सूती कारखानों तक सीमित नहीं था परन्तु रेशम के अतिरिक्त सब प्रकार का वस्त्र बनाने वाले कारखानों पर लागू होता था। इस अधिनियम द्वारा आरम्भ की गई "आधे-समय" की पद्धति ने उन्नीसवीं शताब्दी में आंग्ल औद्योगिक जीवन में एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इस अधिनियम से बालकों की अनिवार्य शिक्षा प्रारम्भ हुई। अभी तक सब बालकों के लिए पाठशाला जाना अनिवार्य नहीं किया गया, परन्तु जो कारखानों में कार्य करते थे, उनको अब से कुछ शिक्षा प्राप्त करनी थी। कारखानों के निरीक्षक,

---

१. एक शल्य-चिकित्सक का प्रमाण पत्र प्रस्तुत करना पड़ता था।

२. इस अधिनियम के लागू होने में एक अन्तर्वर्त्ती काल था, जिस का परिणाम यह हुआ कि दस या ग्यारह वर्ष के बालक जो पहले ही से कारखानों की नियुक्ति में थे उन पर "आधे-समय" की पद्धति लागू नहीं की गई।

३. यह मत एक सीमा तक ठीक है कि बारह घंटों के दिन के समर्थक और विरोधी दोनों आशा करते थे कि यह कारखानों में काम करने वाले सब श्रमिकों पर लागू होगा, क्योंकि विभिन्न वर्गों के कर्मियों के कार्य का आपस में सम्बन्ध था। संसदीय वाद-विवाद में यह बात स्पष्ट कर दी गई थी। अभिचालन पद्धति के आरम्भ हो जाने से यह परिणाम नहीं निकला।

४. रात में अर्थात् ८-३० म. पू. और ५-३० म. पू. के बीच में।

जिन्होंने पहले के कानूनों के अधीन नियुक्त दर्शकों का स्थान लिया, कानून को लागू करने में अधिक कुशल थे। दर्शक स्थानीय लोग होते थे, वे कार्य में अनिपुण थे, और प्राय: कारखानेदारों से मित्रता का व्यवहार रखते थे। निरीक्षक लोग बाहरी होते थे जो अपना सब समय इस कार्य में लगाते थे, और वे कारखानेदार का किसी प्रकार से पक्षपात नहीं करते थे। (कालान्तर में उनकी संख्या में वृद्धि कर दी गई।)

यह अधिनियम निर्दोष नहीं था, और एक या दो बातों में पीछे को जाने वाला भी था। इसने प्रत्यक्ष रूप से, निश्चित विधिकरण द्वारा, और परोक्ष रूप से, १८३१ के अधिनियम के विखण्डन द्वारा, यह व्यवस्था की कि कानून की दृष्टि से रात को काम करने की आयु इक्कीस के स्थान पर अठारह होनी चाहिए, और इससे पहले के अधिनियम द्वारा नैतिक और धार्मिक उपदेश देने की शर्त हटा दी। यह भी स्वीकार करना होगा कि निरीक्षकों को जुर्माना करने का अधिकार देना भी ज्यादती थी, क्योंकि अभियुक्त नियोक्ता को एक स्वतन्त्र न्यायाधिकरण के सन्मुख विधि की अवज्ञा करने के आरोप का उत्तर देने का अवसर नहीं दिया गया।

इस अधिनियम के पारित होने से कारखानों में श्रम के नियमन के समर्थकों और विरोधियों के बीच संग्राम बन्द नहीं हुआ। नियमन के विरोधियों ने, यह मान कर कि यह अधिनियम सच्चे आर्थिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल था, विविध प्रकार से इसे अप्रभावोत्पादक बनाने का प्रयत्न किया। इस सिद्धन्त पर चलते हुए कि प्रतिरक्षा का सर्वोत्तम तरीका आक्रमण करना होता है, सुधार के समर्थकों ने सब कारखानों में दस घंटे का दिन निर्धारित करने के लिए आन्दोलन आरम्भ कर दिया। १८३३ के अधिनियम को कार्यान्वित करने में कठिनाइयाँ प्रकट हुईं, आयु के प्रमाणपत्र असंतोषजनक थे और बालकों से अभिचालन पद्धति से काम लिया जाता था, अतएव यह निश्चित करना कठिन था कि क्या अधिनियम पर अमल किया जा रहा था। लार्ड मेलबोर्न (Lord Melbourne) की सरकार पर कानून के अमल में उदासीन होने का संदेह किया गया, परन्तु १८४१ में सर रॉबर्ट पील (Sir Robert Peel) के अधीन अनुदारदल वालों के पदारूढ़ होने पर सुधारकों की आशाएँ

पुनः जाग्रत हो उठीं। आगामी कुछ वर्षों में कारखानों के सुधार के लिए संग्राम अनाज अधिनियमों के विखण्डन के आन्दोलन से सम्बन्धित हो गया।[1]

१८४४ में पील (Peel) का कारखाना अधिनियम पारित हुआ; इसने अनेक प्रकार से एलथोप के अधिनियम की व्यवस्थाओं का परिवर्द्धन और संशोधन किया। ये (रेशमी मिलों के सिवाय) कपड़ा बनाने के सब कारखानों पर लागू होता था जिनमें मशीनों का प्रयोग किया जाता था। वह आयु जिसपर बालक कारखानों में काम कर सकता था घटा कर आठ कर दी गई, और जहाँ यह एक ग़लत दिशा में कदम था यह याद रखना चाहिए कि १८३६ में जन्मों के पंजीयन की स्थापना से आयु का प्रमाण अधिक प्रभावोत्पादक हो सकता था। यह संभव है कि पहले के अधिनियमों के नीचे सात या आठ वर्षों के बालक इस बहाने से काम पर लगाए जा सकते थे कि वे नौ के थे। १८४४ के अधिनियम के अनुसार आयु के लिए केवल शल्य-चिकित्सक के प्रमाणपत्र की आवश्यकता होती थी, परन्तु बाद के वर्षों में किसी अभ्यार्थी की आयु सिद्ध करने के लिए जन्म का सरकारी प्रमाण-पत्र देना पड़ता था। इस अधिनियम ने आधे-समय की पद्धति को बदल दिया। भविष्य में आठ और तेरह के बीच के बालकों के काम के घंटे साढ़े छः से अधिक नहीं हो सकते थे और उनको तीन घण्टों के लिए पाठशाला जाना पड़ता था। परन्तु एक विकल्प स्वीकृत किया गया था, जिसके अनुसार बालक एक दिन पाठशाला और एक दिन कारखाने जा सकते थे, और यदि यह विकल्प अपनाया जाए तो उनके कारखाने में नियुक्ति के घण्टे प्रति दिन दस सीमित किए गए थे। अधिक उत्तम ढंग से संगठित कारखानों में यह विकल्प अपनाया गया और बालकों को दो पारियों में नियुक्त किया गया। युवा व्यक्तियों के काम के घंटे प्रति दिन बारह बने रहे, और इसी प्रकार का प्रतिबन्ध स्त्रियों के काम

---

१. इस समय निर्माताओं का हित मुक्त व्यापार के पक्ष में और कारखानों के सुधार के विरोध में था। अनुदारदली ठाकुर, जो मुक्त व्यापार के विरोधी थे कारखानों के विधान की कुछ अंशों तक सहायता करने को तैयार थे।

घंटों पर लगा दिया गया, फलस्वरूप इस समय पुरुषों के सिवाय सब प्रकार के कारखानों के श्रमिकों को वैधानिक संरक्षण प्राप्त हो गया।

बालकों और अन्य संरक्षित व्यक्तियों से अभिचालन पद्धति से काम लेकर कानून से बचने को रोकने का प्रयत्न किया गया। यह आदेश दिया गया कि बारह घंटों का काम का दिन किसी संरक्षित व्यक्ति के काम पर लगते ही आरम्भ हो जाएगा, और काम और भोजन का समय किसी सार्वजनिक घड़ी को देख कर निर्धारित होना चाहिए। नवयुवकों और युवतियों का भोजन का समय एक साथ रहना चाहिए और काम के स्थान पर भोजन नहीं किया जा सकता। इस अधिनियम में दूसरी प्रकार की व्यवस्थाएं भी थीं। खतरनाक मशीनों के आड़ लगाई जानी थी और चलती हुई मशीनों की सफाई करने और उनमें तेल देने के लिए युवा व्यक्तियों की नियुक्ति निषिद्ध कर दी गई।

कुछ बातों में कारखानों के निरीक्षकों के अधिकार बढ़ा दिए गए, परन्तु उनको जुर्माना करने के अधिकार से वंचित कर दिया गया और जो मालिक अपराध करते थे उन पर स्थानीय मजिस्ट्रेटों के सन्मुख अभियोग चलाया जाता था, यह प्रत्येक दृष्टि से अधिक संतोषप्रद तरीका था। यह अपराधी के लिए अधिक न्यायानुकूल था, जो अपनी सफाई प्रस्तुत कर सकता था, जब कि इस कार्यवाही का अधिक प्रकाशन होने से यह नियमों को टालने वालों के लिए अधिक अवरोधक था।

दस घंटों के लिए आन्दोलन जारी रहा, और १८४७ में फील्डन का कारखाना अधिनियम, जिसमें यह व्यवस्था थी, कानून बन गया। परन्तु यह अधिनियम ऐसे बनाया गया था कि अभिचालन पद्धति का पुनस्थापन संभव हो गया। कारखाने का दिन, प्रातः साढ़े पाँच से सायं साढ़े आठ तक, पन्द्रह घंटों का होता था और यह बताना असंभव था कि क्या कानून की पाबन्दी की जा रही थी; वास्तव में कई कारखानों में कपटपूर्वक इससे बचा जाता था। लार्ड एशले ने इस विषय पर संसद् का ध्यान आकर्षित किया, और सर जार्ज ग्रे ने १८५० में एक और अधिनियम प्रस्तुत किया, जिसने स्त्रियों और युवा व्यक्तियों के काम के घण्टे निर्धारित कर दिए। ये ६ से ६ तक तय किए गए, और डेढ़ घंटा भोजन के लिए देना पड़ता था। इस प्रकार दैनिक कार्य का समय बढ़ा कर

साढ़े दस कर दिया गया, परन्तु साठ घण्टे प्रति सप्ताह की सीमा थी, क्योंकि शनिवार को दो बजे काम बन्द कर दिया जाता था। जहाँ तक स्त्रियों और युवा व्यक्तियों का सम्बन्ध था इस अधिनियम ने अभिचालन पद्धति का प्रश्न हल कर दिया। परन्तु बालकों की नियुक्ति के सम्बन्ध में अब भी कानून से कपटपूर्वक बचा जा सकता था। १८५० के अधिनियम का रूप १८४७ के अधिनियम के संशोधन स्वरूप था, परन्तु बालकों के श्रम का नियमन १८४४ के अधिनियम के अधीन होता था। वे अब तक भी प्रातः साढ़े पाँच से या सायं साढ़े आठ तक काम पर रखे जा सकते थे और इसका उपचार केवल १८५३ में एक संशोधक अधिनियम के बनाने से हुआ।

१८५० के अधिनियम के पारित होने के साथ ही, जहाँ तक कपड़ों के कारखानों का सम्बन्ध है, निर्बाधनीति के सिद्धान्तों का वास्तविक त्याग प्रकट होता है। कारखानों का कानून, जैसा कि १८५० में था, प्रत्यक्ष रूप से बालकों, युवा व्यक्तियों और स्त्रियों पर लागू होता था, परोक्ष रूप से इसका पुरुषों के श्रम के घंटों पर भी नियंत्रण था, जहाँ तक कि उनका कार्य अन्य वर्गों के श्रम पर आश्रित था।

इससे पहले कि और विधान बनाने का प्रयत्न किया गया अनेक वर्ष निकल गए, यद्यपि नियोक्ताओं ने कारखाना कानून की वर्तमान संहिता का विखण्डन कराने का दृढ़, किन्तु असफल, प्रयत्न किया। जब फिर श्रमिकों की दशा पर ध्यान दिया गया यह अनुभव किया गया कि वस्त्र-उद्योग के अतिरिक्त दूसरे उद्योगों के नियमन की आवश्यकता थी। वास्तव में, यह कई वर्षों से स्वीकार किया जाता था और जब अनुभव से सिद्ध हो गया कि वस्त्र-उद्योग में श्रम की दशा के नियमन से उस उद्योग की समृद्धि नहीं घटी थीं, इसको बढ़ा कर दूसरे उद्योगों में लागू करने के विरोध में कोई सही दलील नहीं दी जा सकती थी। १८४५ में कपड़ा छापने के कारखानों में श्रम की अवस्थाओं के नियमन के लिए एक अधिनियम पारित किया गया, और १८६० में, कई वर्षों के आन्दोलन के पश्चात् धुलाई और रंगाई के कारखानों का अधिनियम (The Bleach and Dye Works Act) पारित हुआ। आगामी कुछ वर्षों में ब्यौरे की बातों से सम्बन्धित और अधिनियम पारित हुए, और १८७० में एक अधिनियम

पारित हुआ जिसने रंगाई, सफाई और छपाई के संस्थानों से सम्बन्धित कानून को एकीकृत कर दिया।

१८६२-६ के वर्षों में एक राजकीय आयोग (Royal Commission) ने कपड़े के अतिरिक्त दूसरे कारखानों में और ऐसे कपड़े के कारखानों में जहाँ पर शक्ति-चालित मशीनों का प्रयोग नहीं किया जाता था (ये मौजूदा अधिनियमों के क्षेत्र से बाहर थे) श्रम की अवस्थाओं की जाँच की। यह ज्ञात हुआ कि बाल-श्रम, अत्यधिक घंटे, और अस्वास्थ्यकर अवस्थाएँ प्रचलित थीं, और इन दोषों को दूर करने के लिए कानून बनाए गए।

१८६४ के कारखाना अधिनियम ने अनेक उद्योगों पर जो किसी प्रकार वस्त्र-निर्माण से सम्बन्धित नहीं थे विशेष नियमन स्थापित कर दिया। इनमें मिट्टी के बर्तन, रगड़ने से जलने वाली दियासलाइयाँ, बन्दूकों की टोपियाँ और कारतूस बनाने के कारखाने सम्मिलित थे।

१८६७ में दो महत्त्वपूर्ण अधिनियम, कारखाना अधिनियमों का विस्तारण अधिनियम (Factory Acts Extension Act) और शिल्पिशाला नियमन अधिनियम (Workshop Regulation Act) पारित हुए। पहले ने मौजूदा कानून को विशिष्ट रूप से लौह और निर्माणकला, निक्षीरेय (Gutta-percha), कागज, काँच, छपाई, जिल्द-बन्धाई और तमाकू सहित कुछ दूसरे उद्योगों में,[1] चाहे इनमें कितने ही श्रमिक नियुक्त हों, और सामान्यतः, सब उद्योगों में जिनमें एक स्थान पर पचास या अधिक व्यक्ति किसी निर्माण क्रिया में लगे हुए हों, लागू कर दिया। अब सम्मिलित किए गए कुछ उद्योगों की विशेष परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए ब्यौरे की बातों में कई संशोधनों की स्वीकृति दे दी गई। गृह सचिव को ऐसे संशोधन करने के सीमित अधिकार दे दिए; बाद के अधिनियमों में ये अधिकार बढ़ा दिए गए।

शिल्पिशाला नियमन अधिनियम ने एक कारखाने और एक शिल्पिशाला में अन्तर बतलाया, शिल्पिशाला की जो परिभाषा दी गई उसके अनुसार एक शिल्पिशाला एक कारखाने के अतिरिक्त, उस स्थान को कहते हैं जहाँ कोई बालक

---

१. इनमें से कुछ उद्योगों ने, श्रमिक संघों के प्रयत्नों से, कानून द्वारा अधिकतम निर्धारित घंटों से कम घंटों की स्थापना करवा ली थी।

निरीक्षकों को हस्ताँतरित करके इसे आरम्भ किया। परंतु कारखाना निरीक्षकों की संख्या कम थी और शिल्पिशालाएँ कई थीं, और कुछ वर्षों तक यह कार्य कुशलतापूर्वक नहीं हो सका। १८६६ के सफाई अधिनियम के अधीन शिल्पिशालाओं की सफाई की देखरेख स्थानीय अधिकारियों के हाथ में रही।

१८७४ के कारखाना अधिनियम ने वस्त्र-निर्माण उद्योगों सम्बन्धी कानूनों में कुछ परिवर्तन किए। स्त्रियों और युवा व्यक्तियों के लिए काम के अधिकतम घंटे, जो १८५० से प्रतिदिन साढ़े दस थे, घटा कर दस कर दिए गए, और सप्ताह के लिए योग साढ़े छप्पन सीमित कर दिया गया; व्यवहार में इससे पुरुषों के लिए काम के घंटों में इसी प्रकार की कमी हुई। नौ वर्ष से कम आयु वाले बालक, और एक वर्ष पश्चात्, दस वर्ष से कम आयु वाले, कारखानों में नियुक्त नहीं किए जा सकते थे, और आधे-समय की आयु बढ़ा कर चौदह कर दी गई, सिवाय उन बालकों के लिए जो अमुक स्तर तक शिक्षा प्राप्त कर चुके थे। समयोत्तर कार्य निषिद्ध कर दिया गया, और रेशमी मिलों के साथ दूसरे कपड़े के कारखानों की तरह व्यवहार किया जाने लगा।

कारखाना विधान के विविध विस्तार के कारण इसके संग्रहकरण की मांग हुई जिसके लिए १८७८ के कारखानों और शिल्पिशालाओं के अधिनियम में प्रयत्न किया गया। इस अधिनियम के अधीन पांच प्रकार के संस्थानों में अन्तर बतलाया गया और प्रत्येक वर्ग के लिए अलग नियम बनाए गए। (१) वस्त्र-निर्माण कारखानों से सम्बन्धित नियम ब्यौरे के अतिरिक्त अपरिवर्तित रहे। (२) कपड़ों के अतिरिक्त दूसरे कारखानों में वे सम्मिलित किए गए जो १८६४, १८६७ और १८७० के अधिनियमों द्वारा विशिष्ट रूप से नियमन में लाए गए थे, परन्तु वे नहीं जो केवल इस आधार पर सम्मिलित किए गए थे कि उनमें पचास से अधिक श्रमिक नियुक्त थे। (३) और (४) शिल्पिशालाओं को कारखानों से इस आधार पर अलग किया गया कि उनमें शक्ति-चालित मशीनों का प्रयोग नहीं होता था और उनमें अठारह वर्ष से कम आयु वाले श्रमिक नियुक्त होते थे या नहीं इस आधार पर दो उप-विभाग किये गए; पहली प्रकार की शिल्पिशालाओं का नियमन दूसरी से अधिक कठोर था जिनको सामान्यतः "स्त्रियों की शिल्पिशालाएँ" कहा जाता था। जो संस्थान पहले के अधिनियमों के

अधीन केवल इसीलिए कारखाने गिने जाते कि उनमें पचास श्रमिक नियुक्त थे, अब शिल्पिशाला गिने जाने लगे।[1] घरेलू शिल्पिशालाएँ वे कमरे थे जिनमें वहाँ रहने वाले परिवार के सदस्य कार्य करते थे; इन स्थानों में बालकों के कार्य पर नियमन था परन्तु स्त्रियों के कार्य पर कोई नियमन नहीं था।

कम से कम एक बात में यह अधिनियम प्रतिगामी था। स्त्रियों की शिल्पिशालाएँ और घरेलू शिल्पिशालाएँ सब प्रकार के सफाई सम्बन्धी नियमन से मुक्त थीं, सिवाय उन बातों के जिनमें १८७५ का सार्वजनिक स्वास्थ्य अधिनियम उन पर लागू होता था। इस अधिनियम को लागू करने का कार्य स्थानीय सफाई निरीक्षकों को दिया गया था, जब कि १८७८ के कारखाना अधिनियम की सब व्यवस्थाओं को लागू करने का कार्य कारखाना निरीक्षकों के हाथ में था। व्यवहार में बहुधा भिन्न-भिन्न प्रकार की शिल्पिशालाओं और दो प्रकार के निरीक्षकों के कार्य-क्षेत्रों में अन्तर करने में कठिनाई होती थी।[2]

१८८३ के कारखाना अधिनियम में सफेद शीशे के कारखानों और भर्जन-गृहों (Bake houses) के विशेष नियम बनाये गए थे, और १८८९ के सूती वस्त्र कारखाना अधिनियम के अधीन सूती कारखानों में जलवायु को कृत्रिम रूप से नम करने की शर्तों पर नियमन स्थापित किया गया। बालकों को निर्दयता से बचाने के लिए १८८९ में पारित एक अधिनियम ने नाटकीय मनोरंजनों में नियुक्त बालकों को भी कारखाना अधिनियम का संरक्षण प्रदान कर दिया।

---

१. जिन शिल्पिशालाओं में केवल पुरुष नियुक्त थे वे किसी प्रकार के नियमन या देख-रेख के अधीन नहीं थी।

२. उदाहरणार्थ एक शिल्पिशाला, जिसमें कई पुरुष और स्त्रियाँ और सत्रह वर्ष का एक बालक नियुक्त थे, तीसरे वर्ग में रखा जाएगा और कारखाना निरीक्षक इसका दौरा और निरीक्षण कर सकता था। बालक के अठारहवें जन्म-दिन पर यह संस्थान चौथे वर्ग में होगा, और इसकी सफाई की अवस्था पर कारखाना निरीक्षक का कोई नियंत्रण नहीं रहेगा। इसी प्रकार, एक निजी मकान जिसमें किसी परिवार के सदस्य एक बाहरी युवक सहायक के साथ कार्य करते हों तीसरे वर्ग में होगा, परन्तु सहायक के पदच्युत कर देने पर यह पाँचवें वर्ग में चला जाएगा।

१८९१ में एक महत्त्वपूर्ण कारखानों और शिल्पिशालाओं का अधिनियम पारित हुआ, जिसमें समस्त विषय का पूर्णतः पुनरवलोकन किया गया। ग्यारह वर्ष के होने से पूर्व बालक कारखानों में कार्य आरम्भ नहीं कर सकते थे। शिल्पिशालाओं में कानून पर अमल कराने का कार्य कारखाना निरीक्षकों के हाथ में रहने दिया, सिवाय सफाई की देख-रेख के कार्य के जो स्थानीय प्राधिकारियों के निरीक्षकों को दे दिया गया और इस कार्यके लिए वे शिल्पिशालाएँ भी जिनमें केवल पुरुष नियुक्त किये जाते थे निरीक्षण के अधीन कर दी गई। १८७८ के अधिनियम के अधीन स्त्रियों की शिल्पिशालाओं को प्राप्त छूटें बन्द कर दी गई, परन्तु घरेलू शिल्पिशालाओं की छूटें जारी रहीं। बाहर के कर्मियों को सूचियाँ बनानी पड़ती थीं, और निरीक्षकों को घरेलू शिल्पिशालाओं में प्रवेश का अधिकार दे दिया गया। साधारण बचाव के नियम बनाए गए, और कुछ उद्योगों के लिए विशेष नियम जोड़े गए। कुछ खतरनाक व्यवसायों के लिए गृह सचिव को अतिरिक्त नियम बनाने का अधिकार दे दिया गया।

१८९५ में एक कारखाना अधिनियम पारित हुआ जिसके अधीन सब कार्यों में बालकों का कार्य तीस घण्टे प्रति सप्ताह सीमित कर दिया गया, और चौदह वर्ष के बालकों के लिए रात का कार्य निषिद्ध कर दिया गया। नौ-स्थानों (Docks), भरण-तटों (Wharves), उत्तरण-स्थानों (Quays) और धोबी घाटों जैसे स्थानों को नियंत्रण में ले लिया गया। गृह सचिव को, एक सीमा तक, ऐसे कारखानों और शिल्पिशालाओं के लिए नियम बनाने का अधिकार दे दिया गया जहाँ पर केवल पुरुष नियुक्त किए जाते थे. और कारखानों का साधारण नियमन अनेक अन्य प्रकार से बढ़ा दिया गया। १८९६ में चिकित्सकों को कतिपय व्यावसायिक रोगों की सूचना कारखाना निरीक्षकों को देने का आदेश दिया गया। १८९८ में पारित एक अधिनियम ने भारतीय रबड़ के कारखानों में, ऊन छांटने के संस्थानों में, शीशे के कारखानों में और दूसरे स्थानों में जहाँ विशेष जोखिम रहती थी अवस्थाओं का नियमन स्थापित कर दिया।

अन्ततः, १९०१ के कारखानों और शिल्पिशालाओं के अधिनियम में संहिता निर्माण का एक और प्रयत्न किया गया। इस अधिनियम के अधीन बनाए गए

अनेक सामान्य और विशेष नियमों का वर्णन करना इस पुस्तक के क्षेत्र के बाहर होगा, परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि जिस उम्र पर बालकों को कारखानों में कार्य करने की आज्ञा दी जाती थी वह बढ़ा कर बारह कर दी गई और नियम प्रत्येक स्थान पर, घर में भी, जहाँ पर कोई खतरनाक व्यवसाय चलाया जाता हो, लागू कर दिए गए। १६०८ में पारित एक अधिनियम से श्वेत भास्वर (White Phosphorus) युक्त दियासलाइयाँ बनाना निषिद्ध कर दिया गया (इससे 'फॉमीजा' (Phossyjaw) नामक एक व्यावसायिक रोग हो जाता था) और १६१३ के एक अधिनियम से मिट्टी के बर्तन बनाने के उद्योग में नियमों की एक संहिता लागू कर दी गई।

१८६१ के अधिनियम द्वारा स्थापित और १६०१ के संहिता-निर्माण अधिनियम द्वारा चालू रखी गई द्वि-निरीक्षण पद्धति पूर्णतः संतोषजनक सिद्ध नहीं हुई। कुछ स्थानीय अधिकारी व्यय के कारण और संभवतः, स्थानीय हितों के दबाव के कारण, अपने अधिकारों का पूरा उपयोग करने में हिचकते थे। कहीं-कहीं कारखाना और सफाई निरीक्षकों के कार्यक्षेत्र में अतिछादन था; बहुधा कर्त्तव्यों की उपेक्षा की जाती थी क्योंकि प्रत्येक मान लेता था कि वे दूसरे के कार्यक्षेत्र में थे। फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि कारखानों के कानून का सामान्य प्रशासन सदा अधिकाधिक कुशल होता गया, और कारखानों के निरीक्षकों में स्त्रियों को रखने से इस कार्य में बहुत सहायता मिली।

कारखानों और शिल्पिशालाओं में बालकों की नियुक्ति पर लम्बा वाद-विवाद १६१८ के शिक्षा अधिनियम द्वारा आधे समय की पद्धति के अन्त के साथ समाप्त हो गया। इसके पश्चात्, चौदह वर्ष से नीचे के बालकों में पाठशाला में पूरे समय उपस्थित रहने की आशा की जाती थी और चौदह वर्ष के होने पर ही वे कारखानों या शिल्पिशालाओं में नियुक्त किए जा सकते थे। १६४४ के शिक्षा अधिनियम से वह उम्र जिस तक पाठशाला में उपस्थिति अनिवार्य थी बढ़ा कर सोलह कर दी गई (यद्यपि इस व्यवस्था के अमल की तारीख इस अधिनियम में निश्चित नहीं की गई थी) यह स्पष्ट है कि जब यह

अधिनियम पूरी तरह से अमल में आएगा, इस उम्र से कम का कोई बालक (या बालिका) कारखानों में कार्य नहीं करेगा।

१६०१ का कारखानों और शिल्पिशालाओं का अधिनियम कई वर्षों तक इस विषय पर कानून का आधार बना रहा, परन्तु यह अनुभव किया गया कि अब भी सुधार की गुंजाइश थी और एक अधिनियम बनाने के पक्ष में यथेष्ट मत तैयार हो गया। यह १६३७ में हुआ, जब कारखानों का अधिनियम पारित हुआ। इसने कोई नए सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं किए, पुरुषों के काम के घण्टों पर वैधानिक प्रतिबन्ध लगाने की पुरानी अनिच्छा ने अब भी असर दिखाया। परन्तु मौजूदा नियमों में अनेक संशोधन किए गए। स्त्रियों और सोलह से ऊपर और अठारह से नीचे के युवा-व्यक्तियों के लिए प्रति सप्ताह कार्य का अधिकत्तम समय जो अब तक कपड़ों के कारखानों में साढ़े पचपन और दूसरों में साठ घंटे था, घटा कर अड़तालीस घंटे कर दिया गया और सोलह से नीचे के युवकों के लिए चवालीस कर दिया गया और समयोत्तर कार्य की अवधि पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए। कारखानों के कानून का क्षेत्र बढ़ा कर सिनेमा की फिल्में बनाने के स्थानों, यंत्र-निर्माण के स्थानों और भवन-निर्माण के कार्य के कुछ भागों पर लागू कर दिया गया। इस अधिनियम में कारखानों के श्रमिकों के स्वास्थ्य की रक्षा करने के उद्देश्य से विविध विषयों पर कठोर नियम संयुक्त थे—आहतों में प्रकाश, तापक्रम, हवा के आवागमन और सफाई, प्रति श्रमिक खाली स्थान का परिमाण, सफाई सम्बन्धी कार्यों के लिये यथेष्ट स्थान, और चिकित्सा-सम्बन्धी देखरेख की व्यवस्था।

१६३८ में दो पूरक अधिनियम पारित हुए। युवा व्यक्तियों की नियुक्ति के अधिनियम ने १६३७ के कारखानों के अधिनियम द्वारा युवा व्यक्तियों के काम के घंटों पर लगाए गए प्रतिबन्ध बढ़ाकर ऐसे व्यवसायों में लगा दिए गए जो पहले सम्मिलित नहीं थे, जैसे सन्देशवाहकों और वस्तुओं का संग्रह करके पहुँचाने में लगे हुओं के लिए। दुकानों के अधिनियम ने दुकानों में नियुक्त युवा व्यक्तियों के काम के घण्टों पर ऐसे ही प्रतिबन्ध लगा दिए।

यह निश्चय करना सरल नहीं है कि कारखानों के विधान का श्रेय उन्नीसवीं शताब्दी के दो राजनीतिक दलों में से किसको अधिक है। यह कभी

स्पष्ट दलीय प्रश्न नहीं बना, परन्तु कभी-कभी इसका सम्बन्ध अन्य विवाद-ग्रस्त प्रश्नों से रहा है जिन पर दलों में तीव्र मतभेद था। इस शताब्दी के आरम्भ में अनुदार दल कारखानों के श्रमिकों की दशा सुधारने में अच्छी रुचि रखने वाले माने जाते थे, जब कि उदार दल वाले, ह्विगों की व्यक्तिवादी परम्परा के उत्तराधिकारी के रूप में, इसका विरोध करते थे। बाद के वर्षों में इन स्थितियों के उलटा होने की कुछ प्रवृत्ति हो गई। कुछ उदारदली लोगों ने सामाजिक सुधार के विचार, जिन को समाजवादी कहा जा सकता है, अपना लिये और परिणामस्वरूप कारखानों के विधान के प्रति उनका विरोध घट गया, कुछ अनुदारदली लोगों ने समाजवाद के विरोध में, ऐसा रवैया अपनाया जो कारखानों के सुधार के प्रति कम उत्साह भरा था। फिर भी, यह कहा जा सकता है कि १८७८, १८९१, १९०१ और १९३७ के चार संहिता-निर्माणकारी अधिनियम जब अनुदारदली सरकारें पदासीन थीं संसद् में पारित हुए थे।

बाईसवाँ अध्याय

आँग्ल रेलें

ग्रेट ब्रिटेन की रेल व्यवस्था अनेक प्रकार से अद्वितीय है। वाष्प इंजनों का इस देश में आविष्कार हुआ था, और रेलों के अन्यत्र निर्माण से पूर्व यहाँ उनका विकास हो चुका था। प्रगति प्रवर्तकों के अनुभव पर आधारित थी, त्रुटियाँ की गईं, प्रयोग किए गए और कभी-कभी त्याग दिए गए। "भूल-सुधार" की विधि से प्रगति हुई, किन्तु लागत ऊंची बैठी। जब अन्य देशों में रेलों का निर्माण हुआ तो वे ब्रिटेन के रेलों के इंजीनियरों के अनुभव से लाभ उठाने की स्थिति में थे।

इससे आंग्ल रेलों की ऊंची लागत का कारण समझने में सहायता मिलती है। इस के अतिरिक्त और भी कई परिस्थितियाँ थीं जिनके कारण ऐसा हुआ। नासमझ लोगों का जनमत परिवहन के नवीन प्रस्तावित साधन का विरोधी था, जिसको नहर कम्पनियों, गाड़ियों के स्वामियों, और विवर्तद्वार प्रन्यासों के निहित स्वार्थों का विरोध भी सहन करना पड़ा। नए रेल-पथ के निर्माण से पूर्व संसद् की स्वीकृति प्राप्त करनी पड़ती थी। भूमापन करना होता था, लागत का अनुमान लगाना होता था और उपक्रम के पक्ष में साक्ष्य एकत्रित करनी होती थी। यह सामग्री संसदीय समिति को समर्पित करनी होती थी, जिसके सन्मुख उपक्रम के विरोधियों को बोलने का अधिकार था। यह समस्त कार्यविधि बहुव्ययसाध्य थी, और यह अनुमान लगाया गया है कि इन प्रारम्भिक कार्य-वाहियों की लागत का औसत ४००० पौण्ड प्रति मील था—जो संयुक्त राज्य अमरीका में सम्पूर्ण रेल निर्माण की लागत के समान होता है।

संसदीय स्वीकृति प्राप्त हो जाने पर कम्पनी को पथ निर्माण करने और स्टेशनों के बनाने के लिए भूमि[1] क्रय करनी पड़ती थी। कई भू-स्वामी

---

१. कहीं कहीं पटरियाँ ऐसी भूमि पर डाली गईं जो कम्पनी की सम्पत्ति नहीं थी। कम्पनी को पटरियाँ डालने और यातायात ले जाने का अधिकार, जिसे पारिभाषिक शब्दों में मार्गाधिकार (Wayleave) कहते हैं, मिल गया,

विरोधी पक्ष में अग्रगण्य थे, और संभवतः उनमें अधिकांशों को वास्तव में यह विश्वास था कि उनकी सम्पत्ति के समीप रेल के निर्माण से इसका मूल्य घट जाएगा। अतएव वे जिस भूमि का विक्रय करने के लिए बाध्य किए गए उसका उन्होंने हास्यप्रद ऊँचा मूल्य मांगा और प्राप्त किया। आरम्भ में कुछ भागों में भूमि की लागत का औसत, जिसका अब तक केवल कृषि के लिए प्रयोग किया गया था, हजारों पौण्ड प्रति मील आया।

निर्माण सम्बन्धी समस्याओं पर भारी व्यय करना होता था। ये देश के भिन्न-भिन्न भागों में अलग-अलग थीं। पूर्णतः समतल भूमि के विस्तृत क्षेत्रों का मिलना दुर्लभ था। आरम्भ ही से यह मान्यता थी कि उतार-चढ़ाव होने पर अधिक कर्षण शक्ति की आवश्यकता होगी, और मितव्ययिता के हेतु यह निश्चय किया गया कि यथासंभव इनसे बचा जाए, और, यदि इनसे नहीं बचा जा सके तो धरातल अधिक ढालुआं नहीं होना चाहिए। अतएव बान्धों और पर्वतों की कटाई के सम्बन्ध में बहुत खुदाई करनी पड़ी।[1] सुरंगों के खोदने और पुलों के निर्माण में संस्थापकों को अतिरिक्त भारी व्यय करना पड़ा।

परन्तु इस भूमि पर खनिजों आदि के अधिकार निःशुल्कधारी के पास रहे। मार्गाधिकार, जिसके लिए कम्पनी को किराया देना पड़ता था, कभी कभी जब समाप्य खानों के लिए रेल शाखाओं का निर्माण करना पड़ता था, भूमि क्रय की अपेक्षा अधिक पसन्द किए जाते थे। कहीं कहीं ऐसी रेल शाखाओं को त्याग दिया गया है जिससे मार्गाधिकार समाप्त हो गए हैं; अन्य मार्गाधिकार रेल कम्पनी द्वारा भूमि क्रय के कारण इसी को प्राप्त हो गए हैं; कुछ अब भी प्रचलित हैं।

१. प्राकृतिक कठिनाई पर विजय प्राप्त करने के लिए अपनाए गए तरीके का निश्चय प्रायः वित्तीय आधार पर किया जाता था। एक सुरंग और एक लम्बे घुमाव के लाभों की तुलना करते समय लागत व्यय को ध्यान में रखा जाता था; फिर भी कभी कभी, विशेषतः जब किसी विरोधी कम्पनी से प्रतिस्पर्धा का भय होता था, दो महत्त्वपूर्ण नगरों के बीच में पटरी की लम्बाई में वृद्धि और समय-सारिणी पर प्रभाव आदि अन्य बातों पर विचार किया जाता था। ढाल देने, भूमि काटने या सुरंग बनाने का प्रश्न हल करने के लिए ढाल पर चढ़ाई के अनुमानित अतिरिक्त व्यय के पूंजीकृत-मूल्य की तुलना सुरंग बनाने में लगने वाली पूंजी के अनुमान से की जाती थी।

ठोस निर्माण आंग्ल रेलों की सदा एक विशेषता रही है। सड़क, पटरियाँ गन्त्रयानादि (rolling stock) और सूचक यन्त्रों आदि में सदा सुरक्षा का पूरा ध्यान रखा गया है। इस नीति से अतिरिक्त व्यय हुआ है, परन्तु लोकमत ने इसकी माँग की है और संसद् ने इसका आग्रह किया है। समय-समय पर अतिरिक्त अभय युक्तियों का आविष्कार किया गया है, और रेल कम्पनियों को, स्वेच्छापूर्वक या अनिच्छापूर्वक, उनको अपनाने के लिए बाध्य किया गया है।

ग्रेट ब्रिटेन में जो रेलों का जाल बिछा हुआ है इसकी सृष्टि सर्वथा निजी साहस के परिणामस्वरूप हुई है। राज्य ने कुछ भी वित्तीय सहायता प्रदान नहीं की थी। पूँजी उन लोगों ने जुटाई थी जो परिवहन के इस नवीन साधन को लाभदायक विनियोग का क्षेत्र मानते थे और जो अपनी पूँजी पर उचित लाभ की आशा करते थे।[1] ग्रेट ब्रिटेन में, जहां पर रेलों का आविष्कार हुआ, इस प्रकार रेल निर्माण की वित्तीय व्यवस्था करना संभव हो गया था क्योंकि वहां पर कुछ समय से वृहत् स्तर पर उद्योग चल रहे थे। औद्योगिक क्रान्ति के प्रारम्भिक दिनों में हजारों व्यक्तियों ने धन कमाया था; पूँजी एकत्रित कर ली गई थी और विनियोग की प्रतीक्षा थी। पूँजी की यह प्रचुरता अन्य देशों की परिस्थिति से भिन्न थी। अनेक, संभवतः अधिकांश, देशों में रेल निर्माण के लिए यथेष्ट निजी पूँजी उपलब्ध नहीं थी। राज्य को यह कार्य अपने हाथों में लेना पड़ा; यदि इसने ऐसा करना अस्वीकार किया तो रेलों का निर्माण नहीं हो सकता था। रूस जैसे पिछड़े हुए देशों में ऐसी स्थिति थी, और आँग्ल उपनिवेशों में भी प्रायः ऐसा ही था। कनाडा, दक्षिणी अफ्रीका, और आस्ट्रेलिया के विस्तृत भूखण्डों में रेलों की आवश्यकता थी। परन्तु इनमें दूरियाँ अधिक थीं और जनसंख्याएँ कम। अन्य दिशाओं में

---

१. रेलों के १८४३-४७ के अभिवृद्धि-काल तक पूंजी अधिकांश में व्यापारियों, निर्माताओं और कोयला की खानों के स्वामियों द्वारा प्रदान की गई थी, जिनको रेलों के विकास से अपने उपक्रमों में लाभ की आशा थी। अभिवृद्धि-काल के दिनों में और तत्पश्चात् देश के सब भागों में सम्पन्न लोग रेल-निर्माण में पूंजी लगाने को विनियोग का एक लाभदायक क्षेत्र मानने लग गए।

आर्थिक विकास के लिए निजी पूँजी की आवश्यकता थी। फिर भी जब तक रेलें नहीं बिछाई जाएँ जनसंख्या नहीं बढ़ सकती और देश के अन्दर जाना और बसना कठिन या असंभव होगा। सरकारों को रेलों का निर्माण करना पड़ा जिनसे कई वर्षों तक लाभ की आशा नहीं की जा सकती थी। ऐसी रेलों को भविष्य में लाभ कमाने के उद्देश्य में बनाया गया था, जब कि आंग्ल रेलें वर्तमान व्यापार की आवश्यकता की पूर्ति करती थीं और इनके निर्माण में लगाई गई पूँजी पर तत्काल लाभ की आशा थी।[1] ग्रेट ब्रिटेन और इस के उपनिवेशों और संयुक्त राज्य अमरीका की रेलें व्यापार की आवश्यकताओं की पूर्ति के उद्देश्य से बनाई गई थीं; कुछ यूरोपीय देशों में इनकी योजना बनाते समय युद्ध के लिए इनके उपयोग की संभावना पर भी ध्यान दिया गया। यह स्पष्ट है कि प्रधानतः सैनिक उद्देश्यों के लिए बनाई गई रेलों की वित्तीय व्यवस्था राज्य को करनी पड़ी। भारत में रेल निर्माण का एक उद्देश्य अकाल सहायता कार्य का सुचारु रूप से संगठन करना था।[2] भारत सरकार

---

१. यह आंग्ल रेलों के ठोस निर्माण का अतिरिक्त कारण था। कई अन्य देशों में रेलों का निर्माण एक प्रकार का सट्टा था जो वित्तीय दृष्टि से लाभदायक हो भी सकता था और नहीं भी। उनके निर्माण में प्रयुक्त सामग्री और कार्य बहुधा निम्न कोटि के थे, यह विचार था कि यदि, और जब, किसी रेल को सफलता मिली तब सुधार किया जा सकता था। ग्रेट ब्रिटेन में रेलों के लाभदायक सिद्ध होने में तनिक भी सन्देह नहीं था, और वास्तव में आरम्भ से ही उत्तम लाभांश दिए गए थे। इसी शताब्दी में आगे चल कर रेल की ऐसी शाखाओं के निर्माण में अतिरिक्त पूंजी लगानी पड़ी, जो स्वतः लाभदायक नहीं थी परन्तु मुख्य रेलों के सहायक के रूप में उपयोगी थी, जिससे लाभांशों का सामान्य स्तर गिर गया।

२. प्राचीन समय से भारत में अकाल पड़ते आए हैं। इस भूमि में कुल मिलाकर इसके निवासियों के लिए यथेष्ट खाद्यान्न उत्पन्न होते आए हैं, किन्तु जहाँ कुछ प्रान्तों में खाद्यान्नों की प्रचुरता होती है, अन्य प्रान्तों में कभी कभी अभाव हो जाया करता है, जिससे अकाल पड़ जाता है। आंग्ल राज्य की पूर्णतः स्थापना से पूर्व ऐसी परिस्थितियों का पूर्वीय भाग्यवाद से सामना किया जाता था। अकाल सहायता के लिए खाद्यान्नों को प्रचुरता के क्षेत्रों से अभाव-ग्रस्त क्षेत्रों में ले जाना पड़ता था और इस कार्य के लिए रेलों की उपयोगिता स्पष्ट है।

ने कुछ रेलों को स्वयं बनवा कर और दूसरों को बनाने वाली निजी कम्पनियों को लाभांशों का प्रत्याभवन देकर इनके विकास में सहायता दी ।

आँग्ल रेलों की स्थापना परिवहन के वर्तमान साधनों के प्रतिस्पर्धी के रूप में हुई । अठारहवीं शताब्दी में सड़कों की व्यवस्था में सुधार किये गए थे और नहरों का जाल बिछा दिया गया था । प्रारम्भिक उन्नीसवीं शताब्दी के आर्थिक दर्शन के अनुसार एकाधिकार अवांछनीय था, और संसद् ने रेलों और नहरों के बीच में और एक रेल की दूसरी रेल से प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहन दिया । रेलों के प्रतिस्पर्धी के रूप में नहरों को बनाए रखने का प्रयत्न किया गया और एक रेल की दूसरी रेल से ऐसी प्रतिस्पर्धा थी कि अधिकाँश बड़े नगरों में एक से अधिक रेलें थीं । जैसे जैसे समय व्यतीत होता गया, इस स्थिति को बनाए रखना अधिकाधिक कठिन हो गया, यद्यपि संसद् की इस नीति को त्यागने की इच्छा नहीं थी, और, वास्तव में १६२१ तक निश्चित रूप से ऐसा नहीं किया । रेलों की जन्मजात उत्तमता और नहर कम्पनियों में साहस के अभाव से नहरों की अवनति हुई और संमिश्रण, कार्यकारी सन्धियों और समझौतों के कारण रेलों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा घट गई । कई अन्य देशों में आरम्भ ही से एक एकाधिकारी व्यवस्था के लाभ स्वीकार कर लिये गए, और जहाँ कहीं भी नहरें थीं, उनको रेलों का प्रतिस्पर्धी नहीं बना कर सहायक बना दिया गया ।

ग्रेट ब्रिटेन में रेलों के प्रारम्भिक संस्थापकों ने एक राष्ट्रीय व्यवस्था की कल्पना नहीं की थी । अनेक छोटी लाइनें बनाई गईं, जिनका बहुधा अन्य लाइनों से कोई सम्बन्ध नहीं था, और कभी-कभी पटरियों का प्रान्तर भी भिन्न रखा गया, और अन्तर्गमन की संभावना पर विचार भी नहीं किया गया । रेलों के थोड़े वर्षों के अनुभव ने इन लाइनों को सम्बन्धित करने और यात्रियों तथा माल के लिए सीधी गाड़ियों की व्यवस्था करने की आवश्यकता सिद्ध कर दी । अन्य देशों में आंग्ल रेल प्रबन्धकों द्वारा प्राप्त अनुभव से लाभ उठाया गया और आरम्भ ही से सुदूर व्यवस्थाओं की योजनाएँ बनाई गईं ।

एक और बात जिसमें आँग्ल रेल विकास का रूप संस्थापकों की आशाओं से भिन्न रहा वह यह थी कि किस प्रकार का यातायात सब से अधिक लाभदायक सिद्ध होगा । रेलों का निर्माण माल के यातायात के लिए किया गया

था, और यह अनुमान था कि यात्रियों का यातायात, यदि किया भी गया तो, कम महत्त्व का होगा। परन्तु शीघ्र ही यह अनुभव किया गया कि मनुष्यों का यातायात सब से अधिक लाभदायक होता है। रेलों के प्रारम्भिक काल में तीन-चौथाई आय यात्रियों के यातायात से होती थी; आगे चल कर उन्नीसवीं शताब्दी में यह अनुपात प्रति वर्ष घटता गया और केवल चालीस प्रतिशत रह गया। दक्षिणी रेलवे (Southern Railway) की कुल आय का सत्तर प्रतिशत यात्रियों के यातायात से प्राप्त होता था; परन्तु यह रेल एक अपवाद थी, क्योंकि यह किसी विशाल औद्योगिक क्षेत्र में नहीं थी और लन्दन को दक्षिणी समुद्रतट के अनेक अवकाश-स्थलों से मिलाती है और महाद्वीपीय यातायात की बड़ी मात्रा की पूर्त्ति भी करती है।

आँग्ल रेलों के गन्त्रयानादि का केवल एक भाग ही कम्पनियों की सम्पत्ति था। प्रारम्भ ही से वे निजी गाड़ियों और डिब्बों को चलाने की अनुमति देती थीं। इसमें वे विवर्त्तद्वार प्रन्यासों और नहर कम्पनियों का अनुगमन कर रही थीं। सड़क या नहर बना दी जाती थी; जो इसका प्रयोग करना चाहते थे अपनी गाड़ियों और नौकाओं की व्यवस्था करते थे और मार्ग के उपयोग के लिए शुल्क देते थे। रेल कम्पनियों को आशा थी कि उनकी डाली हुई पटरियों का उपयोग अधिकांश में निजी गन्त्रयानादि द्वारा किया जाएगा और उनकी आय का बड़ा भाग मार्ग-शुल्क से प्राप्त होगा। उन्होंने निजी इंजनों के चलाए जाने की संभावना भी स्वीकार की किन्तु इनका प्रयोग सुरक्षा और समय की पाबन्दी दोनों के प्रतिकूल था क्योंकि सबसे धीरे चलने वाले इंजन द्वारा पीछे आने वाली गाड़ियों की गति सीमित हो जाती थी। १८३९ में एक संसदीय समिति के प्रतिवेदन में यह स्वीकार किया गया कि कर्षण की व्यवस्था कम्पनियों को करनी चाहिए। फिर भी निजी डिब्बों का बड़ी मात्रा में उपयोग होता रहा। यह व्यवस्था कम्पनियों और उनके ग्राहकों दोनों के लिए लाभ-दायक मानी जाती थी। यदि कम्पनियों ने सब डिब्बों को अपनी सम्पत्ति बनाने का निश्चय किया होता तो उनको गन्त्रयानादि की व्यवस्था के लिए बड़ी मात्रा में अतिरिक्त पूँजी लगानी पड़ती। निर्माताओं और कोयले की खानों के स्वामियों ने अपने ही डिब्बे रखना अधिक पसन्द किया। इनको कारखानों या खानों के पास पार्श्वक में छोड़ दिया जाता था और ये अपने स्वामी की

सुविधानुसार भरने या खाली करने के लिए रखे रहते थे। कम्पनी के गन्त्रयानादि को इस प्रकार रोकने पर विलम्बशुल्क देना पड़ता था। इसके अतिरिक्त कम्पनी अपने डिब्बों के प्रयोग के साथ ही साथ उनके कर्षण के लिए भी शुल्क लेती थी; जब निजी डिब्बों का प्रयोग किया जाता था तो यह केवल कर्षण के लिए शुल्क लेती थी। फिर भी, क्योंकि निजी डिब्बे वापसी पर बहुधा खाली जाते थे, यह दलील दी जाती थी कि डिब्बों को एकत्रित करके समय और व्यय में बचत की जा सकती थी। रेलों के राष्ट्रीयकरण के समय यह दृष्टिकोण विजयी हुआ क्योंकि उस समय राज्य ने समस्त गन्त्रयानादि का स्वामित्व ग्रहण कर लिया। इतना करने पर भी जब किसी विशेष व्यापार के लिए विशिष्ट प्रकार के डिब्बों की आवश्यकता होती है तो कुछ सीमा तक वापसी यात्रा में डिब्बों का खाली जाना आवश्यक हो जाता है।

आँग्ल रेल व्यवस्था की स्थापना उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीय चतुर्थांश में हुई।[१] १८२५ से पूर्व भी वाष्प-चलित के अतिरिक्त अन्य रेलें थीं और १८५० के पश्चात् भी इस व्यवस्था में बहुत विस्तार हुआ है,[२] फिर भी इस

---

१. यह मजे की बात है कि आँग्ल रेल व्यवस्था का "आविष्कार" दो भिन्न-भिन्न दिशाओं में प्रगति के संगम से हुआ, जिनका आरम्भ में एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं था। पटरियाँ डालकर विशेष प्रकार की सड़क बनाने का कार्य वाष्प-संकर्षण की संभावना को ध्यान में रखे बिना ही किया गया था; दूसरी ओर, सब से पहले चलने वाले इंजन (चलित्र) साधारण सड़कों पर चलने के लिए बनाए गए थे और इनके प्ररचयिता पटरियों के लाभों की सराहना करने में असफल रहे।

२. भिन्न-भिन्न समयों पर आँग्ल रेलों की लम्बाई निम्नाँकित थी :

१८४०	१,८५७ मील	१९००	२१,६६६ मील
१८५०	६,६२२ ,,	१९१०	२३,३८७ ,,
१८६०	१०,४३३ ,,	१९१४	२३,७०१ ,,
१८७०	१५,५३७ ,,	१९२०	२३,७३४ ,,
१८८०	१७,९३३ ,,	१९२३	२०,३१४ ,,
१८९०	१९,२३३ ,,	१९३०	२०,४०२ ,,

१९२३ और १९३० के आँकड़े आयरलैण्ड रहित हैं, जिसमें ३,४०० मील रेल-पथ हैं। १९३० के आँकड़ों में १२,७६५ मील द्वि-पथ के हैं।

व्यवस्था की स्थापना इन तिथियों के बीच में हुई। सब से आरम्भ की रेलें कोयले की खानों से सम्बन्धित छोटी निजी लाइनें थीं, और वे खान से नदी या नहर तक कोयले के यातायात को सुविधाजनक बनाने के काम में ली जाती थीं। कोयले की खानों को जाने वाली सड़कों की दशा खराब थी, और १६३० से चपटी या खुली हुई लकड़ी की पट्टियाँ कभी कभी उनमें जमा दी जाती थीं।[1] कोयले की गाड़ियाँ इन पट्टियों पर चलती थीं और बहुधा इनसे उतर जाती थीं। कर्षण कार्य घोड़ों या मनुष्यों से लिया जाता था, परन्तु धरातल यथेष्ट ढालुआँ होने पर इनके बिना भी कार्य हो जाता था। १७३८ के पश्चात् लकड़ी के स्थान पर लोहे की पट्टियाँ काम में लाई गईं और १७६७ में लोहे की ढली हुई पटरियों का आरम्भ हुआ। विलियम जेसप ने सर्वप्रथम स्फारी पहियों की गाड़ियों का निर्माण किया। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक नहरों के सहायक के रूप में कई छोटी रेलों का निर्माण हो चुका था। १८०१ में पारित एक अधिनियम के अन्तर्गत कोयला, अनाज इत्यादि ले जाने के लिए, वैन्डसवर्थ और क्रोयडोन के बीच में, "सरे आयरन रेलवे" को स्वीकृति प्रदान की गई और इसके पश्चात् इस शताब्दी के प्रथम बीस वर्षों में देश के विभिन्न भागों में उन्नीस अन्य रेलें बनाई गईं। ये घोड़ों से चलाई जाती थीं, और स्थिर वाष्प-इंजनों के लगे हुए ढोलों के लपेटे हुए रस्सों से भी प्रयोग किए गए। १८०३ से चलने वाले इंजनों का प्रयोग होने लगा; तृविथिक, बैलंकिन-सप और हैडले इनके प्रारम्भिक आविष्कर्ता थे। आगामी कुछ वर्षों में अनेक "वाष्प-गाड़ियों" की उत्पत्ति की गई; ये सार्वजनिक सड़कों पर चलती थीं। १८१४ में जार्ज स्टीफैन्सन ने, जो किलिंगवर्थ की कोयले की खानों में कार्य करने वाला एक इंजीनियर था, "ब्लूशर" नामक एक चलने वाला इंजन बनाया। इसमें अनेक कमियाँ थीं, परन्तु स्टीफैन्सन ने अपने प्रयोग जारी रखे।

१८२१ में "स्टाकटन और डार्लिंगटन रेलवे" का श्रीगणेश हुआ। इसके संस्थापकों का विचार कर्षण से लिए घोड़ों का प्रयोग करने का था, परन्तु १८२३ में उन्होंने वाष्प से चलने वाले इंजनों और स्थिर इंजनों का उपयोग

---

१. यह कहा जाता है कि एक काष्ठ रेल-पथ १६०२ में न्यूकासल में बनाया गया था।

करने का निश्चय किया, और जब १८२५ में गाड़ियों का चलना आरम्भ किया गया तो पहली गाड़ी स्टीफैन्सन की प्ररचना के इंजन से खींची गई थी।[१] स्टाकटन और डार्लिंगटन की सफलता से अन्य रेलों की स्थापना को प्रोत्साहन मिला और १८३० में लीवरपूल और मैन्चेस्टर रेलवे पूरी कर दी गई। संचालकों ने कपितय विशेषताओं वाले चलने वाले इंजन पर ५०० पौण्ड के अग्रधन की घोषणा की; १८२९ में रेनहिल में परीक्षण हुए और स्टीफैन्सन के "राकेट" को पुरस्कार प्रदान किया जो अन्य इंजनों से अधिक कार्यक्षमता वाला सिद्ध हुआ। अन्य रेलें—वारिंगटन और बरमिंघम के बीच, बरमिंघम और लन्दन के बीच, ब्रिस्टल और लन्दन के बीच और लन्दन और ब्राइटन के बीच—बनाई गईं, और १८३८ के समाप्त होने से पूर्व लन्दन और मैन्चेस्टर के बीच रेल का सम्बन्ध स्थापित हो गया। १८३९ में "ईस्टर्न काउन्टीज रेलवे" (जो आगे चलकर दी ग्रेट ईस्टर्न कहलाई) के प्रथम भाग का उद्घाटन हुआ। इसका प्रान्तर पाँच फुट रखा गया, परन्तु १८४५ में इसको प्रमाप प्रान्तर में बदल दिया गया। इस काल में देश के कई भागों में रेलों का निर्माण हो रहा था, किन्तु अधिकांश रेलें कम दूरी वाली थीं और उनमें से कई का दूसरी रेलों से कोई सम्बन्ध नहीं था। इस शताब्दी के चतुर्थ दशक में रेलों का निर्माण होता रहा और १८४३ और १८४७ के बीच में "रेल सम्राट्" जार्ज हडसन के प्रोत्साहन के फलस्वरूप "रेल उन्माद" चल पड़ा। कई मूर्खतापूर्ण और विवेक-शून्य योजनाओं की ओर विनियोक्ताओं का ध्यान आकर्षित हुआ, और बहुत धन की बर्बादी हुई। परन्तु इस काल की सब योजनाएँ इस प्रकार की नहीं थीं, और १८५० तक इङ्गलैंड में रेलों का जाल बिछ गया।

ज्यों-ज्यों निर्माण कार्य की प्रगति हुई और देश के कई भागों में रेलें बनाई गईं एकीकरण की प्रवृत्ति बढ़ गई।[२] एक रेल ने दूसरी रेल को खरीद लिया;

---

१. कुछ वर्षों तक "स्टाकटन और डालिंगटन रेलवे" पर घोड़े और इंजन दोनों काम में लिए गये।

२. १८४४ में "मिडलैण्ड रेलवे" और १८४६ में "लन्दन और नार्थ वेस्टर्न रेलवे" छोटी रेलों को मिला कर बनाई गई थी। "ग्रेट वेस्टर्न रेलवे" इस प्रकार नहीं बनाई गई थी। यह प्रारम्भ ही से एक अधिक महत्त्वाकांक्षिणी योजना थी

या, जो वास्तव में एक ही बात थी, दोनों रेलें मिला दी गईं।[1] जहाँ पृथक अस्तित्व बना रहा, बहुधा कम्पनियों को एक दूसरे की पटरियों पर गाड़ियां चलाने का अधिकार मिल गया। इससे पूर्व प्रान्तर की समानता की आवश्यकता मान ली गई, और १८४६ में संसद् से निर्देशन मिल गया कि भविष्य में सब रेलें चार फुट साढ़े आठ इंचों के प्रमाप प्रान्तर की बनाई जानी चाहिएँ।[2] फिर भी ग्रेट वैस्टर्न रेलवे और इससे संबंधित कुछ अन्य रेलों को सात फुट का चौड़ा प्रान्तर रखने की अनुमति दे दी गई, और बाद में भी इस प्रान्तर का कुछ और निर्माण हुआ। दो प्रकार के प्रान्तरों से असुविधा हुई और ग्रेट वैस्टर्न रेलवे ने अन्त में चौड़ा प्रान्तर त्यागना स्वीकार कर लिया। १८६८ में प्रमाप प्रान्तर की ओर परिवर्तन आरम्भ हुआ। कुछ समय तक ग्रेट वैस्टर्न व्यवस्था के कुछ भागों में एक तीसरी पटरी डाल दी गई, जिससे चौड़े और प्रमाप प्रान्तर दोनों प्रकार के गन्त्रयानादि इस पर चल सकते थे। १८९२ में परिवर्तन पूरा कर दिया गया।

जिसका उद्देश्य कुछ सहायक रेलों सहित इंगलैण्ड के पश्चिम में रेल व्यवसाय में एकाधिकार स्थापित करना था। लन्दन और ब्रिस्टल के बीच में एक सीधी रेल बनाने का प्रारम्भिक प्रस्ताव जल-परिवहन में होने वाले विलम्ब के कारण रखा गया था।

१. यदि एक कम्पनी दूसरी कम्पनी को खरीद लेती थी तो दूसरी कम्पनी के भागधारियों को नकद के स्थान पर पहली कम्पनी में भाग दे दिए जाते थे। क्यों कि उनको प्रत्येक दशा में पूँजी का विनियोग करना होता था, प्रायः यह प्रस्ताव मान लिया जाता था।

२. यह कहा जाता है कि आँग्ल रेलों के लिए चार फुट साढ़े आठ इंचों का प्रमाप प्रान्तर स्वीकार किए जाने का कारण यह था कि "किलिंगवर्थ कोलियरी रेलवे" और संभवतः अन्य रेलों का प्रान्तर यही था। यह कहा जाता है कि यह प्रान्तर रोम के रथों के पहियों के बीच की दूरी के बराबर है; यदि यह सत्य है तो यह एक अनुरूपता मात्र है। इस प्रान्तर के आदि कारण के सम्बन्ध में जो कल्पना सबसे ठीक बैठती है वह यह है कि एक पटरी के बाहर की ओर से दूसरी पटरी के बाहर तक की दूरी लेने पर यह पाँच फुट माना जाता था। यदि पटरियाँ पौने दो इंच चौड़ी हों तो अन्दर की ओर से उनकी दूरी चार फुट साढ़े आठ इंच होगी।

यह बतलाया जा चुका है कि प्रारम्भ में रेलों के संस्थापकों का विचार पथों की व्यवस्था करना था, जिनके उपयोग के लिए वे शुल्क ले सकें। परिस्थिति ने उनको वस्तुओं और यात्रियों के परिवहन के लिए बाध्य किया, और अन्तर्चलन का विकास हो गया। यात्रियों को अपने गंतव्य स्थान के लिए टिकट देना साधारण हो गया, यद्यपि उनको एक से अधिक रेल पर यात्रा करनी पड़े। माल भी एक डिब्बे में अनेक कम्पनियों की लाइनों पर जा सकता था। दोनों दशाओं में एक शुल्क लिया जाता था जिसको अनेक कम्पनियों में विभाजित करना पड़ता था। ऐसे हजारों लेन-देन प्रतिदिन होते थे, और, १८४२ में कम्पनियों को एक रेलों का भुगतान भवन स्थापित करना पड़ा, जहां पर उनकी पारस्परिक मांगों का समाधान किया जा सके और शेष राशि निर्धारित की जा सके।

ग्रेट ब्रिटेन की रेल व्यवस्था का विकास निजी साहस के परिणामस्वरूप हुआ। परन्तु ज्यों-ज्यों रेलों की संभावनाएँ स्पष्टरूप से ध्यान में आईं, यह माना जाने लगा कि वे बड़े सार्वजनिक महत्त्व की हैं। उनको विशेषाधिकार प्रदान किए गए और उनको देश में संवादवहन और परिवहन का प्रमुख साधन मान लिया जाना अवश्यंभावी था। कुछ अंशों तक सार्वजनिक नियन्त्रण अपरिहार्य था। जब तक राजनीतिज्ञों और अर्थशास्त्रियों का राज्य-निर्बाध-नीति में विश्वास था, संसद् रेलों पर सार्वजनिक नियंत्रण स्थापित करने में हिचकती थी, और यह स्थिति उनके प्रारम्भ के पश्चात् अर्द्ध-शताब्दी तक चलती रही, यद्यपि ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया इसमें अधिकाधिक कठिनाइयां उत्पन्न होती गईं। १८७३ से पूर्व, जिस वर्ष रेल और नहर आयोग की स्थापना की गई, राज्य का नियंत्रण बहुत कम था।

१८४० में यह अधिनियम बना दिया गया कि नवीन रेलों के उद्घाटन से पूर्व उनका व्यापार मंडल (Board of Trade) द्वारा निरीक्षण होना चाहिए। १८४२ में किसी नवीन लाइन के असन्तोषप्रद होने पर मंडल को उसके चलने में विलम्ब करने का अधिकार दे दिया गया। सब दुर्घटनाओं की सूचना भेजनी पड़ती थी और मंडल को इनके कारणों की जाँच करने का अधिकार दे दिया गया। यह आदेश निकाल दिया गया कि रेलों के लाभांश दस प्रतिशत से अधिक

नहीं होने चाहिएँ। इससे अधिक लाभ होने पर भाड़ों और किरायों को घटना चाहिए। रेल कम्पनियों के उपनियमों को "व्यापार मंडल" के अनुमोदनार्थ अर्पित करना पड़ता था और सरकार को, कुछ शर्तों के अधीन और निश्चित अवधि की समाप्ति पर, रेलों को खरीद लेने का अधिकार दे दिया गया।[1] पूर्वाधिकारों का प्रदान निषेध कर दिया गया और यद्यपि यह निषेध कुछ समय तक अप्रभावोत्पादक रहा तथापि इससे एक ऐसे दोष का अस्तित्व स्वीकार कर लिया गया जिसने आगामी तीस वर्षों में बहुत ध्यान आकर्षित किया। १८४४ के "सस्ती रेलों के अधिनियम" द्वारा सब रेल कम्पनियों को प्रत्येक दिशा में प्रतिदिन एक गाड़ी चलाने का आदेश दिया गया, जो आवश्यकता होने पर सब स्टेशनों पर ठहरती थी, और जिनमें यात्रियों से प्रति मील एक पैन्स से अधिक किराया नहीं लिया जा सकता था।[2] १८४५ में संसद् ने माल ढोने के लिए अधिकत्तम दरें निर्धारित कर दीं।[3] लगभग साठ वस्तुओं को पाँच या छः वर्गों में विभाजित किया गया, किन्तु रेलों के भुगतान भवन ने उच्चतम स्वीकृत

---

१. इस अधिकार का प्रयोग नहीं किया गया।

२. तृतीय श्रेणी के किराये साधारणतः डेढ़ पैन्स प्रति मील पर आधारित थे। "संसदीय गाड़ी" का महत्त्व केवल तब नहीं रहा जब तृतीय श्रेणी के किराये घटा कर साधारणतः एक पैन्स प्रति मील कर दिए गए। "मिडलैण्ड रेलवे" ने १८७२ में ऐसा कर दिया और अन्य कम्पनियों ने इसका अनुगमन किया।

३. रेल की दर निर्धारित करने में अनेक बातों पर ध्यान देना पड़ता था। इसमें निम्नांकित बातों के लिए शुल्क सम्मिलित थे :—

(अ) इंजनों के लिए पथ का उपयोग।

(आ) कर्षण।

(इ) गन्त्रयानादि का उपयोग।

(ई) संग्रह करना और पहुँचाना।

(उ) सीमान्तीय व्यवस्था, जिसमें माल लादना और खाली करना एवं गोदाम की व्यवस्था सम्मिलित होती है।

१८४५ से पूर्व केवल प्रथम तीन शुल्कों की इजाजत थी। ये अलग-अलग कार्यों के लिए तीन अलग-अलग शुल्क थे। १८४५ में इनको मिला दिया गया

दरों के अन्तर्गत अतिरिक्त वर्गीकरण कर निकाला। १८४६ में, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, ग्रेट वैस्टर्न और इससे सम्बद्ध रेलों के अतिरिक्त, नई रेलों के लिए प्रमाप प्रान्तर का अपनाना अनिवार्य कर दिया गया।

समय-समय पर रेलों के नियंत्रण की समस्या के विभिन्न पहलुओं की जाँच करने के लिए आयोगों की नियुक्ति की गई, परन्तु बहुत कम कार्य हुआ। १८५२ और १८५३ में एक समिति श्री कार्डवैल की अध्यक्षता में रेलों के कार्य की जाँच करने को बैठाई गई और इसके निश्चयानुसार १८५४ में एक रेल और नहर यातायात अधिनियम पारित हुआ जो प्राय कार्डवैल का अधिनियम कहलाता है। इसके अधीन रेल कम्पनियों को माल के यातायात के लिए सब उचित सुविधाएँ प्रदान करने का आदेश प्रदान किया गया और पुनः पूर्वाधिकारों का प्रदान निषिद्ध कर दिया गया। यह एक गम्भीर और बढ़ते हुए दोष को रोकने का दूसरा अप्रभावोत्पादक प्रयत्न था। जब तक कम्पनियों को, १८४५ में नियमानुसार निश्चित अधिकतम सीमाओं के अधीन, माल ढोने के लिए दरें निश्चित करने की स्वतन्त्रता थी, वे विरोधी निर्माताओं को अलग-अलग दरें बतलाकर, कुछ का नाश कर सकती थीं और कुछ को सम्पन्न बना सकती थीं। वित्तीय रूप के अतिरिक्त अन्य प्रकार से भी पूर्वाधिकार दिया जा सकता था, उदाहरणार्थ एक व्यक्ति का माल दूसरे से जल्दी भेज कर। रेल के अधिकारियों पर भ्रष्ट प्रभाव डाले जा सकते थे और संभवतः डाले जाते थे। इस विषय में निष्पक्ष रूप से विचार करने पर यह स्पष्ट हो गया कि इस दोष का एक मात्र उपचार दरों का प्रमाप और अधिकारियों द्वारा इनका आरोपण था। इस नीति परिवर्तन के लिए सरकार अभी तैयार नहीं थी और कार्डवैल का अधिनियम कई वर्षों तक अप्रभावोत्पादक रहा।

और जिस दर की इजाजत दी गई वह इन तीन शुल्कों के योग से कम थी। इसी समय सीमान्तीय शुल्कों की इजाज़त दे दी गई और अधिकतम दरें निश्चित कर दी गईं। इनको अन्य शुल्कों से अलग बतलाना पड़ता था।

एक रेल कम्पनी केवल उन सेवाओं के लिए शुल्क ले सकती थी जो वास्तव में यह करती थी। जिस कारखाने में अपने ही डिब्बे और पार्श्वक होते थे केवल पथ के उपयोग और कर्षण के लिए शुल्क देकर माल भेज सकता था।

छोटी कम्पनियों को मिलाकर बड़ी एकाधिकारी कम्पनियां बनाने की कई योजनाएँ संसदीय स्वीकृति के लिए प्रस्तुत की गईं। इन योजनाओं की जन्म-जात उपयोगिता और स्वतंत्र प्रतिस्पर्धा प्रचलित रखने की वांछनीयता में सैद्धान्तिक विश्वास के बीच संसद् में मतभेद था। अन्ततः परिस्थितियों के दबाव ने राज्य-निर्बाध-नीति की प्रवृत्ति पर विजय पाई और आगे चल कर यह स्वीकार किया गया कि राज्य को रेलों का व्यवस्थित नियंत्रण करना चाहिए। १८७२ की एक जाँच समिति के प्रतिवेदन के फलस्वरूप, रेलों के नियमन अधिनियम के अधीन, १८७३ में, रेल और नहर आयोग की स्थापना की गई। आरम्भ में यह पाँच वर्ष की अवधि के लिए स्थापित किया गया था परन्तु १८७८ के पश्चात् प्रति वर्ष इसकी अवधि बढ़ती रही और १८८८ में यह स्थायी कर दिया गया। आयुक्तों की संख्या तीन रखी गई और इनमें एक श्रेष्ठ विधिज्ञ (वकील)[१] और एक रेलों के प्रबन्ध में अनुभवी व्यक्ति[२] होना चाहिये था। इस आयोग के कार्यों में पूर्वाधिकार निषेध कानून को अमल में लाना, प्रस्तावित एकीकरणों की जांच करना, सीधे किरायों की उचितता निर्धारित करना, कम्पनियों के बीच झगड़ों का फैसला करना, और नहरों को खरीदने के प्रस्तावों को स्वीकृत करना सम्मिलित थे। किसी रेल कम्पनी द्वारा किसी नहर को खरीदने या इसके प्रबन्ध पर नियंत्रण प्राप्त करने की स्वीकृति प्रदान नहीं की जाती थी यदि प्रस्तावित व्यवस्था सार्वजनिक हित में नहीं होती थी और यह आदेश दिया गया कि जो नहरें रेलों के प्रबन्ध में थीं उनको अच्छी हालत में रखना पड़ता था। १८७३ के अधिनियम के अधीन कम्पनियों को प्रत्येक स्टेशन पर दरों की पुस्तक रखनी पड़ती थी। वे उचित समय में और निःशुल्क सार्वजनिक निरीक्षण के लिए खुली रखनी पड़ती थीं और इन पुस्तकों में कर्षण शुल्क और सीमान्तीय शुल्क अलग-अलग दिखलाने पड़ते थे।

आयोग को अपने कार्य में तुरन्त इतनी पूर्णरूपेण सफलता नहीं मिली जितनी कि आगे चल कर मिली। इसको तत्काल जनता का विश्वास प्राप्त

---

१. विधिज्ञ सदस्य सदा उच्च न्यायालय का न्यायाधीश होता था।

२. इस अधिनियम में तीसरे सदस्य की योग्यताएँ निर्धारित नहीं की गईं थीं; उसका वर्णन एक 'क्रिश्चियन एट लार्ज' (ईसाई) के रूप में किया गया है।

नहीं हुआ और जिन लोगों को शिकायत होती थी वे सदा आगे नहीं आते थे। इसके पास अपने निर्णयों को लागू करने के लिए यथेष्ट शक्ति नहीं थी और कभी-कभी कहा जाता था कि कम्पनियां आयोग के निर्णयों की उपेक्षा करती थीं परन्तु कम्पनियां खुले रूप से आयोग की अवज्ञा करके लोकमत को विरोधी नहीं बनाना चाहती थी, और इसके अस्तित्व मात्र से वे संयम से रहने लगी थीं। आयोग कुछ और एकीकरण रोकने में असफल रहा, किन्तु इसको कम से कम एक दिशा में निश्चित सफलता मिली, क्योंकि ऐसा प्रकट होता है कि व्यक्तियों के बीच में पूर्वाधिकार समाप्त हो गए—यद्यपि जिलों के बीच पूर्वाधिकार की शिकायतें अब भी आती रहीं।

१८८८ में रेल और नहर यातायात अधिनियम के पारित होने से, जिसके अधीन आयोग की स्थायी रूप से स्थापना हो गई, रेल कम्पनियों पर सार्वजनिक नियंत्रण एक कदम और आगे बढ़ गया और रेल की दरों के कठिन प्रश्न को संतोषजनक रूप से हल करने का प्रयत्न किया गया। कुछ वर्षों से व्यापारियों और निर्माताओं द्वारा रेल की दरों के तत्कालीन स्तर के प्रति असन्तोष प्रकट किया गया था; यह कहा जाता था कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश के समान औद्योगिक एवं व्यापारिक मन्दी के समय में रेलों की दरें घटाई जानी चाहिए थीं, जब कि कम्पनियों का कहना था कि उनके द्वारा प्रदान की जाने वाली सुविधाओं के विस्तार को देखते हुए दरों का बढ़ाया जाना उचित था। इस अधिनियम के अधीन रेलों की दरों के निश्चयन एवं प्रकाशन की व्यवस्था की गई और इसके अधीन जिलेवार पूर्वाधिकार की शिकायतों को बन्द करने के लिए बड़ी दूरी की अपेक्षा इसके अन्तर्गत आने वाली छोटी दूरी के लिए अधिक शुल्क लेना निषिद्ध कर दिया गया[1] और विदेशी वस्तुओं के यातायात के लिए रियायती शुल्क लेना निषिद्ध कर दिया गया।

---

१. कभी-कभी ऐसा हो जाया करता था। यदि 'क' और 'ख' दो नगर दो विरोधी रेलों द्वारा सम्बन्धित होते थे तो कोई भी कम्पनी दूसरी से अधिक दर वसूल नहीं कर सकती थी। परन्तु यदि कोई नगर 'ग' किसी रेल पर 'क' और 'ख' के बीच में पड़ता है और यहां पर और कोई भी रेल नहीं होती तो यह पहली कम्पनी की दया पर निर्भर करेगा और वह 'क ख' दूरी की अपेक्षा 'क ग' दूरी के लिए ऊँची दर लगा सकती थी। अब यह बात निषिद्ध कर दी गई।

कुछ वर्षों तक कम्पनियों का ध्यान इस अधिनियम के अनुसार दरों के निश्चयन पर लगा रहा। कम्पनियों ने वस्तुओं का एक नवीन वर्गीकरण[1] किया और इसको व्यापार मंडल को अर्पित किया गया और प्रत्येक वर्ग के लिए अधिकतम दरें प्रस्तावित और प्रकाशित कर दी गई। यह वर्गीकरण वस्तुओं के वजन और आकार पर आधारित नहीं होकर उनके मूल्य पर आधारित था, क्योंकि सस्ती किन्तु भारी वस्तुओं के लिए अधिक मूल्यवान वस्तुओं जितना भाड़ा लेना स्पष्टतः असम्भव था। कम्पनियों को कुछ श्रेणियों की वस्तुएँ अन्य श्रेणियों की अपेक्षा अधिक लाभदायक होती थीं। न्यूनतम लाभदायक वस्तुओं पर बहुत सूक्ष्म लाभ होता था और यह स्पष्ट था कि कम्पनियाँ अपने लाभ के लिए अन्य प्रकार की वस्तुओं के यातायात की ओर आँखें लगाए रहती थीं।

हजारों आपत्तियां उठाई गईं और इन पर विचार करने में लगभग तीन वर्ष लग गए। अन्ततः कम्पनियों ने नई सारिणियों को मान लिया जिनमें कुछ प्रकार की वस्तुओं की दरें बढ़ाने की स्वीकृति दे दी गई और कुछ अन्य प्रकार की वस्तुओं की दरें घटाने की स्वीकृति दे दी गई। संसद् ने इन नई दरों का अनुमोदन कर दिया और ये पहली जनवरी १८९३ से लागू होनी थीं जब कम्पनियों ने, जैसी कि आशा की जानी चाहिए थी, नई सारिणियों के अधीन स्वीकृत अधिकतम दरें निश्चित कर दीं। जिन व्यापारियों की वस्तुएँ घटाई हुई दरों पर ले जाई जानी थीं उनके लिए यह सन्तोषप्रद था, किन्तु जिन से

---

१. रेलों के भुगतान भवन का वर्गीकरण कतिपय सुधारों सहित अपना लिया गया। आठ वर्ग बनाए गए अ, आ, इ, १, २, ३, ४, और ५। अ वर्ग में कोयले जैसी वस्तुएं सम्मिलित थीं जो कम से कम किराये पर ले जाई जाती थीं और ५वें वर्ग की वसतुओं पर सब से अधिक किराया लिया जाता था। सब दरों को सीमान्तीय शुल्क और यातायात शुलक में विभाजित किया गया। सीमान्तीय शुल्कों को दोनों सिरों के स्टेशनों के सीमान्तीय शुल्कों और सेवाओं के सीमान्तीय शुल्कों में विभाजित किया गया और सेवाओं के सीमान्तीय शल्कों पुनः लादने, खाली करने, ढकने और उघाड़ने के शुल्कों में उप-विभाजित कर दिया गया। यातायात शुल्कों का इस प्रकार स्फानन किया गया कि दूरी के बढ़ने के साथ ही साथ प्रति मील औसत दर घटती जाती थी, परन्तु यह बात घोड़ों (तीन पैन्स

ऊंची दरें माँगी गईं और जो, संभवतः, कमी की आशा में थे, कुपित हो गए। कम्पनियों ने इस विरोध का सामना करने के लिए यह संकेत किया कि नई दरें केवल अस्थायी थीं और इनको काम में लाने से प्राप्त अनुभव के आधार पर बाद में इनमें संशोधन एवं सुधार हो सकते हैं। परन्तु विरोध होता रहा और मार्च, १८९३ में कम्पनियां वापस पुरानी दरों पर चली गईं, उन किरायों में पांच प्रतिशत वृद्धि कर दी गई जहाँ पर यह वृद्धि अधिकतम स्वीकृत सीमा के नीचे रहती थी। कोलाहल जारी रहा और जनवरी १८९४ के रेल और नहर यातायात अधिनियम ने १८९२ में प्रचलित दरों में वृद्धि प्रकट रूप से अनुचित घोषित कर दी। रेल और नहर आयोग को आपत्तियां सुनने का अधिकार दे दिया गया, और यह सिद्ध करने का भार कि सेवा के उत्पादन-व्यय में वृद्धि को देखते हुए भाड़े में वृद्धि उचित थी कम्पनियों पर डाल दिया गया। इस अधिनियम के परिणामस्वरूप कम्पनियों को जिन वर्गों की वस्तुओं की दरें घटा दी गई थीं उनको स्वीकार करना पड़ा और अन्य वर्गों की दरों में वृद्धि बन्द करनी पड़ी। इससे आगे कम्पनियां दरें घटाने के प्रयोग करने में हिचकने लगीं क्योंकि कहीं भविष्य में उनको पुराने स्तर तक बढ़ाने की अनुमति नहीं मिले।

१८९६ में संसद् ने छोटी रेलों के आयोग की नियुक्ति की स्वीकृति दे दी। यह माना जाता था कि देश के कुछ भागों में, अधिकांशतः ग्रामीण भागों में, वर्त्तमान रेलों की सेवाएँ यथेष्ट नहीं थीं और वर्त्तमान व्यवस्था की कमी छोटी रेलों के निर्माण द्वारा पूरी की जा सकती थी। यह योजनाएँ छोटी रेलों के आयोग को प्रस्तुत की जा सकती थीं, जो व्यापार मंडल को अपना प्रतिवेदन देता था। मंडल के स्वीकृति प्रदान कर देने पर और किसी प्रारम्भिक कार्यवाही की आश्यकता नहीं रहती थी, और भूमि अनिवार्यतः क्रय की जा सकती थी और रेल का निर्माण किया जा सकता था। राज्य कुछ शर्तों के अधीन वित्तीय सहायता प्रदान कर सकता था। छोटी रेलों के आयोग की स्थापना के फलस्वरूप बड़ी मात्रा में रेलों का निर्माण नहीं हुआ और इसका उपयोग मुख्यतः सार्वजनिक सड़कों पर ट्रामें चलाने की योजनाएँ स्वीकार करने में किया गया।

१८९०-१९१४ के काल में कम्पनियों में यात्रियों और वस्तुओं दोनों का यातायात प्राप्त करने के लिए तीव्र प्रतिस्पर्धा हुई। एक रेल कम्पनी का अधिकांश व्यय यातायात के अनुपात में नहीं बढ़ता। मकानों, स्थायी मार्ग और संज्ञपन-व्यवस्था का पूँजीकृत व्यय और स्टेशन, संज्ञपन और रख-रखाव के कर्मचारी-वर्ग का व्यय बहुत कम बदलता है; किसी कम्पनी को एक अतिरिक्त गाड़ी चलाने का व्यय गाड़ी के कर्मचारी-वर्ग की मजदूरी और एक या दो पौंड कोयले के व्यय से अधिक नहीं होता। अतएव बहुत कम भाड़ा बतला कर कतियय प्रकार का यातायात आकर्षित करने के प्रयत्न किए गए, क्योंकि यह माना जाता था कि यातायात नहीं मिलने की अपेक्षा किसी भी प्रकार का यातायात उत्तम था।

एकीकरण की प्रवृत्ति, जो उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से बहुत अधिक थी, बनी रही। १८९९ में लन्दन चेथम और डावर रेलवे और दक्षिण-पूर्वी रेलवे का कार्यकरण संघ बनाया गया, परन्तु दोनों कम्पनियों की पूँजी का लेखा अलग-अलग रखने की व्यवस्था की गई। ये दोनों रेलें एक ही जिले में चलती थीं और उनमें से प्रत्येक कैंट के सब बड़े नगरों तक पहुँचती थीं। तीस वर्ष के काल में समय-समय पर इस संघ के स्थापित करने के प्रत्यन किए गए और १८६५ मे ही महाद्वीपीय यातायात की आय मिलाने की व्यवस्था कर दी गई थी। यह संभव है कि यदि दोनों कंपनियों के अध्यक्षों, श्री फोर्ब्स और सर एडवर्ड वाटकिन, का एक दूसरे से वैयक्तिक विरोध नहीं होता तो पूर्ण एकीकरण की व्यवस्था कई वर्षों पूर्व हो गई होती। १९०८ में "लन्दन और उत्तर-पश्चिमी रेलवे कम्पनी" और "मिडलैंड रेलवे कम्पनी" में एक कार्यकरण समझौता हो गया और १९०९ में "लंकाशायर और योर्कशायर रेलवे" कम्पनी भी इसमें सम्मिलित हो गई। इसके थोड़े दिनों पश्चात् "ग्रेट वैस्टर्न रेलवे कम्पनी" एवं "लन्दन और दक्षिण-पश्चिमी रेलवे कम्पनी" में एक समझौता हो गया जिसका

प्रति मील) और शवों (एक शिलिंग प्रति मील) के लिये लागू नहीं होती थी। रेलों के कुछ भागों पर ले जाने के लिये; जिनके निर्माण में बहुत व्यय हुआ था; जैसे फोर्थ पुल और सेवेर्न सुरङ्ग; अतिरिक्त किराया लिया जाता था। यह वर्गीकरण ३१ दिसम्बर १९२७ तक लागू रहा।

उद्देश्य उनके बीच प्रतिस्पर्धा समाप्त करना था। १९०९ में ग्रेट नदर्न, ग्रेट ईस्टर्न और ग्रेट सैन्ट्रल रेलवे कम्पनियों का संघ प्रस्तावित किया गया, परन्तु संसद् ने इस प्रस्ताव पर अपनी स्वीकृति प्रदान नहीं की; तत्पश्चात् कम्पनियों ने, संसदीय अनुमोदन के बिना ही, अनावश्यक प्रतिस्पर्धा समाप्त करने के लिए एक कार्यकरण व्यस्था कर ली। १९१२ में 'लन्दन दिलवरी और साउथ-एण्ड रेलवे" मिडलैण्ड रेलवे में खपा दी गई।

बीसवीं शताब्दी में रेल कम्पनियों द्वारा कई अतिरिक्त सुविधाओं की व्यवस्था की गई। छोटे स्टेशनों पर नहीं ठहरने वाली अधिक गाड़ियाँ चलाई गईं और छोटे स्टेशनों के लिए धीरे चलने वाली गाड़ियों में वृद्धि की गई। उत्तम प्रकार के सवारी के डिब्बे बनाए गए; लम्बी यात्रा के लिए संपथ-डिब्बे और विलास-डिब्बे, खाने-पीने के डिब्बे और सोने के डिब्बे लगाए गए और कुछ लाइनों पर अतिविलास (पुलमैन) डिब्बों की व्यवस्था की गई। सुविधाओं के विस्तार के साथ-साथ साधारणतः भाड़ों में वृद्धि नहीं की गई,[1] वास्तव में रेलों का भाड़ा परोक्ष रूप से घट गया क्योंकि मौसमी, सैर-सपाटे के, श्रमिकों के सप्ताहान्त के पाक्षिक और सैलानियों के कम भाड़े के टिकट बहुत जारी किए गए।

रेल कम्पनियों ने गाड़ियाँ चलाने के अतिरिक्त जनता को अन्य सेवाएँ प्रदान कीं। उन्होंने अधिकांश बड़े नगरों में होटल स्थापित किए, उनके जलयानों के बेड़ों ने आँग्ल और महाद्वीपीय बन्दरगाहों (और आयरलैण्ड के बन्दरगाहों) के बीच यातायात की व्यवस्था की जिससे कोई यात्री लन्दन में रेलगाड़ी, जलयान और गाड़ी द्वारा सुदूर महाद्वीपीय नगर तक का टिकट खरीद सकता था और पिछले कुछ वर्षों में ब्रिटिश द्वीपसमूह के सब भागों के लिए वायु-यात्रा की व्यवस्था भी कर दी गई है।

तृतीय श्रेणी की सुविधाओं में सुधार होने से द्वितीय श्रेणी के यात्रियों की संख्या घट गई और कुछ जिलों को छोड़ कर जहाँ पर यह विशेष कारणों से चालू रखी गई, यह श्रेणी तोड़ दी गई। प्रथम श्रेणी चालू रखने के विरोध में आपत्ति उठाई गई; प्रथम श्रेणी के डिब्बे बहुत कम पूरे भरते थे इसलिए प्रत्येक

---

१. जनवरी, १९१७ में की गई साधारण भाड़ों में ५०% वृद्धि से पूर्व।

प्रथम श्रेणी के टिकट के लिए खाली वजन घसीटना पड़ता था। यह विचार उत्पन्न हुआ कि प्रथम श्रेणी के डिब्बे हटा कर एक श्रेणी की यात्रा की स्थापना से कम्पनियों को लाभ हो सकता है, और १९३८ में "लन्दन यातायात" की सेवा के क्षेत्र में सब लाइनों पर प्रथम श्रेणी तोड़ कर इस दिशा में कदम उठाया गया। इस समय यह कहना संभव नहीं है कि क्या देश के सब भागों में सरकारी रेलों पर एक श्रेणी की व्यवस्था का विस्तार कर दिया जाएगा।

ये वर्ष रेल कम्पनियों के लिए समृद्धिशाली नहीं थे। कार्यकरण-व्यय बराबर बढ़ रहा था। सुविधाओं में वृद्धि के हेतु अधिक एवं उत्तम गन्त्रयानादि का निर्माण आवश्यक हो गया था। सुधरे हुए ब्रेक और सिगनल जैसी सुरक्षा बढ़ाने वाली वस्तुओं पर व्यय आवश्यक था। करों और शुल्कों जैसा उपरिभार बराबर बढ़ रहा था और कोयले की लागत भी बढ़ रही थी। रेल कर्मचारियों में जिनकी पगारें अच्छी नहीं थीं श्रमिक संघवाद के विस्तार से, सुधरी हुई व्यवस्था की निश्चित माँग पैदा हो गई। इसका उल्लेख अन्यत्र किया गया है, परन्तु यहाँ इतना बतलाना उचित होगा कि इससे कम्पनियों का खर्चा बढ़ गया। रेलों की कई शाखाएँ, जो मुख्य रेलों के लिए यातायात लाने की दृष्टि से बनाई गई थीं, स्वयं अपने में लाभदायक नहीं थीं और कम्पनियां संसदीय अनुमति के बिना कोई शाखा बन्द नहीं कर सकती थीं। दूसरी ओर कुछ दिशाओं में कम्पनियों को बचत भी हुई। यह दलील दी जा सकती है कि सुरक्षा के उपायों पर किया गया खर्चा सब का सब व्यर्थ नहीं था क्योंकि दुर्घटनाओं के कम हो जाने से इस दिशा में कम्पनियों की देनदारी घट गई। लोहे के स्थान पर इस्पात की पटरियाँ लगाना भी उनके हित में था क्योंकि इस्पात की पटरियाँ अधिक टिकाऊ थीं और अधिक खर्चीली नहीं थीं।

१९१३ में, एक रेल और नहर यातायात अधिनियम पारित हुआ जिसके अधीन माल-भाड़े में और कुछ मामलों में, सवारी-भाड़े में वृद्धि की अनुमति प्रदान कर दी गई। यह रियायत कम्पनियों को अपने कर्मचारियों की कार्यावस्था में सुधार करने की क्षतिपूर्ति के लिए दी गई थी।

१९१४ में, ग्रेट ब्रिटेन के यूरोपीय युद्ध में सम्मिलित होने पर, सरकार ने रेलों का साधारण नियंत्रण अपने हाथ में ले लिया। कार्यकरण प्रबन्ध

कम्पनियों के कर्मचारियों के हाथ में छोड़ दिया गया, परन्तु सैनिकों के विशाल दलों और बड़ी मात्रा में सब प्रकार की सैनिक सामग्री के परिवहन की आवश्यकता ने यह आवश्यक कर दिया कि रेलों के साधन सरकार के हाथ में रहें। युद्ध-काल में रेलों की साधारण दशा बिगड़ गई,[1] और शान्ति के पुनस्थापन के पश्चात् समस्त व्यवस्था के पुनर्गठन करने का निश्चय किया गया। यह अनुभव किया गया कि कार्य-शक्ति को पूरा बढ़ाने के लिए सब से कम खर्चीला उपाय एकीकरण था जो पूर्व काल में राज्य द्वारा निषिद्ध या हतोत्साहित किया गया था। १९२१ में एक अधिनियम पारित हुआ जिसके अधीन ग्रेट ब्रिटेन की एक सौ इक्कीस रेलें चार बड़ी कम्पनियों में बाँट दी गईं, यथा लन्दन और नार्थ ईस्टर्न (उत्तर पूर्वी), लन्दन मिडलैंड और स्काटिश, ग्रेट वेस्टर्न (विशाल पश्चिमी) और सदर्न (दक्षिणी)[2] में एकीकरण १ जनवरी १९२३ से लागू होना था। प्रतिस्पर्धा की समाप्ति और प्राविधिक बचतों से रेलों के खर्चे में बचत की आशा थी और यह आशा की जाती थी कि समृद्धि का नया युग शीघ्र आरम्भ होने वाला है।

एक रेल-भाड़ा अधिकरण स्थापित किया गया जो भाड़ों, किरायों तथा अन्य भारों के ऐसे स्तर निश्चित करता था जिससे कम्पनियों को "मानक आय" प्राप्त हो सके। यह उस राशि को कहते हैं जो १९१३ में सम्मिश्रित कम्पनियों की आय के योग के बराबर हो और जिसमें नई लगाई गई पूँजी पर पाँच

---

१. युद्धकाल में रेलों के उपयोग और घिसरण की क्षति-पूर्ति में सरकार ने ६,००,००,००० पौंड प्रदान किये।

२. चार बड़ी कम्पनियों के अतिरिक्त तेरानवे छोटी कम्पनियाँ थीं। इनका निम्नांकित वर्गीकरण किया जा सकता है—

(अ) ऐसी रेलें जो दो या अधिक बड़ी कम्पनियों की संयुक्त सम्पत्ति थीं।

(आ) अर्द्ध शहरी और भूगर्भ-रेलें।

(इ) छोटी लाइन की रेलें।

(ई) कुछ बहुत छोटी रेलें।

प्रतिशत प्राप्ति हो सके[1] क्योंकि यह आशा की जाती थी कि एकीकरण से बचत होगी, यह व्यवस्था की गई कि एकीकरण के परिणामस्वरूप बची हुई राशि का एक-तिहाई और बाद की बचत की राशि का पाँचवाँ भाग कम्पनियाँ रख सकती थीं; शेष भाड़े घटाने के काम आना चाहिए था। १८९१ और १८९२ में किया गया वस्तुओं का वर्गीकरण समाप्त कर दिया गया और इक्कीस वर्गों की नई व्यवस्था अपनायी गई तथा नाशी यातायात, पशु-धन, भयावह वस्तुओं और खाली चीजों के लिए अतिरिक्त धाराएँ जोड़ दी गई। १९२३ की जुलाई में कम्पनियों द्वारा प्रस्तावित भाड़ों की तालिकाएँ अधिकरण के सम्मुख प्रस्तुत कर दी गई और जैसी कि आशा की जानी चाहिए थी, सैकड़ों आपत्तियाँ उठाई गई। अन्तिम निर्णय में कुछ समय लगा और यह व्यवस्था की गई कि नए भाड़े और किराये १ जनवरी, १९२८ से लागू किए जाने चाहिएँ। युद्ध-पूर्व स्तर से लगभग साठ प्रतिशत ऊँची दरें निर्धारित की गई; प्रथम श्रेणी के किराए अढ़ाई पैंस प्रति मील के आधार पर निश्चित किए गए और तृतीय श्रेणी के किराए डेड़ पैन्स प्रति मील। मानक भाड़ों की तालिकाएँ छपवा कर जनता को उचित कीमत पर बेचने की व्यवस्था की गई।

नई दरों की एक विशेषता यह थी कि वे मानक दरें थीं न कि अधिकतम दरें। साधारणतः कम्पनियों को कम या अधिक वसूल करके इन दरों का उल्लंघन करने की अनुमति नहीं दी जाती थी। यदि किसी कारण से कोई कम्पनी अधिकरण द्वारा निश्चित मानक दरों से कम लेना चाहती थी तो इसको विशेष दरों का प्रस्ताव रखना पड़ता था जिनको अमल में लाने से पूर्व अधिकरण की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक था।

---

1. मानक आय निम्नांकित प्रकार से निश्चित की गई—

एल. एम. एस. आर.	२०३ लाख पौंड	
एल. एन. एस. आर.	१४८ ,,	,,
जी. डब्ल्यू. आर.	८३ ,,	,,
एस. आर,	६६ ,,	,,
योग	५०० पौंड	

रेल कम्पनियों के कर्मचारियों की मजदूरी और कार्यावस्था के विषय ऐसे माने जाते थे जिनमें प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित पक्षों के साथ ही साथ जनता भी रुचि रखती थी। १९२१ के अधिनियम के अधीन इन प्रश्नों का हल कम्पनियों और श्रमिक-संघों के बीच व्यवस्थित बातचीत से किया जाना चाहिए था। प्रत्येक रेलवे के लिए श्रमिकों के प्रतिनिधियों और कम्पनी के अधिकारियों की एक या अधिक परिषदें होनी चाहिए थीं और झगड़े के मामले इनके सुपुर्द किए जाने चाहिए थे। यदि किसी मामले पर समझौता नहीं हो सके तो इसे केन्द्रीय-मजदूरी-मंडल के सामने रखना पड़ता था जिसमें कम्पनियों के आठ, रेलवे कर्मचारियों के राष्ट्रीय संघ के चार, खलासियों और इंजन-चालकों की एकीकृत सभा के दो और रेलवे लिपिक संघ के दो प्रतिनिधि होते थे। इस प्रकार इस अधिनियम ने इन तीन संघों को निश्चित मान्यता प्रदान की थी। केन्द्रीय-मजदूरी-मंडल के निर्णयों के विरुद्ध राष्ट्रीय-मजदूरी-मंडल को अपील की जा सकती थी, जो उन विषयों पर भी विचार कर सकता था जिन पर केन्द्रीय-मजदूरी-मंडल कोई निर्णय नहीं कर सका हो। राष्ट्रीय-मजदूरी-मंडल का विधान भिन्न था। इसमें कम्पनियों के छः, श्रमिक-संघों के छः (उपरिलिखित श्रमिक-संघों के प्रत्येक के दो) और रेलों के उपभोक्ताओं के चार प्रतिनिधि होते थे, जो श्रमिक-संघ महासभा की संसदीय समिति, सहकारी संघ, आँग्ल व्यापार संघ और आँग्ल उद्योग संघ एक-एक मनोनीत करते थे।

कालान्तर में इस व्यवस्था के प्रति असन्तोष उत्पन्न हो गया और १९३५ में इसका उन्मूलन कर दिया गया। एक रेल-कर्मचारियों की राष्ट्रीय परिषद्, जिसमें कम्पनियों और श्रमिक-संघों के प्रतिनिधि थे, केन्द्रीय-मजदूरी मंडल का स्थान ग्रहण करने के लिए स्थापित की गई। इस परिषद् का कार्य-क्षेत्र मजदूरी-मंडल की अपेक्षा अधिक विस्तृत था; इसको मजदूरी और कार्यावस्था के प्रश्नों के अतिरिक्त, कर्मचारियों और प्रबन्धकों के पारस्परिक हित के सब विषयों पर विचार करने का अधिकार था। किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर समझौता नहीं हो सकने पर झगड़े के विषय को तीन सदस्यों के रेल-कर्मचारी राष्ट्रीय अधिकरण के सामने रखना पड़ता था। इनमें एक कम्पनियों का और एक श्रमिक-संघों का प्रतिनिधि होता था और अध्यक्ष समझौते से या श्रम-मंत्री

द्वारा नियुक्त किया जाता था। इस अधिकरण के निर्णय दोनों पक्षों पर अनिवार्यतः लागू नहीं होते थे, परन्तु कम्पनियों और श्रमिक-संघों दोनों ने इस बात पर समझौता कर लिया था कि इस अधिकरण द्वारा झगड़े के विषय की जाँच होने से पूर्व तालाबन्दी या हड़ताल नहीं होनी चाहिए।

जहाँ तक १९२१ के अधिनियम का उद्देश्य रेल कम्पनियों के बीच प्रतिस्पर्धा को समाप्त करना था यह पूर्णतः सफल नहीं हुआ। उनके क्षेत्र मिले हुए थे और एक ही नगर में एक से अधिक लाइनें विद्यमान थीं। अतएव माल और सवारी दोनों के यातायात में प्रतिस्पर्धा बनी रही, और, क्योंकि भाड़े और किराए रेल-भाड़ा अधिकरण द्वारा निश्चित किए जाते थे, इस प्रतिस्पर्धा ने अनिवार्यतः अतिरिक्त सुविधाओं का रूप लिया। इसके अतिरिक्त अवकाश-काल में यात्रियों को आकर्षित करने के लिए बहुत कुछ प्रतिस्पर्धी विज्ञापन किया जाने लगा।

१९२१ के अधिनियम के अधीन किए गए एकीकरण से भी समृद्धि में वृद्धि नहीं हुई। कुछ वर्षों तक कम्पनियों की आय घटती गई और वे कभी पूरी मानक आय प्राप्त करने में सफल नहीं हुईं। कुछ सीमा तक उनमें समृद्धि का अभाव व्यापार की मन्दी को प्रकट करता था, परन्तु इसके अन्य कारण भी थे। श्रमिकों सम्बन्धी कठिनाइयाँ अनुपस्थित नहीं थीं, और यद्यपि रेल कर्मचारी, जनता के प्रति अपने बड़े उत्तरदायित्व को ध्यान में रखते हुए हड़ताल की अनिच्छा प्रकट करते थे, तथापि पारिश्रमिक में वृद्धि सम्बन्धी उनके आवेदनों को सदा टाला नहीं जा सकता था। परन्तु रेलों की कठिनाइयों का सबसे गम्भीर कारण मोटरों की प्रतिस्पर्धा थी। लोग अधिकाधिक मोटर गाड़ियों में यात्रा करने लगे; निजी रूप से मोटर गाड़ियों में यात्रा करने वालों पर समय-सारिणियों का बन्धन नहीं था, ये लोगों को घर-घर पर पहुँचाती थीं, और यदि दो, तीन या चार व्यक्ति साथ-साथ यात्रा करते थे तो यह रेल यात्रा की अपेक्षा बहुत सस्ती पड़ती थी। माल के यातायात में सड़कों की प्रतिस्पर्धा और भी अधिक गम्भीर थी, क्योंकि सड़कों पर माल ढोने वाली कम्पनियों के लिए रेल कम्पनियों की भाँति सब प्रकार का यातायात ले जाना आवश्यक नहीं था। वे अपना बोझा छाँट सकती थीं; वे अधिक मूल्यवान

वस्तुएँ ले जाती थीं जिन पर रेल कम्पनियों को काफी ऊँची दरें लगाने का अधिकार था; वे भारी और सस्ता माल रेलों के लिए छोड़ देती थीं। उत्तमोत्तम माल सड़कों से भेजा जाता था और कम लाभदायक रेलों के द्वारा।

जब वस्तुओं का वर्गीकरण किया गया था और उनको रेल द्वारा ले जाने की दरें निश्चित की गई थीं तब इस परिस्थिति पर विचार नहीं किया गया था। १९३७ में जब रेल की दरें निश्चय करने वाले अधिकरण ने भाड़ों और दरों में पाँच प्रतिशत वृद्धि करने की स्वीकृति प्रदान कर दी तो रेल कम्पनियों को कुछ सहायता मिली। परन्तु यह निश्चित नहीं था कि अन्ततः इससे रेलों का लाभ होगा; भार की वृद्धि से यातायात और भी अधिक सड़कों को जा सकता था।

१९३८ के अन्तिम दिनों में चारों रेल कम्पनियों ने मिल कर जनता से "न्याय" की अपील की। (यह अपील जो औपचारिक रूप से परिवहन मंत्री को की गई थी, विस्तृत रूप से विज्ञापित की गई, निःसन्देह इसका उद्देश्य लोकमत को प्रभावित करना था।) रेल कम्पनियों ने सड़कों पर माल ढोने वाली कम्पनियों की अपेक्षा उन पर लगे हुए प्रतिबन्धों के विरुद्ध आपत्ति उठाई और उन्होंने वस्तुओं के वर्गीकरण, भारों के निश्चयन और माल ढोने की शर्तों के निर्धारण में अधिक स्वतन्त्रता की माँग की। वे माल के ढोने में उचित सुविधाओं, दरों और अवस्थाओं के प्रति अपना उत्तरदायित्व टालना नहीं चाहती थीं और उनको आशा थी कि व्यापारियों के संघों से समझौता करके दरों का निश्चयन संभव हो सकता है। परिवहन मंत्री ने कम्पनियों का आवेदन-पत्र परिवहन परामर्शदात्री परिषद् के सामने रखा और मई १९३९ में परिषद् ने उनके पक्ष में निर्णय दिया। इसने सिफारिश की कि नियंत्रण की वर्तमान व्यवस्था त्याग दी जानी चाहिए और कुछ शर्तों के अधीन रेल कम्पनियों को जैसे वे उपयुक्त समझें वैसे भार और अवस्थाएँ निर्धारित करने का अधिकार दे दिया जाना चाहिए। यह नई योजना पाँच वर्षों के लिए लागू होनी चाहिए और यह आशा की जाती थी कि इस अवधि में परिवहन के सब साधनों के समन्वय की योजना बनाई जा सकेगी।

यह एक कल्पना का विषय है कि अधिक अनुकूल परिस्थितियों में क्या हो जाता। संभवतः अधिक दक्षता और मितव्ययिता से काम करके और अधिक स्वतन्त्रता तथा सुविधाओं में वृद्धि करके रेल कम्पनियाँ डटकर सामना कर सकती थीं। किसी भी दशा में यह संभव है कि लम्बी दूरी के यात्रियों का यातायात उनके पास बना रहता और कोयले जैसी भारी-भरकम वस्तुओं के ले जाने में उनका एकाधिकार हो जाता।

परन्तु सितम्बर, १९३९ में युद्धारम्भ हो जाने से सारी स्थिति बदल गई और युद्ध-काल में रेलों का कार्य आर्थिक नहीं सैनिक उद्देश्यों द्वारा निर्धारित किया गया। १९१४,-१८ के युद्ध की तरह वे अब भी राष्ट्र के सैनिक प्रयत्नों, रक्षात्मक और आक्रामक दोनों के लिए एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन थीं। फरवरी १९४० में एक ऐसी योजना बनाई गई जिसके अधीन कम्पनियों को कम से कम ४,००,००,००० पौण्ड वार्षिक की आय की गारन्टी दे दी गई और यह ५,६०,००,००० पौंड वार्षिक तक बढ़ाई जा सकती थी। आगामी वर्ष इसका स्थान दूसरी योजना ने ले लिया, कम्पनियों की आय ४,३०,००,००० वार्षिक निर्धारित कर दी गई,[1] लाभ-हानि की जोखिम सरकार ने अपने ऊपर ले ली और युद्धजनित क्षति की पूर्ति करने का व्यय सरकार और कम्पनियों में बराबर-बराबर बाँटा जाना निश्चित हुआ। दूसरे शब्दों में, सरकार ने ४,३०,००,००० पौंड वार्षिक देना स्वीकार करके रेलों की समस्त आय ले ली और रेलों को इस राशि में से शत्रु द्वारा की गई क्षति का अपना भाग देना पड़ता था। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सरकार अतिरिक्त भार दिए बिना ही असीमित संख्या में सेनाएँ, सिविल कर्मचारी, विस्थापित व्यक्ति और असीमित मात्रा में युद्ध-सामग्री भेज सकती थी।

---

१. यह आय निम्न प्रकार से विभाजित की गई—

जी. डब्ल्यू. आर.	६६,७०,०००	पौंड
एल. एन. डी. आर.	१,०१,५०,०००	पौंड
एल. एम. एस.	१, ४७, ३०,०००	पौंड
एस. आर.	६६,१०,०००	पौंड
लन्दन ट्रान्सपोर्ट	४८,४०,०००	पौंड
योग	४,३०,००,०००	पौंड

युद्ध के वर्षों में रेलों की दशा बिगड़ गई। इंजनों, सवारी की गाड़ियों और माल के डिब्बों का सामान्य नवीनकरण नहीं हो सका, इंजनों को अधिक कार्य करना पड़ा और वे मरम्मत के लिए जितनी जल्दी चाहिए था सेवामुक्त नहीं किए जा सकते थे, पटरियों को ठीक-ठीक हालत में रखने के लिए अत्यधिक प्रयत्न करने पड़े, रेल कर्मचारियों की संख्या भी घट गई। (वास्तव में अपनी सम्पत्ति की बिगड़ी हुई दशा के लिए किसी प्रकार भी कम्पनियों पर लाञ्छन नहीं लगाया जा सकता था।) यह स्पष्ट था कि युद्ध के पश्चात् रेलों को पूर्ण कार्य-शक्ति की स्थिति में लाने का कार्य कठिन होगा और इसको तुरन्त हाथ में लेना होगा।

श्रमिकों की सरकार ने, जो १९४५ में पदारूढ़ हुई, यह निश्चय किया कि रेलों को पूर्व दशा में लाने का कार्य कम्पनियों पर नहीं छोड़ा जा सकता और रेलों का राष्ट्रीयकरण किया जाना चाहिए। आँग्ल रेलों के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में अनेक एकाधिकरण की योजनाएँ अपनायी गई थीं जिनके परिणामस्वरूप चार कम्पनियों की स्थापना हो गई थी। चार के अंक में कोई जादू नहीं था और रेलों के इतिहास ने इस कल्पना को जन्म दिया कि अन्ततः चारों एक हो जाएँगी—एक निजी कम्पनी या डाक घर की भाँति एक सरकारी विभाग या आँग्ल प्रसारण निगम (British Broadcasting Corporation) की भाँति एक अर्द्ध-सार्वजनिक संस्था। सरकार ने इन विकल्पों में से अन्तिम को पसन्द किया और १९४७ के परिवहन अधिनियम के अधीन न केवल रेलों परन्तु नहरों और सड़क पर माल ढोने वाले उद्यमों पर अधिकार और नियंत्रण स्थापित करने के लिए एक परिवहन आयोग की स्थापना की गई; इन सब को मिला कर परिवहन की एक एकीकृत व्यवस्था की जानी थी। रेल-भाड़ा-अधिकरण और रेल एवं नहर आयोग तोड़ दिए गए और उनके कार्य एक नए परिवहन अधिकरण ने ले लिये जिसका अनुमोदन भाड़ों और दरों की सारिणियों के लिए प्राप्त करना होता था। जैसा कि इस अध्याय में पहले बतलाया गया है परिवहन आयोग ने गन्त्रयानादि को अपने अधिकार में ले लिया।

इस नई व्यवस्था की समालोचना का अभी तक समय नहीं हुआ है, परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि यह एक ऐसे सिद्धान्त के अन्तिम उन्मूलन का द्योतक है जिसको बनाए रखने के लिए संसदें और सरकारें उन्नीसवीं शताब्दी में बड़ी इच्छुक थीं—रेल की रेल से और रेलों की परिवहन के अन्य साधनों से प्रतिस्पर्धा। आगे से परिवहन प्रतिस्पर्धी नहीं रह कर एकाधिकारी हो गया—यह एकाधिकार सार्वजनिक था फिर भी एकाधिकार था।

तेईसवाँ अध्याय

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से कृषि

अनाज-अधिनियम के विखंडन से आँग्ल कृषि का विनाश नहीं हुआ। १८१५ से फैली हुई मंदी की तीव्रता में १८४० के बाद कमी हो गई थी और यद्यपि विखंडन के पश्चात् एक अस्थायी मंदी का पुनः अनुभव हुआ, तथापि आगामी तीस वर्ष इतनी समृद्धि के निकले कि इस काल को आँग्ल कृषि का स्वर्ण-युग कह कर पुकारा जाने लगा।

इस सच्चाई के बावजूद भी कि अनाज का आयात अब शुल्क से मुक्त (अथवा व्यावहारिक रूप में ऐसा) हो जायेगा, आँग्ल कृषक बाह्य प्रतिस्पर्द्धा से व्यग्र नहीं हुआ। कॉबडन ने यह संकेत कर दिया था कि डानजिग से आँग्ल बन्दरगाह तक अनाज के परिवहन का खर्च, दस शिलिंग प्रति क्वार्टर संरक्षण-कर के जितना होता था और उस समय संसार के किसी भी खंड में गेहूँ की इतनी विपुलता नहीं थी कि आँग्ल बाजार को आप्लावित किया जा सकता। जब तक अमरीका में देश के आर-पार जाने वाली रेलों के निर्माण से वृक्ष-रहित घास के मैदानों में गेहूँ का उत्पादन और वाष्प जलयानों के विकास से इसका द्रुत एवं अल्प मूल्य में अंधमहासागर पारवहन नहीं हुआ, तब तक आँग्ल कृषि को विदेशी प्रतिस्पर्द्धा के पूर्ण वेग का अनुभव नहीं हुआ।

वाटरलू के बाद अब एक पूरी पीढ़ी बीत गई थी। इस समय तक भू-स्वामी अधिक उपयुक्त भाटक स्वीकार करने लग गये थे और किसानों ने भी समझ लिया था कि अनाज के युद्धकालीन मूल्यों की आगे कभी आशा न की जाय। दोनों वर्गों ने तदनुसार अपनी स्थिति में पतिवर्तन कर लिया था। राष्ट्रीय और स्थानीय कर अपेक्षाकृत कम थे, भत्ता-प्रणाली की समाप्ति के फलस्वरूप दारिद्रय-शुल्क में उल्लेखनीय कमी हो गई थी। उन्नीसवीं शताब्दी का तृतीय चतुर्थांश आस्ट्रेलिया तथा कैलीफोर्निया में हुई स्वर्ण की खोज एवं अन्य परिस्थितियों के कारण, बढ़ते हुए मूल्यों और सामान्य समृद्धि का काल

था। रोजगार की प्रचुरता थी, और भृति की प्रवृत्ति वृद्धि की ओर थी। शिल्पी तथा कारखानों में काम करने वाले पहले की अपेक्षा अधिक समृद्ध थे। खाद्य-पदार्थों की माँग में वृद्धि हो रही थी और जहाँ रोटी का मूल्य अत्यधिक ऊंचा नहीं था, अनाज का बाजार-भाव सुस्थिर था।

आँग्ल कृषक को मन्दी की लम्बी अवधि ने, जिसे वह पार कर चुका था, अपनी मुक्ति का हल आप ढूँढने की आवश्यकता का विश्वास करा दिया था। खेती की उन्नत पद्धतियों को जिन्हें अठारहवीं शताब्दी में व उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू के सालों में सर्वश्रेष्ठ किसानों ने आरम्भ किया था, अब अधिक सामान्य रूप में अंगीकार कर लिया गया था। रॉयल एग्रीकल्चर सोसाइटी तथा असंख्य प्रान्तीय कृषि समितियों के निर्माण से कृषि को बहुविध लाभ हुए। वार्षिक कृषि प्रदर्शन किये जाते थे, अति आधुनिक कृषि-पद्धतियों के विकास के विषय में सूचना उपलब्ध रहती थी तथा प्रतिस्पर्द्धा की जो भावना उत्पन्न होती थी, उससे किसानों को अधिकाधिक प्रयत्न करने की प्रेरणा प्राप्त होती थी। कृषि-व्यवसाय में नवीन पूँजी लगाई गई और वैज्ञानिक गवेषणाओं के परिणामों से लाभ उठाया गया। कृषि रसायनशास्त्र का अध्ययन केवल अनुमान मात्र ही नहीं था और उसके परिणाम अधिक वैज्ञानिक ढंग से फसलें पैदा करने और भूमि को अधिक उपजाऊ बनाने में दीख पड़ने लगे थे। वैष्ठ (Guano), अस्थिचूर्ण व भास्वीय (Phosphates) खेतों में दिये जाते थे। स्वीडन की शलजम, गाँठगोबी तथा राजमूल उत्पन्न किये जाते थे। सेम, अलसी व मक्का पशुओं को खिलाने के लिए आयात किये गये और पशुओं के अभिजनन में निरन्तर सुधार हुए। यंत्रों का प्रयोग व्यापक हो गया। वपित्र (पंक्तिबद्ध बीज-वर्षण यंत्र), निस्तुषणयंत्र, वाष्पहल एवं अभिलवण यंत्र आँग्ल खेतों में सामान्यतया प्रयुक्त होने लगे। भूमि जलोत्सारण की श्रेष्ठ पद्धतियाँ, यह जान कर कि भूमि जब जलानुवेधित रहती है, तो कम उपजाऊ हो जाती है, प्रारम्भ की गई।

इस काल की आँग्ल कृषि के विकास में योग देने वाले कारणों में से एक महत्त्वपूर्ण कारण इस देश में रेलों की स्थापना थी। इससे खेतों की उपज को बेचने के लिए एक विस्तृत बाजार खुल गया और किसान अपने पशुओं एवं

अनाज को सुदूर भेजने की कठिनाइयों के कारण अपने पड़ोसी बाजार में बेचने को बाध्य नहीं रहा। रेलों ने यंत्रों, उर्वरकों तथा बीजों के खरीदने में सुविधायें और सस्ताई दी।

इस समृद्धि के युग में उस समय एक दुर्भाग्यपूर्ण लक्षण की ओर किसी का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ, अथवा यदि हुआ भी तो उसे महत्त्वपूर्ण नहीं समझा गया। ग्रामनिष्कासन प्रारंभ हो गया। दारिद्र्य अधिनियम में सुधार होने के बाद श्रमिकवर्ग को दारुण दुःख सहने पड़े और १८३४ में अकर्माधिदेय समाप्त हो गया। भृति में वृद्धि की गति धीमी थी व भूस्वामियों तथा कृषकों पर जो स्वर्णवर्षा हुई थी, उसका बहुत कम हिस्सा कृषि मजदूरों को मिला। किन्तु श्रमिक अब वैकल्पिक व्यवसायहीन व्यक्ति नहीं था। अधिक आयु के लोग धरती से सम्बद्ध रहे लेकिन उनके बेटे-पोते निरंतर बढ़ते हुए परिमाण में नगरों की ओर बढ़ते रहे। लाखों मनुष्यों को रेलों के निर्माण और उसके बाद उनके संचालन में काम मिल गया। सहायक एवं सहयोगी उद्योगों ने (यथा रेलवे निर्माण में अपेक्षित सामग्री लौह, ईंट, पत्थर इत्यादि के उत्पादन) और भी अधिक व्यक्तियों को काम दिया। अन्य बहुत से नागरिक व्यवसायों में श्रमिकों की आवश्यकता थी अतः नगर उन सब ग्रामीण युवकों को काम देने में समर्थ थे, जो वहाँ आ जाते थे।[1]

---

१. भृति के प्रश्न के अतिरिक्त अन्य कारणों ने भी ग्राम-निष्कासन को प्रोत्साहित किया। ग्रामों में निवास की दशा बेहद खराब थी। कुटीरों का अभाव था और वे बहुधा बेमरम्मत थे। कुटीर न मिलने के कारण सामान्यतः युवा श्रमिक विवाह न कर पाते थे। भाड़े पर दिये जाने के उपयुक्त भवनों का निर्माण भी संभव नहीं था, जिन्हें श्रमिक भाड़े पर ले सके। गाँवों में श्रमिक की स्थिति पराधीन और उससे भी अधिक अपमानजनक थी। उसकी कुटीर प्रायः खेत से संबद्ध होती थी और काम छोड़ देने की दशा में उसे अन्य निवास-स्थान के मिलने की संभावना से रहित होकर भी अपनी कुटीर त्यागने को बाध्य होना पड़ता था। बहुधा उसका नियोक्ता उसके सूअर अथवा मुर्गी-पालन पर तथा वराटन के बाद किसी कार्य को अनुमति बिना करने पर प्रतिबंध लगा देता था। यदि व्यस्त समय में खेत-मालिक को श्रमिक के बच्चों व पत्नी की सेवाओं की आवश्यकता अनुभव होती थी तो वह अस्वीकार करने का साहस नहीं कर सकता था। राजनीतिक स्वतंत्रता का तो कोई प्रश्न नहीं था।

देने लगा।[1] गेहूं का रूस, भारतवर्ष, आस्ट्रेलिया व अर्जेण्टायना से भी आयात होता था और उसे ऐसी कीमतों पर बेचा जाता था जिन्हें अपनाकर आँग्ल कृषक संभवतः प्रतिस्पर्द्धा में लाभ नहीं उठा सकता था। यही सब कुछ नहीं था। प्रशीतन प्रक्रियाओं के कारण न्यूजीलैण्ड से जमाया हुआ भेड़ का गोश्त व अर्जेण्टायना से अभिशीतित गोमांस ब्रिटेन को भेजा जाना सम्भव हो गया जबकि संयुक्त राज्य से डिब्बों में बन्द गोमांस एवं मछलियाँ मँगाई जाती थीं। मक्खन, उपमृक्षि, पनीर, आलू तथा फलों का विश्व के विभिन्न भागों से आयात किया जाता था।

इस युग की विशेषता सामान्य मूल्य-स्तरों में तेज गिरावट थी, अतः इस सामान्य प्रवृत्ति के अनुरूप ही खेती से पैदा होने वाले पदार्थों के भाव गिर गये। १८७५ में गेहूँ का भाव ४४ शि. प्रति क्वार्टर था, १८७७ में ५० शि० से अधिक था किन्तु १८८५ तक भाव ३२ शि० तक गिर गया था। भावों की यह गिरावट निरन्तर बढ़ती रही व १८९४ में १७ शि० ४ पे० के अभिलेखनीय निम्न स्तर पर पहुँच गई। आलोच्य काल में स्वर्ण की अपेक्षा चाँदी के मूल्य में जो अधिक गिरावट हुई कुछ अंशों तक उसके कारण भी यह स्थिति पैदा हो गई। उन देशों की मुद्रा का जिनमें रजतमान प्रतिधारित था, अत्यधिक अवमूल्यन हो गया और इसका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दशा पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। भारतवर्ष में १८७२ में रुपये का मूल्य दो शिलिंग था जो १८९३ तक केवल एक शिलिंग से कुछ अंश अधिक रह गया था। भारतवर्ष में थोक व्यापारी इङ्गलैण्ड को निर्यात करने के लिए गेहूँ, चावल व अन्य खाद्य-पदार्थों को खरीद लेते थे जिनका भुगतान रुपयों में होता था किन्तु बेचना स्टर्लिंग में। जब एक पौंड स्टर्लिंग का विनिमय १० रुपये के स्थान पर २० रुपये में होने लगे तो यह स्पष्ट है कि इससे पूर्वापेक्षा अधिक तादाद में भारतीय उपज खरीदी जा सकती थी और वह इंगलैण्ड में बहुत सस्ती बिक सकती थी। इस प्रकार चाँदी के मूल्य में होने वाली गिरावट ने आँग्ल कृषक की कठिनाइयों में वृद्धि ही की।

1. कनाडियन पैसीफिक रेलवे का निर्माण १८८९ में समाप्त हुआ था।

भाटक में तेज गिरावट आई तथा अनेक बार उन्हें पूर्णतया परिहारित करना पड़ा, इतना होते हुए भी बहुत सी धरती पड़त रह गई और किसान दिवालिये हो गये। प्रतिफल की कमी के कारण भूमि में पूँजी का विनियोजन समाप्त हो गया।

अन्य कठिनाइयों के व और श्रमिक विवाद की और वृद्धि हो गई। किसान अपने श्रमिकों की भृति में कमी करने के इच्छुक थे, जो पहले ही दयनीय व अपूर्ण थी। अधिकांश श्रमिक इस समय तक कृषि श्रमिक संघ के सदस्य बन चुके थे और वे वेतन बढ़ाने का आग्रह कर रहे थे जब कि उनके नियोक्ता सभी दिशाओं में क्लेश पा रहे थे। अपनी माँगों में असफल होने पर वे निरन्तर भूमि-कार्य छोड़ते रहे। वे नगरों में एकत्रित हो गए एवं युवा-श्रमिकों का कनाडा तथा आस्ट्रेलिया को तीव्र प्रव्रजन आरम्भ हो गया जहाँ उनकी अत्यधिक माँग थी व उनका भविष्य इङ्गलैण्ड की अपेक्षा अधिक उज्ज्वल था।

१८८२ में ड्यूक आफ रिचमण्ड की अध्यक्षता में एक राजकीय आयोग ने मन्दी के कारणों की जाँच की। अपने प्रतिवेदन में आयोग ने उन कारणों की गणना की जो कृषि की इस अवस्था के लिए उत्तरदायी थे। निकृष्ट फसल, उच्च कर, पशु रोग, कृषि प्रशिक्षण का अभाव, ऊँचा भाटक, अनुचित रेलवे कर एवं बाह्य प्रतिद्वन्द्विता का मन्दी के सहायक कारणों में निर्देश किया गया। आयोग को यह भी पता चला कि इस मन्दी का प्रसार असमान था। इसकी सर्वाधिक तीव्रता (केण्ट के अतिरिक्त) दक्षिण एवं पूर्व में थी और वह दक्षिण-पश्चिम व उत्तर-पश्चिम में न्यूनतम थी।

१८९३ से १८९७ के बीच लॉर्ड एवरस्ले की अध्यक्षता में एक अन्य राजकीय आयोग स्थापित हुआ। इसने कृषि पर चाँदी की कीमतों की कमी के प्रभाव का अपने प्रतिवेदन में निर्देश किया और मन्दी काल में किसानों व भूस्वामियों को होने वाली पूँजी की हानि की ओर भी ध्यान आकर्षित किया। मोटा अनाज पैदा करने वाली बहुत धरती पड़त हो गई। श्रेष्ठ श्रमिक नगरों में प्रव्रजित हो चुके थे और शेष श्रमिकों की दक्षता अनुत्तम थी। केवल वे किसान जिनके पास यथेष्ट पूँजी व तरुण थे और जो अधिक अंशों तक भाटकी श्रम पर निर्भर न थे, इस झंझावात का सामना कर सके। आयोग का

विचार था कि तत्कालीन परिस्थितियों में खेती के सर्वाधिक लाभप्रद रूप विपण्योद्यान कर्म, फलोत्पादन, पशु-पालन, पुष्पोत्पत्ति तथा कुक्कुटपालन और दलदली जमीन में आलू तथा कन्द उत्पन्न करना थे।

शताब्दी के अन्त के पहले ही खेती का निम्नतम बिन्दु आ चुका था और बीसवीं शताब्दी के शुरू के वर्षों में सुधार के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे थे। किसानों ने जैसा कि उनके पिता भी पचास वर्ष पूर्व कर चुके थे, अनुभव किया कि उन्हें नवीन परिस्थितियों के अनुकूल बदल जाना चाहिए। खाद्य-पदार्थों के आयात को रोकने की वे आशा नहीं कर सकते थे। यद्यपि ब्रिटेन के गेहूँ उत्पादन में और अधिक गिरावट होने की सम्भावना नहीं थी, फिर भी कुछ अधिक साहसी कृषकों ने अपना ध्यान धान्योत्पत्ति की अपेक्षा उत्पादन के अन्य रूपों की ओर परिवर्त्तित कर लिया।

जमे हुए मांस के आयात के बाद भी पशु-पालन इङ्गलैण्ड में लाभप्रद व्यवसाय बना रहा, क्योंकि आँग्ल मांस विदेशी मांस से उत्तम समझा जाता था और उससे अधिक मूल्य मिलता था। पशु-पालक को अब पशुरोगों को कठोरतापूर्वक समाप्त कर देने वाले कार्यों व सुविधाओं का लाभ प्राप्त हो रहा था। जिन लोगों के पास पूँजी पर्याप्त थी वे पशुपालन में लग गये। यह धंधा बहुत ही लाभदायक था क्योंकि आँग्ल अभिजात बैल और मेंढे बहुत ऊँचे दामों पर बेचे जा सकते थे, उनका अर्जेण्टयना तथा अन्य देशों को निर्यात किया जाता था जहाँ अन्तःप्रसवन के कारण टोलों एवं रेवड़ों के ह्रास का भय था।

दूध, अंडे, मक्खन व पनीर के उपभोग का परिमाण इस देश में प्रतिवर्ष बढ़ता ही गया तथा नगरों के समीप तो विशेषतया पशु एवं कुक्कुट पालन लाभदायक सिद्ध हुआ।[1] इनमें से प्रत्येक वस्तु को विदेशी प्रतिद्वन्द्विता का सामना करना पड़ चुका था, किन्तु जैसा कि मांस के विषय में स्पष्ट किया जा चुका है, विदेशी वस्तु को देश में उत्पन्न वस्तु से हीन समझा जाता था। इसलिए आयातित

---

१. गोचर के अन्तर्गत भूमिक्षेत्र १८७२ में १,२०,००,००० एकड़ से १६०४ में १,७०,००,०००, एकड़ हो गया। श्रम-व्यय कर्षित की अपेक्षा गोचर पर कम है किन्तु यह स्मरण रहे कि नवनिर्मित गोचर के लाभप्रद होने में कई वर्ष लग जाते हैं।

सामग्रियों से श्रमिक वर्गों को सस्ता भोजन उपलब्ध होता था किन्तु आँग्ल उत्पादक मध्यम तथा उच्च वर्गों के संरक्षण पर आश्रित था।

प्रतिवर्ष शाकों व फलों की मांग में वृद्धि होती रही। किसान जिनकी भूमि की स्थिति एवं श्रेष्ठता उपयुक्त थी, देशीय बाजार के हेतु आलू, गोभी, सेम तथा अन्य शाकों के उत्पादन में लग गये, जबकि कुछ जिलों में विशाल भूभाग पर फलोत्पादन होने लगा। ताजा फल नगरों में भेज दिये जाते थे और अवशिष्ट उपज मुरब्बों के कारखानों में पहुँच जाती थी।

उत्पादन के इन रूपों में से कुछ ऐसे थे जिनके लिए अत्यधिक श्रम एवं विशेष ध्यान देने की आवश्यकता थी। उपशमन के चिह्नों से शून्य, ग्रामनिष्कामन के साथ-साथ श्रम अधिकाधिक दुर्लभ होता गया और लोगों का ध्यान छोटे खेतों के पुर्निर्माण की शक्यता (तथा उपयुक्तता) की सम्भावनाओं की ओर आकर्षित हुआ। यह धारणा थी कि बीस से पचास एकड़ के एक छोटे खेत पर जिसमें मुख्यतः किसान सपरिवार श्रम कर सके, भाटकी श्रमिकों से भरे एक बड़े खेत की अपेक्षा अधिक अच्छा काम किया जा सकता है। लघुक्षेत्रधारी अपने काम की सफलता के लिए व्यक्तिगत रुचि लेगा और विवरणों पर भी पर्याप्त ध्यान देगा जो कि गहरी कृषि के लिए बहुत आवश्यक है। सामाजिक आधार पर भी क्षेत्रकार कृषक वर्ग के पुनरुत्थान को प्रोत्साहन देना उपयुक्त समझा गया।

तथापि भूस्वामी भाटकियों के रूप में उन व्यक्तियों को प्राथमिकता देते थे जिनके पास छोटे खेत वालों की संभाव्य पूँजी की अपेक्षा अधिक पूँजी होती थी। छोटे खेतों के भाटकी अधिक कष्टदायी हो सकते थे और समृद्ध किसानों की तुलना में कम नियमित रूप से भाटक देते थे, इसी कारण भूस्वामी लघुक्षेत्र आन्दोलन प्रारम्भ करने को प्रवृत्त नहीं थे। किन्तु शासन ने इसमें हस्तक्षेप किया तथा १८९२ में पारित एक अधिनियम के द्वारा जिला परिषदों को भूमि को खरीदने, बाड़ाबन्दी करने, गृहों और प्रक्षेत्र भवनों का निर्माण एवं प्रार्थियों को एक से पचास एकड़ के खेतों में बेचने का अधिकार दे दिया गया। भावी खरीददार बेचान की अति सरल शर्तें प्रस्तावित होने से आकर्षित हो सकते थे, क्योंकि इस उद्देश्य के लिए दिए गये ऋण का शोधन पचास वर्ष की अवधि तक विस्मृत हो सकता था। यह अधिनियम अधिक प्रभावोत्पादक नहीं हुआ। प्रारंभणाधि-

कार जिला समितियों पर छोड़ दिया गया था। वे छोटे खेत उपलब्ध कर सकती थीं, पर ऐसा करने को बाध्य नहीं थीं एवं वे भूस्वामी जिन्हें अपनी भूमि को बेचने की इच्छा नहीं थी, उसे पुनः अपने पास रख सकते थे। १६०८ में लघुक्षेत्र एवं आवंटन अधिनियम ने प्रारम्भणाधिकार कृषिमण्डलों को सौंप दिया। अतः अब जिला परिषदें उपयुक्त प्रार्थियों के लिए छोटे खेत उपलब्ध करने को बाध्य हो गईं। क्योंकि उनके अस्वीकार करने में कृषिमण्डल हस्त-क्षेप कर सकता था और काम चालू रखने के लिए आयुक्तों की नियुक्ति कर सकता था। समितियों को अनिवार्यतः भूमि प्राप्त करने का अधिकार दे दिया गया। भूमि का मूल्य मध्यस्थता द्वारा तय कर लिया जाता था और खेत प्रार्थियों को या तो भाटक पर दे दिये जाते थे अथवा उन्हें सरल शर्तों पर बेच दिया जाता था।

आन्दोलन के प्रति अनुरक्त व्यक्ति ही केवल इस अधिनियम के पालन को एक सफलता के रूप में समझ सकते हैं। इस अधिनियम के पारित होने एवं १६१४-१८ के महायुद्ध के प्रारम्भ के बीच कुछ सहस्र लघु क्षेत्रों का निर्माण हुआ। किन्तु भूमिधर किसान जैसा कोई वर्ग संगठित न हो पाया। प्रार्थी का तब तक खेत के लिए प्रस्ताव करना व्यर्थ था जब तक कि उसमें कोई मकान न हो, क्योंकि उसे अपने कार्य की प्रकृति के कारण उस स्थान पर रहना आवश्यक था। घर बनाने की लागत इस आन्दोलन में एक बाधा थी, क्योंकि इससे खेत के मूल्य अथवा भाटक में वृद्धि हो जाती थी। इस आन्दोलन के संस्थापकों को आशा थी कि लघुक्षेत्रों के प्रार्थी खेतिहर श्रमिकों के वर्ग में से होंगे जो खेती के काम के पूर्ण जानकार और ग्राम्य-जीवन की परिस्थितियों के पूर्ण अभ्यस्त होंगे। वास्तव में प्रार्थियों में से एक-तिहाई से भी कम इस प्रकार के लोग थे और श्रमिकों का अबाध रूप से नगरों व उपनिवेशों में प्रव्रजन चलता रहा। प्रार्थियों में से अधिकांश अन्य वर्गों से जीवन के अन्य क्षेत्रों में असफल हो जाने वाले थे। यह बताना अनावश्यक है कि ऐसे व्यक्तियों का सफल लघुक्षेत्रधारी होना संभव न था। अनुभव से यह सिद्ध हो गया कि लघुक्षेत्रों का भाटक पर दिया जाना भी एक त्रुटि थी। अधिकांश प्रार्थियों ने खेतों को खरीदने के स्थान पर भाटक पर लिया और यदि यह उपक्रम लाभप्रद

न हुआ अथवा यदि वे खेती में थक गये तो वे इसे त्याग देने की स्थिति में थे। यदि खेत खरीदने में उनकी कुछ पूँजी लग चुकी होती, चाहे शर्तें बहुत सरल क्यों न हों, उन्हें इसी काम में ठहरने एवं उपक्रम को सफल बनाने के प्रयत्नों में अधिक प्रलोभन होता।

१९१९ के भूमि-व्यवस्था अधिनियम (सुविधा) के अन्तर्गत भूतपूर्व सैनिकों के हितार्थ लघुक्षेत्रों के निर्माण का प्रयत्न किया गया। इस योजना में भूमि के तत्कालीन उच्च परिव्यय के कारण अधिक सफलता नहीं मिल सकी और कुछ हजार व्यक्ति ही इससे लाभ उठा सके। एक लघुक्षेत्रों एवं आवंटन अधिनियम १९२६ में पुनः पारित किया गया[1] तथा एक कर्षित भूमि (उपयोग) अधिनियम १९३१ में पारित हुआ। इस पिछले अधिनियम के द्वारा एक और प्रकार के लगभग ५० एकड़ के लघुक्षेत्रों का निर्माण अधिकृत हो गया। ऐसे खेत नगरों के पास होने चाहिए थे एवं उन पर गृह-व्यवस्था की कोई चिन्ता न होती। यह आशा की जाती थी कि ये खेत उपयुक्त किन्तु वृत्तिहीन व्यक्तियों को दे दिये जायँ तथा इसका उपयोग कुक्कुटपालन एवं पण्योद्यान के लिए किया जाय। आर्थिक कारणों से इस अधिनियम को क्रियान्वित नहीं किया जा सका।

छोटे खेत बड़े खेतों की अपेक्षा बहुत लाभदायक रहे हैं, जबकि उनका उपयोग शूकर-पालन, कुक्कुट-पालन और सब्जी पैदा करने में किया गया हो और उस समय बहुत कम लाभदायक रहे हैं जबकि उनका उपयोग पशु-पालन और फलोत्पादन के लिए किया गया हो। आधुनिक पशु-पालन के लिए यंत्रों की आवश्यकता रहती है, जिनका सर्वाधिक लाभप्रद उपयोग बृहत् उपक्रम में ही हो सकता है। छोटे खेत वालों के लिए फल उत्पन्न करना अत्यधिक संदिग्ध है। सामान्यतः छोटे खेत वाले बड़े खेत वालों की अपेक्षा कठोर परिश्रम

---

१. १९२६ के लघुक्षेत्र एवं आवण्टन अधिनियम के अंतर्गत लघुक्षेत्र को 'एक ऐसा क्षेत्र जो एक एकड़ से अधिक किन्तु पचास एकड़ से अधिक नहीं हो, और यदि हो भी तो उसकी कीमत सालाना १०० पौं० से अधिक न हो' कह कर परिभाषित किया गया है। स्काटलैंड में ५० एकड़ से अधिक क्षेत्रफल वाले खेतों का उच्चतम वार्षिक मूल्य ५० पौं० है।

करते हैं, अधिक भाटक देते हैं और अधिक भूखे रहते हैं। इन लोगों के पास सीमित साधन होते हैं तथा उनकी साख इतनी नहीं होती कि वे बीज बोने से उपज काटने तक के समय में भी सरल जीवन निर्वाह में समर्थ हों। वे अपनी उपज को सदैव अधिक लाभ लेकर बेच नहीं पाते। इसका उपचार कुछ अंशों तक सहकारी विपणन से हो सकता है।

ग्रामीण मजदूरों की अवस्थाओं में सुधार के उद्देश्य से एक कम आकांक्षा-पूर्ण किन्तु अधिक सफल प्रयत्न ने आवंटन आन्दोलन का रूप लिया। आवंटन भूमि दस जरीब से एक एकड़ तक का एक छोटा भूखंड था जिस पर कर्मकर निजी उपयोग अथवा विक्रय हेतु शाक उत्पन्न कर सकता था। आवंटन भूमिखंड छोटे खेतों से बहुत छोटा होता था और उसका उद्देश्य इसके धारक को जीविका देना न होकर उसे अवकाश-काल में लाभप्रद व्यवसाय देना होता था। १८८२ के अधिनियम ने स्थानीय निकायों को आवंटन के रूप में देने के लिये भूमि खरीदने का अधिकार दे दिया और १८८७ में उन्हें ऐसा करने को बाध्य किया गया। आवंटन नगरों के सीमाक्षेत्रों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में उपलब्ध किए गये और बहुत से आवंटनधारी नगर कर्मकर थे। १९१४-१८ के महायुद्ध काल में इस आन्दोलन का तेजी से प्रसार हुआ। स्थानीय निकायों की अनधिकृत भूमि को आवंटनों में विभाजित करने के लिए उस भूमि का अस्थायी अपहरण करने का अधिकार दे दिया गया जिस पर कृषि श्रमिक वर्ग के मनुष्यों तक सीमित न थी।

शासन एवं जिला परिषदों ने कृषि में प्राविधिक शिक्षण को प्रोत्साहित किया। राज्य द्वारा मदिरा पर लगाये गये उत्पादन कर से प्राप्त धन का एक भाग जिला-परिषदों को पुनः दे दिया जाता था जिससे वे कृषि-सम्बन्धी प्राविधिक महाविद्यालय एवं सायंकालीन कक्षायें स्थापित कर सकें एवं किसानों तथा लघुक्षेत्रधारियों को सहायता एवं प्रज्ञापन हेतु भ्रमणशील शिक्षकों को सेवायोजित कर सकें।

पिछले साठ या सत्तर वर्षों के समय में कृषिजन्य समस्या को सुलझाने के लिए संसद् द्वारा अनेक अधिनियम पारित किये गये। १८७५, १८८३, १९०० व १९०६ में उन कृषक भाटकियों के संरक्षण के हेतु अधिनियम पारित किये

गये जिन्हें अपने क्षेत्रों में सुधार के कारण क्षतिपूर्ति के बिना ही अधिनिष्कासित कर दिया जाता था। १८७८ में (पशु) संस्पर्श रोग अधिनियम कृषि पशुओं की व्यवस्था में स्वास्थ्यकार नियमों के पालन हेतु पारित किया गया। १८८० के भू आखेट अधिनियम का उद्देश्य खेती को खरगोशों व अन्य जन्तुओं द्वारा किये जाने वाले विनाश से संरक्षण देना था। १८९३ व १८९९ में खाद्य-पदार्थों को झूठा नाम देकर बेचने (उदाहरणार्थ उपमृक्षि को मक्खन कहना) से रोकने के लिए अधिनियम पारित किये गये।

किसानों द्वारा काफी अर्से से यह तर्क दिया जा रहा था कि जिस पद्धति व आधार पर उन पर उपशुल्क लगाया गया है वह अनुचित है, अतः १८९६ के कृषि उपशुल्क अधिनियम के अनुसार उन्हें अपनी भूमि पर देय शुल्क के तीन-चौथाई तक मुक्ति मिल गई। १९२९ के अधिनियम के द्वारा वे शेष चौथाई देने से भी मुक्त हो गये। फलस्वरूप उन्हें अब अपने घरों पर ही उपशुल्क देना पड़ रहा था। इसकी बड़ी आलोचना की गई। विरोधियों का तर्क था कि दीर्घ काल में भूमि का लाभ भू-स्वामी को बढ़े हुए भाटक के रूप में प्राप्त होगा।

युद्ध-काल (१९१४-१९) में कृषिजनित समृद्धि का अस्थायी पुनःसंचार दृष्टिगोचर हुआ। ब्रिटेन में अनाज उत्पन्न करने की संभव आवश्यकता ने उस भूमि को भी पुनः कृषियोग्य बना दिया जहाँ घास उगाई जाती थी। देश में पैदा गेहूँ का उच्चतम मूल्य कभी-कभी १०० शि० प्रति क्वार्टर से भी अधिक हो जाता था। कृषकों की, जिन्हें दक्षता के एक निश्चित स्तर को बनाये रखने और गोचर भूमि को तथा कृषि के लिए उपयुक्त भूमि के क्षेत्रफल के विषय में राजकीय निर्देशों की स्वीकृति देने को बाध्य किया जाता था, कार्यवाहियों पर बहुत अंशों तक राजकीय नियंत्रण का उपयोग किया जाता था। १९१७ में पारित अन्नोत्पत्ति अधिनियम ने न्यूनतम मूल्य तथा निश्चित भाटक व श्रमिक को न्यूनतम भृति का विश्वास दिलाया। प्रत्येक जिले में केन्द्रीय-कृषि-भृति-मंडल द्वारा स्थापित स्थानीय समितियों को कृषि भृति का निर्धारण करना था। इन संघटनों का १९२१ में विखंडन हो गया। १९२४ के कृषिभृति (नियमन) अधिनियम द्वारा भृति निर्धारण-हेतु पुनः एकतंत्र की स्थापना की

गई। कृषक यह दावा करते थे कि न्यूनतम भृति देने का बन्धन अन्न के प्रत्याभूत मूल्य के पुनःस्थापन का अनुसरण करने वाला होना चाहिये। उनकी शिकायत थी कि जब अनाज का मूल्य गिरेगा तो उस समय वे इसी भृति में काम चलाने में असमर्थ होंगे।

युद्ध के पश्चात् जिस मन्दी का प्रहार हुआ उसका केवल यही कारण था। यह पुनः पूर्ण सशक्त वैदेशिक प्रतिद्वन्द्विता से प्रभावित थी अतः कृषि का क्षेत्रफल संकुचित हो गया। तथापि कृषि की नवीनतम पद्धतियों एवं कृषि व्यवस्था के प्रयोग—सहकारी क्रय-विक्रय से मानवीय श्रम के स्थान पर यन्त्रों का अधिक व्यापक प्रयोग एवं सर्वाधिक मांग वाली उपज के उत्पादन से कृषक जीवन यापन करते रहे। कुछ दिशाओं में विशेषकर पशु-प्रजनन में उन्हें निरन्तर सफलता प्राप्त होती रही, आँग्ल अभिजात बैलों का अब भी सुदूर देशों में बहुत अधिक मूल्य था।

कृषक के हेतु बीसवीं शताब्दी की तीसियां निकृष्टतम वर्षों में से थीं। १९३० से १९३८ के मध्य उपज श्रेष्ठ थी किन्तु गेहूँ का बाजार भाव सामान्यतया बीस शिलिंग से पच्चीस शिलिंग प्रति क्वार्टर के बीच था। बहुत सी भूमि घास के अन्तर्गत आ गई एवं जैसे दूध की माँग में वृद्धि हुई कृषि की अपेक्षा पशु-पालन अधिक लाभप्रद हो गया। भूमि को कृषि के अन्तर्गत रखना प्रत्येक अवस्था में कठिन था क्योंकि युवा-श्रमिकों का नगरों को निष्कासन प्रारम्भ हो गया।

१९३९ में युद्ध के प्रारम्भ से ग्रेट ब्रिटेन १९१४ की भाँति ही अपनी स्वयं की भूमि पर पूर्ण सामान्य खाद्य-सामग्री उत्पन्न करने को बाध्य हो गया। घास के मैदानों पर पुनः हल चल गये तथा कृषि के अन्तर्गत क्षेत्रफल लगभग द्विगुणित हो गया एवं गेहूँ के मूल्य में वृद्धि होती रही जब तक वह सत्तर शिलिंग प्रति क्वार्टर से अधिक न हो गया। युद्ध-काल में अच्छी उपजें उपलब्ध हुई जिनमें १९४२ एवं १९४३ की फसलों को अभिलिखितों में सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है। युद्ध की समाप्ति के लगभग ग्रेट ब्रिटेन में १९३८ की अपेक्षा दुगुना गेहूँ तथा आलू उत्पन्न किया जाता था तथा चुकन्दर भी विशाल परिमाण में उत्पन्न किया जाता था।

कृषकों को भविष्य में अपनी इच्छानुसार कृषि करने की स्वीकृति न थी। जिला युद्ध-कृषि समितियों का निर्माण प्रत्येक प्रशासकीय जिले में हो गया था। उन्हें कृषकों को उत्पन्न की जाने वाली उपजों के विषय में एवं ईक्षित आवर्तन के विषय में निर्देश करने का अधिकार था एवं जो कृषक समिति की आज्ञा की अवहेलना करते थे अथवा जिनका कार्य संतोषपूर्ण नहीं होता था उन्हें हटाया जा सकता था एवं उनके क्षेत्र अन्य व्यक्तियों को दे दिए जाते थे। समितियाँ घास एवं वंध्या भूमि (खिल) पर हल चलाने की आज्ञा दे सकती थीं एवं उन्होंने अपने अधिकारों का पूर्ण प्रयोग किया। उपवन एवं गोल्फ खेलने के मैदानों को अनेक बार कृषि-योग्य भूमि में परिवर्तित कर लिया गया। कृषकों को यन्त्रों एवं उर्वरकों की रसद समितियों द्वारा संगठित एवं नियन्त्रित थी। युद्ध के आरम्भ में एक कृषि गवेषणा परिषद् स्थापित की गयी। एवं १९४१ में कृषि गवेषणा के परिणामों को कृषि-पद्धति पर प्रयुक्त करने में सुविधा हेतु एक कृषि सुधार परिषद् की स्थापना हुई।

युद्धकालीन वर्षों में श्रम ने सबसे अधिक कठिनाई प्रस्तुत की। युद्ध से पूर्व बहुत कम श्रमिक थे। अब कुछ व्यक्ति सशस्त्र सेवाओं में सम्मिलित हो गये थे यद्यपि अधिकांश रक्षित थे। भूमि पर महिला भू-सेना की सदस्याएँ, युद्ध-बन्दी एवं स्वयंसेवक कर्मकर जो कटाई के समय सहायता देते थे, कार्य करते थे। खेतिहर श्रमिकों के भृति स्तर में वृद्धि हो गयी। यह निश्चित प्रतीत होता है कि भविष्य में यदि कृषक को उचित मात्रा में श्रमिकों के हेतु आकर्षक बनाना है तो भृति एवं कार्य की परिस्थितियों में और सुधार किया जाना आवश्यक है।

युद्ध के पश्चात् सभी राजनीतिक दलों ने यह अनुभव किया कि शताब्दी के चतुर्थांश की पूर्वकालिक त्रुटियों का परिहार होना चाहिये एवं कृषि को पुनः पतन के गर्त में नहीं गिरने देना चाहिये। १९४६ के अन्त के लगभग शासन द्वारा एक स्मरण-पत्र प्रचारित किया गया जिसमें कृषि की स्थिति एवं शासकीय नीति प्रकाशित की गयी थी। यह अनुमान किया गया था कि संयुक्त आँग्ल देश के सम्पूर्ण छः करोड़ एकड़ क्षेत्र में से चार करोड़ अस्सी लाख एकड़ कृषि के अन्तर्गत है, उद्योगों ने साढ़े बारह लाख श्रमिकों को प्रत्यक्षतः

नियुक्तियाँ दी हैं एवं अन्य बहुत से इनके सहायक उद्योगों में लगे हुए हैं, कर्षित उपजों का मूल्य अर्वाचीन युद्ध के विस्फोट के पश्चात् प्रति वर्ष २६,००,००,००० पौंड से बढ़कर ५८,००,००,००० पौंड होने के कारण द्विगुणित हो गया था। शासन राज्य का अधिकतम सम्भव भोजन राष्ट्र में ही उत्पन्न करने को इच्छुक था तथा इसने एक स्थायी तथा दक्ष कृषि-उद्योग के बनाये रखने का उद्देश्य रखा। १९४७ का कृषि अधिनियम इसी लक्ष्य के हेतु अभिप्रेत था।

यह आशा थी कि मूल्यों के नियंत्रण एवं प्रत्याभूति द्वारा भूतकालीन स्थिरता की अपेक्षा अधिक स्थिरता स्थापित हो सकेगी। किसी निश्चित काल के हेतु इसका निर्धारण कृषि मन्त्री अथवा खाद्य मन्त्री द्वारा किया जाय, उद्योग पर पुनः दृष्टिपात करने के पश्चात् ही परिवर्तन किए जायं एवं वह भी तब जब मन्त्री सन्तुष्ट हों कि परिवर्तन जन-हित में है। वे सूचना काल की समाप्ति के पश्चात ही जो कुछ अवस्थाओं में दो वर्ष तक का भी हो सकता है व्यवहार्य हों।

यह धारणा थी कि राष्ट्रीय हित में अदक्ष कृषि भविष्य में स्वीकृत न की जाय। जैसा ऊपर कहा गया है युद्ध-काल में कृषक जिला युद्ध कृषि परिषदों के निर्देश स्वीकार करने को बाध्य थे एवं यद्यपि युद्धोत्तर नियंत्रण कठोरता एवं पूर्णता में कम होता तथापि एक राष्ट्रीय कृषि सलाहकार सेना स्थापित की गयी एवं जिला कृषि परिषदें, भू-स्वामियों, कृषकों एवं श्रमिकों की प्रतिनिधि रूप में जिला युद्ध परिषदों का कार्य करने एवं कृषकों को सलाह देने के हेतु स्थापित की गयीं। यह आशा की गयी थी कि इस प्रकार कृषि कार्य का सामान्य स्तर उन्नत हो गया किन्तु यह स्वीकार कर लिया गया था कि कृषकों का ऐसा अल्पमत हो सकता है जो सहयोग न करे एवं जो अपने क्षेत्रों की व्यवस्था अपनी इच्छानुसार करने का आग्रह करे। तदनुसार अधिनियम में यह निर्दिष्ट किया गया कि भूमि का प्रबन्ध उचित रूप से पर्याप्त एवं दक्ष होना चाहिये। क्षेत्र के किसी स्वामी अथवा अधिकारी को जिसका कार्य दक्षता के ईप्सित स्तर तक नहीं होता था, पर्यवेक्षणान्तर्गत रखा जा सकता था एवं यदि वर्ष भर में पर्याप्त विकास दृष्टिगोचर न होता तो उसे

अधिकारच्युत भी किया जा सकता था। उन कृषकों को भी निर्देश दिये जा सकते थे जो न अदक्ष थे न पर्यवेक्षण में किन्तु जिनके कार्य में सुधार की सम्भावनायें थीं।

भू-स्वामी का कृषक भाटकी को अपदस्थ करने का अधिकार इस अधिनियम द्वारा सीमित हो गया। कृषक को मन्त्री के समक्ष त्याग की सूचना के विरुद्ध पुनर्विचार की प्रार्थना करने का अधिकार था किन्तु सूचना मन्त्री की सहमति के बिना क्रियान्वित नहीं की जा सकती थी एवं यह निर्धारित कर दिया गया कि मन्त्री निर्णय करने मे पूर्व विचार करे कि क्या परिवर्तन का परिणाम अधिक दक्ष कृषि होगा। तथापि कुछ परिस्थितियों में अपदस्थ करने के हेतु मन्त्री की स्वीकृति अनिवार्य न थी। यदि कोई क्षेत्र निकृष्ट व्यवस्थित प्रमाणित कर दिया जाता था अथवा यदि कृषक दिवालिया हो जाता था या मर जाता था तो अपदस्थिति की जा सकती थी, (अन्तिम विकल्प का अर्थ यह था कि भूस्वामी मृत कृषक के पुत्र को पिता के स्थान पर भाटकी स्वीकार करने को बाध्य नहीं था।)

अधिनियम की एक और धारा लघुक्षेत्रों से सम्बद्ध थी। स्मरण-पत्र में यह निर्दिष्ट था कि लघुक्षेत्रों की व्यवस्था १६१४ से पूर्व "भू-क्षुधातृप्ति" एवं भूमिधर कृषकवाद की पुनःस्थापना को प्रोत्साहित करने को की गयी थी, १६१६ के पश्चात् भूतपूर्व सैनिकों के हितों में लघुक्षेत्रों की व्यवस्था की गई तथा और भी पीछे लघुक्षेत्रों को वृत्तिहीनता की समस्या के हल में सहायक समझा गया, आन्दोलन के सम्पूर्ण इतिहास में इनकी स्थापना का अन्तरिक उद्देश्य कृषि सम्बन्धी होने की अपेक्षा सामाजिक था एवं अब यह स्वीकार कर लिया गया है (जैसा इम अध्याय में पूर्वोल्लेख किया जा चुका है) कि इस आन्दोलन को अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई है, क्योंकि पूर्व कृषि-अनुभव अथवा प्रशिक्षण शून्य मनुष्यों से लघुक्षेत्रधारियों के रूप में सफल होने की आशा नहीं की जा सकती थी। शासन ने लघुक्षेत्रों के प्रश्न पर अपने दृष्टिकोण में सैद्धान्तिक परिवर्तन की घोषणा की कि भविष्य में उनकी व्यवस्था का निर्धारण सामाजिक विचारों की अपेक्षा कृषि-सम्बन्धित विचारों के आधार पर होगा। लघुक्षेत्र सीढ़ी के रूप में उपलब्ध होंगे जिनके द्वारा अनुभवी कृषिकर्मियों का अभ्युत्थान

हो सकेगा एवं वे अपने ही प्रयत्नों से क्षेत्रधर हो सकेंगे जब कि अप्रशिक्षित व्यक्तियों से जो भूमि से अपनी जीवन-वृत्ति निर्माण करना चाहते हों यह आशा की जायगी कि वे अपने स्वयं तथा कृषि के हित में क्षेत्र का निर्देशन ले लेने से पूर्व कृषि-कर्मी के रूप में अनुभव प्राप्त करें। इस कारण अधिनियम ने निर्देश, किया कि जिला परिषदें एवं जिला पौर परिषदें उचित भाटक पर कृषि-कर्मियों कृषकों के पुत्रों एवं कृषि के अनुभवी अन्य व्यक्तियों के हेतु लघुक्षेत्रों की व्यवस्था करें किन्तु भूतपूर्व सैनिकों को उस रूप में नहीं। इसने विभिन्न उपनियम बनाये एवं इस विषय में स्थानीय प्राधिकारियों की कार्यवाहियों पर बहुत अधिक मन्त्री-नियन्त्रण एवं पर्यवेक्षण के हेतु व्यवस्था की।

ग्रेट ब्रिटेन में उत्पन्न मक्खन एवं गोमांस का अधिकांशस्कॉटलैंड के उच्च प्रदेशों, वेल्स एवं उत्तरी इङ्गलैण्ड से आता है। इन उच्च प्रदेशों में ग्रीष्म में भेड़ों एवं पशुओं के हेतु चर भूमि (अधिकांश असम) का बाहुल्य है, शरद में पशु को निम्न भू-भागों में ले आया जाता है एवं शिशिर के निकृष्टतम काल में आश्रय स्थानों में एकत्रित कर दिया जाता है अथवा बन्द स्थानों में रखा जाता है। (दूध निकालना अनावश्यक है क्योंकि ये पर्वतीय गायें अपने बछड़ों को पिलाने से अधिक दूध नहीं देतीं।) भेड़ें वर्ष भर खुले में रहती हैं एवं पर्वतीय कृषि की समस्याओं में से एक इनके हेतु पर्याप्त चर भूमि की समस्या है जिससे इनकी बसन्त में अपने मेमनों के हेतु पर्याप्ल दूध देने के लिए अच्छी अवस्था रहे।

पहाड़ी खेती की अवस्था उन्नीसवीं शताब्दी में उचित रूप से सन्तोषप्रद नहीं रही है, किन्तु बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से इनमें तीव्र अधःपतन हुआ है। चर भूमि की उर्वरा शक्ति का ह्रास हो गया है, दक्ष चरवाहों का अत्यधिक अभाव हो गया है एवं तीव्र सर्दियों में प्रजनक भेड़ों की अत्यधिक हानि हुई है। पहाड़ी खेती के पतन को रोकने का महत्त्व १६३६-४५ में ज्ञात हुआ एवं प्रत्येक पहाड़ी भेड़ के सम्बन्ध में राजकीय आर्थिक सहायता ने इस उद्योग को चलता रहने योग्य बना दिया यद्यपि इससे पुनः समृद्धि की स्थिति उत्पन्न होने में कोई सहायता प्राप्त नहीं हुई। यह अस्थायी उपकरण ही सर्वस्व था जो कुछ किया जा सकता था किन्तु युद्धोपरान्त यह अनुभव किया गया कि

पहाड़ी खेती के हेतु एक दीर्घकालीन योजना की आवश्यकता है।

पर्वतीय कृषि अधिनियम १९४६ में उल्लेख कर दिया गया कि शासन स्वीकृत पुनस्संस्थापन व्यय का पचास प्रतिशत अनुदान देगा। ऐसी योजनाओं में रक्षा पेटियों के उगाने एवं पर्णाङ्गराज के काटने के अतिरिक्त उचित प्रक्षेत्र भवनों, चरवाहों के कुटीर, बाड़ों, शीताश्रयों, सड़कों, नालियों का प्रबन्ध करना सम्मिलित हो सकता है। योजनाओं के इन लक्षणों के अतिरिक्त जो आवश्यक हो सकते हों अथवा नहीं यह अत्यावश्यक था कि पर्वतीय कृषक उचित उर्वरकों के प्रयोग से अथवा हल चलाकर अनुत्तम चरक्षेत्र का पुनर्बीजण कर चर भूमि की श्रेष्ठता में सुधार की ओर लक्ष्य करे।

अधिनियम में उल्लिखित नीति के सकल परिणाम कुछ वर्षों तक दृष्टि-गोचर नहीं हो सकते। तथापि यह आशा की जाती है कि चरभूमि की एक निर्धारित पट्टी पूर्वापेक्षा कहीं अधिक, सम्भवतः पाँच छः गुना अधिक पशुओं तथा भेड़ों का पालन कर सकती है जब कि मेमने तथा बछड़े अधिक स्वस्थ होंगे। पहाड़ी खेती सम्पूर्ण पुनस्संस्थापन का परिणाम स्वदेशोत्पादित गोमांस, भेड़ के मांस एवं मेमनों के प्रदाय में उल्लेखनीय वृद्धि होना चाहिए।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि विगत सौ वर्षों में कृषि के उत्थान एवं पतन के कारण मनुष्य भूस्वामित्व की सम्पूर्ण पद्धति पर शंका करने लगे हों। कभी-कभी यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि भू-स्वामित्व की वर्तमान पद्धति कृषि की समृद्धि के प्रतिकूल हैं एवं आधुनिक भू-स्वामियों में से कुछ, एक शताब्दी पूर्व वालों के विपरीत केवल भाटक प्राप्त करने वाले हैं[1] जिन्हें कृषि की अवस्थाओं के विषय में अल्पज्ञान एवं रुचि है। यह निश्चित रूप से सभी भूस्वामियों के विषय में सत्य नहीं है, एवं, यद्यपि मजदूर दल ने भूतकाल में

---

१. यह स्वीकार कर लिया गया है कि उन्नीसवीं शताब्दी का चाकर केवल भाटक प्राप्त करने वालों से कहीं अधिक होता था। सामान्यतया वह कुशल कृषि-कर्मी एवं सम्पत्ति प्रबन्ध में पूर्ण ज्ञानवान होता था। वह अपनी आय का महत्त्वपूर्ण भाग सम्पत्ति में सुधार के हेतु लगा देता था एवं वह अपने भाटकियों के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध बनाये रखता था जिसका कृषि की सफलता पर निश्चित प्रभाव पड़ता है।

भूमि के राष्ट्रीयकरण[1] की वकालत की है, तथापि उपरिवर्णित कृषि अधिनियम में इस नीति को क्रियान्वित नहीं किया गया है। किन्तु यद्यपि भूमि का स्वामित्व व्यक्तियों के हाथों में रहा है, स्वामी (अथवा उसके भाटकी) को जैसा वह उचित समझे उसी प्रकार भूमि के उपयोग अथवा दुरुपयोग का कोई अधिकार नहीं है। वैयक्तिक अधिकार जनहित के अधीन हैं एवं भूमि के उपयोग में स्वामी (अथवा भाटकी) राजकीय नियन्त्रण के अधीन है तथा यह अकल्पनीय है कि समय निकलने के साथ नियन्त्रण के अंश में ह्रास होगा।

---

१. भूमि के राष्ट्रीयकरण के पक्ष-विपक्ष पर यहाँ विचार नहीं किया जा सकता। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस नीति के विरोधी कृषि के अन्ततः नाश की भविष्यवाणी करते हैं यदि यह नौकरनाशी नियन्त्रण के अन्तर्गत रही जब कि इसके पक्षपातीगण दो युद्धों में राजकीय नियन्त्रण की स्थिति में बहुत अधिक अंशों में प्राप्त सफलता की ओर निर्देश करते हैं।

चौबीसवाँ अध्याय

१६८८-८९ की क्रान्ति के पश्चात् राष्ट्रीय वित्त

आँग्ल देश के राजनीतिक इतिहास में १६८८-९ की क्रान्ति का महत्त्व संसद् की असंदिग्ध सर्वोच्चता के निर्माण में निहित है। वैधानिक संघर्ष में, जो स्टुअर्ट काल का विशिष्ट लक्षण है, संसद् ने सम्राट् पर विजय पायी; एतद्पश्चात् विधान राजाज्ञा पर विजयी हुआ। राष्ट्रीय वित्त के क्षेत्र में इसके महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले।

प्रारम्भिक काल में विशेष अनुदान की स्वीकृति में संसद् की प्रकट कृपणता का कारण सदैव ही राष्ट्रीय आवश्यकताओं के गुणावगुण ज्ञान का अभाव नहीं था। राजकीय नीति से असहमति अथवा अलोकप्रिय मंत्री की वियुक्ति (पदमुक्ति) की इच्छा होने पर लोक सदन अपने उद्देश्य की पूर्ति के हेतु राजा की अनिवार्यताओं का लाभ उठाता था। १६८९ के पश्चात् उद्देश्य प्राप्ति के साधन रूपों में वित्त का उपयोग अनावश्यक हो गया तथा मंत्रियों का संसद् के प्रति उत्तरदायित्व सिद्धान्त दृढ़तापूर्वक स्थापित हो जाने के कारण ऐसे वित्तीय कार्यों पर, जो राज्य की सुरक्षा एवं योगक्षेम के हेतु आवश्यक थे, लोक सदन की स्वीकृति तत्काल उपलब्ध हो जाती थी।

क्रान्ति के पश्चात् राजकीय आय को एक निधि मानने की अब तक प्रचलित पद्धति से विच्छेद करने का निर्णय किया गया जिसमें से सम्पूर्ण शासन-व्यय वहन किया जाता था। एतद्पश्चात् राजा के परिचारक वर्ग के आय-व्यय प्रशासन कार्यों पर सामान्य व्यय से पृथक् कर दिये गए। राजा को एक निश्चित वार्षिक धन निर्दिष्ट कर दिया जाता था, जो नागरिक सूची कहलाता था तथा राजा को राज्यारम्भ पर ही आजीवन स्वीकृत कर दिया जाता था। प्रशासनिक व्यय जो प्रदाय सेवायें कहलाता था आवश्यकतानुसार समय-समय पर संसद् द्वारा स्वीकृत कर दिया जाता था तथा एतदुद्देश्यीय अनुदान शीघ्र ही वार्षिक हो

गये ।[1] प्रदायों के नियोजन का सिद्धान्त शासन-काल में प्रतिपादित हो जाता था अतः जिसके लिए अनुदान हुआ है उसके अतिरिक्त अन्य उद्देश्यों पर धन का उपयोग अवैधानिक हो जाता था। सार्वजनिक लेखा-परीक्षण का एक प्रयत्न किया गया; विलियम तृतीय संसद् के समक्ष राष्ट्रीय लेखे प्रस्तुत करने को सहमत था यदि उनकी आवश्यकता हो जिससे यह सन्तुष्ट हो जाय कि जो वित्त स्वीकृत किया गया है वह उचित रूप से व्यय हुआ है। तथापि अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक लेखा-परीक्षण की कोई नियमित एवं सन्तोष-प्रद व्यवस्था नहीं हुई।

विलियम तृतीय के शासन-काल में फ्रांस से युद्ध होने के कारण राष्ट्रीय व्यय में तीव्र गति से वृद्धि हुई। राज्य की आय मुख्य रूप से चुंगी एवं उत्पाद-करों से थी जो बहुत अधिक भारी हो गये थे अतः मॉण्टेग्यू ने १६९२ में एक प्रकार का प्रत्यक्ष कर—भूमि कर—प्रारम्भ किया। यह कर भूमि के वार्षिक मूल्य पर चार शिलिंग प्रति पौंड था जिससे इस दर से लगभग २०,००,००० पौंड प्रतिवर्ष मिलता था।

तथापि जितना धन करों द्वारा प्राप्त किया जा सकता था उससे अधिक धन की आवश्यकता थी अतः ऋण लेने का उपाश्रय ग्रहण करना पड़ा। पूर्व-काल में राजाओं ने बार-बार ऋण लिये थे किन्तु वे दायित्वों की पूर्ति में सदैव समय के पाबन्द न थे। राजकीय प्रतिभूति वास्तव में श्रेष्ठ प्रतिभूति नहीं थी अतः ऋणदाता सामान्यतः बहुत ऊँची व्याज दर माँगते थे। जैसा पूर्वोल्लेख कर दिया गया है लन्दन के स्वर्णकारों ने, जिन्होंने सत्रहवीं शताब्दी में अधिकोषण व्यवसाय का निर्माण किया था, चार्ल्स द्वितीय को विपुल राशि में ऋण दिये जिसने १६७२ में अपने ऋणदाताओं को कोष में से प्रतिदान स्थगित कर दिया। जो व्याज इस समय देय था उसका मूलधन में योग कर दिया गया जो ऋण क्रान्ति के समय तक भी देय था।

क्रान्ति पश्चात् के ऋणों में पूर्वकालीन ऋणों से यह अन्तर था कि वे संसद् द्वारा प्राधिकृत थे जो समस्त ऋणों पर व्याज के प्रतिदान का दायित्व

---

१. इस महत्त्वपूर्ण वैधानिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप संसद् की प्रतिवर्ष बैठक होना आवश्यक हो गया।

लेती थी। क्रान्ति के पश्चात् ही आगामी वर्षों में धन कुछ शुल्कों की प्रतिभूतियों पर ऋण लिया गया जिनसे प्राप्त राशि मूलधन एवं व्याज के प्रतिदान हेतु निर्धारित की गयी। किन्तु १६६३ में अर्थ विनियोक्ताओं से १२,००,००० पौं० उधार लिये गये जिन्हें एक अधिकोष निर्माण करने की राजाज्ञा प्रदान की गयी जिसका नाम बैंक आफ इङ्गलैण्ड रखा जाना था। ऋण पर आठ प्रतिशत व्याज का वचन दिया गया किन्तु मूलधन के प्रतिदान के विषय में कोई प्रतिभूति नहीं दी गई थी। इस प्रकार यह सञ्चित निधि का प्रारम्भ था।[1] इसी प्रकार के अन्य ऋण एक के पश्चात् एक शीघ्रतापूर्वक लिये जाते रहे एवं १६६७ तक, जब फ्राँस से होने वाला युद्ध समाप्त हो गया, राष्ट्रीय ऋण राशि २,१०,००,००० पौं० हो गई थी। शासन-काल के अन्त तक यह घटकर १,६०,००,००० पौं० हो गया था किन्तु स्पेनिश उत्तराधिकार युद्ध के कारण जो रानी एन के लगभग सम्पूर्ण शासन-काल तक चलता रहा यह ऋण बढ़कर ५,४०,००,००० पौं० हो गया।

ऋण की इस परिमाण में विद्यमानता जार्ज प्रथम के शासन-काल के उदारदलियों के लिए एक गम्भीर चिन्ता का विषय बन गयी। वे अनुभव करने लगे कि राष्ट्र तब तक समृद्ध नहीं हो सकता जब तक इस ऋण का शोधन नहीं हो जाता। इस ऋण में समय-समय पर असंख्य व्यक्तियों से उधार लिये गये धन सम्मिलित थे जिन पर ब्याज दर पाँच से आठ प्रतिशत थी। यद्यपि शासन पर ऋण के मूलधन के प्रतिदान का कोई बन्धन न था तथापि ब्याज का शोधन राष्ट्रिय संसाधनों पर अत्यधिक भार था। दक्षिणी सामुद्रिक प्रमण्डल जिसका निर्माण १७११ में हुआ था एवं जिसे यूट्रेक्ट की सन्धि के अन्तर्गत प्राप्त सुविधाएँ अर्पित कर दी गई थीं अपने क्षेत्र की वृद्धि करना चाहता था। इसने शासन के समक्ष प्रस्तावित किया कि इसे इस राष्ट्र के

---

१. अनिधिबद्ध ऋण उन अस्थायी उधारों से निर्मित हुआ था जिसके विषय में यह अनुमान किया जाता जाता था कि इसका एक सीमित समय में शोधन हो जायगा। अर्वाचीन वर्षों में अनिधिबद्ध ऋण करों से प्राप्ति की आशा में निर्गमित को कोषागार विपत्रों से निर्मित हुआ है। ऐसा होता है कि शासन-व्यय सम्पूर्ण वित्तीय वर्ष में समान रहता है जबकि आय का अधिकांश वर्षान्त में प्राप्त होना है।

सम्पूर्ण वैदेशिक व्यापार का एकाधिकार प्रदान कर दिया जाय जिसके फल-स्वरूप इसने राज्य का एकल ऋणदाता बन जाने एवं पाँच प्रतिशत की समान दर १७२७ के पश्चात् चार प्रतिशत व्याज दर से सन्तुष्ट हो जाने का प्रस्ताव किया। इसने सुझाव दिया कि शासन के वर्तमान ऋणदाताओं को दक्षिणी सामुद्रिक प्रमण्डल के राजकीय विधि-पत्रों के सममूल्यवान अंश प्रस्तावित किये जायँ एवं जो इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दें उनका शोधन कर दिया जाय जिस उद्देश्य के हेतु प्रमण्डल ने शासन को ७५,००,००० पौं० राशि प्रस्तावित की। प्रस्ताव वास्तव में जिसे आज परिवर्तन-उधार कहा जा सकता है उसे क्रियान्वित करने को था। राज्य को तात्कालिक लाभ वार्षिक व्याज प्रभार में कमी हो जाना था; यह अनुमान किया गया था कि इस प्रकार लगभग दस लाख प्रति वर्ष की बचत हो जायगी। शासन से लेनदारों को पुष्कल लाभांशों की प्राप्ति से लाभ होगा जो प्रमण्डल प्रदान करने की आशा करता था। प्रमण्डल अतिरिक्त व्यापारिक विशेषाधिकारों से विशाल लाभार्जित करने को था।

यहाँ तक सौदे में कोई अन्तर्निहित दोष नहीं था यद्यपि प्रमण्डल द्वारा पूर्वावधारित लाभ होना सम्भव नहीं था। जनता में उपार्जन की सम्भावनाओं से अत्यधिक उत्तेजना व्याप्त हो गई एवं दक्षिणी सामुद्रिक प्रमण्डल के अंशों के मूल्य में वृद्धि हो गई यहाँ तक कि मुक्त बाजार में १०० पौं० प्रति अंश के मूल्य १,००० पौं० से अधिक उद्धृत थे अपव्ययी अर्थ विनियोक्ताओं ने लोकोत्तेजन का अन्य प्रमण्डलों के निर्माण के हेतु लाभ उठाया जो निश्चित रूप से प्रतारणापूर्ण थे। शासन से आज्ञापत्र प्राप्त किये बिना ऐसे प्रमण्डलों का निर्माण तत्कालीन विधि के अनुसार अवैधानिक था तथा दक्षिणी सामुद्रिक प्रमण्डल ने उनमें से कुछ पर अभियोग भी लगाये। यह बुदबुद की भाँति समाप्त हो गया। इन प्रमण्डलों के अंशों को मूल्यहीन समझ लिया गया एवं इसके संस्थापक अपने शिकारों को विनष्ट दशा में छोड़कर भाग गये। किन्तु इस सार्वत्रिक ध्वंस से स्वयं दक्षिणी सामुद्रिक प्रमण्डल को हानि उठानी पड़ी। अल्पकाल में ही इसके पूँजी के अंशों का मूल्य १,००० पौंड से अधिक से १७५ पौंड हो गया तथा वहुत से मनुष्य नष्ट हो गये। लोक-विश्वास अत्यधिक कम्पित

हो गया एवं इसकी पुनःस्थापना में कुछ समय लगा। इस दुर्घटना का यह सम्भवतः निकृष्टतम दुष्प्रभाव था। शासन ने राष्ट्रिय ऋण का नियन्त्रण एवं उसके प्रति दायित्व पुनः ग्रहण कर लिया तथा दक्षिणी सामुद्रिक प्रमण्डल उसके पूर्वकालीन कार्य-क्षेत्र तक सीमित कर दिया गया।

सर रॉबर्ट वालपोल ने राष्ट्रिय ऋण के शोधन के हेतु दस लाख पौंड प्रति वर्ष की एक शोधन-निधि की स्थापना की। यदि उसने इसे अपने कार्यकाल में निरन्तर रखा होता तो ऋण कम से कम आधा हो जाता। किन्तु ऋण का शोधन अलोकप्रिय एवं मन्दा होता है अतः वालपोल ने राष्ट्रिय व्यय के स्तर में कमी करने को उत्सुक होने के कारण शोधन-निधि पर बार-बार प्रहार किये। तथापि उसने अपने २० वर्षीय शासन-काल में ऋण में लगभग ४० से ५० लाख पौंड तक कमी कर दी। उसके पद-त्याग के समय सम्पूर्ण दायित्व ४,७०,००,००० पौंड था।

वालपोल की महत्ता वित्त एवं व्यापार के क्षेत्र में अति स्पष्ट दृष्टिगोचर हुई। उसने अनुभव किया कि देश की समृद्धि में इसके व्यापार के विकास से सुनिश्चित प्रगति होगी जिसमें आयात एवं निर्यात की सहस्रों वस्तुओं पर शुल्क होने के कारण बाधाएँ उपस्थित थीं। यद्यपि उसे उन्मुक्त व्यापारवादी कहना काल गणना भ्रम होगा (वह वैल्थ आफ नेशंस के प्रकाशन से अर्द्ध शताब्दी पूर्व शासनारूढ था) तथापि यह सम्भव है कि वह हृदय से ऐसा था। वह ऐसे समय उन्मुक्त व्यापार-प्रणाली की स्थापना करने एवं समस्त शुल्क हटा देने वाला व्यक्ति नहीं था जबकि व्यापारी समुदाय विद्यमान प्रणाली की विद्यमानता को राष्ट्रिय समृद्धि के हेतु तब भी अत्यावश्यक समझता था। यदि उसने उन्मुक्त व्यापार के विषय में विचार भी किया होगा तो उसे सम्भवतः अलभ्य आदर्श समझा होगा जिस दिशा में समय-समय मन्थर प्रगति आशातीत थी। उसने बहुत सी वस्तुओं पर से शुल्क हटा दिये एवं अन्य बहुत सी वस्तुओं पर कर में कमी कर दी। उसने यह अनुभव कर लिया कि शुल्क की दर में कमी का परिणाम किसी वस्तु के उपयोग में इतनी वृद्धि करेगा कि ऊँची दर की अपेक्षा नीची दर से अधिक प्राप्ति हो सकेगी। प्रत्येक अवस्था में नीची दर का परिणाम व्यापार में वृद्धि, व्यापक समृद्धि एवं दीर्घकाल में अधिक राजस्व होगा।

१७२४ में उसने चाय तथा कहवा के हेतु करदेय भांडागारों की स्थापना की। यह उन वस्तुओं के आयातकों के हेतु अत्यधिक लाभप्रद था। अब तक चाय तथा कहवा पर शुल्क तब देना होता था जब माल देश में पहुँच जाय। यद्यपि उनके विक्रय किये जाने तथा क्रेताओं से शुल्क-राशि वसूल होने में कुछ मास लग सकते थे। अतः आयातकों की पूँजी अधिकांशतः इस प्रकार अवरुद्ध हो जाती थी। नवीन प्रणाली के अन्तर्गत माल के आने पर इसे भाण्डागार में उतार लिया जाता था जो वहाँ तब तक रखा रहता था जब तक फुटकर व्यापार के हेतु आवश्यक नहीं हो एवं उसे भाण्डागार से आवश्यकतानुसार अल्प-मात्रा में समय-समय पर निकाला जा सकता था तथा केवल निकाली जाने वाली वस्तुओं पर शुल्क प्रदान करना होता था। योजना इतनी सफल रही कि १७३३ में वालपोल ने इसका विस्तार तम्बाकू तथा मदिरा तक करने का प्रस्ताव किया। दुर्भाग्यवश जिस विधेयक में यह सुझाव दिया गया था उसका नाम उच्छुल्क विधेयक रखा गया। उच्छुल्क अपने रूप में अलोकप्रिय था अतः विधेयक के उद्देश्यों के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणायें एवं कथन फैल गये। इतना अधिक विरोध किया गया कि विधेयक पारित नहीं हुआ।

सार्वजनिक व्यय में कमी तथा परोक्ष करों में सुधार करके वालपोल भूमि कर की दर को एक शिलिंग की तीन क्रमिक कमियाँ करके चार शिलिंग प्रति पौंड से एक शिलिंग प्रति पौंड करने में समर्थ हो गया। उच्छुल्क विधेयक को पारित करवाने में उसकी असफलता से एक शिलिंग हटालने एवं इस प्रकार भूमि-कर की समाप्ति में बाधा उत्पन्न हो गई।

अठारहवीं शताब्दी के मध्य में युद्ध-काल के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय ऋण में अभिवृद्धि हो गई। १७४८ में आशेन की शान्ति के पश्चात् यह ७,८०,००,००० पौंड था किन्तु देश में इतनी अधिक समृद्धि थी कि १७४९ में हैनरी पैल्हाम ने ऋण-परिवर्तन करवा लिया जिसके अनुसार विभिन्न ऋणों को समेकित कर दिया गया जिस पर ३$\frac{1}{2}$% से अधिक ब्याज नहीं देना था जिसे घटा कर शीघ्र ३% कर दिया गया। १७५६ में सप्तवर्षीय युद्ध के प्रारम्भ में ऋण राशि ७,२०,००,००० पौंड थी जो इसकी समाप्ति पर १६,००,००,००० पौंड हो गई थी। बीस वर्ष पश्चात् अमेरिकन स्वातन्त्र्य युद्ध के अन्त में यह २५,००,००,००० पौंड की विशाल राशि हो गई थी।

जब छोटा पिट १७८३ में प्रधान मन्त्री हुआ उसके समक्ष अमेरिकन युद्ध की क्षतियों के पश्चात् राष्ट्रिय समृद्धि एवं प्रतिष्ठा की पुनःस्थापना का कार्य था। राष्ट्रीय साख घटी हुई थी तथा राजकीय विभिपत्रों का मूल्य सत्तावन से अधिक न था। कर-प्रणाली भारपूर्ण थी एवं तस्कर व्यापार तट के चारों ओर व्याप्त था। पिट के अधिकार ग्रहण से पूर्व प्रति वर्ष आय-व्ययक सन्तुलित नहीं हो रहा था। स्थिति का परिष्कार केवल ऐसे ही राजनीतिज्ञ द्वारा सम्भव था जो राष्ट्रिय वित्त के सम्पूर्ण आधार में संशोधन करने को प्रस्तुत हो। पिट जो एडम स्मिथ का अनुयायी था, इस कार्य के लिए योग्य सिद्ध हुआ। वह व्यापारवाद के सम्पूर्ण सिद्धान्त पर अविश्वास करने पर अभिनत था एवं यद्यपि राष्ट्र इसके त्याग के हेतु अभी प्रस्तुत नहीं था तथापि उसने अप्रत्यक्ष कर-प्रणाली में अति महत्त्वपूर्ण कमियाँ कर दीं। उदाहरणार्थ, चाय पर शुल्क ११९% से घटाकर १२½% यथामूल्य कर दिया गया। स्वाभाविकतः तात्कालिक प्रभाव राजस्व की हानि हुआ एवं यद्यपि पिट को आशा थी कि व्यापार वृद्धि के कारण देश की बढ़ती हुई समृद्धि अन्ततः अधिक आय में परिणत होगा उसे अपने प्रारम्भिक आय-व्ययकों के घाटे की पूर्ति ऋण लेकर करनी पड़ी। उसने इस सम्बन्ध में नवीन पद्धति का प्रयोग किया। उसके समय से पूर्व जब आवश्यकता होती थी तब मन्त्रियों के मित्रों से निजी पत्र-व्यवहार द्वारा ऋण संचित किया जाता था तथा जो इस कार्य को पूर्ण करने से सम्बद्ध होते थे वे लोक-हानि करके अत्यधिक लाभार्जन कर लेते थे। पिट ने, जो ऐसी किसी भी वस्तु का निन्दक था जिसमें स्वल्प भ्रष्टाचार की भी गन्ध हो, ऋणों को लोक-विविदों के हेतु प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया।

राजस्व में वृद्धि करने के हेतु उसने कर्मचारियों, घुड़दौड़ के घोड़ों, गाड़ियों, टोपों, कागज, स्वर्ण एवं रजत पट्टों, वातायनों एवं अन्य वस्तुओं पर प्रत्यक्ष करों की योजना बनाई। क्योंकि कुटीर वातायन कर से मुक्त थे अतः यह स्पष्ट है कि निर्धारित करों का भार लगभग अधिकांशतः समृद्ध मनुष्यों पर था। चुंगी का संग्रहण वस्तुओं के वर्गीकरण में सरलीकरण तथा करदेय भांडागार प्रणाली के विस्तार से सरल हो गया। शुल्क की आय का पूर्वानुसार विभिन्न लेखों में लेखन भविष्य में नहीं रहा जिसमें से विभिन्न व्यय-पद प्रभारित होते

थे। १७८७ के पश्चात् चुंगी की आय सहित समस्त राष्ट्रीय राजस्व संचित निधि नामक लेखे में प्रदान कर दिया जाता था। आय-व्यय के वार्षिक पक्के चिट्ठे का इस प्रकार निर्माण सम्भव हो गया। १७८५ में पाँच आयुक्तों के एक निकाय की सार्वजनिक लेखा परीक्षण के हेतु स्थापना की गई।[1]

पिट ने राष्ट्रिय ऋण भार पर प्रहार किया। वालपोल द्वारा स्थापित शोधन-निधि अब भी विद्यमान थी किन्तु कई वर्षों से इसका मौलिक उद्देश्य रुक गया था। इस पर विभिन्न प्रकार के शोधनों का भार पड़ा हुआ था तथा इसमें से ऋण-शोधन के हेतु बहुत कम राशि उपलब्ध थी। पिट ने नवीन शोधन-निधि की स्थापना की। दस लाख पौंड धन-राशि प्रतिवर्ष उत्साहित की जानी थी जिसका आयुक्त राजकीय निधि-पत्रों के क्रय के हेतु उपयोग करते थे। निधि-पत्रों का निरसन नहीं किया जाता था किन्तु उन पर ब्याज चलता रहता था जो आयुक्तों को प्रदान किया जाता था। दस लाख वार्षिक के अतिरिक्त इस धन का भी इसी प्रकार उपयोग किया जाना था। कालान्तर में समस्त निधि-पत्र आयुक्तों के हाथों में आ जायँ तब उनका निरसन कर दिया जाय। योजना ऋण-शोधन के दृढ़ विचार के सांकेतिक रूप में प्रशंसनीय थी किन्तु वित्तीय दृष्टि से यह तभी सुदृढ़ होगी जब कर-प्रणाली द्वारा नवीन ऋण का आश्रय लिये बिना धन-राशि एकत्रित करली जाय। यदि शान्ति अथवा युद्ध में ऋण का आश्रय ग्रहण करना ही पड़ा तो ऋण कोष जितनी तीव्रता से ही वढ़ जायगा। अपने मन्त्रित्व काल के दस वर्षों में किये गए वित्तीय सुधारों का सामान्य प्रभाव इस तथ्य से ज्ञात हो सकता है कि १७९२ में ३% निधि-पत्रों का मूल्य ९७ बताया जाता था।

फ्रांसीसी क्रान्ति के युद्ध-काल में आद्यपर्यन्त स्वप्न में भी न आने वाली मात्रा में धन की आवश्यकता थी। तथापि युद्ध के प्रारम्भिक वर्षों में कर-प्रणाली में स्वल्प वृद्धि हुई तथा सञ्चित निधि निरन्तर रही। उस समय पिट ने यह अनुभव नहीं किया था कि युद्ध दीर्घ काल तक चलेगा अतः वह देश की बढ़ती हुई स ृ को अत्यन्त भारवह कर-प्रणाली से कम नहीं करना

---

१. १८६६ में उनके स्थान पर नियन्त्रक महालेखा परीक्षक नियुक्त किया गया।

चाहता था। यद्यपि शोधन-निधि यथार्थतः केवल शान्ति काल में ही वित्तीय दृष्टि से प्रतिवाद, योग्य थी जब राष्ट्रीय आयव्यय से अधिक हो एवं कोई ऋण नहीं लिया जा रहा हो तथापि पिट ने इसे स्वल्पकालीन युद्ध समझने के कारण हस्तक्षेप करना अनावश्यक समझा। उसने १७९७ में लगाये गये करों में वृद्धि कर दी एवं आगामी वर्ष में सावधानीपूर्वक बढ़ती हुई श्रेणियों के अनुसार आयकर लगा दिया गया। कर साठ पौंड प्रति वर्ष अथवा अधिक आय पर प्रदाय था एवं यद्यपि निम्नतम आय पर कर दो पैंस प्रति पौंड से अधिक न था यह दो सौ पौंड प्रति वर्ष अथवा अधिक आय पर दो शिलिंग प्रति पौंड था। इसे निश्चित रूप से युद्ध-कर समझा गया था जिसके विषय में धारणा थी कि शान्ति स्थापना पर इसे हटा दिया जायगा। यह बहुधा दृढ़तापूर्वक कहा गया है कि पिट ने इस कर को पूर्व काल में ही न लगाने की भूल की। यदि उसने ऐसा किया होता तो उसने इतनी स्वतन्त्रतापूर्वक ऋण नहीं लिये होते। किन्तु उसके आलोचक यह भूल जाते हैं कि युद्ध की प्रारम्भिक अवस्थाओं में राष्ट्र उसके विचार का समर्थक था कि संघर्ष स्वल्पकालीन होगा अतः संभवतः भारी कर लगाने पर सहमति नहीं प्रकट करता।

पिट की नीति का, जिसकी सर्वाधिक आलोचना हो चुकी है, लक्षण उसकी ऋण लेने की प्रणाली थी। जैसे एक के पश्चात् दूसरा ऋण लिया जाता था वैसे शासन को प्राप्त धन पर अधिक ऊँची ब्याज दर से शोधन करना होता था। फिर भी पिट ३% ब्याज दर पर बारं-बार ऋण लेता रहा तथा उसे भारी बट्टा देना पड़ा। १७९३ से १८०२ तक १०० पौंड के ऋण पत्र का माध्य मूल्य ५७ पौंड था तथा नैपोलियन के युद्धों के समय यह ६० पौंड था। यदि उसने ५% अथवा ६% ब्याज पर सममूल्य पर ऋण-पत्रों का निर्गमन किया होता तो युद्ध के अन्त में ऋण का निष्परिसंपद अत्यल्प हुआ होता। वार्षिक ब्याज प्रभार भी अधिक नहीं हुआ होता तथा शान्ति के आगामी वर्षों में परिवर्तन ऋणों की सहायता से इसे बहुत कम किया जा सकता था।[1]

---

१. इस प्रश्न को वास्तविक अङ्कों पर विचार करके हल किया जा सकता है। यदि पिट, अनुमान कीजिये, ३०,००० पौंड लेना चाहता था तो उसने ३%

पिट के क्षमायचकों का तर्क रहा है कि वह अपनी ऋण-नीति के राष्ट्रिय वित्त पर प्रभाव के विषय में पूर्णतया सजग था. किन्तु उसके समक्ष और कोई विकल्प न था। पिट ऋण लेने वाला था अतः उसे उन लोगों को स्वीकार्य प्रतिबन्धानुसार चलना था जो देने योग्य थे। ऐसा कहा जाता है कि लंदन नगर के धनवान मनुष्य पाँच-छः प्रतिशत ब्याज दर से भी सम मूल्य पर उधार देने को इच्छुक नहीं थे। वे अपने ऋण-पत्र पर ३% व्याज लेना तथा साठ पर ऋण देना अधिक श्रेष्ठ समझते थे अतः पिट के समक्ष इस विषय में कोई विकल्प न था। किन्तु यदि यह तर्क इस बात की स्वीकृति है कि वित्तीय स्वार्थ शासन को नियन्त्रित करने में समर्थ रहे एवं यदि यह सत्य है तो यह पिट की प्रतिष्ठा पर कलंक के समान है। पिट केवल उधार लेने वाला ही नहीं था, वह प्रधान मन्त्री भी था एवं अर्थ-विनियोक्ताओं को सरल सूचना कि अर्थ की व्यवस्था चाहे वह राज्य को स्वीकार्य शर्तों पर ऋण द्वारा अथवा वास्तव में अति व्यापक आधार पर प्रत्यक्ष कर द्वारा की जानी चाहिए उनकी बुद्धि ठिकाने कर देती।

फ्राँसीसी क्रान्ति के युद्ध की समाप्ति के समय ऋण राशि लगभग ५३,००,००,००० पौंड थी। नैपोलियन ये युद्ध केवल तेरह मास की अवधि के पश्चात् प्रारम्भ हो गया। युद्ध एवं नौ-सेना व्यय उतने ही विशाल परिमाण में आवश्यक हो गया। मित्रों की सहायता की उसी नीति का अनुसरण किया गया, ऋण लेने में उन्हीं सिद्धान्तों का पालन किया गया तथा कर-प्रणाली की उसी

ब्याज वाले ५०,००० पौंड के ऋण-पत्रों का निर्गमन किया। अनुमान कीजिये कि उसका ६० पर विक्रय होता है अतः प्राप्त धन-राशि ३०,००० पौंड हो गयी। इस सौदे में वार्षिक ब्याज प्रभार २,५०० पौंड होगा तथा राष्ट्र के दायित्व ५०,००० पौंड तक बढ़ जायेंगे।

वह ५% ब्याज पर ३०,००० पौंड के ऋण-पत्रों का निर्गमन कर सकता था। विक्रय मूल्य १०० पौंड या लगभग इतना ही रहा होता। प्राप्त धन ३०,००० पौंड हुआ होता एवं वार्षिक ब्याज प्रभार पूर्ववत् १,५०० पौंड रहा होता। किन्तु राष्ट्रीय ऋण केवल ३०,००० पौंड हुआ होता एवं आगामी वर्षों में ५% ऋण-पत्र का परिवर्तन ३% के ऋण-पत्र की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से होता।

योजना को क्रियान्वित किया गया जो फ्राँसीसी क्रान्ति के युद्ध में किये गये थे। १८१५ में ग्रेट ब्रिटेन का निधिबद्ध ऋण ८३,१० लाख पौंड एवं अनिधिबद्ध ऋण ४,७० लाख पौंड था।

शान्ति की स्थापना के पश्चात् किये गये कार्यों में से प्रथम १८१६ में आयकर की समाप्ति करना था। यद्यपि इसका हटाया जाना उस समय दिये गये वचन के अनुसार था जो इसके सर्वप्रथम लगाते समय दिया गया था तथापि युद्ध-कर-प्रणाली को तब तक निरन्तर रखा जाना उचित होता जब तक ऋण युद्ध-पूर्व स्तर तक कम नहीं कर दिया जाय। किंतु विरोधी दृष्टिकोण प्रभावशाली रहा एवं इसे पूर्णतः समाप्त कर दिया गया। यद्यपि इसे अपनी पहले की दर से आधी करने का प्रस्ताव परास्त कर दिया गया। तथापि राष्ट्रिय आय में किसी प्रकार वृद्धि करनी थी एवं राजस्व के प्रमुख प्रत्यक्ष साधन की समाप्ति के साथ इसे परोक्ष कर-प्रणाली द्वारा प्राप्त करना था। सहस्रों वस्तुओं पर कठोरतम शुल्क लगा दिये गये तथा इन करों का भार अति निर्धन व्यक्तियों को वहन करना होता था तथा इससे उनके जीवन की कठोरताओं में अभिवृद्धि हुई। फ्राँसीसी क्रान्ति के युद्ध के पूर्व वार्षिक राष्ट्रिय आय-व्यय लगभग १८० लाख पौंड था जो युद्ध के अन्तिम वर्ष १८१५ में १०,०० लाख पौंड से अधिक था। १८१६ में वह घट कर ६,६० लाख पौंड हो गया जिसमें से ऋण पर व्याज ३,१० लाख पौंड था।

निर्बाध व्यापार आन्दोलन पुनःजाग्रत हो गया जब १८२३ में हस्किसन व्यापारमण्डल का अध्यक्ष बना। उसने निर्यात पर आर्थिक सहायता समाप्त कर दी तथा बहुत से निषेधात्मक एवं असीमित शुल्कों में कमी कर दी किन्तु राष्ट्रिय वित्त-प्रणाली में पिट के द्वितीय मन्त्रिमण्डल १८४१-६ से पूर्व कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किये गये। पिट द्वारा स्थापित सञ्चित निधि का १८२६ में परित्याग किया गया तथा यह प्रबन्ध किया गया कि आयव्ययक की बचत प्रति वर्ष निष्क्रयण के हेतु रख दी जाय, किन्तु १८३०-४१ के ह्विग काल के अधिकांश वर्षों में घाटा रहा एवं ऋण की सम्पूर्ण राशि लगभग ८० लाख पौंड बढ़ गई।

पील जब १८४१ में प्रधान मन्त्री बना तब वह राष्ट्रिय वित्त की सम्पूर्ण प्रणाली को नये ढाँचे में ढालने को कटिबद्ध था। १८४२ में उसने कच्चे माल की वस्तुओं के विशाल परिमाण पर से शुल्क हटा लिया एवं १,२०० में से ७५० वस्तुओं पर शुल्क में कमी कर दी गई जिन्हें पूर्णतः या अंशतः निर्मित वर्ग में रखा गया था। उसने निर्यात पर से भी बहुत से शुल्क हटा दिये। ऐसी प्रक्रिया से अनिवार्यतः राजस्व का भारी त्याग करना पड़ा जिसके विषय में पील को दृढ़ विश्वास था कि अन्ततः इसकी पूर्ति बढ़े हुए व्यापार से हो जायगी। एक या दो वर्षों के हेतु हानि निश्चित थी तथा पील का विचार इस संक्रमण काल को तीन वर्ष के हेतु ७ पें० प्रति पौंड की दर से १५० पौंड या अधिक सभी वार्षिक आय पर आयकर लगाकर पार करने का था। यह एक अस्थायी कर था एवं इसका हटाया जाना सम्भाव्य था जब प्रणाली में परिवर्तन के सभी लाभ उपलब्ध हो जायँ। १८४३ में अत्यधिक घाटा हुआ क्योंकि इस वर्ष के लेखों में केवल छः मास का आयकर सम्मिलित था किन्तु आगामी वर्ष २० लाख पौंड की बचत रही। १८४५ में आयकर के हटाये जाने का समय आ गया किन्तु पील के प्रयोग ने अपनी उपयोगिता पूर्णतः सिद्ध कर दी थी अतः उसने एक और शुल्क समूह को हटाकर इस कर को आगामी कुछ और वर्षों तक रखकर इसे व्यापक बनाने का प्रयत्न किया। कच्चे माल की ४०० वस्तुओं पर से शुल्क हटा लिया गया जैसे अवशिष्ट निर्यात-शुल्क हटा लिया गया था।

१८४४ में परिवर्तन प्रक्रिया की गई। राष्ट्रिय ऋण के एक लघु अंश (लगभग २५ करोड़ पौंड) पर ३½% व्याज देना होता था जिस दर को ३¼% एवं दस वर्ष पश्चात् ३% कर दिया गया।

रसल ने जो १८४६ में प्रधान मन्त्री के स्थान पर पील का उत्तराधिकारी बना शर्करा शुल्क पर लक्ष्य किया। आँग्ल औपनिवेशिक शर्करा पर १४ शि० प्रति हण्डरवेट उपशुल्क लगाया गया था जबकि अन्य स्थानों वाली शर्करा पर निषेधात्मक शुल्क था। रसल ने विदेशी शर्करा पर कमी करके २१ शि० एवं पाँच वर्ष पश्चात् १४ शि० प्रति हण्डरवेट कर दिया, इस प्रकार औपनिवेशिक अधिमान समाप्त कर दिया गया।

१८५३ में ग्लैडस्टोन ने महत्त्वपूर्ण परिवर्तन प्रस्तुत किये जो लार्ड एबरडीन के मन्त्रिमण्डल में अर्थमन्त्री था। १२३ वस्तुओं पर से पूर्णतः शुल्क हटा दिया गया था तथा और भी १३३ वस्तुओं पर शुल्क में कमी कर दी गयी। राजस्व की इस हानि की क्षति-पूर्ति के हेतु ग्लैडस्टोन ने सम्पदा शुल्क का आश्रय लिया जिसका अभी तक बहुत कम महत्त्व था। इसके क्षेत्र को व्यापक बनाकर उसमें मृत्यु के समय इच्छा पत्र अथवा समझौते द्वारा दी जाने वाली व्यक्तिगत एवं वास्तविक सम्पत्ति को सम्मिलित कर लिया गया। ग्लैडस्टोन आयकर को पसन्द नहीं करता था तथा उसने भूमि पर उपकर लगा दिया होता, क्योंकि वह आयकर को उद्योग एवं क्षमता पर कर समझता था। उसने एक ऐसी योजना बनायी जिसके अन्तर्गत आयकर दो वर्षों तक ७ पें० प्रति पौंड होगा तथा आगामी दो वर्षों में ६ पें० एवं आगामी तीन वर्षों में ५ पें० प्रति पौंड होगा। १८६० में सात वर्ष की समाप्ति पर कर समाप्त कर दिया जायगा। दुर्भाग्य से क्रीमियन युद्ध, भारतीय विद्रोह, चीनी एवं पारसी युद्ध एवं १८५९ में फ्राँस से युद्ध की धमकियों के कारण इस कार्यक्रम का क्रियान्वित किया जाना असम्भव हो गया।

१८५४ में क्रीमियन युद्ध के प्रारम्भ पर ग्लैडस्टोन को आशा थी कि वह इसका परिव्यय राजस्व से ही वहन कर लेगा तथा उसे उधार का आश्रय नहीं ग्रहण करना पड़ेगा। उसने वर्ष भर के लिए आयकर को द्विगुणित कर दिया तथा शर्करा एवं प्रासवों पर अतिरिक्त शुल्क लगा दिये। १८५५ में उसके उत्तराधिकारी वित्तमन्त्री सर जॉर्ज लुई ने शर्करा, चाय, कहवा एवं प्रासवों पर शुल्क में वृद्धि कर दी तथा आयकर में और भी दो पेंस की वृद्धि कर दी जो अब १६ पें० प्रति पौंड हो गया था। इन सब उपायों के उपरान्त भी ४,२० लाख पौंड ऋण लेना अनिवार्य हो गया जिससे युद्ध-व्यय का वहन किया जा सके। तथापि शान्ति की पुनःस्थापना के पश्चात् आयकर में कमी कर दी गयी एवं १८५८ में यह केवल ५ पें० प्रति पौंड था जो उस वर्ष के हेतु ग्लैडस्टोन ने १८५३ में निश्चित किया था। किन्तु १८५९ में फ्रांस से युद्ध-भय के कारण राष्ट्र की संरक्षा सेनाओं को सशक्त बनाना पड़ा तथा किये गये व्यय की पूर्ति आयकर में ४ पें० प्रति पौंड वृद्धि करके की गयी।

ग्लैडस्टोन ने पुन: अर्थमन्त्री के रूप में (इस समय पामर्स्टन के द्वितीय मन्त्रिमण्डल में) दूसरा महत्त्वपूर्ण आय-व्ययक प्रस्तुत किया। आयकर में एक पेंस अभिवृद्धि से यह १० पें० प्रति पौंड हो गया। निर्मित वस्तुवर्ग की ३६० वस्तुओं पर से शुल्क हटा दिया गया एवं केवल ४८ वस्तुओं पर चुंगी रहने दी गयी। ये शुल्क संरक्षात्मक प्रकृति के नहीं थे। इस प्रकार निर्बाध व्यापार की लगभग पूर्णत: स्थापना हो गयी। कागज पर शुल्क का विखण्डन करने के हेतु एक विधेयक जो लोक-सदन में पारित हो चुका था श्रीपति सदन (लार्ड सभा) में अस्वीकृत हो गया। इस प्रकार उत्पन्न वैज्ञानिक प्रश्न पर लोक सदन ने विरोध-पत्र का पञ्जीकरण करवा लिया किन्तु उस समय और कार्य-वाही नहीं की।

१८६१ में वित्तीय प्रक्रिया में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का तात्कालिक कारण श्रीपति सदन की यह कार्यवाही था। विभिन्न वित्तीय विषयों को पृथक् विधेयकों द्वारा प्रस्तुत करना शासन की परम्परा रही थी। १८६१ में ग्लैड-स्टोन ने वर्ष भर के लिए सम्पूर्ण वित्तीय माँगों को (कागज शुल्क के विखण्डन को सम्मिलित करते हुए) केवल एक वित्त-विधेयक में समाविष्ट कर लिया जिसे श्रीपति सदन अस्वीकार करने का साहस नहीं कर सकता था; इस प्रकार स्थापित पूर्वोदाहरण भविष्य में सामान्य पद्धति बन गया।

आगामी कुछ वर्षों तक ग्लैडस्टोन ने आयकर में कमी की नीति का अनु-सरण किया। उसने इसमें कमी कर के १८६१ में ९ पें०, १८६४ में ६ पें० एवं १८६५ में ४ पें० कर दिया। आगामी एक या दो वर्षों में कुछ थोड़ी सी वृद्धि हुई किन्तु १८६९ में जब ग्लैडस्टोन प्रधान मन्त्री था कर कम करके ५ पें० तथा १८७० में ४ पें० कर दिया गया। १८७१ में घाटे की पूर्ति २ पें०की कर वृद्धि से कर ली गई जिसे आगामी वर्ष हटा दिया गया तथा १८७३ में १ पें० एवं १८७४ में १ पें० की कमी से आयकर २ पें० रह गया तथा जो इसकी स्थापना के पश्चात् इसकी निम्नतम दर रही है।

इन वर्षों में राष्ट्रिय ऋण में कमी करने का कोई गम्भीर प्रयत्न नहीं किया गया किन्तु १८७५ में डिजरैली के मन्त्रिमण्डल में २,८० लाख पौं० प्रति वर्ष की एक सञ्चित निधि की स्थापना की गई। इस धन-राशि में से ऋण के

ब्याज का शोधन करना था एवं शेष का उपयोग पूँजीगत दायित्व को कम करने में किया जाना था। प्रतिवर्ष पिछले वर्ष की अपेक्षा ब्याज की राशि कुछ कम होगी तथा निष्क्रयण राशि कुछ अधिक। डिजरैली मन्त्रीमंडल काल में सार्वजनिक व्यय में वृद्धि हो गई तथा आयकर को बढ़ा कर १८७६ में ३ पें०, १८७८ में ५ पें० करना आवश्यक हो गया एवं १८८० आय-व्ययक का सन्तुलन केवल संचित निधि पर आघात करके ही सम्भव हो सका।

पिछले वर्षों में आयकर एवं अन्य करों में होने वाले परिवर्तनों के विवरणों की खोज अनावश्यक है। देश की वित्तीय स्थिति इतनी दृढ़ थी कि १८८८ में वित्त मन्त्री जार्ज गाशेन ऋण में विशाल परिवर्तन कर पाया जिसके अन्तर्गत ब्याज ३% से घटाकर २¾% कर दिया गया एवं पन्द्रह वर्ष पश्चात् २½% कर दिया गया। १८९९-१९०२ के अफ्रीकन युद्ध से ऋण में १६,०० लाख पौंड वृद्धि हुई किन्तु बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में संचित निधि में २·९५ लाख पौं० प्रति वर्ष वृद्धि हुई। प्रति वित्तीय वर्ष के अन्त में होने वाली बचत का उपयोग ऋण में कमी करने को किया गया यहाँ तक कि १९१४ के महायुद्ध के आरम्भ से पूर्व ऋण कम होकर ६५,०० लाख पौं० रह गया।

आयकर को निरंतर अस्थायी कर माना जाता रहा एवं प्रति वर्ष वित्त मन्त्री से यह आशा की जाती थी कि वे अपने आय-व्ययक भाषणों में खेद प्रकट करेंगे कि राष्ट्रीय वित्त की अनिवार्यताओं के कारण इसका परित्याग सम्भव नहीं है। श्री एस्क्विथ ने इस दम्भ का १९०७ में परित्याग कर दिया एवं कर को एतद्पश्चात् राष्ट्रीय वित्त के स्थायी लक्षण के रूप में मान लिया गया। उसी वर्ष उपार्जित एवं अनुपार्जित आय में भेद किया गया तथा उपार्जित आय पर कुछ परिहार स्वीकार कर लिया गया।

ग्लैडस्टोन के मन्त्रिमण्डल में वित्त मन्त्री सर विलियम हरकोर्ट ने १८९४ में मृत्यु कर की श्रेणी की स्थापना की[1] जिसके अन्तर्गत मृत व्यक्तियों की सम्पदा पर भारी कर लगा दिया एवं इस परिमाण में श्री एस्क्विथ ने १९०७ में वृद्धि

१. मृत्युकर अब सम्पदाकर के नाम से प्रसिद्ध है। यह २० लाख पौं० से अधिक मूल्यवान सम्पदा पर ७५% तक है।

की। आगामी वर्षों में यह राष्ट्रिय वित्त का सर्वाधिक फलदायी साधन सिद्ध हुआ एवं इस पर वित्तीय आधार की अपेक्षा अन्य आधारों पर बहुत से मनुष्यों की स्वीकृति प्राप्त हुई क्यों कि इसकी प्रवृत्ति सम्पत्ति की असमानता कम करने की थी जो राष्ट्र में विद्यमान थी।

१९०९ तक राष्ट्रिय सुरक्षा एवं सामाजिक सुधार के हेतु व्यय में वृद्धि होने के कारण आय के नवीन स्रोतों का अन्वेषण आवश्यक हो गया। श्री एस्क्विथ उस समय तक प्रधान मन्त्री हो गये थे एवं उनके वित्त मन्त्री श्री डेविड लायड जार्ज ने ५००० पौं० से अधिक वार्षिक आय पर अधिकर की स्थापना की। मत्युकर में वृद्धि की गयी तथा श्रमिक वर्ग को अपने अंश का अभिदान तम्बाकू एवं प्रासवों पर शुल्क वृद्धि के रूप में करने का आह्वान किया गया। १९०९ के आय-व्ययक में भू-मूल्य की अनुपार्जित वृद्धि पर २०% उपकर एवं अविकसित कृषियोग्य भूमि के पूंजीगत मूल्य पर ½ पें. प्रति पौं. शुल्क लगाने का प्रस्ताव किया गया।[1]

१९१४-१८ के यूरोपीय महायुद्ध ने ग्रेट ब्रिटेन के वित्तसाधनों पर अभियाचन प्रस्तुत किये जो पूर्व वर्षों में मांगी गयी किसी भी राशि से अतुलनीय रूप में विशाल थे। कर प्रणाली, विशेषकर आयकर, उस स्तर पर पहुँच गयी जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। युद्धान्त के लगभग आयकर ६ शि. प्रति पौं. हो गया था यद्यपि सीमित आय वाले व्यक्तियों को निवारण एवं न्यूनन प्रणाली को व्यापक बना कर भारयुक्त कर दिया गया था। इसके साथ ही अत्यधिक विशाल आय पर और भी ६ शि० प्रति पौं० का अधिकर लगा दिया गया।[2] विनियोजित पूंजी पर एक निश्चित प्रतिशत से अधिक होने

---

१. श्रीपति सदन द्वारा इस आयव्ययक की अस्वीकृति से एक गम्भीर वैधानिक संकट उत्पन्न हो गया तथा १९११ के संसद् अधिनियम के अन्तर्गत श्रीपति सदन के अधिकार सीमित कर दिये गये। १९०९ का आयव्ययक १९१० के के आरम्भ में विधि हो गया।

२. १९२९ में अधिकर का उपरिकर नाम से पुनर्नाम करण कर दिया गया। १९४१-४६ तक यह अति विशाल आय पर ९ १/२ शि० तथा १९४६-७ में १० १/२ शि. की दर से लगाया गया था।

वाले व्यापारिक लाभों पर ८०% उपकर लगाये जाने के कारण बहुत धन एकत्रित हो गया। युद्ध व्यय, जिसमें मित्र राष्ट्रों को ऋण भी सम्मिलित थे केवल विशाल परिमाण में ऋण लेकर ही बनाये रखा जा सकता था अतः युद्धान्त के समय राष्ट्रीय ऋण ८०० करोड़ पौं० से अधिक था।[1]

१९१४-१८ के युद्ध के पश्चात् ऋण समस्या इस तथ्य के कारण जटिल हो गयी कि ग्रेट ब्रिटेन के मित्रराष्ट्र उसके ऋणी थे जिस ऋण-राशि का योग २०० करोड़ पौंड से ३,०० करोड़ पौंड के मध्य हो गया जब कि वह ८,०० लाख पौंड से अधिक से संयुक्त राज्य का ऋणी था। ग्रेट ब्रिटेन ने अन्तर-शासकीय युद्ध ऋणों के विलोपन का प्रस्ताव रखा किन्तु इस नीति को संयुक्त राज्य ने पसन्द नहीं किया। अतएव ग्रेट ब्रिटेन ने मित्रराष्ट्रों से जितना उसे संयुक्त राज्य को शोधन करना था उतना ही प्रभागों में शोधन करने की प्रार्थना करने के अपने अभिप्राय की घोषणा की। मजदूर दल ने प्रस्ताव किया कि आन्तरिक ऋण में विशाल मात्रा में कमी करने के हेतु पूँजी कर लगाया जाना चाहिये किन्तु इस नीति को निर्वाचक वर्ग का समर्थन प्राप्त नहीं हुआ। १९३२ में श्री नेविल चेम्बरलेन को जो तृतीय मेकडॉनल्ड मन्त्रि-मण्डल में वित्तमन्त्री थे २०० करोड़ पौंड से भी अधिक की ऋण राशि को ५% से ३½% में परिवर्तित करने में सफलता प्राप्त हो गयी।

१९३९-४५ के युद्ध-काल में राष्ट्रीय ऋण में अति विशाल वृद्धि हो गयी। १९४६ तक यह राशि २४,०० करोड़ पौंड हो गयी थी किन्तु अधिकांश धन नीची व्याज-दर पर उधार लिया गया था तथा यद्यपि ऋण राशि तिगुनी हो गयी थी किन्तु इस पर वार्षिक व्याज दुगुने से कुछ ही अधिक हुआ था।

---

१. निधिबद्ध एवं अनिधिबद्ध ऋणों का प्राचीन अन्तर महत्वपूर्ण नहीं रह गया है। अधिकांश युद्ध ऋण अनिधिबद्ध ऋण है।

राष्ट्रिय व्यय का योग विशाल बना हुआ है,[1] तथा यह असम्भव प्रतीत होता है कि आगामी कुछ वर्षों में इसे कम किया जा सकेगा। व्याज के शोधन एवं निष्क्रयण के प्रबन्ध में किये जाने वाले ऋण व्यय में प्रतिवर्ष विशाल राशि संविलीन हो जाती है, राष्ट्रीय सुरक्षा की आवश्यकताओं में भारी व्यय हो रहा है तथा सामाजिक सेवाओं के हेतु प्रतिवर्ष राष्ट्रीय कोषागार में से बढ़ते हुए अनुदानों की माँग हो रही है।

---

१. अर्वाचीन वर्षों में निम्नाङ्कित दर से आयकर लगाया गया है—

१९१८-२२	६ शि०	१९३०-३१	४ शि० ६ पैं०	१९३८-३९	५ शि० ६ पैं०
१९२२-२३	५ शि०	१९३१-३४	५ शि०	१९३९-४०	६ शि०
१९२३-२५	४ शि० ६ पैं०	१९३४-३६	४ शि० ६ पैं०	१९४०-४१	८ शि० ६ पैं०
		१९३६-३७	४ शि० ९ पैं०	१९४१-४६	१० शि०
१९२५-३०	४ शि०	१९३७-३८	५ शि०	१९४६-४९	९ शि०

पच्चीसवाँ अध्याय

श्रमिक सङ्घवाद

श्रमिक सङ्घ, जो आधुनिक औद्योगिक जगत् में इतने प्रसिद्ध हैं, उन परिस्थितियों में सुधार के हेतु निर्मित सङ्घ हैं जिनके अन्तर्गत कार्य किया जाता है। जब शिल्पकार परिनियम का प्रवर्तन हुआ उस समय श्रमिकों द्वारा सामूहिक कार्यवाही की आवश्यकता न थी किन्तु इस विधि पर आधारित पद्धति के अपक्षय के साथ-साथ श्रमिकों की स्थिति निकृष्टतर होती गई। औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व अधिकांश उद्योग श्रमिकों के घरों में ही चलते थे और चूंकि श्रमिक पृथक्-पृथक् श्रम करते थे और कदाचित् ही या कभी नहीं मिलते थे अतः उन्हें किसी प्रकार के संघ के निर्माण का अवसर प्राप्त नहीं हुआ।

कारखाना-पद्धति के आरम्भ से यह स्थिति समाप्त हो गई। राज्य निर्बाध सिद्धान्तों के प्रचलन के कारण शिल्पकार परिनियम की उपेक्षा हुई। परिणाम-स्वरूप प्रारम्भिक कारखानों के नगरों में औद्योगिक परिस्थितियाँ पूर्णतया अनियन्त्रित थीं। कारखानों में श्रमिकों के विशाल वर्गों के एक दूसरे के साथ प्रतिदिन के सम्पर्क से उन्हें संयुक्त रूप से अपने दृष्टिकोण नियोक्ताओं के समक्ष रखने को अवसर मिले। अठारहवीं शताब्दी में—विशेषकर इसके अन्तिम चरण में श्रमिक संघों जैसी प्रकृति वाली कई लघु समितियों का निर्माण हुआ यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी के संघों जैसा उनका पूर्णतः गठन नहीं हुआ था।

अति प्रारम्भिक सङ्घों ने शिल्पकार परिनियम पर आचरण एवं प्रयोग १५६३ के पश्चात् खुलने वाले कारखानों पर, जो इसलिए इसके अन्तर्गत नहीं आते थे, प्राप्त कर कार्यकालीन परिस्थितियों में सुधार करने का प्रयत्न किया। सम्पूर्ण सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों में नवीन उद्योगों से सम्बद्ध बहुत से अधिनियम पारित किये गये एवं १७६५ और १७७३ तक

रेशम बुनकरों की भृति सारिणी के निर्माण के हेतु शान्ति के न्यायाधीशों को निर्देशन दिये जाते थे।

अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में खुलने वाले सूती कारखानों में कर्मशालाओं में से भरती किये हुए असंख्य बच्चे थे, जिन्हें दारिद्रय अधिनियम (Poor Law) के अन्तर्गत कारखानों के स्वामियों से प्रशिक्षण पाना अनिवार्य था। किन्तु यद्यपि १६०१ के अधिनियम का पालन हुआ इस सम्बन्ध में १५६३ वाले की अवहेलना की गई कि दक्ष श्रमिकों एवं प्रशिक्षणार्थियों के मध्य कोई अनुपात नहीं रखा गया। श्रमिकों ने अपने संघों द्वारा अधिनियम के इस उल्लंघन की ओर ध्यान आकर्षित किया जिससे उनके सेवा योजन के अवसर बढ़ सकें। शिल्पकार परिनियम की धाराओं पर आचरण के हेतु संसद् को किये गये निवेदनों का परिणाम इस पर व्यवहार न होकर १८१३ एवं १८१५ में इसका विखण्डन हुआ।

अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरणों में ग्रेट ब्रिटेन के शासक वर्ग जन-सामान्य द्वारा फ्रांसीसियों के अनुकरण की सम्भावना पर अति शङ्कित हो उठे एवं ऐसे किसी भी आन्दोलन को दबाने के हेतु उन्होंने व्यवस्था कर ली थी जिसकी क्रान्तिकारी प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। १७९९ एवं १८०० में संयोजन अधिनियम पारित हुए जिनके अन्तर्गत व्यापारी नियन्त्रण के हेतु निर्मित संघ अवैधानिक घोषित कर दिये गये। ये अधिनियम स्वामियों एवं श्रमिकों के संघों पर समान रूप से लागू होते थे किन्तु व्यापारिक रूप में उन्हें स्वामियों के विरुद्ध व्यवहृत नहीं किया गया।

संयोजन अधिनियमों को श्रमिकों के विरुद्ध किस सीमा तक व्यवहृत किया गया यह ऐसा प्रश्न है जिसका निर्णय सरल रूप से नहीं किया जा सकता। इसे देश की सामान्य विधि एवं १५४९ में पारित एक परिनियम के अन्तर्गत व्यापार नियन्त्रण के हेतु संयोजन पहिले से ही अवैधानिक था। जब, जैसा बारं-बार किया जाता था, किसी श्रमिक के विरुद्ध अवैधानिक संयोजन में भाग लेने के सम्बन्ध में कार्यवाही की जाती थी तब अधिकांश अवस्थाओं में अभि-योग सामान्य विधि पर आधारित होते थे जिसके अन्तर्गत संयोजन अधिनियमों

की अपेक्षा अधिक भारी दण्ड की आज्ञायें दी जा सकती थीं। श्रमिकों द्वारा सामूहिक कार्यवाही की प्रत्येक घटना को अवैधानिक संयोजन नहीं समझा जा सकता था कभी कभी नियोक्ताओं एवं श्रमिकों के सम्मेलन भी श्रम अवस्थाओं पर निर्णय के हेतु इस मान्यता के साथ बुलाये जाते थे कि षड्यन्त्र का कोई अभियोग नहीं लगाया जायगा।

१७९९ से १८२४ तक संगठित श्रमिक संघवाद अवैधानिक था। श्रमिकों को वन्दीगृह भेजा जा सकता था यदि वे अधिक भृति अथवा घंटों में कमी करवाने के हेतु अपने सहयोगियों का साथ देते हों। जैसा पूर्वोक्त है, जब श्रमिक संघवाद के कुचलने का मूल कारण राजनीतिक था, यह कहा जा सकता है कि प्रचलित आर्थिक सिद्धान्तों ने शासन के दृष्टिकोण को प्रभावित किया था। संघों से क्रान्तिकारी होने का न केवल भय था अपितु यह दावा किया जाता था कि उनके कार्य श्रमिकों के महान् समुदाय के प्रति अनुचित थे। यह मान्यता हो गयी थी कि एक निश्चित भृति कोष में से भृति शोधन होता है जिसकी वृद्धि नहीं की जा सकती एवं इसलिये यदि मनुष्यों के एक वर्ग ने सामूहिक कार्यवाही द्वारा वृद्धि प्राप्त कर ली तो अन्यों को अनिवार्य रूप से कम स्वीकार करना होगा।

तथापि श्रमिक संघवाद इस समयावधि में पूर्णतया अवसन्न नहीं हुआ। मैत्री समितियाँ विद्यमान थीं एवं १७९३ में पारित एक अधिनियम द्वारा उन्हे वैधानिक सामाजिक स्थिति प्रदान कर दी गयी। ये संगठन अपने सदस्यों से एक कोष में अनुदान प्राप्त करते थे जिसमें से उन्हें अस्वस्थता एवं वृत्तिहीनता (बेकारी) के समय धन मिलता था। इन्हें अपने सञ्चय का विभिन्न प्रकार से पीड़ित सदस्यों की सहायतार्थ उपयोग करने का अधिकार था। मैत्री समितियों ने इसलिये कुछ ऐसे प्रयोजन सिद्ध किये जिन्हें तत्पश्चात् श्रमिक संघों ने पूर्ण किया। इसके अतिरिक्त प्रतिबन्ध काल में कुछ समितियों का विधि की अवज्ञा करके निर्माण हुआ एवं सदस्यगण गुप्त रूप से किसी व्यक्ति के घर अथवा यवसुरालय के पिछले कक्ष में मिलते थे। द्वार एवं मार्गों पर गुप्तचरों एवं सूचकों के विरुद्ध पहरा दिया जाता था जो बैठकों में प्रवेश पाने का प्रयत्न कर सकते थे।

इस काल में श्रमिक वर्ग में संयोजन के विखण्डन के हेतु बहुत कम उत्तेजना व्याप्त हुई। श्रमिक इतने कुशिक्षित एवं निर्बुद्धि थे कि उन्होंने संयोजन से मिलने वाली सुविधाओं पर कभी ध्यान नहीं दिया। इतना अल्प वेतन मिलता था कि वे संघ के कोष के हेतु अँशदान देने में असमर्थ थे। वे इतने अनभिज्ञ थे कि उन्हें यह ज्ञात न था कि जिन परिस्थितियों ने उन्हें कठोरतापूर्वक उत्पीड़ित किया है उनका प्रभाव अन्य नगरों एवं व्यवसायों में लीन व्यक्तियों पर भी पड़ा है। किन्तु अपने सहयोगियों से अधिक बुद्धि एवं क्षमतावान मनुष्यों ने इस विषय में जनमत को यत्र तत्र शिक्षित एवं प्रोत्साहित करने का प्रयत्न किया। फ्रांसिस प्लेस नामक एक मुख्य दरजी ने कई वर्षों तक संयोजन अधिनियमों के विखण्डन के हेतु प्रयत्न किया एवं इस कार्य में अपना सम्पूर्ण समय लगा देने के हेतु १८१८ में वह अपने व्यवसाय से हट गया।

१८२४ में लोक सभा ने जोज़ेफ ह्यूम की अध्यक्षता में संयोजनों से सम्बद्ध अधिनियमों की स्थिति पर विचार करने के हेतु एक समिति नियुक्त की। ह्यूम विधि में परिवर्तन के हेतु आन्दोलन के प्रति सहानुभूतिपूर्ण था तथा प्लेस ने समिति के समक्ष इतनी मात्रा में साक्षियां एवं तर्क प्रस्तुत किये कि इसने संयोजन अधिनियमों में शिथिलता के पक्ष में प्रतिवेदन दिया। यह हो गया कि कम से कम श्रम के घंटों एवं भृति के विषय में नियोक्ताओं से भावताव के उद्देश्य से संयोजनों की स्वीकृति दे दी गयी।

नूतन स्वतन्त्रता के प्लेस की आशा के विपरीत परिणाम निकले। उसका विचार था कि यद्यपि श्रमिक संयोजन को निषिद्ध करने वाले विधान की कठोरता पर क्रुद्ध होंगे तथापि इसके हट जाने से स्वामियों एवं श्रमिकों के बीच सद्भावना का विकास होगा जिससे संयोजन सामान्यतः अनावश्यक हो जायेंगे। तत्कालीन कट्टरपन्थी अर्थशास्त्र में विश्वास होने के कारण न उसे आशा थी और न वह ऐसा चाहता ही था कि श्रमिकों की भृति में वास्तविक वृद्धि हो। किन्तु प्लेस ने स्थिति का अपनिर्णय किया। १८२४ के अधिनियम के पारित होने के पश्चात् हड़तालों का ताँता लग गया एवं कुछ अव्यवस्था हो गयी। राजनीतिज्ञ एवं नियोक्ता समान रूप से चिन्तित हो गये एवं १८२५ में एक और अधिनियम पारित किया गया। सारतः इसका उद्देश्य पिछले वर्ष स्वीकृत

किंगडम तथा नेशनल ऐसोसियेशन फार दी प्राटेक्शन आफ लेबर प्रत्येक ने समृद्धि के एक अल्पकाल का उपभोग किया था। इससे भी विशाल संगठन जिसका नाम ग्रांड नेशनल कन्सोलिडेटेड ट्रेड यूनियन था १८३४ में राबर्ट ओवन के प्रयत्नों से निर्मित हुई। इस संघ की अल्पकालीन सफलता का कारण संभवतः संसद् के १८३२ के सुधार अधिनियम (Reform Act) से श्रमिकों में व्याप्त निराशा थी। ग्रांड नेशनल की सदस्यता १० लाख पहुँच गई बताते हैं। इसका अन्तिम उद्देश्य समाज के वर्तमान संगठन को नष्ट कर देना एवं श्रमिकों के समाज का पुनर्निर्माण करना था तथा इसकी पद्धति व्यापक हड़ताल की थी। किन्तु ग्राँड नेशलन अपने सदस्यों की अभिलाषायें पूर्ण करने में असमर्थ रहा अतः उसका पतन हो गया एवं कुछ वर्षों तक श्रमिकों का विश्वास श्रमिक संघ की कार्यक्षमता पर से उठता सा प्रतीत होता था। कुछ संघ भंग कर दिए गए एवं कुछ की सदस्यता तथा कोष में न्यूनता हो गई। श्रमिक राजनीतिक गतिविधियों में पुनः सक्रिय हो गए एवं चार्टिस्ट आन्दोलन का समर्थन करने लगे जिससे श्रमिक संघ इस रूप में पृथक् रहे थे।

१८४३ के लगभग पुनर्जागरण प्रारम्भ हुआ। न केवल नवीन संघों का निर्माण हुआ अपितु उद्देश्य, प्रणाली एवं संगठन में परिवर्तन भी दृष्टिगोचर होने लगे। कुछ संघों में नियोक्ताओं के विरुद्ध आक्रामक शस्त्र के रूप में हड़ताल का तिरस्कार किया गया एवं श्रमिकों की अवस्था में अन्य प्रकार से सुधार के प्रयत्न किये गये। १८५१ में सयन्त्र निर्माण व्यवसाय के संघों ने सङ्गठित होकर एमलगमेटेड सोसायटी आफ इंजीनीयर्स (Amalgamated Society of Engineers) का निर्माण किया जो इतने ठोस सिद्धान्तों पर आधारित थी कि यह वर्तमान काल तक विद्यमान रही है। यह नियोक्ताओं से विवादों का हल पत्र-व्यवहार विनिमय एवं यदि आवश्यक हो तो मध्यस्थता द्वारा करना अधिक श्रेयस्कर समझते थे। इसके पास पुष्कल साधन थे एवं यह अधिकारियों को रखने योग्य थी। कालान्तर में अन्य व्यवसायों में सयन्त्रकारों के संघों के अनुरूप एकीकृत संघ स्थापित किए गए। इस काल के संघों की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं में से एक यह थी कि वे अपने सदस्यों से पुष्कल अभिदान मांगते थे तथा वे मैत्री समितियों एवं व्यापार की सुविधाओं को समान

रूप से प्रदान करते थे। अस्वस्थता एवं मृत्यु के समय धनदान एवं वृत्ति-हीनता एवं हड़ताल के भत्ते को वे समान रूप से महत्त्वपूर्ण समझते थे। मैत्री सुविधाओं का व्यापार सुविधाओं से यह सम्मिश्रण प्राचीन सङ्घवाद की विशेषताओं में से एक था। ऐसे संघों के सदस्य अधिकांशतः हड़ताल को अनिच्छुक होते थे। श्रमिक जो अस्वास्थ्य काल में लाभ उठाने की आशा से धन देते थे यह देखना पसन्द नहीं करते थे कि कोष नियोक्ताओं से एक लम्बे विवाद में व्यर्थ ही नष्ट कर दिया जाय जिसमें से ये व्यय किए जाने चाहिये।

श्रमिक संघवाद साठीयों में पुनः सक्रिय हो उठा एवं इसकी बढ़ती हुई शक्ति को नियोक्ता वर्ग विशेष अरुचिकर दृष्टि से देखते थे। समय-समय पर हड़तालों एवं कुछ असम्बद्ध हिंसात्मक कार्यों ने, जिसके लिए श्रमिक संघ उत्तरदायी नहीं थे एवं जिनकी दृढ़ शब्दों में निन्दा करते थे, इन्हें कुचल देने हेतु प्रयत्नों के लिए एक बहाना प्रदान कर दिया। १८६७ में इनके व्यवहार का अन्वेषण करने को एक शासकीय आयोग (रायल कमीशन) की स्थापना की गई एवं संसद् में यह आशा प्रकट की गई कि संयोजन नियमों का पुनः स्थापन हो जायगा।

श्रमिक संघों के विरोधियों का यह दावा था कि इन्होंने नियोक्ताओं तथा श्रमिकों के पूर्वकालीन मधुर सम्बन्धों को नष्ट कर दिया था, (यद्यपि इस विलक्षण अभियोग के लगाने वाले यह बताने से बचे रहना चाहते थे कि यथार्थतः किस युग में ये मधुर सम्बन्ध रहे थे) कि श्रमिकों के चरित्र का पतन हो गया था, कि उन्हें संघ की सदस्यता से कोई आर्थिक लाभ न था, कि संघ हड़तालों के प्रत्यक्ष कारण थे एवं इनके नियम व्यापार नियंत्रण के हेतु उपयोग में लाये जाते थे। यह प्रमाणित करने के हेतु लेशमात्र भी विचार करने की आवश्यकता नहीं है कि ये अभियोग द्वेष से प्रेरित थे एवं जब तक निश्चित प्रमाण द्वारा इनकी पुष्टि नहीं की जा सकती ये संघों के विरुद्ध सिफारिश करने के हेतु कोई कसर नहीं रखेंगे। इन संगठनों की ओर से यह अभियोग लगाया गया कि १८२५ के अधिनियम द्वारा संयोजनों को केवल कुछ उद्देश्यों के हेतु ही वैधानिक किया गया जिससे अधिकांश विद्यमान संघों के उद्देश्य एवं कार्य अवैधानिक रह गए।

पुनश्च, क्योंकि १८२५ के अधिनियम ने संघों के वित्त के संचय एवं सम्पत्ति पर अधिकार की स्पष्ट स्वीकृति नहीं दी थी, ये अपने अधिकारियों की दया पर निर्भर थे। अपराधी कोषाध्यक्ष पर अभियोग नहीं लगाया जा सकता था। कुछ श्रमिक संघों ने मैत्री समिति अधिनियम के अन्तर्गत अपने साधनों का संरक्षण प्राप्त करने की आशा में मैत्री समितियों के रूप में पंजीयन करवा लिया था किन्तु १८६७ के एक निर्णय ने इसे अवैधानिक घोषित कर दिया।

आयोग को प्राप्त होने वाली साक्षियाँ कुछ इस प्रकार की थीं कि इसके प्रतिवेदन अनिवार्यतः उससे भिन्न प्रकार के हुए जैसे इसके संस्थापक अपेक्षा करते थे। बहुमत प्रतिवेदन की ध्वनि किसी प्रकार भी संघों के प्रति मैत्रीपूर्ण न थी किन्तु इसने स्वीकार कर लिया था कि संघ की शक्ति में वृद्धि से हड़-ताल करने के स्वभाव की वृद्धि नहीं होती। इसने संयोजन नियमों में कुछ और शैथिल्य, श्रमिक संघों के पंजीयन, उनकी विधि के संरक्षण एवं मैत्री सुवि-धाओं के हेतु अर्थ को व्यापारिक उद्देश्यों के हेतु साधनों से पृथकत्व में कुछ अधिक शैथिल्य के हेतु प्रस्ताव किये। अल्पमत प्रतिवेदन जिसे प्रस्तुत करने से श्री हैरीसन, श्री ह्यूएस एवं श्री वीस्ले सम्बद्ध थे बहुत अधिक आगे बढ़ गया था। इसकी मान्यता थी कि हड़ताल का स्वभाव सङ्घ की शक्ति से प्रतीपा-नुपाती है, वृहत् संघों ने व्यापार में स्थिरता में योगदान दिया है जबकि हिंसा-त्मक कार्य विशेषकर उन्हीं स्थानों पर हुए हैं जहां या तो संघ अशक्त था या नहीं था। इसने कोष के प्रस्तावित पृथकत्व का इस आधार पर विरोध किया कि एक पृथक् व्यवसाय कोष के होने से हड़ताल की लालसा को प्रोत्साहन मिलेगा। इसने संयोजक नियमों के पूर्ण विखण्डन, श्रमिक सङ्घों के पंजीयन एवं उनके कोष के निश्चित संरक्षण प्रस्तावित किये।

अस्थायी प्रबन्ध के रूप में संघों की आय को १८६९ के श्रमिक संघ (आय संरक्षण) अधिनियम के अन्तर्गत संरक्षण प्रदान कर दिया गया, किन्तु आयोग के कार्य के फलस्वरूप मुख्य अधिनियम १८७१ का श्रमिक संघ अधिनियम था जो प्रमुख रुप से अल्पमत प्रतिवेदन पर आधारित था। इसने उपबन्धित किया कि श्रमिक संघ के उद्देश्य केवल इसलिये अवैधानिक नहीं होने चाहिएँ कि इनका उद्देश्य व्यापार नियन्त्रण है। एक श्रमिक संघ को मैत्री समितियों के पंजीकरण

अधिकारी के पास पंजीकरण का अधिकार था जिसको इसे अपने कार्यालय का पता एवं अपने आय-व्यय का वार्षिक विवरण प्रदान करना होता था किन्तु वह बाध्य नहीं था। किसी पंजीकृत संघ को भूमि अथवा भवन रखने का अधिकार था एवं वह न्यायालय में अभियोग प्रस्तुत कर सकता था एवं अपना प्रतिवाद कर सकता था। श्रमिक संघ के कोषाध्यक्ष एवं अन्य अधिकारियों को उन्हें प्राप्त धन का पूर्णतया शुद्ध विवरण देना पड़ता था एवं यदि उन्होंने प्राप्त धन के किसी भाग का अपहरण किया तो उन पर अभियोग चलाया जा सकता था। दुर्भाग्य से संयोजन अधिकार की इस प्रकार की गयी स्वीकृति उसी समय दण्ड विधान संशोधित अधिनियम पारित करके निरर्थक कर दी गयी जिसके अन्तर्गत हड़तालियों को रोकने एवं धमकियां देने वाले अपराधी व्यक्तियों को भारी दण्ड का भागी कर दिया गया। सन्नियमों की ऐसी स्थिति होते हुए प्रभावपूर्ण हड़ताल लगभग असंभव थी।

आगामी कुछ वर्षों में श्रमिकों को बहुत विशाल संख्या में धरना देने से सम्बद्ध नियमों के भंग किए जाने के कारण दण्डित किया गया। विधि में परिवर्तन के हेतु तीव्र उत्तेजना फैली और ग्लैडस्टोन की संशोधन की अस्वीकृति के फलस्वरूप उसके दल को १८७४ के सामान्य निर्वाचन में श्रमिक संघों के मत प्राप्त नहीं हुए। जिसे उदार दल ने अस्वीकृत कर दिया था उसका अनुदार दल ने दायित्व लिया तथा १८७५ के संपत्ति संरक्षण एवं षड्यन्त्र अधिनियम में यह उपबन्धित किया गया कि श्रमिक विवाद के सम्बन्ध में कोई दो या दो से अधिक मनुष्यों द्वारा प्रस्तावित अथवा किया गया कार्य न्यायानुसार दण्डनीय षड्यन्त्र नहीं समझा जायगा यदि ऐसा कार्य एक मनुष्य द्वारा किए जाने पर दंडनीय नहीं समझा जाता। इस अधिनियम का प्रभाव शान्तिपूर्ण धरना देने तथा श्रमिकों के अपने नियोक्ताओं से भावताव करने के अधिकार को वैध बना देना था एवं इस अधिकार का शमन करके उपयोग अन्त में न्यायानुसार स्वीकृत हो गया।

१८७६ के श्रमिक संघ अधिनियम द्वारा १८७१ के अधिनियम में पंजीयन से सम्बद्ध धाराओं का संशोधन हो गया। मैत्री समितियों का पंजीयन अधिकारी केवल संघ की प्रार्थना पर, अथवा नियमानुसार विवरण प्रस्तुत करना

अस्वीकार करने की अवस्था में अथवा यदि संघ का वास्तव में अस्तित्व समाप्त हो जाने की अवस्था में पंजीयन प्रमाणपत्रों का विलोपन कर सकता था।

१८७०-७९ के काल में नूतन संघों का वृहद् संख्या में निर्माण हुआ किन्तु इसी समय प्रारम्भ होने वाली तीव्र मन्दी का आन्दोलन के भाग्य पर प्रतिकूल प्रभाव हुआ। वृत्तिहीनता बहुत थी, भृति कम हो गयी तथा संघों की सदस्यता एवं साधनों का क्षय हो गया। कुछ संघ यह आघात सहन नहीं कर सके एवं लुप्त हो गये किन्तु अधिकांश का अस्तित्व अविस्थत रहा। संभवतः इस काल का सर्वाधिक सरस-संघ कृषि श्रमिकों का था जो १८७२ में जोजेफ़ आर्क ने संस्थापित किया था। कुछ काल के लिए इसकी सदस्यता बहुत अधिक थी किन्तु इसके विरुद्ध सामन्तवादी प्रभाव बहुत अधिक शक्तिशाली था। ग्रामीण क्षेत्रों में सम्पत्तिशाली वर्गों—स्क्वायरों, धर्माध्यक्षों, एवं कृषकों की अप्रसन्नता का सम्पूर्ण गुरुत्व इन अभागे श्रमिकों के विरुद्ध प्रेरित था अतः १८९४ में इस का अस्तित्व समाप्त हो गया। कुछ वर्षों पश्चात् कृषि श्रमिकों में श्रमिक संघवाद को पुनर्जाग्रित करने का एक प्रयत्न जार्ज एडवर्ड्स ने संगठित किया। दी ईस्टर्न काउण्टीज़ एग्रीकल्चर लेबरर्स यूनियन का निर्माण हुआ एवं १९१४ में कई सफल हड़तालें हुईं। १९१४-१८ के युद्धकाल में कृषि के राजकीय नियन्त्रण ने आन्दोलन के महत्त्व का कम से कम कुछ समय तक लोप कर दिया किन्तु युद्ध के पश्चात् नेशनल यूनियन आफ एग्रीकल्चरल वर्कर्स का प्रादुर्भाव हुआ।

श्रमिक संघवाद अभी तक दक्ष श्रमिकों में ही प्रमुख रूप से सफल हुआ था किन्तु ८०-८९ के काल में आन्दोलन का प्रसार अदक्ष श्रमिकों तक करने के प्रयत्न किए गये। कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सम्भवतः अदक्ष श्रमिकों का सामान्य बुद्धिस्तर निम्न होने के कारण श्रमिक संघवाद के लाभों के प्रति उनकी प्रवृत्ति संशयात्मक थी। उनका भृति-स्तर निम्न था एवं उनसे संघ के कोष में महत्त्वपूर्ण योगदान की आशा करने का प्रश्न ही नहीं उठता था। और भी हड़ताल हो जाने पर अदक्ष व्यक्ति के श्रम का दक्ष के श्रम की अपेक्षा अधिक सुविधापूर्वक पुनः स्थापन किया जा सकता है। तथापि आन्दोलन का विकास हुआ एवं गोदी कर्मचारियों, गैस कर्मचारियों एवं अदक्ष श्रमिकों

के संघों का निर्माण हुआ। अगस्त १८८९ में जान बर्न्स, टाम मान, बेन टिल्लेट एवं विलथॉर्न के नेतृत्व में गैस कर्मचारियों ने काम के घंटों में महत्त्वपूर्ण कमी करवाने का दबाव डाला एवं हड़ताल बिना अपनी मांगों की पूर्ति करवा ली। १८८८ में एनीबीसेण्ट द्वारा संगठित दियासलाई निर्माता लड़कियों की हड़ताल हुई। लड़कियों का न कोई संघ था न उनके पास साधन किन्तु लोक सहानुभूति उत्पन्न की गई, उनके निर्वाह के हेतु धन का योगदान किया गया एवं उन्होंने नियोक्ताओं से सुविधाएं प्राप्त कर लीं। १८८९ के ग्रीष्मकाल में लन्दन बन्दरगाह के गोदी श्रमिकों ने छः पेंस प्रति घण्टानुसार भृति के हेतु हड़ताल कर दी। प्रबल जन सहानुभूति का आह्वान किया गया[1] एवं हड़ताल सफल हुई, परिणामस्वरूप अदक्ष श्रमिकों के अन्य संघों का निर्माण हुआ।

रेलवे कर्मचारियों में श्रमिक संघवाद का प्रारम्भ देर से हुआ। सर्वप्रथम रेलवे कर्मचारी संघ का निर्माण १८७१ में हुआ था किन्तु अमलगमेटेड सोसायटी आफ रेलवे सर्वेण्ट्स का निर्माण १८९० तक नहीं हुआ था एवं लगभग शताब्दी के अन्त तक रेलवे कर्मचारियों का सप्तमांश श्रमिक संघों का सदस्य था। १८९६ में अमलगमेटेड सोसायटी ने उन्नतिशील परिस्थितियों की मांग की जो दस घंटे का कार्य दिवस व भृति में प्रति सप्ताह दो शिलिंग की वृद्धि थी। प्रमण्डल ने न केवल मांगों पर विचार करना अस्वीकृत कर दिया अपितु संघ को स्वीकार तक नहीं किया। १९०७ में १८९६ की माँगों को पुनः प्रस्तुत किया गया। प्रमण्डलों ने पुनश्च संघ को स्वीकृति देने से अस्वीकार कर दिया किन्तु हड़ताल की निकटता से राज्य हस्तक्षेप करने को बाध्य हो गया। समझौता समितियां स्थापित की गयीं एवं प्रमण्डलों को संघ का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ा। समझौता समितियों की प्रणाली सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकी एवं १९११ में एक हड़ताल हुई जिसका हल केवल श्रमिकों के कष्टों पर विचार करने के हेतु शासकीय आयोग (रॉयल कमीशन) स्थापित करने की प्रतिज्ञा पर ही हुआ। आगामी

---

१. गोदी श्रमिक-हड़ताल कोष में इस तथा अन्य देशों में सहानुभूति रखने वालों के योगदान से वृद्धि हुई थी। कुल ४८,००० पौंड प्राप्त हुए जिनमें से ३०,००० पौंड आस्ट्रेलिया से थे।

वर्ष ही विपत्ति का निराकरण प्रमण्डलों द्वारा समझौता समितियों के गठन में संशोधन स्वीकार करके ही किया गया । १९२१ के अधिनियम (अन्यत्र उल्लिखित) के अनुसार रेलवे सेवाओं में उत्पन्न श्रमिक विवादों पर निर्णय के हेतु निर्मित तन्त्र में रेलवे श्रमिक संघों का भी प्रतिनिधित्व था इसलिये उसकी स्वीकृति का कोई प्रश्न ही नहीं था ।

शताब्दी की समाप्ति के लगभग बने हुए श्रमिक संघों के उद्देश्यों का प्राचीन श्रमिक संघों के उद्देश्यों से कई विषयों में अन्तर था। ये सामान्य रूप से अपने सदस्यों के हेतु मैत्री सुविधाओं की व्यवस्था नहीं करते थे किन्तु उनकी मान्यता थी कि अस्वस्थता, वृत्तिहीनता एवं वृद्धावस्था के हेतु व्यवस्था करना राज्य का कार्य है । चूंकि संसदीय निर्वाचनों में मताधिकार नगरों में शिल्पियों को १८६७ में था तथा कृषि श्रमिकों को १८८४ में मिल गया था अतः नवीन संघों के व्यवस्थापकों का विचार था कि श्रमिक वर्ग अपने लिये ये सुविधाएँ सीधी राजनीतिक कार्यवाही से प्राप्त कर सकता है । संसदीय निर्वाचनों में उन निर्वाचनार्थियों का राजनीतिक अनुमोदन किया गया जिनकी नूतन श्रमिक संघवाद से सहानुभूति थी । ऐसे व्यक्ति अधिकांश उदार दल के थे एवं कई बार उदार श्रमिक नाम से विभूषित किये जाते थे । तथापि १८९३ में स्वतन्त्र मजदूर दल [१] के निर्माण का निर्णय किया गया जो अन्य विद्यमान दलों से भिन्न एवं स्वयं के उद्देश्यों वाला था। तात्कालिक रूप में ये राजकीय कार्य द्वारा श्रमिक वर्गों की अवस्था में सुधार थे एवं अन्ततः समाजवादी आधार पर समाज का सम्पूर्ण रूप से पुनर्गठन ।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में श्रमिक संघवाद को दो भयङ्कर आघात लगे । १९०० में टाफवेल रेलवे प्रमण्डल के अन्तर्गत सेवायुक्त श्रमिकों में हड़ताल हो गयी । प्रमण्डल ने अमलगमेटेड सोसायटी आफ रेलवे सर्वेण्ट्स के विरुद्ध क्षतिपूर्ति का अभियोग प्रस्तुत कर दिया । संघ का विचार था कि

---

१. स्वतन्त्र मजदूर दल के विकास का इतिहास एवं उत्तरकालीन संसदीय मजदूर दल इस पुस्तक के क्षेत्र से परे हैं ।

वह श्रमिक संघ अधिनियम १८७१ एवं षड्यंत्र अधिनियम १८७५[1] के अन्तर्गत पूर्ण सुरक्षित है किन्तु न्यायालय का निर्णय विपरीत रहा एवं संघ को आज्ञा दी गयी कि वह प्रमण्डल को भारी क्षति पूर्ति करे। इस प्रकार उत्पन्न परिस्थतियां श्रमिक संघों को असह्य हो गयीं जिन ने अनुभव कर लिया था कि वे कितनी ही सावधानी से कार्य करें उनके कोष का प्रत्येक हड़ताल के पश्चात्[2] क्षति पूर्ति एवं विधि विहित व्यय में ही उपक्षय हो जायगा। १६०६ में श्रम विवाद अधिनियम के अन्तर्गत जिस ने न्यायालयों को श्रमिक संघों के विरुद्ध जिह्म (Torts) के सम्बन्ध में अभियोग पर विचार करने का निषेध कर दिया था, श्रमिकों का उद्धार सम्भव हो सका। इसने निश्चित रूप से शान्तिपूर्ण धरना देने को वैधानिक स्वीकार कर लिया, व्यापार नियन्त्रण से सम्बद्ध कार्यों को भी स्वीकार कर लिया गया यदि वें हिंसात्मक न हों एवं इसने षड्यन्त्र के सम्बन्ध में नागरिक दायित्व को उसी धरातल पर रखा जिस पर १८७५ के अधिनियम ने आपराधिक दायित्व को रखा था।

श्रमिक संघवाद पर दूसरा प्रहार इसकी राजनीतिक गतिविधियों के सम्बन्ध में हुआ। बहुत से श्रमिक संघों की यह परम्परा थी कि वे अपने सदस्यों से मजदूर दल के समर्थन हेतु बलपूर्वक अभिदान लेते थे। उनके इस अधिकार का अमलगमेटेड सोसायटी आफ रेलवे सर्वेण्ट्स के एक सदस्य श्री डब्ल्यू ऑसबान द्वारा विरोध किया गया एवं उसका दृष्टिकोण अन्त में न्यायालयों द्वारा स्वीकार कर लिया गया। निर्णय का आधार यह था कि श्रमिक संघों को किन्हीं ऐसे क्रियाकलापों को प्रारम्भ करने का अधिकार नहीं है जिसकी १८७१ के परिनियम एवं संशोधित अधिनियम स्वीकृति नहीं देते एवं क्योंकि इनमें राजनीतिक क्रियाओं के विषय में कोई निर्देश नहीं था, ये श्रमिक संघों के न्यायक्षेत्र से परे हैं। निर्णय का एक प्रभाव श्रमिक संघ कार्य के अन्य कई

---

१. इन अधिनियमों द्वारा श्रमिक संघ निगम नहीं हो गये थे तथापि अब यह मान्यता थी कि इनमें निगम के गुण इस अर्थ में विद्यमान थे कि अब इन पर अभियोग लगाया जा सकता था।

२. किसी आंग्ल नियोक्ता ने टाफवेल निर्णय का लाभ नहीं उठाया, कुछ वेल्श नियोक्ताओं ने अवश्य लाभ उठाया था।

पक्षों की निरन्तरता को समाप्त करना था यहाँ तक कि श्रमिक संघ काँग्रेस भी अवैधानिक घोषित की जा सकती थी। और भी स्वयं मजदूर दल का अस्तित्व सङ्कटापन्न था एवं यह अनुभव किया गया कि ऐसी वैधानिक स्थिति, जिसमें धनी व्यक्तियों को उदार एवं अनुदार दलों को अभिदान देने की स्वीकृति हो किन्तु जिस में श्रमिकों को अपने संगठनों द्वारा मजदूर दल के कोष में अभिदान देने की अस्वीकृति हो, असह्य थी। इसका हल १६१३ के श्रमिक संघ (संशोधन) अधिनियम के अन्तर्गत हुआ। श्रमिक संघों को राजनीतिक हलचलों में भाग लेने एवं इस उद्देश्य से साधन एकत्रित करने की स्वीकृति इस शर्त पर मिली कि ऐसी राजनीतिक गतिविधि के हेतु सदस्यों के बहुमत से इसी हेतु मत लेकर स्वीकृति प्राप्त की जाय, राजनीतिक कोष को अन्य कोषों से भिन्न रखा जाय, किसी सदस्य को इस हेतु सूचना देने के पश्चात् राजनीतिक कोष में अभिदान देने से पराङ्मुख रखने की स्वीकृति दी जाय तथा जिस सदस्य ने इस सुविधा का लाभ उठाया हो उसे किसी प्रकार दण्डित न किया जाय।

समस्या के इस हल का स्वागत न श्रमिक संघवाद के समर्थकों ने किया न विरोधियों ने। समर्थक इसे आंशिक विजय से अधिक मान्यता नहीं देते थे; विरोधियों का यह तर्क था कि उत्साही सदस्य उन सदस्यों पर अत्यधिक अप्रत्यक्ष दबाव डालेंगे जो अभिदान देने में पराङ्मुख हों। १६२६ की सामान्य हड़ताल के पश्चात् १६२७ में एक श्रमिक विवाद एवं श्रमिक संघ अधिनियम (Trade Disputes and Trade Unions Act) पारित किया गया जिसके अन्तर्गत सदस्यों के लिये अभिदान से पराङ्मुख रहने के अधिकार के अभियाचन की अपेक्षा यदि उनकी ऐसी इच्छा हो तो अभिदान के हेतु अपनी इच्छा घोषित करना अनिवार्य हो गया। १६१३ एवं १६२७ के अधिनियमों में प्रमुख अन्तर यह था कि पूर्वोक्त राजनीतिक कोष में अभिदान को सामान्य एवं परिवर्जन को असामान्य मानता था अपरोक्त ने विपरीत दृष्टिकोण अपनाया एवं इसका व्यावहारिक प्रभाव यह हुआ कि ऐसे व्यक्तियों की वृहद् संख्या जो प्रपत्रों पर हस्ताक्षर करने का कष्ट नहीं करना चाहती थी पूर्व अधिनियम के अन्तर्गत देती रहती किन्तु अपरानुसार नहीं।

इस अधिनियम ने यह भी घोषित कर दिया कि हड़तालें, चाहे प्रधान हों या सहानुभूति में, अवैधानिक होंगी यदि उनकी गणना समाज के समक्ष प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कठिनाइयाँ उत्पन्न कर शासन पर बल-प्रयोजन की श्रेणी में की जाय एवं इसने जानपद-सेवा-संघों को अन्य श्रमिक संघ के संगठनों से सम्बद्ध होने का निषेध कर दिया। १९२७ के अधिनियम पर मजदूर दल एवं श्रमिक संघों ने सत्तारूढ़ दल द्वारा इसे अपने राजनीतिक विरोधियों के विरुद्ध पक्षपातपूर्ण साधन की मान्यता देकर तीव्र रोष प्रकट किया। १९२९-३१ के मजदूर शासन ने विखण्डन के हेतु एक विधेयक प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया किन्तु शासन लोक सदन में अपने बहुमत के हेतु उदारदलियों पर निर्भर था जो विखण्डन का समर्थन करने के इच्छुक न थे अतः विधेयक स्थगित कर दिया गया। मजदूर शासन ने, जिसने १९४५ में कार्य भार सम्भाला, १९४६ में श्रमिक विवाद एवं श्रमिक संघ अधिनियम प्रस्तुत किया जिसके द्वारा इस घोषणा से १९२७ के अधिनियम का विखण्डन कर दिया गया कि प्रत्येक विधि विधान एवं अधिनियमन का प्रभाव इस प्रकार होना चाहिए जैसे वह अधिनियम कभी पारित ही न हुआ हो।

श्रमिकों की अपेक्षा श्रमिक संघवाद श्रमिकाओं में कम सक्रिय है। श्रमिकाओं में संघ स्थापित करने के प्रयत्न किये गये हैं जो न्यूनाधिक सफल भी रहे हैं किन्तु इसमें संशय नहीं किया जा सकता कि श्रमिकाओं की बृहद् संख्या की आन्दोलन में रुचि नहीं है। कुछ अंशों तक इसका कारण यह भी हो सकता है कि उन्हें पुरुषों से कम भृति मिलती है अतः वे संघ को अभिदान देने में असमर्थ हैं। एक संभाव्य कारण यह भी है कि अधिकांश स्त्रियों की औद्योगिक अथवा व्यावसायिक नियुक्ति उनके जीवन का प्रमुख कार्य नहीं है। वे विवाह एवं अपने आपको गृह-व्यवस्था में तल्लीन करने की आशा करती हैं एवं अधिकांश ऐसा करती भी हैं। अतः वे ऐसे सेवा योजन की परिस्थितियों में स्थायी सुधार के प्रयत्नों में अधिक रुचि नहीं लेतीं जिसे उन्हें त्यागने का विचार रहता है। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि श्रमिकाओं की अवस्थाओं का नियमन कारखाना अधिनियमों के अन्तर्गत होता है अतः उन्हें श्रमिक संघ कार्यवाही की कम आवश्यकता होती है। जो कुछ पुरुषों को श्रमिक संघों से

प्राप्त हुआ है वह स्त्रियों को कारखाना अधिनियमों से प्राप्त हो गया है।

श्रमिक संघवाद केवल शारीरिक श्रमिकों तक ही सीमित नहीं रहा है। बहुत से संगठन जो तत्त्वतः श्रमिक संगठन हैं शारीरिक श्रमिकों एवं व्यवसायियों में विद्यमान हैं यद्यपि सामान्यतः उनका इस नाम से वर्णन नहीं किया जाता। अभिनेताओं, चिकित्सकों, अध्यापकों, पत्रकारों, अधिकोष-लेखकों, रेलवे लेखकों, विक्रयशाला सहायकों, स्थानीय शासन कर्मचारियों एवं नागरिक सेवकों के सबके किसी-न-किसी प्रकार के सङ्गठन हैं जो श्रमिक सङ्घ के अनुरूप हैं।

अर्वाचीन वर्षों में श्रमिक संघवाद की प्रमुख विशेषताओं में से एक वृहद् संघों एवं मण्डलों की स्थापना थी। यह प्रत्याशित था कि श्रमिक संघवाद के प्रारम्भिक दिनों में जब संवादवहन कठिन था संघ छोटे एवं स्थानीय होने चाहियें। कालान्तर में जब लघु संघों का एकीकरण हुआ एवं वृहद् एवं राष्ट्र-व्यापी संस्थान स्थापित हुए, श्रम ने पूँजी के उदाहरण का अनुकरण किया एवं स्थानीय संघ वृहद् संगठनों की शाखाएं हो गये। माइनर्स फेडरेशन आफ ग्रेट ब्रिटेन (Miners Federation of Great Britain) का १८८९ में निर्माण हुआ। आगामी वर्ष एक यन्त्रकार संधान तथा १८९१ में मुद्रण व्यसाय संधान स्थापित किये गये जबकि १८९२ में लन्दन में निर्माण व्यवसाय से सम्बद्ध संघों के संगठन का निर्माण हुआ। नेशनल यूनियन आफ रेलवेमैन का १९२३ में निर्माण हुआ तथापि रेलवे श्रमिकों के कुछ वर्ग जैसे इंजन चालकों, खलासियों एवं रेलवे लिपिकों ने अपने पृथक् संघ स्थापित करना अधिक श्रेयस्कर समझा। १९११ में एक राष्ट्रीय यातायात संघ का प्रादुर्भाव हुआ एवं १९१४ में खनिकों, रेलवे श्रमिकों एवं यातायात श्रमिकों के त्रिदलीय संघ (Triple Alliance) का निर्माण हुआ। (त्रिदलीय संघ १९२१ में समाप्त हो गया जबकि खनिकों को सहयोग प्रदान करने के हेतु हड़ताल में यातायात श्रमिक एवं नेशनल यूनियन आफ रेलवेमैन असफल रहे)। १९२० में अमलगमेटेड सोसायटी आफ इंजीनीयर्स ने कुछ लघु यन्त्रकार संघों को अपने में सम्मिलित कर लिया एवं अमलगमेटेड इञ्जीनीयर्स यूनियन निर्मित हो गई। संघों के बहुत से अन्य उदाहरण दिये जा सकते हैं; यह कहा जा

सकता है कि विभिन्न प्रकार के संगठन जिनमें व्यावहारिक रूप से स्वतन्त्र संस्थाओं के अबद्ध संघ से अत्यधिक केन्द्रीकृत अधिष्ठान, जिनकी संविधायी संस्थाएँ केवल अधीनस्थ शाखाएँ हैं, सम्मिलित हैं, इस शब्द के अन्तर्गत आ जाते हैं।

माइनर्स फेडरेशन ऑफ ग्रेट ब्रिटेन बहुत से माण्डलिक सङ्घों का संयोग था। कई वर्षों तक खनिक इससे असन्तुष्ट रहे एवं १९३७ में ब्लैकपूल में सङ्घ के अधिवेशन में केवल एक सङ्घ के निर्माण का प्रस्ताव किया गया। कोई तात्कालिक कार्यवाही नहीं की गई किन्तु १९४४ के नॉटिंघम अधिवेशन में यह सर्वसम्मति से निश्चय किया गया कि वृहद् सङ्घ से सम्बद्ध सब सङ्घ एक राष्ट्रीय सङ्घ में एकीकृत हो जायँ। खनिकों के मतदान से प्रस्ताव का समर्थन हो गया एवं नेशनल यूनियन आफ माइन वर्कर्स (National Union of Mine Workers) का १ जनवरी १९४५ को आविर्भाव हुआ।

श्रमिक सङ्घ कांग्रेस का निर्माण १८६८ में हुआ (श्रमिक सङ्घों के पूर्ण विधानीकरण से पूर्व) एवं अधिकांश सङ्घ इससे संयुक्त हैं जिससे यह एक प्रकार की श्रम संसद् का रूप धारण कर लेती है जहां विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व होता है। इसकी सामान्य परिषद्, जिसका निर्माण १९२० में हुआ था, के कार्य, सङ्घ के मध्य उत्पन्न विवादों का हल, किसी सङ्घ के व्यवहार की जांच जो श्रमिक सङ्घ आन्दोलन के विरुद्ध कार्य करता प्रतीत होता हो, श्रम को प्रभावित करने वाले प्रस्तावित विधान पर ध्यान रखना एवं जब आवश्यकता हो, श्रमिक सङ्घों में समान कार्यवाही को प्रोत्साहन देना थे। श्रमिक जगत् में सामान्य परिषद् बहुत प्रभावशाली संस्थान है यद्यपि वृहत्तर संघ इसके द्वारा नियन्त्रण के किसी सुझाव पर रोष प्रकट करते हैं तथापि उनकी दृष्टि से इसका उचित कार्य विभिन्न संघों पर नियन्त्रण की अपेक्षा श्रमिक हितों में सामञ्जस्य स्थापित करना है।

उन्नीसवीं शताब्दी में श्रमिक संघ के निर्माण के अधिकार की प्राप्ति के हेतु श्रमिक संघर्ष एवं नियोक्ताओं द्वारा उनकी स्वीकृति दृष्टिगोचर हुई। बीसवीं शताब्दी के माध्य वर्षों में कुछ श्रमिकों के श्रमिक संघ के सदस्य न होने के अधिकार की रक्षा के प्रयत्न दृष्टिगोचर हो रहे हैं। कई वृहद् औद्योगिक उप-

क्रमों में व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के साथ, जो किसी उचित संघ के सदस्य नहीं है, कार्य करना अस्वीकार कर देते हैं अतः नियोक्तागण इस कठिनाई के निवारण के हेतु कभी-कभी असंघीय सदस्यों को लेना अस्वीकार कर देते हैं। कुछ स्थानीय परिषदें इस बात पर बल देती हैं कि उनके सभी कर्मचारी एक ही व्यापार संगठन से सम्बद्ध हों, यद्यपि इस नीति को कार्यरूप में परिणत करने के प्रयत्नों में वे सदैव सफल नहीं हुए हैं। श्रमिक संघ कांग्रेस ने इस आन्दोलन को अधिकृत रूप से संवृत्त व्यवसाय के हेतु अनुमोदित नहीं किया है अतः इसने अपने समक्ष आदर्श रूप में श्रमिक संघों की सदस्यता शत प्रति शत करना रखा है किन्तु दबाव का समर्थन करना समाप्त कर दिया गया है।

छब्बीसवाँ अध्याय

आधुनिक आँग्ल पोतवहन

सत्रहवीं एवं अठारहवीं शताब्दियों में आँग्ल सर्वोच्चता के निर्माण पर नौवहन अधिनियमों के पड़ने वाले प्रभाव की मात्रा पर पूर्व विचार किया जा चुका है। इस विषय में कुछ भी मतान्तर हो कि इसमें कोई संशय नहीं हो सकता कि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में नियमों के दुरुपयोग तथा अन्ततः विखण्डन से आँग्ल व्यापारिक पोतवहन का जो विश्व में सर्वप्रथम था महत्त्व किसी अंश में कम नहीं हुआ। शताब्दी के प्रारम्भिक काल में संयुक्त राज्य में वणिक्-पोत का विपुल मात्रा में निर्माण हुआ किन्तु गृह-युद्ध (१८६१-५) काल में इसका अधिकांश नष्ट हो गया एवं अमेरिकन उस क्षति की पूर्ति करने में असफल रहे।[1]

उन्नीसवीं शताब्दी के अनन्तर पोतवहन में महत्त्वपूर्ण औद्योगिक परिवर्तन हुए। सर्व प्रथम वाष्प रेलवे के चलने से कई वर्ष पूर्व ही वाष्प जलयान का निर्माण हो चुका था। १८०२ से पूर्व ही विलियम सिमिंगटन द्वारा समनुविधित वाष्प जलयान शार्लोट हुँड्राज़ फोर्थ-क्लाइड नहर में कार्य कर रहा था। १८०७ में एक अमेरिकन रॉबर्ट फुल्टन द्वारा समनुविधित किन्तु बूल्टन-वाट सगन्त्र से सज्जित क्लेरमाण्ट न्यूयार्क-एल्बनी के मध्य हडसन नदी में चलता था। १८१२ में हैनरी बैल द्वारा निर्मित कामेट नामक यात्री वाष्प-नौका क्लाइड में पांच नाट (जल क्रोश) की गति से चलती थी। आगामी कुछ वर्षों में बहुत सी वाष्प नौकाओं का निर्माण किया गया। १८१५ में ग्लासगो में निर्मित एक वाष्प पोत ने लन्दन तक यात्रा की एवं एतद् पश्चात् लन्दन मारगेट के मध्य

---

१. लोह पोत का निर्माण संयुक्तराज्यीय वणिक् पोत के लिए घातक था क्योंकि अमेरिकन लोहा एवं कोयला पोतनिर्माण की दृष्टि से सुविधाजनक स्थान पर स्थित नहीं थे। पोत-निर्माण व्यय ग्रेट ब्रिटेन की अपेक्षा संयुक्त राज्य में अधिक था तथा देश के आन्तरिक विकास में पोत-निर्माण की अपेक्षा पूँजी के विनियोजन के अन्य बहुत से अधिक लाभप्रद साधन थे।

चलने लगा। एक वाष्प पोत सवाना ने १८१९ में एटलाण्टिक पार किया एवं दूसरे पोत एण्टर प्राइज ने डार्लिङ्गटन रेलवे की सम्पूर्ति के वर्ष १८२५ में केप मार्ग से भारत की यात्रा की। जनरल स्टीम नेवीगेशन का निर्माण १८२४ में हुआ था।

अति प्रारम्भिक वाष्प पोत वायु पोत थे जो सगन्त्र एवं क्षेपणचक्र युक्त होते थे। वायु पोतों को शिरोवायु अथवा निर्वातावस्था में प्रगति करने में कठिनाई अनुभव होती थी एवं प्रारम्भ में सगन्त्रों का प्रयोग केवल उस समय ही करने का विचार था जब परिस्थितियां पोतपट के लिए अनुकूल न हों। अतिवात में पोत अपने पोतपट को फैला सकता था किन्तु निर्वातावस्था में अथवा जब वायु अनुकूल न हो तो वाष्प का प्रयोग किया जा सकता था। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से पूर्व केवल वाष्प से ही चालित पोतों का निर्माण किया गया; शताब्दी के अतिपरार्द्ध पर्यन्त आंग्ल पंजिका में पंजीकृत वायुपोतों की संख्या वाष्प पोतों की संख्या से अधिक थी यद्यपि उत्तरोक्तों की भारवहन क्षमता पूर्वोक्तों की अपेक्षा अधिक थी।

१८६९ में स्वेज नहर का खुलना इन दो प्रकार के पोतों के संघर्ष में निर्णायक सिद्ध हुआ। नहर का वायु पोत उपयोग नहीं करते थे जिनकी पूर्व-यात्रा लम्बे समुद्री मार्ग से चालू रही। इनकी यात्रा में कई सप्ताह एवं कभी-कभी कुछ मास लग जाते थे एवं झंझावात तथा निर्वात को दृष्टि में रखते हुए कोई विश्वस्त समय-तालिका नहीं बनाई जा सकती थी। वाष्पपोत अधिक तीव्र गति से चलते थे लघुतर मार्ग का अनुसरण करते थे, तथा उनके गमनागमन की अति परिशुद्धतापूर्वक घोषणा की जा सकती थी।

अत्यारम्भिक वाष्पपोत काष्ठ निर्मित होते थे तथा वे पादक नौकाएं थीं। शताब्दी के मध्य से पूर्व नदियों तथा लघु समुद्री यात्राओं में लीन वाष्प नौकाओं के अतिरिक्त अन्य पोतों में पादक चक्र का स्थान भ्रमि-चालक ने लेना प्रारम्भ कर दिया। पोत निर्माण में काष्ठ के स्थान पर लोह प्रयुक्त होने लगा तथा शताब्दी के चतुर्थ चरण में पोत लोह की अपेक्षा इस्पात के बनाये जाने लगे। इस्पात के उत्पादन की पद्धतियों में अति प्रगति के कारण कच्चे माल के मूल्य में कमी हो गई तथा इसके साथ-साथ पोत निर्माण व्यय में भी कमी हो

गई। इस्पात के पट्ट लोह पट्टों की अपेक्षा पतले होते थे इसलिए इस्पात निर्मित पोत हल्का होता था एवं अपने पुरोगामी लौह पोत की अपेक्षा जल से अधिक बाहर रहता था। अतएव भार रेखा तक जल पहुँचने से पूर्व यह अधिक माल लाद सकता था। माल वहन क्षमता की इस वृद्धि के कारण भाटक में कमी होने लगी।

सामुद्रिक अभियान्त्रिकी में सुधार होने लगे। चतुरंम्भ गन्त्र, जिसे १८५४ में प्रयुक्त किया गया था ईंधन की अल्प खपत से अधिक वाष्पभार उत्पन्न करता था। एतद् पश्चात् संयुक्त गन्त्र निर्मित हुए जिनके बाद त्रिविस्तरण गन्त्र बना जिसका स्थान चतुष्क विस्तरण गन्त्र ने ग्रहण कर लिया। इसमें वाष्पशक्ति का बारबार प्रयोग होता था जिससे किसी निश्चित यात्रा के हेतु आवश्यक ईंधन की मात्रा में कमी हो गई। कोयला रखने के हेतु कम स्थान की आवश्यकता होती थी अतः माल रखने के हेतु अधिक स्थान उपलब्ध हो सकता था। न्यूकेसिल वासी सर चार्ल्स परसन्स के वरिवर्त के आविष्कार के फलस्वरूप गति एवं विश्वसनीयता में और अधिक वृद्धि हो गई। ईंधन के रूप में कोयले के स्थान पर तेल का प्रयोग एक अधिक अर्वाचीन परिवर्तन रहा है।[1] अन्तर्दहन गन्त्र का प्रयोग समुद्र पर भूमि अथवा वायु की अपेक्षा कम व्यापक रहा है किन्तु इसमें वृद्धि हो रही है। १९४६ एवं १९४७ के मध्य निर्मित पोतों में अर्द्धांश से अधिक वहित्र जलयान थे।

प्रौद्योगिक विकास के इस क्रम से ग्रेट ब्रिटेन को न केवल दीर्घकाल तक विश्व के विशालतम व्यापारिक पोत को बनाये रखने में सहायता मिली, अपितु वह सर्वाधिक नवीनतम भी रहा। आँग्गल पोताधीशों एवं पोतवह प्रमण्डलों ने प्रत्येक सुधार का नवीन पोतों के निर्माण तथा पुराने पोतों का अन्यत्र विक्रय करके लाभ उठाया। यह अब भी सत्य है कि विदेशी पंजिकाओं में पंजीकृत पोतों का विशाल परिमाण आँग्ल निर्मित हैं जिन्होंने अपना कार्य आँग्ल पोतों के रूप में प्रारम्भ किया था। आँग्ल व्यापारिक पोत का निर्मा उन पोतों से हुआ है जो नवीनतम सुधार युक्त हैं अतः कार्य की दृष्टि से सर्वाधिक मितव्ययितापूर्ण एवं लाभदायक हैं।

---

१. १९२७ में विश्व में १,८०,००,००० टन भार के पोत ऐसे थे जिनमें ईंधन के स्थान पर तेल प्रयुक्त होता था।

नौवहन अधिनियम के विखण्डन के बाद से आँग्ल पोतवहन पर बहुत कम शासकीय नियन्त्रण रहा है। जब राज्य निर्बाध दृष्टिकोण प्रबल था उस समय रेलों की अपेक्षा पोतवहन पर विनियमन की अधिक कामना न थी; साथ ही किसी भी अवस्था में व्यापारिक पोत के नियमन के हेतु जटिल विनियमों की स्थापना अति कठिन होती। एक रेलवे प्रमण्डल की भाँति एक पोतवह प्रमण्डल को संसदीय सम्मोदन प्राप्त करने की कोई आवश्यकता नहीं थी क्योंकि इसे भूमि का क्रय नहीं करना होता था एवं इसका मार्ग—समुद्र सभी के हेतु खुला था। यदि शासन ने विस्तृत विनियमों का निर्माण कर दिया होता तो वाष्प पोत प्रमण्डलों द्वारा रेलवे प्रमण्डल की अपेक्षा उनका उल्लंघन अधिक सरल होता। रेलवे प्रमण्डल देश के आन्तरिक भागों में कार्य करते थे अतः निरीक्षणाधीन थे किन्तु पोतवह प्रमण्डलों का व्यापार देश के बाहर होता था तथा शासन की दृष्टि से दूर रहता था। बहुत से आंग्ल पोत जो वहन-व्यापार में लगे हुए थे, यायावी वाष्पयान थे[1] जो किसी बन्दरगाह पर

---

१. पोत जो दो बन्दरगाहों जैसे लिवरपूल मेन्चेस्टर के मध्य लघुचर्या वाहक हैं अथवा जो एक नियमित मार्ग पर कार्य करते हैं जिनमें बहुत से बन्दरगाह होते हैं पोतयान होते हैं। क्योंकि ये निर्धारित समय-विभागानुसार चलते हैं उनके स्वामियों को सभी महत्त्वपूर्ण बन्दरगाहों पर संचय एवं माल चढ़ाने अथवा उतारने की व्यवस्था करने के हेतु शाखाएं अथवा अभिकरण स्थापित करने चाहिए; ऐसे संगठन बिना पोतयानों को अनिर्वायतः देर हो जायगी। किन्तु इन शाखा कार्यालयों की स्थापना में व्यय होता है जिसे विशाल प्रमण्डल ही वहन कर सकते हैं अतः मालवाही पोतयानों का स्वामित्व सामान्यतः ऐसे प्रमण्डलों के हाथों में है।

यायावी पोत वे हैं जो किसी भी प्रकार के सामान को व्यापार की आवश्यकताओं के अनुसार किसी भी समय लेकर कहीं भी जाने को तत्पर रहते हैं। किसी व्ययसाध्य संगठन की आवश्यकता नहीं है एवं पोत का स्वामित्व किसी व्यक्ति अथवा छोटे वर्ग के हाथों में हो सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी में बहुत से यायावी पोतों का स्वामित्व चौसठवें सिद्धान्त पर आधारित था, पोत के मूल्य को चौसठ भागों में विभाज्य समझा जाता था एवं बहुत से मनुष्यों में से प्रत्येक का कितने ही चौसठवों में भाग हो सकता था।

किसी भी बन्दरगाह के लिए किसी भी प्रस्तावित भाटक पर माल लाद लेते थे। वे आँग्ल देश से वर्षों बाहर रह सकते थे एवं उनके कार्यों के विनियम के प्रयत्न व्यवहार में परिणत नहीं किये जा सकते थे। आँग्ल यायावी वाष्पयानों की अन्य देशों के पोतों से माल के लिए प्रतिद्वन्द्विता रहती थी अतः यदि बन्धन लगाये जाते एवं उन पर व्यवहार किया जाता तो आंग्ल पोतों के अबाधित प्रतिद्वन्द्वी विजयी हो जाते

तथापि शताब्दी के मध्य में व्यापारिक पोत पर शासकीय पर्यवेक्षण का सम्पूर्ण अभाव कुछ दृष्टियों से प्रशंसनीय नहीं था। पोतों का कोई समुद्रयात्रौ-चित्य का परीक्षण नहीं होता था। पुराने पोत अधिभारपूर्ण एवं अपर्याप्त मनुष्य सम्पन्न होते थे जिससे इनके स्वामियों को अल्पतम व्यय पर अधिकतम लाभ हो। कभी-कभी उन्हें अति मूल्य पर आगोपित करवा लिया जाता था एवं समुद्र में इस आशा से भेज दिया जाता था कि वे नष्ट हो जाँयगे; इस प्रकार नाविकों के समक्ष उत्पन्न होने वाले महान् भय की पूर्णतया अवहेलना की जाती थी। यद्यपि इस प्रकार की कार्यवाहियां अवैधानिक थीं किन्तु अभि-प्राय का प्रमाण प्राप्त होना कठिन था। गत अस्सी वर्षों में पोतों के समुद्र यात्रौ-चित्य, यात्रियों की सुरक्षा तथा नाविकों के उचित व्यवहार की प्राप्ति के हेतु सन्नियमों का निर्माण किया गया है।

इस विषय में जनमत को जाग्रत करने वाला अग्रदूत एक संसद् सदस्य सैम्युअल प्लिमसोल था जिसका दावा था कि पोतों को उचित आपरीक्षण बिना चर्या योग्य स्वीकृत नहीं किया जाना चाहिए एवं प्रत्येक पोत पर भार-रेखा अङ्कित होनी चाहिए जो कभी निमग्न न हो। उसने नौतल वस्तुओं, जिससे पोतशीर्ष भारी हो सकता था, तथा अनाज को खुले में ले जाने, जो कष्टदायक परम्परा थी, के उन्मूलन के हेतु भी दबाव डाला क्योंकि प्रचण्ड मौसम में अनाज पोतोदर में यत्रतत्र लुढ़ककर पोत को सन्तुलन प्राप्त करने में बाधक होगा जिससे यह उलट-पुलट होकर डूब भी सकता था।

१८७१ में वणिक् पोत के सम्बन्ध में कुछ अधिकार व्यापार मण्डल को प्रदान कर दिये गये। ये विद्यमान बुराइयों को समाप्त करने में अपूर्ण थे एवं १८७३ में इनके व्यापक बना दिये जाने तक ये ऐसे ही थे। इस प्रश्न पर

अन्वेषण करने के हेतु एक शासकीय आयोग (रायल कमीशन) की नियुक्ति की गयी तथा क्योंकि इस विषय में शासन ने कोई आकर्षण प्रकट नहीं किया, प्लिमसोल ने स्वयं ही लोक सदन में एक विधेयक प्रस्तुत करने का दृढ़ निश्चय किया। एक सदस्य के निजी विधेयक को पारित किये जाने का बहुत कम अथवा कोई भी अवसर नहीं था चाहे इसके पक्ष में सदस्यों की कितनी भी तीव्र भावना हो जब तक शासन इसको पारित किये जाने की सुविधाएं प्रदान नहीं करता अतः इस कारण प्लिमसोल का विधेयक पारित नहीं हुआ। किन्तु इस समय तक वह इस विषय में जनमत जाग्रत कर रहा था अतः शासन ने अन्त में इस पर कार्यवाही करना उचित समझा।

१८७५ एवं १८७६ के वणिक् नौ-वहन अधिनियमों के अन्तर्गत उन पोत स्वामियों को दण्ड दिये जाने थे जो समुद्रयात्रोचित अवस्था में न होते हुए पोत को समुद्र में जाने दें। नौतल-वस्तुओं को सीमित कर दिया गया एवं भार-रेखा स्थापित कर दी गई। अधिकृत भार-रेखा को प्लिमसोल रेखा का लोक-प्रिय नाम दिया जाना ही प्लिमसोल के कार्य की स्वीकृति है। उत्तरकालीन अधिनियमों से उन पोतों की सुरक्षा के सुनिश्चयन के हेतु नियमों का निर्माण किया गया जिनमें अनाज ले जाया जा सकता था। १८९४ के वणिक् पोत अधिनियम ने इस विषय में विधि को व्यापक एवं संहिताबद्ध किया।

समुद्र में यात्रियों एवं नाविकों की सुरक्षा के हेतु रक्षाप्लव, रक्षापेटी, एवं रक्षा नौकाओं की व्यवस्था करना अनिवार्य कर दिया गया एवं अप्रेल १९१२ में टाइटेनिक के नाश के पश्चात् इस विषय में विनियमों को संशोधित कर दिया गया एवं उन पर और कठोरता से व्यवहार किया गया। एक अधिक अर्वाचीन अनिवार्यता यह है कि उन सभी पोतों पर बेतार से सन्देशों की प्राप्ति एवं प्रेषण के यन्त्रों की सज्जा होनी चाहिए जिनमें यात्री जा रहे हों।

आँग्ल पोत-वहन का उन्नीसवीं शताब्दी में विकास इस अर्थ में आँग्ल रेलों की भांति हुआ कि यह निजी साहस का परिणाम था एवं शासन ने इसमें कोई सहायता नहीं प्रदान की।[1] इस युग में आँग्ल उद्योग के महान्

---

१. आँग्ल शासन उन वाष्पपोत प्रमण्डलों को सहायता प्रदान करता था जो डाक वहन का दायित्व लें किन्तु यह सेवाओं के मूल्य से अधिक कुछ नहीं था।

विकास का यह स्वाभाविक परिणाम था। आँग्ल देश निर्मित वस्तुओं की मांग सम्पूर्ण विश्व में थी, आँग्ल उद्योगों के हेतु विश्व के समस्त भागों से कच्चा माल आता था, शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बढ़ते हुए परिमाण में खाद्य का आयात किया जाता था एवं आँग्ल कोयले की प्रत्येक स्थान पर कोयला भरने की दृष्टि से आवश्यकता थी। उन्नीसवीं शताब्दी काल में कोयले के निर्यात का महत्त्व इस प्रकार उल्लेखनीय था कि यह उन पोतों को निर्गामी माल प्रदान करता था जो खाद्य एवं कच्चे माल से लदे हुए आँग्ल बन्दरगाहों पर आते थे। यदि निर्गामी माल नहीं होता एवं पोतों को स्थैर्य भार त्यागना पड़ता तो आगत माल पर उच्च भाटक प्रभार होता, खाद्यान्न का मूल्य अधिक हो गया होता, उद्योगों के हेतु कच्चा माल अधिक मूल्यवान हो गया होता एवं औद्योगिक विकास में बाधा पड़ती।

ग्रेट ब्रिटेन में पोत आँग्ल पूंजी से बनते थे क्योंकि उनके निर्माण में लगी हुई पूंजी पर प्रतिफल प्रदान करने एवं उनके हेतु सेवायोजन की खोज की उचित सम्भावना थी। इस कारण भी यायावी वाष्पयानों का निर्माण किया गया; वे जैसे ही एक बन्दरगाह से दूसरे को जाते थे वैसे ही धनोपार्जन कर लेते थे एवं लाभ उनके स्वामियों के हाथों में हस्तान्तरित कर दिया जाता था। विश्व के समस्त भागों से आँग्ल यायावी पोतों द्वारा अर्जित धनराशि ग्रेट ब्रिटेन के अदृश्य निर्यात का एक महत्त्वपूर्ण अंग थी। आँग्ल समृद्धि का अन्य महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि पोत निर्माण में जो सुविधाएँ ग्रेट ब्रिटेन को थीं उन्होंने आँग्ल पोत घाटों को उन विदेशी पोत घाटों से सफलतापूर्वक प्रति-स्पर्द्धा करने का अवसर प्रदान कर दिया जो अपने हेतु पोतों का निर्माण करना चाहते थे किन्तु कर नहीं पाते थे।

१८९० से पूर्व संयुक्त आँग्ल देश विश्व के पोतों के ८०% का निर्माता था एवं ६०% का स्वामी। पोत निर्माण व्यवसाय अत्यधिक विशिष्टीकृत था। इसमें बहुत से सार्थ लगे हुए थे; कुछ ने अपना ध्यान केवल विशेष प्रकार के पोतों तक सीमित कर रखा था तथा अन्य व्यवसाय के केवल विशेष पक्षों यथा नौकाय निर्माण, नौगन्त्र निर्माण, पट्टों के निर्माण तथा ढलाई से सम्बद्ध थे। इस विशिष्टीकरण एवं विशाल परिमाण में आँग्ल निर्माण के कारण श्रम

विभाजन के लाभ से सभी सुविधाएँ सम्भव हो गईं।

उन्नीसवीं शताब्दी में पोत निर्माण में आँग्ल सर्वोपरिता के कई कारण थे जिनमें से एक का ऊपर निर्देश किया जा चुका है। दूसरे, तट के समीप विशाल मात्रा में लोह एवं कोयला विद्यमान था। इस सम्बन्ध में ग्रेट ब्रिटेन को संयुक्त राज्य से एक लाभ था कि वह अपने प्रतिद्वन्द्वी की अपेक्षा अधिक सस्ते मूल्य पर पोत निर्माण कर सकता था। आंग्ल उत्पादन की मात्रा से प्रशिक्षित एवं अतिदक्ष संयन्त्रकारों तथा पोत निर्माताओं की एक प्रजाति का विकास हुआ जिनकी प्रौद्योगिक क्षमता उनके विदेशी प्रतिद्वन्द्वियों की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ थी।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण की मन्दी का आंग्ल पोतवहन पर विपरीत प्रभाव हुआ। जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, जिन पोतों का इस समय निर्माण किया गया था वे उन सुधारों से युक्त थे जिनसे अधिक भांड-स्थान एवं गति प्राप्त हो सके एवं स्वेज नहर के खुल जाने से बहुत से महत्त्व-पूर्ण व्यापार मार्ग छोटे हो गये थे। कुछ काल तक पोतवहन विश्व व्यापार की आवश्यकताओं से बहुत अधिक हो गया था। भाटक में बहुत कमी हो गई तथा उपलब्ध माल के लिए पोतों में तीव्र प्रतिस्पर्द्धा हो गई।

आँग्ल व्यापारिक पोतों को उसी युग में जर्मन प्रतिस्पर्द्धा के विकास का भी सामना करना पड़ा। जर्मन साम्राज्य में ऐसे वणिक पोत के निर्माण के महान् प्रयत्न किये गये जो कालान्तर में आँग्ल पोत का प्रतिद्वन्द्वी हो सके। जो उल्लेखनीय सफलता प्राप्त हुई उसका प्रमुख कारण जर्मन उद्योग का प्रसार था; यदि निर्यात को निर्मित माल एवं आयात को कच्चा माल नहीं होता तो जर्मनी के लिए विशाल वणिक् पोत का निर्माण सम्भव नहीं होता। किन्तु जर्मन व्यापारिक पोत का विकास औद्योगिक विकास के स्वाभाविक परिणाम से कुछ अधिक था; इसे प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से जर्मन शासन का प्रोत्साहन प्राप्त था। प्रत्यक्ष समर्थन आर्थिक सहायता एवं अध्युपकार के रूप में तथा परोक्ष समर्थन ऐसी युक्तियों से यथा बन्दरगाह व्यय में कमी तथा डाक ले जाने पर भारी खर्चा देना आदि था।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में जो मन्दी आँग्ल पोतवहन में

आयी उसका एक परिणाम पोतवहन क्षेत्र में संयोजन हुआ। कुछ अवस्थाओं में प्रतिद्वन्द्वी यान प्रणालियों यथा यूनियन लाइन एवं कैस्टर लाइन के सम्मेलन से प्रतिद्वन्द्विता का निरसन किया गया। प्रायः अधिकतर पोतवह प्रमण्डल अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखते थे किन्तु प्रतिस्पर्द्धा कम करने तथा भाटक एवं दरों में भावी गिरावट रोकने के हेतु सम्मेलनों में सम्मिलित होते थे। इन सम्मेलनों में भाटक निश्चित कर लिये जाते थे एवं अधःकर्तन रोकने के हेतु समझौते कर लिये जाते थे। ये सम्मेलन केवल पोतयानों पर ही लागू होते थे; जिन शर्तों के अन्तर्गत यायावी पोतों को सामान ले जाना होता था वे ऐसे समझौतों की सभी सम्भावनाओं से प्रतिवारित थे। आयात की अपेक्षा निर्यात माल के सम्बन्ध में इस कारण सम्मेलन की व्यवस्था करना अधिक सरल था कि आंग्ल आयात कच्चे माल का होता है जो ग्रेट ब्रिटेन को उन यायावी पोतों से आता है जो उपलब्ध हों एवं यायावियों द्वारा ली गयी दरें इतनी परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होती हैं कि प्रमाणीकरण असम्भव है। कुछ अंश तक एवं सीमित सफलता से आंग्ल पोतवह प्रमण्डलों ने अपने जर्मन प्रतिद्वन्द्वियों को सम्मेलन प्रणाली में सम्मिलित करने के प्रयत्न किये।

सम्मेलन प्रणाली से निकटतः सम्बद्ध प्रणाली आस्थगित अवहार की थी। पोतवणिकों से माल के चढ़ाने एवं उतारने में पोत के उपयान्त्रों के प्रयोग के फलस्वरूप अधिनौभाटक नामक व्यय मांगना प्रचलित था एवं महान् मन्दी काल में यह राशि उन व्यापारियों को लौटाना सामान्य हो गया जो नियमितरूप से अपना माल एक ही यान प्रणाली अथवा उन प्रणालियों को देते थे जो एक ही सम्मेलन से सम्बद्ध थे। किन्तु अवहार एक साथ नहीं प्रदान कर दिया जाता था। शोधन छः मास तक अवशिष्ट रहता था एवं यदि किसी समय व्यापारी ने सम्मेलन में न होने वाली किसी अन्य प्रणाली से माल भेजा तो उसकी सभी देय राशि का लोप हो जाता था। इस प्रणाली की योजना स्पष्टतः इसलिए बनायी गयी थी कि व्यापारियों का उन यान प्रणालियों से स्थायी सम्बन्ध हो जो उनका माल नियमित रूप से ले जाते थे।

इन सम्मेलनों में से प्रथम का सम्बन्ध कलकत्ता व्यापार से था, इसका १८७५ में गठन हुआ था एवं कालावधि पश्चात् विश्व के अन्यान्य भागों से

व्यापार सम्बन्धी सम्मेलन होते रहे। इस प्रबन्ध की आलोचना इस की एकाधिकारी प्रवृत्ति के कारण की गयी किन्तु सम्मेलन की ओर से यह प्रतिवाद किया गया कि यह प्रणाली वणिकों को इस रूप में लाभदायक थी कि इससे दरों में स्थिरता उत्पन्न होगी एवं व्यापारी अपनी वस्तुओं का ऐसा मूल्य बता सकेंगे जिसमें समुद्रपार-व्यय सम्मिलित हो। पोतवह प्रमंडल अधिक नियमित सेवाएँ प्रदान कर सकेंगे एवं विशालतर पोतों का निर्माण किया जा सकेगा। प्रबंध परिव्यय में कमी हो सकेगी एवं प्रतिद्वन्द्वी प्रचार कार्य निरस्त किया जा सकेगा। ये कारण व्यवसाय में सभी सम्बद्ध व्यक्तियों के सामान्य हित में होंगे।

सम्मेलन प्रणाली की निरन्तर आलोचना के फलस्वरूप १९०६ में इस प्रबन्ध के अन्वेषणार्थ एक शासकीय आयोग (रॉयल कमीशन) की स्थापना की गयी। अन्वेषण का परिणाम सामान्यतः सम्मेलनों के प्रति सन्तोषप्रद था, बहुमत प्रतिवेदन को इनमें कोई गम्भीर दोष दृष्टिगोचर नहीं हुआ यद्यपि अल्पमत प्रतिवेदन ने एकाधिकारजनित बुराइयों का उल्लेख किया एवं अपना दृष्टिकोण प्रकट किया कि इस प्रणाली की प्रवृत्ति भाटक वृद्धि की ओर रही है। इसका ऐसा विचार दृष्टिगोचर होता था कि इन बुराइयों का सर्वाधिक प्रभावशाली प्रतिकार और अधिक प्रचार था।

सम्मेलनों के समालोचकों ने बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में एक ऐसा अभियोग प्रस्तुत किया था जिसकी तुलना उन परिवादों (शिकायतों) से की जा सकती है जो एक पीढ़ी पूर्व पूर्वाधिकार के सम्बन्ध में रेलवे प्रमण्डलों के विरुद्ध प्रस्तुत किये गये थे। यह दृढ़तापूर्वक कहा जाता था कि सम्मेलन कभी-कभी ग्रेट ब्रिटेन की अपेक्षा महाद्वीपीय देशों से नीची दर लेते थे। ऐसे व्यवहार का निश्चय ही आँग्ल व्यापार पर विपरीत प्रभाव हुआ यद्यपि विदेशी पोतवहन प्रणालियों की प्रतिद्वन्द्विता का सामना करने के हेतु आवश्यकता के रूप में इसका प्रतिवाद किया गया था।

आस्थगित अवहार प्रणाली की जाँच १९२३ में साम्राज्य पोतवहन समिति (इम्पीरियल शिपिंग कमेटी) ने की। समिति इस परिणाम पर पहुँची कि प्रमण्डलों द्वारा कुछ ऐसी योजना बनाना अनुचित नहीं था जिसके अन्तर्गत

उन्हें अपने ग्राहकों पर विश्वास हो सके अतः इसने इस प्रणाली को निष्प्रयोज्य घोषित करना अस्वीकार कर दिया।

उन्नीसवीं शताब्दी के समाप्ति काल में जिन विपरीत परिस्थितियों का आँग्ल पोतवहन पर प्रभाव पड़ा उसने पोतवहन जगत् का ध्यान जर्मन व्यापारिक पोत के विकास की ओर आकर्षित किया। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यह प्रतीत होता था कि इसे शासन द्वारा दिया गया प्रोत्साहन कुछ कम अंशों तक उत्तरदायी नहीं था। बहुत से मनुष्यों की धारणा थी कि जो कुछ जर्मनी के लिए श्रेष्ठ था वह ग्रेट ब्रिटेन के लिए निकृष्ट नहीं था अतः उन्होंने शासन पर राज्य निर्बाध नीति के परित्याग के हेतु दबाव डाला। यह नहीं मान लेना चाहिए कि उनकी यह कल्पना वस्तुतः शुद्ध थी कि जर्मन व्यापारिक पोत का विकास वास्तव में इसे राज्य द्वारा प्रदान की गयी सहायता के कारण हुआ था एवं उनका अगला विवाद भी शुद्ध नहीं था यदि वे इस विषय में ठीक भी थे। किन्तु उचित हो या अनुचित, यह दृष्टिकोण बलवान बनता गया। शासन ने कुछ नहीं किया किन्तु यह अवलोकनीय है कि क्युनार्ड प्रमण्डल को मॉरीटानियाँ एवं ल्यूसीटानियाँ के निर्माण में सहायतार्थ राजकीय ऋण प्राप्त हुआ।

१९१४-१८ के युद्ध काल में आँग्ल पोतवहन को ग्रेट ब्रिटेन के जर्मन पनडुब्बी घेरे के कारण अत्यधिक क्षति उठानी पड़ी। हानि इतनी अधिक थी कि इसका युद्धचर्या पर गम्भीर यहाँ तक कि निर्णायक प्रभाव होता यदि आंग्ल नौ सेना ने पनडुब्बी संकट पर आक्रमण एवं विजय के हेतु ओजस्वी कार्य नहीं किया होता तथा आँग्ल पोत घाटों ने नष्ट पोतों के स्थान पर पोत निर्माण द्वारा क्षति पूर्ति नहीं की होती। युद्ध के समाप्ति काल में आँग्ल पोतों की मात्रा स्वाभाविकतः युद्धपूर्व से कम थी किन्तु निरन्तर निर्माण चालू रहने के कारण कुछ ही वर्षों में क्षतिपूर्ति से भी अधिक कार्य हो गया। अन्य राष्ट्रों विशेषतः संयुक्त राज्य एवं स्कैण्डीनेवियन देशों ने भी बहुत से पोतों का निर्माण किया। युद्ध समाप्ति के एक वर्ष से भी कम समय—जून १९१९ में विश्व की (यद्यपि आँग्ल देश की नहीं) सम्पूर्ण पोतक्षति की पूर्ति कर ली गयी एवं चार वर्ष पश्चात् ही विश्व का सम्पूर्ण पोतवहन १९१४ के पोतवहन से एक तिहाई अधिक था। युद्ध के पश्चात् आँग्ल व्यापारिक पोत में

तीव्रगामी, सुसज्जित एवं आधुनिकतम पोत थे जिनमें कई वहित्र पोत थे एवं कई तैलदाहक पोत थे। किन्तु यद्यपि यह अब भी विश्व में विशालतम था तथापि इसमें विश्व के पोतों का तृतीयांश ही था जब कि १९१४ में यह अर्द्धांश था।[1]

यह स्पष्ट है कि युद्धोपरान्त पोतवहन की मात्रा व्यापार की आवश्यकताओं से अधिक थी। कुछ वर्षों पश्चात् विश्व व्यापार में जो मन्दी व्याप्त हुई उसका पोतवहन पर विपरीत प्रभाव पड़ा। अधिकांश देशों ने ऊँचे तटकर एवं प्रतिषेध द्वारा आयात राशि में कमी करने का प्रयत्न किया एवं इच्छा से अथवा नहीं उहोंने अपने निर्यात व्यापार में भी कमी कर दी। इस घटे हुए व्यापार परिमाण को वहन करने के लिए कम पोतों की आवश्यकता रह गयी एवं कुछ वर्षों तक ग्रेट ब्रिटेन के अधिकांश बन्दरगाहों में वणिक् पोत पड़े रहे क्योंकि उनकी सेवाओं की माँग नहीं थी। मुख्यतः ये पुराने पञ्जीकृत पोत थे जो अधिक आधुनिक पोतों से प्रतिस्पर्द्धा करने में असमर्थ थे जिनका प्रयोग अधिक मितव्ययितापूर्ण था।

पोतों में मन्दी का अत्यन्त तीव्र अनुभव यायावी व्यापार में हुआ जिन पर न केवल पोतों के आधिक्य के कारण मांग में सामान्य कमी होने से आघात हुआ किन्तु विशेषतः कोयले के निर्यात में कमी के कारण भी हुआ। यायावी एवं पोतयानों के मध्य सीमारेखा पूर्वापेक्षा कम स्पष्ट रह गयी क्योंकि शिथिल काल में कुछ पोत जो सामान्यतः पोतयानों के रूप में उपयुक्त होते थे यायावी कार्य में प्रवृत्त हो गये जबकि आर्थिक पुनर्जीवन के आकस्मिक युगों में यायावी पोत पोतयानों के रूप में कार्य करने को बाध्य हो जाते थे।

मन्दी की दीर्घता एवं तीव्रता का परिणाम आँग्ल पोतवहन को राजकीय सहायता की मांग के पुनर्जागरण में हुआ। विश्व के प्रत्येक विदेशी शासन ने

---

१. भिन्न-भिन्न समय आँग्ल ध्वज की छाया में विश्व के पोतवहन का निम्न प्रतिशत है:—१८९०—६०%, १९१४—४६%, १९२०—३६%, १९३०—३३·६% १९३७—३१·८%, १९४७—२४·६%।

१९१४ में संयुक्त आंग्ल देश का पोत भार १,२० लाख टन था जबकि विश्व का सम्पूर्ण भार २,६० लाख टन था; १९४७ में विश्व के ७,५० लाख टन सम्पूर्ण भार में से आँग्ल पोत भार १,८५ लाख टन था।

युद्धों के मध्य काल में अपने पोतों को आर्थिक सहायता प्रदान की तथा यह अनुभव किया गया कि आँग्ल व्यापारिक पोत राजकीय सहायता के अभाव में अपना स्थान नहीं ग्रहण किये रह सकते थे। इस दृष्टिकोण को आंग्ल शासन ने अन्ततः स्वीकार कर लिया एवं १९३९ में युद्धारम्भ से चार पाँच वर्ष पूर्व उधार एवं आर्थिक सहायता के रूप में दोनों यायावी पोतों एवं पोतयानों को राजकीय सहायता की एक मात्रा दी गयी।

१९३९-४५ के युद्ध में आँग्ल पोतवहन को अत्यधिक हानि हुई यद्यपि युद्ध काल में अतिनिर्माण कार्य किया गया एवं शत्रु शक्तियों के पतन के पश्चात् आँग्ल व्यापारिक पोत के पुनरुत्थान का कार्य दुष्कर था। जर्मन वणिक् पोत का विजयी राष्ट्रों में बंटवारा कर लिया गया एवं ग्रेट ब्रिटेन को उपलब्ध टन भार का ४६% प्राप्त हुआ; इन पोतों को आँग्ल शासन ने नहीं रखा किन्तु इसका इस देश के पोतवह सार्थों को विक्रय कर दिया गया। संयुक्त राज्य ने अपने पोतों में से बहुतों का विक्रय कर दिया जिन में से कुछ का आँग्ल पोत स्वामियों ने क्रय कर लिया; यदि आंग्ल शासन ने इस उद्देश्य के हेतु डालरों के प्रयोग की स्वीकृति प्रदान की होती तो यह सम्भव नहीं होता। किन्तु समुत्थान का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन अनिवार्यतः नवीन निर्माण था। ग्रेट ब्रिटेन के नौ-घाट पहले ही उन पोतों के पुनर्नवन में संलग्न थे जिनका युद्ध में उपयोग किया गया था एवं जिनका शान्तिपूर्ण व्यापार में प्रत्यास्थापन हो रहा था एवं उन पोतों का जीर्णोद्धार किया जा रहा था जिन्हें शत्रु के हाथों क्षति उठानी पड़ी थी, श्रम का पूर्ण प्रदाय नहीं था एवं सामान की कमी थी, विशेषकर इस्पात पट्ट जितने प्रदाय थे उससे अधिक मात्रा में आवश्यक थे क्योंकि इस्पात की युद्धोपरान्त निर्माण कार्य में अति विभिन्न उपयोगों के हेतु मांग थी एवं इस्पात का उत्पादन कोयले की अपर्याप्तता के कारण सीमित था। इन सब कठिनाइयों के उपरान्त भी पोत निर्माण चलता रहा एवं १९४६ में यह अनुमान किया गया था कि विश्व के निर्माण कार्य का अर्द्धांश से अधिक आंग्ल नौघाटों पर हो रहा था।

ग्रेट ब्रिटेन की युद्धोपरान्त नौसेना की एक अन्य विशेषता ध्यान देने योग्य है। व्यापारिक पोतों पर कार्यावस्था जो भूतकाल में अति असन्तोषप्रद थी

प्रमाणीकृत कर दी गई एवं मार्च १९४७ में भृतिमापन, काम के घण्टे, अवकाश काल एवं सेवायोजन की निरन्तरता के सम्बन्ध में ऐसे नियमों का निर्माण किया गया जिन पर सामान्यतः व्यवहार करना था। उचित गृह एवं भोजन की व्यवस्था ने भी ध्यान आकर्षित किया। इन नियमों पर व्यवहार अनिवार्यतः उचित होना चाहिए; जब कोई पोत सङ्कट में हो उस समय नाविक केवल इस-लिए कार्य समाप्त नहीं कर सकते कि वे पूरे समय तक कार्य कर चुके हैं जितना उनसे आशा की जाती है न विशेषकर पुराने पोतों पर आदर्श व्यवस्था की स्थापना ही की जा सकती थी किन्तु सुरक्षा एवं सुविधा एवं वणिक् नाविकों के हेतु उचित व्यवहार के एक प्रमाण का प्रवर्तन जो अबतक विचार की गयी किसी भी वस्तु से श्रेष्ठ है आँग्ल पोतवहन के इतिहास में नवीन अध्याय का सूत्रपात करता है।

सत्ताइसवाँ अध्याय

सहकार आन्दोलन

उन्नीसवीं शताब्दी में प्रचलित राज्य-निर्बाध दर्शन ने प्रतिस्पर्द्धा की भावना जाग्रत कर दी। व्यापारियों और उत्पादकों में अपनी वस्तुओं के उत्पादन और विक्रय में परस्पर प्रतिद्वन्द्विता चलती थी। श्रमिक कार्य हेतु प्रतिद्वन्द्वितालीन थे, एवं नियोक्तागण उनके विरुद्ध भृति को निम्नतम स्तर पर लाने के हेतु, श्रेणीबद्ध थे। निर्बाध प्रतिस्पर्द्धा पर आधारित पद्धति-जनित दोषों को रोकने और उन पर विजय पाने के प्रयत्नों में से एक ने सहकार आन्दोलन का रूप लिया।

शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में कई आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ जिन्हें सहकारी नाम से विभूषित किया गया। प्रारम्भ में इस शब्द का कोई निश्चित अर्थ नहीं था और इसका प्रयोग उन विभिन्न योजनाओं के वाच्यार्थ में होता था जिनकी कुछ न कुछ समाजवादी प्रकृति थी। कालान्तर में इसका प्रयोग उन क्रियाकलापों के सम्बन्ध में विशेष रूप से हुआ जिनका उद्देश्य उन हितों में सामंजस्य उत्पन्न करना है जिन्हें सामान्यतया प्रतिद्वन्द्वी समझा जाता है। सहकार के सर्वाधिक श्रेष्ठ रूप में अर्थात् फुटकर व्यापार में क्रेता और विक्रेता के हितों में विरोध निरस्त हो जाता है क्योंकि क्रेता और विक्रेता दोनों एक ही होते हैं। सहकारी उत्पादन में श्रमिक ही नियोक्ता होते हैं। भवन-निर्माण समितियां जो सहकार का साख के क्षेत्र में एक उदाहरण हैं, ऋणदाता और ऋणी के हितों के संघर्ष को कम करती हैं।

सहकारी भण्डार जो देश के अधिकांश भागों में इतने अधिक प्रसिद्ध हैं, फुटकर व्यापार में सहकार आन्दोलन के उदाहरण हैं।[1] यह आन्दोलन १८४४ में प्रारम्भ हुआ जब २८ कर्मकरों द्वारा राशडेल (Rochdale) में एक

---

१. इसका बहुधा वितरण में सहकार या 'सहकारी-वितरण' कह कर अशुद्ध वर्णन किया जाता है। इस शब्द पर आपत्ति का कारण वितरण शब्द का अर्थशास्त्रियों द्वारा दिये गये अर्थ का सामान्य अर्थ से भिन्न होना है। किसी

समिति जिसका नाम राशडेल-इक्वीटेबल-पायोनियर्स (Rochdale Equitable Pioneers) था, स्थापित की गई। प्रत्येक सदस्य ने एक पाउण्ड बचाया जो उसने समिति को अंशदान कर दिया जिसकी पूँजी इस प्रकार £ २८ हो गई। इस धन का उपयोग किराने की वस्तुओं एवं अन्य पदार्थों को थोक मूल्य पर क्रय करने के लिए किया गया। टाडलेन, राशडेल में एक सदस्य के घर के एक कमरे में दूकान खोली गई जहाँ सदस्यों को वस्तुओं का सामान्य फुटकर मूल्य पर विक्रय किया जाता था। इस प्रकार समिति को लाभ रहा और पूँजी व्यापार वृद्धि के हेतु उपलब्ध रही। अन्य सदस्य सम्मिलित हुए और योजना शीघ्र ही सफल हो गई।

सकल लाभ में से सदस्यों द्वारा अभिदत्त पूँजी पर ५% व्याज देने का निर्णय किया गया और जैसे-जैसे समिति विकासोन्मुख हुई कुछ लाभांश समय समय पर शिक्षण और परोपकारार्थ व्यय करने का भी निर्णय किया गया। इन व्ययों की पूर्ति एवं भाटक तथा भृति (जिनके लिए भी समिति के मूल-स्थान टाडलेन से उद्वर्धन के साथ-साथ एक अंश प्रदान किया जाना था) के चुकाने के पश्चात् शेषाँश को लाभांश के रूप में सदस्यों को उनके क्रय के अनुपात में वितरित कर दिया। सदस्यों को अपने द्वारा लगाई गई पूँजी के अंश पर व्याज और क्रय राशि के अनुपात पर लाभांश इस प्रकार दो प्रकार का भुगतान मिलता था। निर्धन व्यक्तियों को जिन्हें समिति में सम्मिलित होने के लिए एक अंश क्रय करने जितना उपलब्ध नहीं हो सकता था उन्हें इस समझौते पर सदस्य होने की स्वीकृति थी कि उनका लाभांश तब तक संचित होता रहे जब तक पात्रीभवन अंश के क्रय के लिए पर्याप्त धन उपलब्ध न हो जाय। समिति का व्यापार सर्वथा रोकड़-पद्धति के आधार पर चलता था जिससे फुटकर व्यापारी के समक्ष उपस्थित होने वाले अनिवार्य प्रश्नों में से एक प्रश्न—अशोध्य-ऋण के हेतु पूर्व प्रबन्ध—उत्पन्न ही नहीं होता था। समिति का प्रबन्ध सदस्यों के हाथों में था और प्रत्येक सम्मेलन में समान मताधिकार एक मूल

समुदाय में उत्पन्न सम्पत्ति का उसकी उत्पत्ति से सम्बद्ध साधनों पर अभिभाजन भूस्वामी को भाटक (लगान), पूंजीपतियों को व्याज, श्रमिकों को भृति और प्रबन्ध का दायित्व लेने वालों को लाभांश—वितरण कहलाता है।

सिद्धान्त था। यदि मताधिकार पूँजी के अंशों की संख्या के अनुपात में होता तो समिति का नियन्त्रण कुछ सम्पन्न सदस्यों के हाथों में चला जाता।

इस उपक्रम को आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हुई। राशडेल समिति की सदस्या संख्या शीघ्र ही सैकड़ों और कुछ वर्षों पश्चात् सहस्रों हो गई। लंकाशायर, यार्कशायर और मिडलैंड्स के पुरों में भी इसी प्रकार की समितियों की स्थापना हुई। कुछ समय तक दक्षिणी इङ्गलैंड में आन्दोलन की प्रगति धीमी थी किन्तु यह अवलोकनीय है कि बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में लन्दन कोआपरेटिव सोसाइटी (लन्दन सहकारी समिति) ने तीव्र प्रगति की है। १९४६ के अन्त में फुटकर सहकारी समितियों की सम्पूर्ण सदस्य संख्या ९५ लाख से भी अधिक थी और व्यापार की विक्रय-राशि £ ३७,५०,००,००० थी।

राशडेल से आन्दोलन के लघुरूप से प्रारम्भ होने के पश्चात् सहकारी व्यापार का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो गया हैं। फुटकर वस्तुओं एवं भोज्य पदार्थों के अतिरिक्त माँस एवं शाकादि, दूध एवं रोटी तथा अन्य खाद्य पदार्थों का भी विक्रय होता है। परिधान एवं जूते, वजाजी एवं साज सामान, लोहे के बर्तन एवं कोयला भी समितियों की क्रियाओं में सम्मिलित हैं। कुछ बड़े प्रतिष्ठान वस्त्र धोने दरी व गलीचे झाड़ने तथा साज-सामग्री हटाने जैसी सेवायें भी उपलब्ध करते हैं।

इस आन्दोलन की सफलता का श्रेय अनेक परिस्थितियों को दिया जा सकता है। एक योजना का, जिसमें केवल स्वल्प विनियोजन से सभी वस्तुएँ थोक मूल्य पर फुटकर में क्रय की जा सकती हैं, सहज आकर्षण स्वाभाविक रूप से अधिकांश मनुष्यों को आकर्षित करता है। सहकारी समितियों ने कम मूल्यों के हेतु वस्तुओं की श्रेष्ठता का कभी त्याग नहीं किया, इस तथ्य ने भी इनकी प्रतिष्ठा अति श्रेष्ठ वस्तुओं के संग्राहकों के रूप में बनाये रखने का प्रयत्न किया। इन्हें अपना ऋण अप्राप्य समझ कर अपलेखन नहीं करना पड़ता एवं एक नियमित ग्राहक वर्ग की प्राप्ति का इन्हें बहुत बड़ा लाभ है जिनकी आवश्यकताएँ स्पष्ट रूप से ज्ञात होती हैं। समितियों द्वारा थोक क्रय में अन्य व्यवसायों की अपेक्षा सट्टे का अंश (परिकल्पनांश) कम होता है एवं उन्हें अपने ग्राहकों को बनाये रखने हेतु विज्ञापन नहीं करना पड़ता।

इन फुटकर व्यापार समितियों के कार्यों में एक महत्त्वपूर्ण प्रसार माञ्चेस्टर में १८६४ में कोआपरेटिव होलसेल सोसाइटी (सहकारी थोक समिति) की स्थापना था। इसका फुटकर व्यापार समितियों से वैसा ही सम्बन्ध था जैसा इन समितियों का अपने सदस्यों से था। थोक समिति की पूँजी की व्यवस्था फुटकर समितियों ने की थी जिन्हें अपने अंशों पर व्याज मिलता था तथा समिति से क्रय पर लाभांश। यह धन फुटकर समितियों के लाभ की वृद्धि करता था तथा इससे सदस्यों के लाभांश की प्रवृत्ति वृद्धि की ओर होती थी। थोक समिति का कार्य बड़ी मात्रा में एवं और भी अधिक लाभप्रद शर्तों पर वस्तुओं का क्रय करना था जो फुटकर समितियों के लिए पृथक्-पृथक् कार्य करने पर सम्भव नहीं हो सकता था। कालान्तर में इसने उत्पादन के क्षेत्र में सीधे प्रवेश कर अपने कार्य क्षेत्र में अभिवृद्धि कर ली और अब यह बूट और जूते, ऊनी वस्त्र, परिधान एवं बहुत सी अन्य वस्तुएँ बनाती है। सहकारी समितियों, मैत्री समितियों, श्रमिक संघों एवं अन्य सम्बद्ध संगठनों के हितार्थ अधिकोषण व्यवसाय भी इसने स्थापित कर लिया है।

कुछ और अन्य समितियां जैसे सिविल सार्विस सप्लाई एसोसियेशन, सिविल सर्विस कोआपरेटिव सोसाइटी तथा आर्मी एण्ड नेवी स्टोर्स लन्दन में बनीं जो आन्दोलन में सामान्यतया प्रचलित सिद्धान्तों से कुछ भिन्न सिद्धान्तों पर चलती थीं। सामान्य सहकारी समितियां सदस्यों एवं गैर सदस्यों को समान रूप से फुटकर मूल्यों पर विक्रय करती हैं एवं लाभांश सदस्यों में वितरित करती हैं। किन्तु उपर्युक्त समितियां थोक मूल्य पर क्रय विक्रय करती हैं जिसमें कुछ प्रतिशत ऊपरी व्यय की पूर्ति के हेतु जोड़ दिया जाता है। वास्तव में ऐसे प्रतिष्ठानों एवं उन अन्य बड़े भण्डारों में कुछ अन्तर नहीं है जो सहकारी कहलाने का दावा नहीं करते।

सहकार आन्दोलन के संस्थापकों का विचार था कि इन सिद्धान्तों का विभिन्न दिशाओं में प्रसार एवं प्रयोग अन्त में पूर्ण सामाजिक रूपान्तर कर देगा और यदि सभी नहीं तो बहुत से प्रतिस्पर्द्धात्मक प्रणाली जनित दोष समाप्त हो जायेंगे। इस दृष्टिकोण से देखने पर यह दावा नहीं किया जा सकता कि आन्दोलन बहुत सफल रहा है। अन्य व्यवसायों की अपेक्षा यह फुटकर

व्यापार में अधिक सफल रहा है। किन्तु औद्योगिक युग की गम्भीर समस्यायें क्रेताओं एवं विक्रेताओं के हितों में विरोध के कारण नहीं अपितु नियोक्ताओं एवं श्रमिकों के हितों में विरोध के कारण उत्पन्न होती हैं और उन्हें सहकारी पद्धति के प्रयोग से हल करने के प्रयत्न अभी तक बहुत सफल नहीं हुए हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सहकारी आधार पर उत्पत्ति के हेतु प्रतिष्ठान स्थापित करने की अनेक योजनायें बनाई गई। इनमें आटे की चक्कियाँ, कपड़ा सीने के कारखाने, लोहे और इस्पात के कारखाने, बूट एवं जूते के कारखाने, नानबाई की दूकानें (bakeries) तथा अन्य कई प्रकार के प्रतिष्ठान सम्मिलित थे। इनमें से प्रत्येक में श्रमिक समिति के अंशधारी थे, जिन्होंने इसकी पूँजी में योग दान दिया था और इसमें से इन्हें श्रम की भृति विनियोजित पूँजी पर व्याज और अन्य व्यय भारों से मुक्त शुद्ध लाभ में से लाभांश[1] मिलता था। प्रतिष्ठान का निर्देशन वेतनभोगी व्यवस्थापक, श्रमिक समिति अथवा दोनों के हाथों में था। इस प्रकार श्रमिक एवं नियोक्ता एक ही थे और यह आशा की जाती थी कि इन दो वर्गों के हितों में स्वाभाविक विरोध निरस्त हो जायगा।

इन योजनाओं में से अधिकांश असफल रहीं। एक दूकान की स्थापना के हेतु जितनी पूँजी आवश्यक है उससे कहीं विपुल राशि में पूँजी के अभाव में सहकारी कारखाने का स्थापन नहीं किया जा सकता था और आवश्यक धन जितनी पूँजी की व्यवस्था करना श्रमिक की क्षमता से परे था। किये जाने वाले प्रयोगों में अभिरुचि रखने वाले उदार-चेताओं ने कई बार पूँजी में योग-दान किया। इन प्रतिष्ठानों का प्रबन्ध अधिक सन्तोषजनक नहीं रहा और यह आन्दोलन की एक वास्तविक दुर्बलता है कि श्रमिकों ने जो कारखानों के स्वामी हैं, कभी विपुल वेतन देकर योग्य व्यवस्थापकों की सेवायें प्राप्त करने की आवश्यकता को स्वीकार नहीं किया। दो सहकारी समितियों में परस्पर तीव्र प्रतिद्वन्द्विता दुर्बलता का अन्य मूल कारण है। कुछ अवस्थाओं में सहकार सिद्धान्तों का पूर्णतया त्याग किया गया है, समृद्ध सहकारी कारखानों ने अधिक

१. लाभांश पूँजी अंश पर विनियोजित धन अथवा सामान्यतया, उपार्जित भृति पर आधारित हो सकते थे।

श्रमिकों की आवश्यकता पड़ने पर उन्हें व्यवसाय में अंश स्वीकार न करते हुए नियुक्त कर लिया। ऐसी व्यापार संस्थायें सहकार से च्युत हो गई हैं, वे केवल ऐसे विशाल निर्माता प्रमण्डल हैं जिनके विशाल संख्या में अंशधारी हैं और जो सभी या अधिकाँश प्रमण्डल के सेवायोजन के अन्तर्गत श्रमिक हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में सहकारी कृषि के परीक्षण किए गये। सहकारी खेत में स्वामी श्रमिक थे जिन्हें अपने श्रम की भृति पूँजी, अंश पर व्याज और लाभ में से लाभांश मिलता था तथा इसका प्रबन्ध स्वयं इन्हीं के हाथों में था किन्तु खेतिहर श्रमिक इतने निर्धन थे कि वे अपने साधनों में से पूँजी नहीं लगा सकते थे तथा ऐसी योजनाओं का प्रारम्भ केवल उदार व्यक्तियों की सहायता से ही सम्भव था। इनमें से कुछ प्रयत्न इतने अधिक सफल हुए कि श्रमिक उन्हें उधार दी गई पूँजी का प्रतिदान करने योग्य हो गये। अन्य असफल रहे यद्यपि उसके कारण सहकार-सिद्धान्तों के प्रयोग से सम्बद्ध न थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में तीव्र मन्दी आने के साथ सहकारी खेतों को दूसरों के साथ हानि उठानी पड़ी और बहुतों का अस्तित्व समाप्त हो गया। जो अवशिष्ट रह गये उन्हें पार लगाने के हेतु बाह्य सहायता की आवश्यकता थी। कुछ सहकारी खेत अभी भी वर्तमान हैं तथापि यह सन्देहास्पद है कि कुछ एक से अधिक लाभ कमाते हैं।

सहकार आन्दोलन के सम्बन्ध में भवन-निर्माण समितियाँ सामान्यतया विचारणीय नहीं हैं तथापि सिद्धान्तों में वे मूलतः सहकारी हैं। विरोधी हित जिनमें अनुरूपता उत्पन्न की जाती है, ऋणदाता एवं ऋणी के होते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में ऐसी बहुत सी समितियों का निर्माण हुआ। प्रत्येक में कुछ सदस्य होते थे जो इसे समय-समय पर धन दिया करते थे। इस प्रकार धन-राशि संचित हो जाती थी जो किसी गृह, जो समिति के ऋण के प्रतिदान के हेतु प्रतिभूति हो जाता था, क्रय करने के इच्छुक एक सदस्य को उधार दी जाती थी। कालान्तर में ऐसे ऋण बहुत से सदस्यों को मिले। ये सदस्य निश्चित अवधि पर भुगतान किया करते थे जिससे उनकी ऋण राशि कम होती जाती थी और वे अदत्त शेष पर व्याज दिया करते थे। जो

सदस्य ऋण नहीं लेते थे उन्हें समिति की बहियों में उनके नाम जमा धन पर ब्याज दिया जाता था। इन समितियों को बहुत अधिक अंशों में सफलता प्राप्त हुई और इनकी साधन रूप सहायता से वे व्यक्ति गृह सम्पत्ति के स्वामी हो गये जो किसी अन्य प्रकार से ऐसा नहीं कर सकते थे।

फुटकर समितियाँ अपने सदस्यों को घरों के क्रय हेतु कुछ कुछ इसी प्रकार की सुविधायें देती हैं। अपनी पूँजी के अतिरिक्तांश में से सदस्यों को इस उद्देश्य के हेतु ऋण स्वीकृत कर दिये जाते हैं जिन्हें नियत समय पर आवर्तक ऋणांशों में चुकाया जाना होता है। ऐसे सदस्य ऋण के दातव्य होते ही उसे चुकाने के हेतु अपने क्रय पर मिलने वाले लाभाँश एवं पूँजी अंश पर मिलने वाले व्याज को प्रयुक्त कर सकते हैं। सदस्यगण खाते पीते में ही[1] गृह-निर्माण का मार्ग साफ कर लेते हैं।

अति प्रारम्भिक सहकारी समितियों के निर्माण के समय यह ज्ञात हुआ कि विधि की दृष्टि से संसृष्ट निकाय न होने के कारण उन्हें गम्भीर असुविधाओं का सामना करना पड़ता था। वे गैर सदस्यों से व्यापार करने में असमर्थ थे, उनकी निधि का उनके अधिकारियों द्वारा छलहरण संरक्षण न था एवं प्रत्येक सदस्य व्यक्तिशः सम्पूर्ण समिति के ऋण के प्रति उत्तरदायीं था। एवं इन दोषों के निवारण हेतु विभिन्न अधिनियम पारित हो चुके हैं और अब समितियों की स्थिति का नियमन औद्योगिक एवं मितव्ययिता समिति अधिनियम १८७६ (Industrial and Provident Societies Act, 1876) के अन्तर्गत होता है।

इस हेतु कि सहकार आन्दोलन में सदैव बहुत-सी असम्बद्ध समितियां न हों, १८६९ में एक कोऑपरेटिव काँग्रेस (सहकारी काँग्रेस) की स्थापना की गई एवं तत्पश्चात् इसका प्रतिवर्ष सम्मेलन होता रहा है। एक कोऑपरेटिव यूनियन (सहकार संघ) का निर्माण सम्पूर्ण रूप से आन्दोलन के नीति-निर्देशन हेतु हुआ जिससे अधिकाँश समितियाँ सम्बद्ध हैं।

---

१. समिति से सदस्यगण खाने पीने की वस्तुएँ क्रय करते हैं। उस पर मिलने वाले लाभांश और विनियोजित पूँजी पर मिलने वाले व्याज से ऋण चुका कर गृह-निर्माण करवा सकते हैं।

सहकार आन्दोलन के यूरोप महाद्वीप में प्रसार का पूर्ण वर्णन तो इस पुस्तक के क्षेत्र से बाहर होगा किन्तु यह कहा जा सकता है कि यह बैल्जियम में बहुत प्रबल है और हाल ही के युद्ध से पूर्व जर्मनी में था। उन देशों में यह श्रमिक संघवाद से निकट रूप से सम्बद्ध है। ग्रेट ब्रिटेन में सहकार और श्रमिक संघवाद के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयत्न किये गये थे और कुछ वर्ष पूर्व कोआँपरेटिव यूनियन (सहकारी संघ), ट्रेडयूनियन काँग्रेस (श्रमिक संघ काँग्रेस) और लेबर पार्टी (मजदूर दल) के बीच एक संयुक्त समिति के निर्माण हेतु पत्र व्यवहार-प्रारम्भ हुआ था। सहकारियों ने एक माने हुए राजनीतिक दल के गठ-बन्धन से मुक्त रहना अधिक श्रेयस्कर समझा और वार्ता-असफल रही। तथापि सहकारी संघ ने कुछ राजनीतिक गतिविधि का प्रदर्शन किया है। इसने अपने सदस्य हाऊस आफ कामन्स के लिए खड़े किये हैं और उनमें से कुछ निर्वाचित भी हुए हैं। ये सामान्यतया मजदूर दल के साथ बैठते एवं मत देते रहे हैं जिसके राजनीतिक आदर्शों से सहकारिकों के बहुमत की पूर्ण सम्भाव्यरूप में सहानुभूति है।

अट्ठाइसवाँ अध्याय

अकिञ्चनवाद

अकिञ्चनवाद की समस्या, जैसा वर्तमान काल में समझा जाता है, मध्ययुग में उत्पन्न नहीं हुई थी। निर्धनता बहुत अधिक रही होगी क्योंकि राष्ट्र की वास्तविक सम्पत्ति अब से कहीं कम थी तथा वितरण वर्तमान काल जितना ही असमान रहा होगा। जन-समूह का जीवन-स्तर निम्न था तथापि अनिश्चिततायें एवं दुर्भाग्य जो इस युग के श्रमिक वर्ग को घेरे हुए हैं मध्य-युगीनजीवन में विशाल परिमाण में उपस्थित न थीं। उपज की विफलता के कारण स्वामिभू के निवासियों का जीवन अभावमय हो सकता था, किन्तु जैसा पूर्वोल्लेख किया जा चुका है, वृत्तिहीनता का कोई भय न था, अस्वस्थता एक आर्थिक संकट न थी एवं वृद्धावस्था का आगमन अभाव के भय से आच्छादित नहीं हो जाता था।

मध्य युग में विपन्नता की जो घटनायें हुईं उनका निवारण राजकीय कार्यवाही के बिना हो गया। श्रेणी में जो निर्धनता का शिकार हो जाता था उसकी सहायता बंधुगण करते थे जिनका हित मृत बंधु की विधवाओं एवं अनाथों के सम्भारण तक व्याप्त था। मठ सम्बन्धी दान का उपयोग उन व्यक्तियों के हेतु होता था जिन्हें इसकी आवश्यकता होती थी तथा बहुत से बड़े सामन्तों एवं धर्माधिकारियों के द्वार प्रत्येक आगंतुक के हेतु उन्मुक्त रहते थे अस्वस्थों के हेतु चिकित्सालयों एवं कुालष्ठयों की व्यवस्था थी।

मध्य युग की समाप्ति के साथ विपन्नों की संख्या बढ़ गई। देश के कुछ भागों में चर क्षेत्रण के विकास की लपेट में बहुत से ग्रामीण अपने क्षेत्रों से निष्कासित हो गये। व्यवसायहीन वे नगरों में चले आये अथवा स्वेच्छाचारी या लुटेरे हो गये। नगरों में व्यवसायहीन रोजनदारों का अपना अंश था। शतवर्षीय युद्ध एवं गुलाब के युद्धों में इनमें से कुछ व्यक्ति युद्ध में रत हो गए किंतु ट्यूडरों के दृढ़ शासन में स्थापित शांति के पश्चात् सामंतीय भृत्यवर्ग को विघटित कर

काल में उसे रोटी, पानी एवं मांस के अवशेष खाने को दिये जायँ तथा कोड़े की मार से काम कराया जाय और भी अपराध करने पर उसे एस (दास के आँग्ल पर्यायार्थ) से चिह्नित कर दिया जाय एवं उसे आजीवन दास रखा जाय। यदि वह भागने का प्रयत्न करे तो उसे मृत्यु-दण्ड दिया जाय। तथापि इस अधिनियम का शीघ्र विखण्डन हो गया एवं १५३१ का अधिनियम पुनः व्यवहृत होने लगा।

१५४७, १५५२ एवं १५५७ में अन्य अधिनियमों द्वारा आवश्यकता अनुभव करने वाले निर्धनों के हेतु गिरजाघरों में स्वेच्छित भिक्षा दान के सञ्चय की व्यवस्था करने के प्रयत्न किये गये। १५६३ में एक और अधिनियम द्वारा ये आदेश दिये गये कि जो भिक्षा देना अस्वीकार कर देंगे उन्हें शान्ति के न्यायाधीशों के समक्ष उपस्थित होना होगा जो उन्हें अभिदान की सलाह देंगे तथा यदि अनुरोध असफल हुआ तो उन्हें बाध्य किया जायगा इस तथ्य से, कि कई क्रमिक अधिनियमों में स्वेच्छित भिक्षा दान के हेतु अनुरोध सम्बन्धी आदेश की व्यवस्था करनी पड़ी, यह परिलक्षित होता है कि यह समस्या के समाधान में अपूर्ण सिद्ध हो रहा था। अतः १५७२ में एक अनिवार्य कर लगाने के आदेश दिये गये। इस प्रकार दरिद्र-शुल्क का प्रारम्भ हुआ। शान्ति के न्यायाधीशों को प्रत्येक मठ-क्षेत्र में कर निर्धारित करना, संग्राहकों की धन-संग्रह के हेतु नियुक्ति करना. एवं सहायता वितरण करने तथा सेवायोजन की व्यवस्था करने के हेतु निरीक्षकों की नियुक्ति करना होता था। इस अधिनियम ने और भी आदेश दिया कि स्वेच्छाचारियों के विरुद्ध कठोर कार्यवाही की जाय उन्हें कोड़े लगाये जायँ, चिह्नित कर दिया जाय एवं बार-बार अपराध करने पर मृत्यु-दण्ड दिया जाय।

१५७६ में पारित एक महत्त्वपूर्ण अधिनियम द्वारा इस समस्या का विशद हल प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया। ग्राम्य अधिकारियों को कार्यहीनों को वृत्ति दिलवाने हेतु साधनों का क्रय करना पड़ता था। प्रत्येक जिले में सुधार गृह स्थापित किये गये जिसमें स्वेच्छाचारियों एवं कार्य करना अस्वीकार करने वालों को भेज दिया जाता था जिन्हें कोड़े पड़ने के पश्चात् बलात् कार्य करना पड़ता था। १५९७ में एक और अधिनियम पारित किया गया। इन

अधिनियमों को अव्यवहृत नहीं रहना पड़ा। इस पर व्यवहार का प्रत्यक्ष दायित्व शान्ति के न्यायाधीशों पर था जिन्हें अनवरत रूप से परिषद्[१] अपने कर्तव्य का भान कराती रहती थी।

टयूडर काल में पारित विभिन्न अधिनियमों के व्यवहारजन्य अनुभवों का उपयोग १६०१ की महान् दारिद्रय विधि के निर्माण में किया गया। इस विधि में कोई विशेषता न थी, यह इस विषय में विद्यमान नियमों की संहिता का निर्माण था तथा इसके सिद्धांत दीर्घ काल तक दारिद्रय विधि प्रशासन के आधार बने रहे। प्रत्येक मठ-क्षेत्र अपने निर्धनों के सम्मारण के प्रति उत्तरदायी था। शक्तिहीन व्यक्तियों का सम्भारण किया जाता था एवं समर्थों के हेतु वृत्ति की व्यवस्था की जाती थी। आलसी व्यक्तियों को सुधार गृहों[२] में रोक कर कार्य को बाध्य किया जाता था। अकिञ्चन बालकों को शिक्षाधीन कर दिया जाता था जिससे वे समाज के स्व-आश्रित सदस्यों के रूप में पनप सकें। दरिद्र-सहायता व्यय की पूर्ति आंशिक रूप से विरोध पर किए गये आर्थिक दण्ड के धन से एवं आँशिक रूप से मठ-क्षेत्र के गृह-स्वामियों पर निरीक्षक द्वारा लगाये गये शुल्क से होती थी।

स्टुअर्ट काल के पूर्वार्द्ध तक विधि पर कठोरता से पालन किया गया किन्तु पुनः स्थापन के पश्चात् परिषद् का महत्त्व घट गया एवं दारिद्रय विधि पर व्यवहार केन्द्रीय शासन के निरीक्षण के अधिक प्रयत्नों बिना स्थानीय अधिकारियों पर छोड़ दिया गया। परिणाम यह हुआ कि प्रशासन की एकरूपता समाप्त हो गयी एवं, यद्यपि ग्राम्य उत्तरदायित्व के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया गया, इसका मुख्य प्रभाव यह हुआ कि प्रत्येक मठ-क्षेत्र अपने दायित्व को टालने को

---

१. जैसा पूर्वानुवर्त्ती अध्याय में कहा जा चुका है परिषद् एक अति महत्त्वपूर्ण संस्था थी जो देश का शासन सञ्चालन करती थी। इसमें कुछ महान् सामन्त एवं वरिष्ठ पदासीन अधिकारी थे।

२. टयूडर काल में स्थापित सुधार गृहों एवं कारागृहों में अन्तर परिलक्षित नहीं होता था। अन्य कर्मशालायें थीं यद्यपि यह शब्द अठारहवीं शताब्दी तक सामान्य प्रयोगों में नहीं आया।

उत्सुक हो गया जिसे अन्यत्र स्थानान्तरित किया जा सकता था। यह अनुभव किया गया कि विपन्न हो जाने वाले व्यक्तियों का ऐसे ज़िले में बस जाना जो उनके संभारण के प्रति उत्तरदायी हो जाय, अनुचित है। १६६२ में पारित संस्थापन अधिनियम के अन्तर्गत मठ-क्षेत्र में नवागन्तुकों को आगमन के चालीस दिन की अवधि में अपने संस्थापन के पिछले स्थान पर भेज दिया जाता था जबतक वे अपने सम्भारण के हेतु अपने मठक्षेत्र के दायित्व की प्रतिभूति प्रस्तुत नहीं करते। कालान्तर में कई पूरक विधेयक इस अधिनियम पर व्यवहारजनित समस्याओं के हल के हेतु पारित किए गए।[1] फल यह हुआ कि श्रमिकों का अन्यत्र कार्य की खोज में गृह त्याग अवरुद्ध हो गया। निर्धनों पर एक नवीन प्रकार का दास्य लाद दिया गया। वे अपनी बस्ती के स्थान में रहने को इस कारण बाध्य नहीं हो गये कि उनके स्थान त्याग पर प्रतिबन्ध था अपितु इस कारण हो गये कि कोई अन्य स्थान उनका स्वागत नहीं करना चाहता था। आगामी वर्षों में प्रमाणपत्र प्रणाली के प्रारम्भ से इस पद्धतिजनित कठिनाइयों को दूर करने के कुछ प्रयत्न किये गये। यदि कोई व्यक्ति अन्य ग्राम्यक्षेत्र में प्रवास का इच्छुक होता था एवं जिस ग्राम्य क्षेत्र का वह त्याग कर रहा था उसके अधिकारियों से एक प्रमाण-पत्र प्राप्त कर सकता जिसमें उसके विपन्न होने की अवस्था में उसके सम्भारण का दायित्व स्वीकार किया गया हो तो उसे नवीन ग्राम्य क्षेत्र में निवास की आज्ञा प्रदान कर दी जाती थी जहां वह तब तक स्थायी वास का अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता जब तक वह इतना समृद्ध न हो जाय कि वह दस पौंड प्रति वर्ष भाटक पर गृह दे सके अथवा उसकी नियुक्ति ग्राम्य-क्षेत्र अधिकारी के पद पर न हो जाय।[2] १७९५ में संस्थापन विधि में

१. देश के अधिकाँश भागों में अनधिकृत रूप से सार्वजनिक स्थानों पर अधिकार कर लेने की प्रथा प्रचलित हो गयी। निर्धन व्यक्तियों ने अकृष्य भूमि पर कुटियों का निर्माण कर लिया एवं भिन्नभिन्न प्रकार से अनिश्चित जीवन यापन में वृद्धि करते रहे। संस्थापन अधिनियम का निर्माण मौलिक रूप में ऐसे व्यक्तियों के विरुद्ध व्यवहृत होने को निर्माण किया गया।

२. ऐसी स्थिति में भी निरीक्षक गण उन शर्तों की पूर्ति में बाधायें उपस्थिति करने में अपने प्रभाव का उपयोग करते थे जिनमे एक नवागन्तुक को स्थायी निवासाधिकार प्राप्त हो सके।

इस अंश तक शिथिलता कर दी गयी कि इस पर तब तक व्यवहार नहीं किया जायगा जब तक मनुष्य वास्तव में दारिद्रय कोष से प्रदाय योग्य न हो ।

१७७२ में कर्मशाला अधिनियम पारित किया गया। कर्मशालायें पूर्व काल से ही कुछ पुरों में विद्यमान थीं एवं इस अधिनियम से इस पद्धति का प्रसार किया गया । ग्राम्य अधिकारी गणों (गिरजाघरों के संरक्षकों एवं निरीक्षकों) को कर्मशालाओं की व्यवस्था करने का अधिकार दिया गया जिसमें निर्धनों की आवास-व्यवस्था हो तथा जो व्यक्ति कर्मशाला में प्रवेश स्वीकार न करें उन्हें सहायता निषिद्ध कर दी जाय । कभी-कभी कर्मशाला ठेकेदार को दे दी जाती थी जो एक निश्चित धन के प्रतिफल स्वरूप निवासियों के सम्भारण का दायित्व लेता था । प्रशासन में बढ़ गयी कठोरता के परिणामस्वरूप दारिद्रय शुल्क में अत्यधिक कमी हो गयी यद्यपि "कितने कष्ट के मूल्य पर यह हमें कभी ज्ञात न होगा" ।[1]

अठारहवीं शताब्दी काल में समस्या का रूप परिवर्तित हो गया । इस काल के औद्योगिक विकास ने वस्त्र सेवायोजन को कृषि कार्य से भिन्न कर दिया एवं वस्त्र श्रमिकों की नगरों में वृद्धि होने लगी । जनसंख्या की वृद्धि के कारण खाद्यान्नों की माँग में वृद्धि हो गयी तथा मूल्य वृद्धि हो गयी जब कि भृति अपरिवर्तनीय रही । नूतन परिस्थितियों में सेवायोजन कम निश्चित था तथा शताब्दी के अन्तिम चरण में श्रमिक वर्गों की पीड़ा में अत्यधिक वृद्धि हो गयी, १७२२ के अधिनियम के अन्तर्गत विपन्न निर्धनों के हेतु सहायता का केवल मात्र मार्ग कर्मशाला-प्रदत्त आश्रय था ।

एक विधान जिसे गिल्बर्ट अधिनियम कहा जाता था, १७८२ में पारित किया गया । मठ क्षेत्रों को अधिक दक्ष दारिद्रय-विधि प्रशासन के हेतु संयुक्त होने की स्वीकृति प्रदान की गयी एवं दारिद्रय सहायता कार्य करने के हेतु निर्धनों के वेतनभोगी संरक्षकों की शांति के न्यायधीशों द्वारा नियुक्ति की जा सकती थी । संरक्षकों को समर्थों के हेतु उपयुक्त कार्य की खोज करनी होती थी एवं यदि आवश्यक हो तो उन्हें इस प्रकार अर्जित भृति को दारिद्रय कोष में से अनुदान से अनुपूरित करने का अधिकार था । स्वयं न्यायाधीशों

---

१. आर्केडीकन कनिंघम

एवं संरक्षकों को समान रूप से बाह्य सहायता स्वीकृत करने का अधिकार था। केवल वृद्धों, अस्वस्थों, दुर्बलों एवं अकिञ्चन बालकों को कर्मशाला में भेजा जा सकता था, विपन्न बालकों को विकल्प के रूप में अन्यत्र आवासित किया जा सकता था। अधिनियम केवल स्वीकृतिदायक था किन्तु इसको विस्तृत रूप से ग्रहण किया गया।

गिल्बर्ट अधिनियम की तीव्र आलोचना की गई किन्तु कुछ अंशों में यह प्रशंसनीय है। प्रशासन क्षेत्र का विस्तार उचित दिशा में उठाया गया कदम था जिसे १८३४ के अधिनियम में स्थान दे दिया गया। अधिनियम में प्रस्तावित बालकों के साथ अधिक मानवीय व्यवहार को भी स्वीकृति प्रदान की जानी चाहिये। किन्तु कर्मशाला परीक्षण का व्यावहारिक उन्मूलन तथा भृति की अनुपूर्ति से सहायता प्रदान करना प्रशासन के सभी स्वस्थ सिद्धाँतों के विपरीत था जबकि अधिनियम ने शान्ति के न्यायाधीशों को अति व्यापक अधिकार दे दिये थे जिनका दुरुपयोग सम्भव था।

श्रमिक वर्गों के कष्ट निरन्तर बने रहे एवं उनमें अभिवृद्धि होती रही अतः अपने जिले में उत्पन्न परिस्थितियों पर विचार करने के हेतु १७९५ में स्पीन हैमलैंड की पैलीकन सराय में बर्कशायर के न्यायाधीशों की बैठक हुई। उन्होंने तात्कालिक कार्यवाही की आवश्यकता अनुभव की एवं शिल्पकार परिनियम के अन्तर्गत भृति के सामान्य अभिनिर्धारण तथा कृषकों को अपने श्रमिकों की भृति में वृद्धि करने के हेतु प्रबोधन को अलाभकर घोषित करते हुए एक प्रस्ताव स्वीकृत करने के पश्चात् गिल्बर्ट अधिनियम के अन्तर्गत प्रदत्त अधिकारानुसार कार्य करने का प्रस्ताव स्वीकृत कर उनसे ऐसा करने का सम्पूर्ण प्रलोभन पुनः ले लिया। जिन निर्धनों को आवश्यकता होती थी उनकी भृति को अनुपूरित करने के हेतु उन्होंने भत्ते की स्वीकृति देने का निर्णय किया। भत्ते की राशि रोटी के मूल्य एवं श्रमिक के परिवार की संख्या के अनुसार परिवर्तित होती रही।

शान्ति के न्यायाधीशों को इस प्रकार कार्य करने का वैध अधिकार केवल उन्हीं स्थानों पर था जहाँ गिल्बर्ट अधिनियम व्यवहृत हो गया था एवं कुछ मास पश्चात् देश के प्रत्येक भाग में न्यायाधीशों को यह अधिकार प्रदान

करने के हेतु संसद् में एक अधिनियम पारित किया गया। स्पीन-हैमलैण्ड के उदाहरण का देश के अधिकांश भागों में विशेषकर दक्षिणी आँग्ल देश में अनुकरण हुआ एवं आगामी चालीस वर्षों तक भत्ता प्रणाली दारिद्रय विधि प्रशासन की एक प्रमुख विशेषता रही।

केवल यही ऐसा रूप नहीं था जिसमें इस काल में सहायता प्रदान की गई हो। देश के विभिन्न भागों में प्रचलित सहायता की पाँच भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ परिलक्षित होती हैं। (१) भत्ता प्रणाली[1] जिसका अभी वर्णन किया गया, सर्वाधिक प्रचलित थी। यदि प्राप्तिकर्त्ता की भृति में वृद्धि हो जाय तो भत्ते में कम कर दी जानी चाहिये यद्यपि व्यवहार में आय परिवर्तन पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। (२) कभी-कभी सहायता श्रम करवाये बिना भी प्रदान कर दी जाती थी। (३) सुसम्पन्न मनुष्य प्रार्थियों को भृति पर नियुक्ति देते थे जो उनकी सेवाओं के मूल्य के आधार पर न होकर उसकी आवश्य-कताओं पर आधारित होती थी। नियोक्ताओं का मठ-क्षेत्र अधिकारीगण उस अन्तर तक परिशोधन कर देते थे। (४) मठ-क्षेत्राधिकारीगण कभी-कभी प्रत्यक्ष नियुक्ति प्रदान कर देते थे किन्तु ऐसा सामान्यतया नहीं किया जाता था। (५) कुछ मठ-क्षेत्रों में सुसम्पन्न प्रशुल्क दाताओं से भृति की निश्चित स्थायी दरों पर अकिञ्चनों को नियुक्त करने का समझौता कर लिया जाता था।

सहायता प्रदान किये जाने के सर्वसामान्य रूप भत्ता प्रणाली के पक्ष में कुछ कहा जा सकता है। कुछ कार्यवाही की तत्क्षण आवश्यकता थी क्योंकि निर्धनों के भूखे मर जाने का भय था। इस समस्या के हल के हेतु सुविचारित एवं विवेकपूर्ण योजना के निर्माण एवं व्यवहार को समय न था, विशेषकर इस कारण कि देश की समस्त शक्तियां एक और भी अधिक गम्भीर समस्या फ्रांस से युद्ध में विजय—हल करने में रत थीं। भत्ता प्रणाली अपने प्रमुख उद्देश्य में सफल हुई क्योंकि निर्धनों की वास्तव में भूखों मरने से रक्षा हो गई। किन्तु अन्य सभी दशाओं में इसके प्रभाव बुरे हुए। श्रमिकों ने दारिद्रय सहायता को

---

१. भत्ता प्रणाली नार्दम्बरलैण्ड, कम्बरलैण्ड, लिंकनशायर, वारविकशायर तथा स्टैफर्डशायर में अत्यल्प महत्त्व प्राप्त कर सकी।

कलंक समझना समाप्त कर दिया, इसे वे अधिकार समझने लगे । उन्होंने बाल एवं अविवेकपूर्ण विवाह इस विचार से प्रारम्भ कर दिये कि उनके बालकों का सम्भारण मठ-क्षेत्रों द्वारा हो जायगा । भृति निम्न स्तर पर रही । न नियोक्ताओं को वृद्धि का कोई कारण दृष्टिगोचर होता था न श्रमिकों ने वृद्धि की कोई प्रार्थना की क्योंकि यदि गुप्त न रखा जा सके तो भृति की वृद्धि का प्रभाव भत्ते के धन में कमी होगा एवं श्रमिक को कोई लाभ नहीं होगा । श्रमिक को उद्यमी होने अथवा अपनी दक्षता में अभिवृद्धि के हेतु प्रयत्नशील होने को कोई प्रेरणा नहीं रही क्योंकि इससे उसकी परिस्थितियों में कोई सुधार न होने वाला था । उस श्रमिक की अपेक्षा अकिञ्चन अधिक सुखी थे जो अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखना चाहते थे ।

निर्धन सहायता प्रशासन स्थानीय अधिकारियों के हाथों में था जिनमें से कुछ दुश्चरित्र थे, अतः बृहद् परिमाण में धन के वितरण में कुछ अंश तक भ्रष्टाचार अवश्यम्भावी था । दारिद्र्य विधि प्रशासन की परम्परागत कठोरता पूर्णतया विलीन हो गई । प्रार्थियों को अपने सहायता के अभियाचनों पर स्वीकृति प्राप्त करने में कुछ कठिनाई अनुभव नहीं हुई एवं यदि, जैसा कभी-कभी होता है, उन्हें अधिकारियों ने अस्वीकार कर दिया तो ये न्यायाधीशों के समक्ष पुनर्विचार के हेतु प्रस्तुत किए जाने पर स्वीकृत हो जाते थे । दरिद्र-शुल्क में वृद्धि हुई, १७८२ में दरिद्र शुल्क से प्राप्त सम्पूर्ण धन £२०,००,००० से कम था किन्तु १८१७ में यह लगभग £८०,००,००० था । कुछ स्थानों पर शुल्क-प्रभार इतना अधिक था कि भूपि पर कृषि लाभदायक नहीं रही ।

१८३२ में दरिद्र्य विधि पर व्यवहार पर अनुसन्धान हेतु एक राजकीय आयोग की स्थापना की गई । श्रमिकों को अकिञ्चन बनाए जाने, नियोक्ताओं द्वारा इस पद्धति के दुरुपयोग, अधिकारियों में भ्रष्टाचार एवं अयोग्यता, अपने अधीनस्थों की कल्पना से परे न्यायाधीशों द्वारा बाह्य सहायता की स्वीकृति में असावधानी, स्वतन्त्र एवं आत्म-सम्मान प्रिय श्रमिक की असुविधापूर्ण स्थिति एवं कर्मशाला से सम्बद्ध विशेष बुराइयों की ओर आयोग के प्रतिवेदन ने ध्यान आकर्षित किया जो उस समय उत्पन्न हो गई थीं ।

१८३४ का दारिद्र्य विधि संशोधन अधिनियम राजकीय आयोग के प्रतिवेदन पर आधारित था । दारिद्र्य विधि का भावी प्रशासन दारिद्र्य विधि

आयुक्तों[1] के केन्द्रीय संगठन के अन्तर्गत होना था। मठ क्षेत्रों का संघों में वर्गीकरण कर दिया जाना था जिनमें से प्रत्येक में शुल्क प्रदाताओं[2] द्वारा एक संरक्षक मण्डल की स्थापना की जाय। तथापि संरक्षकों को स्वतन्त्र अधिकार लगभग नहीं थे क्योंकि उनके अधिकांश कार्यों पर आयुक्तों की सहमति आवश्यक थी। सहायता का वितरण सहायता अधिकारियों द्वारा किया जाना था जिन्हें अन्य दारिद्रय-विधि अधिकारियों के समान संरक्षकगण सेवा-मुक्त नहीं कर सकते थे। अतः अधिकारियों ने यह अनुभव किया कि उनकी नियुक्ति का स्थायित्व स्थानीय संरक्षकों की अपेक्षा दारिद्रय-विधि आयुक्तों को सन्तुष्ट करने में निहित है अतः स्थानीय हितों के प्रभाव में उन्हें उनके कर्तव्य के कठोरता-पूर्वक पालन में प्रलोभित नहीं किया जा सकता। कर्मशाला परीक्षण, जो १७८२ में शिथिल कर दिया गया था पुनः प्रारम्भ कर दिया गया। सभी समर्थ अकिञ्चनों को चिकित्सा शुश्रूषा के अतिरिक्त कर्मशाला में प्रवेश करने पर ही सहायता की जा सकती थी, बाह्य सहायता केवल अस्वस्थों तथा साठ वर्ष से अधिक आयु वाले व्यक्तियों तक सीमित थी। संरक्षकों के लेखों का केन्द्रीय निकाय के अधिकारियों द्वारा लेखा परीक्षण किया जाता था।

इस अधिनियम के दूरगामी परिणाम निकले। दारिद्रय सहायता पर धन का व्यय आगामी कुछ वर्षों में अत्यधिक कम हो गया। तथापि परिवर्तन की

---

१. दारिद्रय-विधि आयुक्तों की नियुक्ति प्रथम बार ५ वर्ष की अवधि के हेतु होती थी। उनके काल में १८४२ तक प्रतिवर्ष वृद्धि की जाती रही, तत्पश्चात् पाँच वर्ष की वृद्धि हुई तथा १८४७ में स्थायी दारिद्रय-विधि मण्डल स्थापित हुआ जिसका अध्यक्ष एक उत्तरदायी मन्त्री होना चाहिए था। दारिद्रय विधि मण्डल का स्थान १८७१ में स्थानीय शासन मण्डल ने ग्रहण कर लिया एवं १९१९ में इसके स्थान पर स्वास्थ्य मन्त्रालय स्थापित किया गया।

२. संरक्षकों का निर्वाचन इस आधार पर व्यवस्थित किया गया कि निर्धनों की अपेक्षा धनी अधिक प्रभावशाली हो गये। भू-स्वामी एवं शुल्क प्रदाता मतदान के अधिकारी थे। उन्हें अपनी सम्पत्ति के स्वामित्व अथवा अधिकार के अनुसार एक से छः मत देने का अधिकार था। जो व्यक्ति बहुल सम्पति का स्वामी एवं अधिकारी दोनों से उसे बारह तक मत देने का अधिकार था। शान्ति के न्यायाधीश पदेन अधिकारी थे।

आकस्मिकता के कारण श्रमिक वर्ग को अत्यधिक कष्ट सहन करना पड़ा। बुराई अत्यधिक गहन रूप से प्रविष्ट थी एवं प्रतिकार तीव्र था किन्तु आंग्ल श्रमिक वर्गों को पूर्ण एवं स्थायी अधःपतन से मुक्त कराने के हेतु यह अधिक तीव्र न था। कालान्तर में श्रमिकों को ईमानदारी से कार्य करने को बाध्य किया जाता था। यदि वे उचित भृति के इच्छुक हों तथा नियोक्ता एतद्पश्चात् दारिद्रय-विधि को अपने श्रम परिव्यय के आंशिक व्यय के रूप में नहीं ले सकते थे। इस परिवर्तन का अंतिम परिणाम इस सिद्धान्त का पुनः स्थापन था कि मनुष्य को अपने स्वयं के श्रम से जीवन-निर्वाह करना चाहिए एवं यदि उसकी स्वयं अपना निर्वाह कर सकने की असमर्थता के कारण समाज को उसकी सहायता करनी पड़ती है तो उस स्थिति में समाज को ऐसा इस प्रकार से करने का अधिकार है कि उससे अन्य व्यक्तियों को प्रोत्साहन न मिले।

१८३४ के अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित पद्धति अन्य दिशा में इतनी संतोष-प्रद न थी। प्रशासन की कठोरता के कारण इसने सहायता व्यय में तो कमी कर दी किन्तु दरिद्रता को कम करने के हेतु इसने कुछ नहीं किया। जो कार्येच्छुक कार्योत्सुक थे उनके हेतु सेवा योजन की व्यवस्था करने के हेतु समाज का कुछ भी आभार मानने में यह असफल रहा। कालान्तर में असमर्थ व्यक्तियों को वाह्य सहायता जो भोजन, औषध या धन के रूप में हो सकती थी, दी जाने के विरुद्ध नियम में कुछ शैथिल्य कर दिया गया। १८९५ में बचत के सिद्धान्त पर कुछ छूट दी गयी जबकि प्रार्थी की सहायता अभियाचना पर आवश्यकता का अनुमान करते समय संरक्षक मण्डल को मैत्री-समितियों से प्राप्त किसी आय की पाँच शिलिंग प्रति सप्ताह से अधिक न होने पर उपेक्षा करने की स्वीकृति दे दी गयी। अकिञ्चन बालकों के विषय में उन्नीसवीं शताब्दी काल में मानवीय आधारों पर कुछ प्रयत्न किये गये। कुछ अवस्थाओं में बालकों को कर्म-शालाओं में किसी भी अंश तक रखा गया किन्तु उपयुक्त पोषक माता-पिताओं[1] के पास आवासित कर दिया गया एवं उनके हेतु विशेष कुटीर गृहों का निर्माण बहुत कम अवस्थाओं में किया गया।

---

१. बाह्य आवास व्यवस्था का नियमन स्थानीय शासन मण्डल को १८८० में प्रकाशित आज्ञानुसार होता था।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से यह अनुभव किया जा रहा था कि कई अंशों तक दारिद्रय-विधि समालोचनीय है अतः १६०५ में इस समस्या पर अनुसंधान हेतु राजकीय आयोग की नियुक्ति की गयी। इसके प्रतिवेदन १६०६ तक प्रकाश में नहीं आये। आयोग के सदस्य अपने सब परिणामों पर सर्वसम्मत नहीं थे किन्तु बहुमत एवं अल्पमत प्रतिवेदन विद्यमान पद्धति की निंदा करने, अकिञ्चनवाद के कारणों के अपने विश्लेषण तथा अपने अधिकांश प्रस्तावों में एकमत थे। उनके मतानुसार अकिञ्चनवाद के विभिन्न कारण थे जिनमें मद्यपान, वृद्धावस्था, अस्थिरचित्तता, विवेकशून्य विवाह, अल्पकालिक श्रम तथा एक दो मार्ग-व्यवसाय सम्मिलित थे। विद्यमान पद्धति की उनकी समालोचना दूरगामी थी। उनके मतानुसार प्रशासन की वर्तमान इकाई–संघ–अति लघु थी तथा उसने यह इंगित किया कि इस पद्धति के अन्तर्गत अत्यधिक निर्धन जिलों में अति उच्च दरिद्र-शुल्क था। उन्हें ज्ञात हुआ कि कर्मशाला सदैव बाधक नहीं होती थी तथा बाल सहायता प्रशासन पर कोई पर्यवेक्षण नहीं था। एवं उन्होंने बालकों को कर्मशाला में रोके जाने की निन्दा की। उन्होंने विद्यमान क्षेत्रों एवं अधिकारियों की समाप्ति प्रस्तावित की एवं दारिद्रय अधिनियम प्रशासन का कार्य पौर परिषदों को हस्तान्तरित करने का सुझाव दिया। उन्होंने दारिद्रय अधिनियम के अन्तर्गत आने वाले व्यक्तियों के और अधिक पूर्ण वर्गीकरण तथा प्रत्येक वर्ग के साथ उचित व्यवहार के विषय में सुझाव दिये। उनके मतानुसार कुछ वर्गों के साथ दारिद्रय अधिनियम अधिकारियों की अपेक्षा अन्य अधिक उचित व्यवहार करते थे। बालकों का सम्भारण कुटीर गृहों में होना चाहिये अथवा उनके भोजन एवं आवास व्यवस्था की जाय। स्वेच्छाचारियों को श्रमिक बस्ती में अलग रखा जाय एवं उन्हें कठोर अनुशासन में रहने को बाध्य किया जाय। निर्धन वृद्धों का अन्य संस्थाओं में संभारण किया जाय जिनमें कर्मशालाओं की अपेक्षा अधिक नम्र व्यवहार हो। जिन परिस्थितियों में बाह्य सहायता दी जाय उनका भी उल्लेख कर दिया गया। अंत में यह अनुभव किया गया कि अकिञ्चनवाद के कुछ कारणों का हल श्रम विनिमय केन्द्रों से श्रमिकों के राजकीय आगोपन से तथा बालकों की शाला त्याग की आयु में वृद्धि करने से हो सकता है।

प्रतिवेदनों के प्रकाशन के शीघ्र पश्चात् आगामी वर्षों में उनके कुछ

प्रस्तावों के अनुसार कार्य करने के कुछ प्रयत्न किये गये। वृद्धावस्था निवृत्तिवेतन, स्वस्थता एवं वृत्तिहीनता का राजकीय आगोपन एवं श्रम विनिमय-पद्धति का विस्तार अकिञ्चनवाद की समस्या के विभिन्न पहलुओं के हल में अप्रभावशाली नहीं रहे। तथापि विभिन्न कारणों से कुछ वर्षों तक सुधार का कोई सामान्य उपक्रम प्रस्तुत नहीं किया गया।[1]

१९१४-१८ के महायुद्ध के पश्चात् आने वाली औद्योगिक मन्दी ने पुनः दारिद्र्य-विधि की असंतोषजनक अवस्था की ओर ध्यान केन्द्रित कर दिया। १९२९ में स्थानीय शासन अधिनियम[2] पारित किया गया जिसके द्वारा एक पूर्णतया नूतन पद्धति का उद्घाटन हुआ। अधिनियम ने १९०५-९ के शासकीय आयोग के प्रमुख प्रस्तावों को कार्यरूप में परिणत करने का प्रयत्न किया। विद्यमान क्षेत्र एवं अधिकारीगण समाप्त कर दिये गये एवं दारिद्र्य-विधि प्रशासन-कार्य जिला परिषदों एवं पौर परिषदों को हस्तान्तरित कर दिया गया जिन्हें जन सहायता समितियों के नाम से वैधानिक समितियों द्वारा कार्य करना था। इस बात पर कोई शंका नहीं की जा सकती कि नूतन पद्धति उचित दिशा में परिवर्तन था। दारिद्र्य विधि प्रशासन की नवीन इकाई के वृहत्तर क्षेत्र के परिणामस्वरूप कार्य में दक्षता एवं बचत हो गयी तथा इससे प्रतिवेदनों के सुझावों के अनुसार अकिञ्चनों के वर्गीकरण एवं प्रत्येक वर्ग के साथ उचित व्यवहार की सुविधा हो गयी। इस ने प्रशासन व्यय भार को भी समान करने का प्रयत्न किया जिससे धनी जिलों को अपना उचित भार वहन करना पड़ता था किन्तु निर्धन जिलों पर अनुचित भार न रहा।

किन्तु यह कभी विस्मृत नहीं होना चाहिये कि दारिद्र्य-विधि असफलता की स्वीकृति है। जिस अंश तक विद्यमान सामाजिक संगठन समाज के प्रत्येक घटक की आवश्यकता की तृप्ति में असफल है उसी अंश तक दोषपूर्ण है।

---

१. आगामी कुछ वर्षों के लिए राजनीतिक जगत् का ध्यान सामन्त सदन से वैधानिक संघर्ष एवं आयरिश स्वशासन पर केन्द्रित था। तत्पश्चात् १९१४-१८ का महायुद्ध एवं तज्जनित तात्कालिक परिणाम उपस्थित हो गये।

२. यह १ अप्रेल १९३० से व्यवहृत हुआ।

इसलिये दारिद्रच सहायता के इतिहास पर अन्य आर्थिक क्रियाओं के सन्दर्भ में विचार किया जाना चाहिये। दारिद्रच-विधि के सम्बन्ध में राजनीतिज्ञों एवं अर्थशास्त्रियों का अंतिम लक्ष्य इनकी समाप्ति की ओर होना चाहिये।

यह एक आदर्श प्रतीत हो सकता है जिसकी प्राप्ति असम्भव है। जैसा पूर्वोक्त है अकिंचनवाद के कुछ कारणों का निवारण दारिद्रच-विधि की अपेक्षा अन्य अभिकरणों के कार्य सम्पादन से हो सकता है तथापि अनाथ बालक सदैव रहेंगे जिन्हें पालित एवं प्रशिक्षित किया जाय जिससे उन्हें भी जगत् में स्थान प्राप्त हो सके तथा यह भी सम्भव है कि सम्भारण योग्य अल्पबुद्धि मनुष्य सदैव इस जगत् में होंगे। तथापि जब अर्वाचीन वर्षों का सामाजिक विधान पूर्णतया व्यवहृत होगा, इन तथा अन्य व्यक्तियों पर जो ध्यान दिया जाना चाहिए वह अब लोक पुण्य के रूप में न होकर अधिकार रूप में मिलेगा क्योंकि इसके साथ आगोप व्यवस्था भी होगी।

१९४८ के राष्ट्रीय सहायता अधिनियम ने पूर्वकालिक दारिद्रच-विधि प्रशासन की विच्छिन्नता एवं राष्ट्रीय सहायतामण्डल की स्थापना की व्यवस्था दी। इस मण्डल का कार्य अन्धे व्यक्तियों के सम्भारण, प्रशिक्षण एवं कल्याण की व्यवस्था करना, यक्ष्मा रोग से पीड़ित व्यक्तियों की चिकित्सा एवं संभारण, स्वेच्छाचारियों के शिक्षण, प्रशिक्षण एवं पुनस्संस्थापन की व्यवस्था करना है जिससे वे समाज के लाभप्रद सदस्य हो सकें तथा वृद्धजनों के हेतु जिन्हें आवास में अपनी वृद्धावस्था निवृत्ति वेतन में से कुछ प्रतिदान देने पर आवासित किया जा सके ऐसी गृह व्यवस्था करना है।

उन्तीसवाँ अध्याय

लोक-स्वास्थ्य

-स्वास्थ्य की अपेक्षा किसी भी अन्य विषय में जीवन की परिस्थितियों
ा एवं भूतकाल के मध्य इतना अधिक वैषम्य नहीं है। स्वास्थ्यकर
यों में रहने पर इतना अधिक ध्यान दिया जाता है, समाज के स्वास्थ्य
त करने वाले विषयों पर राजकीय एवं स्थानीय अधिकारियों द्वारा
ोर निरीक्षण रखा जाता है कि भविष्य में ऐसे समय की कल्पना
जब सभी रोगों को न केवल उपचारणीय अपितु निवारणीय समझा
था जब आकस्मिक दुर्घटना के अतिरिक्त मृत्यु का केवल मात्र कारण
होगा। वह आकांक्षणीय युग अभी दूर हो सकता है किंतु यदि
गति आगामी शताब्दी में भी वैसी ही निरन्तर बनी रही जैसी विगत
में रही है तो यह सन्निकट आ जायगा।

ाकृत अर्वाचीन काल तक आँग्ल जनता अत्यन्त भयङ्कर अस्वास्थ्यकर
यों में रहती रही है। मनुष्यों को स्वास्थ्य के सामान्य नियमों का
ा, चिकित्सा-शास्त्र अब भी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था एवं
े प्रतिकूल परिस्थितियों में सुधार के हेतु राष्ट्रीय अथवा स्थानीय
यों ने गम्भीर प्रयत्न नहीं किया।

युग में कोई उचित जल-प्रदाय नहीं था तथा न नगरों में न ग्रामों में
की कोई उचित प्रणाली थी। सभी प्रकार के रोग इतने अधिक
कि प्रत्येक मनुष्य से यह आशा की जाती थी कि वह गिरजा-गृह में
वाली प्रार्थना के साथ मारी, महामारी एवं दुष्काल से निवारणार्थ
रूप से प्रार्थना करे। इन शब्दों का क्रम अर्थहीन नहीं है—खाद्याभाव
ा संस्पर्शजनित रोगों से अधिक भय होता था, यह स्वयं में दूर की
नहीं थी। एक आधुनिक प्रार्थना सभा को ये सब बुराइयाँ सुदूर
नी चाहियें एवं वास्तव में होती हैं किंतु प्रारम्भिक काल में ये वास्त-
एवं प्रार्थना किसी भी रूप में अविहित नहीं थी।

कभी-कभी ग्रामीण गिरजा-गृहों में इस प्रकार के उल्लेख वाले स्मारक दृष्टिगोचर हो सकते हैं। "--व्यक्ति एवं उनकी धर्म-पत्नी --की आत्मा के हेतु प्रार्थना करें। उनके नौ पुत्र एवं पुत्रियाँ थीं जिनमें से एक एक पुत्र एवं पुत्री उनके पश्चात् जीवित रहे" अथवा कभी-कभी "जिनमें से सभी बाल्यावस्था में दिवंगत हो गये। प्रारम्भकालीन परिवारों के आकार पर होने वाला विस्मय एवं कुछ अंशों तक विनोद महासंख्यक मृत्यु की विभीषिका के विचार से परिप्लावित हो उठता है। ऐसे उदाहरणों का अभाव नहीं है। परिवार विशाल थे यह सुविदित है एवं मृत्यु-संख्या जन्म-संख्या का अनुकरण करती रही होगी यह इस तथ्य से पूर्णतया स्पष्ट है कि कई शताब्दियों में जनसंख्या की वृद्धि केवल अत्यल्प हुई। विशेषकर शिशु मृत्यु-संख्या अत्यधिक थी एवं कुछ अवयस्क ही इतने सौभाग्यशाली थे कि वे बाल्यावस्था पा कर वृद्धावस्था तक जीवित रहे।

अठारहवीं शताब्दी में लोक स्वास्थ्य में कुछ स्वल्प सुधार अवलोकनीय है। महामारी के प्रकोप समाप्त प्रतीत होते हैं यद्यपि चेचक एवं ज्वर अब भी प्रवर्तमान थे। यह सुझाया गया है कि शवों को कफ़न में आवृत करने की अपेक्षा शवपेटिका[1] में शवाधान की पद्धति के विकास ने सुधार में योगदान दिया है।

ग्राम्य जीवन सामान्यतया नागरिक जीवन की अपेक्षा स्वास्थ्यकर माना जाता है एवं औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व अधिकांश मनुष्य ग्रामवासी थे। अठारहवीं शताब्दी के अन्त एवं उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ काल में नगरों का विकास ऐसे समय हुआ जबकि भवन विनिमय विद्यमान थे। कारखानों के नगरों में सहस्रों निवास-स्थान पीठ से पीठ के सिद्धांत पर निर्मित हो गये थे। एक गृह अन्य आसन्न गृहों की चार भुजाओं में से तीन को स्पर्श करता था, कोई उचित स्वास्थ्य व्यवस्था नहीं थी एवं प्रत्येक गृह में स्वतन्त्र जल प्रदाय का अधिष्ठापन आवश्यक नहीं समझा गया।

---

१. लोक प्रार्थना पुस्तक में अन्त्येष्टि संस्कार के सूत्र वाक्यों में से एक पर ध्यान रखना यह इंगित करता है कि १६६२ में जब यह पुस्तक अपने वर्त्तमान रूप में वितरित की गई थी यह अपेक्षित नहीं था कि मृत देह को शवपेटिका में बन्द किया जाना चाहिये।

(१८५० तक भी लन्दन में ८०,००० गृह स्वतन्त्र जल प्रदाय हीन थे)। ऐसे स्थान दुःसंवातित एवं मलिन थे एवं वे शीघ्र दूषित एवं कीटग्रस्त हो गये। जलोत्सरण नालियों की कोई पद्धति स्थापित नहीं थी एवं अपनिर्मित गूथकूपों ने एक शताब्दी पूर्व के नागरिक जीवन के भय में वृद्धि की। (गूथकूपों का लन्दन नगर में १८५० तक भी अन्त नहीं हुआ था एवं समस्त लन्दन में जलोत्सरण की नालियों से सर्वव्यापक होने से पूर्व बहुत अधिक वर्ष और निकल गये थे।) गृहों का मल एकत्रित करके नष्ट नहीं किया जाता था, इसे मल-नालियों, घूरों अथवा गन्दे कोनों में सञ्चित कर दिया जाता था जहाँ यह सड़कर रोग एवं मृत्यु उत्पन्न कर देता था। जो जल प्रदाय विद्यमान था वह अधिकांशतः दूषित होता था। गूथकूपों एवं श्मशानों के निकटस्थ कुओं एवं झरनों से लिया गया जल जीवन की अपेक्षा मृत्यु का दूत हो सकता था।

सुधार की आवश्यकता दो दिशाओं में थी—उचित जल प्रदाय की व्यवस्था एवं जलोत्सरण नालियों की स्थापना। १८४७-८ में विशूचिका व्यापक रूप में प्रकट हो गयी एवं एडविन चेडविक तथा अन्य व्यक्तियों ने कार्यवाही की आवश्यकता अनुभव करने की ओर जनमत को जाग्रत किया। १८४८ में एक केन्द्रीय स्वास्थ्य मण्डल की स्थापना की गई एवं इसे किसी नगरी, नगर, पौर, मठक्षेत्र अथवा ऐसे स्थानों पर जहाँ वाञ्छा हो अथवा जहाँ मृत्यु-संख्या अधिक हो स्थानीय मंडल स्थापित करने का अधिकार दिया गया। इन स्थानीय अधिकारियों के कर्तव्यों में जलोत्सरण नालियों की जहाँ आवश्यकता हो वहाँ व्यवस्था करना, जल प्रदाय की व्यवस्था तथा विधियों की स्वच्छता सम्मिलित थे। अंशतःकार्य का परिणाम अत्यधिक होने के कारण, अंशतः अभियान्त्रिक एवं प्रौद्योगिक कठिनाइयों के कारण जिन्हें पार करना था एवं अंशतः केन्द्रीय एवं स्थानीय प्राधिकारियों के परस्पर संघर्ष के कारण प्रगति धीमी रही।

केन्द्रीय स्वास्थ्य मण्डल का निर्माण केवल निश्चित अवधि के हेतु ही हुआ था। इसे प्रति वर्ष चालू रखा जाता था किन्तु १८५८ में इसे समाप्ति की स्वीकृति दे दी गयी। आगामी कुछ वर्षों में लोक-स्वास्थ्य से सम्बद्ध विशेष विषयों के हल के हेतु विविध अधिनियम पारित किये गये एवं इस प्रश्न पर विचार करने के हेतु १८६९ में एक शासकीय आयोग की स्थापना की गयी। अपने प्रतिवेदन में इसने एक केन्द्रीय प्राधिकारी की स्थापना की आवश्यकता

पर बल दिया अतः १८७१ में स्थानीय शासन मण्डल की स्थापना की गयी।

१८७२ के लोक-स्वास्थ्य अधिनियम के अन्तर्गत सम्पूर्ण देश को नागरिक अथवा ग्रामीण[1] स्वच्छता मण्डलों में विभाजित कर दिया गया। इस प्रकार १८४८ के अधिनियम के अन्तर्गत आरम्भ संगठन को अधिक सामान्य एवं व्यापक बना दिया गया। स्वच्छता प्राधिकारियों को कुछ अधिकार दिये गये तथा इन्हें विस्तृत किया गया एवं एतद्विषयक विधि को १८७५ के लोक स्वास्थ्य अधिनियम के रूप में संहिताबद्ध कर दिया गया।

१८७५ के अधिनियम के अन्तर्गत प्रत्येक स्वच्छता प्राधिकारी द्वारा एक भैषजिक स्वास्थ्य अधिकारी, एक आपरीक्षक एवं एक स्वच्छता-निरीक्षक की नियुक्ति अपेक्षित थी। प्राधिकारियों को लोक-स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले व्यापक विषयों को हल करने के हेतु अधिकार (एवं दायित्व) प्रदान किये गये। यह अपने क्षेत्र के हेतु जल प्रदाय की व्यवस्था कर सकता था यदि इससे पूर्व ही कोई निजी प्रमण्डल दक्षतापूर्वक ऐसा नहीं कर रहा हो। इसे गन्दी नालियों को अच्छी स्थिति में रखना होता था। संस्पर्शजनित रोगों के प्रारम्भ होने पर उस स्थिति के निवारणार्थ कार्यवाही करना आवश्यक था। वीथियों का निर्माण, पक्का करवाना, प्रकाश करना, स्वच्छ रखना, एवं अग्नि शमित्रों की व्यवस्था करना स्वच्छता प्राधिकारी के कर्तव्यों में से थे। इससे बाजारों एवं पशु वध गृहों के निरीक्षण की आशा की जाती थी एवं इसे लोक स्नान-गृहों एवं धुलाई-गृहों की व्यवथा करने का अधिकार था। इससे "अशुचिता" से निपटने की आशा की जाती थी चाहे जब कहीं एवं जहाँ कहीं वह उत्पन्न हो एवं इसे अशुद्ध भोजन पर अधिकार कर उसे नष्ट करने का अधिकार था। आगामी कुछ वर्षों में स्वच्छता निरीक्षकों को निर्माणशाला की स्वास्थ्यप्रद परिस्थितियों का अनुसन्धान करने के अधिकार दिये गये।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक यह मान्यता हो गई थी कि बड़े नगरों में विशाल जनसंख्या ऐसे स्थानों में रहती थी जो निवास-योग्य न थे। १८५१ में स्थानीय प्राधिकारियों को श्रमिकों के हेतु कुटीर निर्माण का अधिकार दे

---

१. क्षेत्रों के कुछ सरलीकरण का प्रयत्न १८८८ एवं १८९४ के स्थानीय शासन अधिनियमों द्वारा किया गया।

दिया गया किन्तु कुछ भी न हुआ—अधिनियम वास्तव में अप्रचलित रहा। १८६८ के शिल्पी एवं श्रमिक निवास अधिनियम ने स्थानीय प्राधिकारियों को निवास हेतु अनुपयुक्त सम्पत्ति को निष्प्रयोज्य घोषित करने का अधिकार दे दिया था एवं यदि स्वामी अनिवार्य सुधार करवाने में असमर्थ रहे तो उसे ध्वस्त करवा सकते थे। यह मलिन बस्तियों की समस्या हल करने का प्रथम वास्तविक प्रयत्न था। यह इसलिए अपूर्ण सिद्ध हुआ कि भेषज अधिकारियों को सूत्रपात करना पड़ता था जो कठोर कार्यवाही करने जितनी पूर्ण स्वतन्त्र स्थिति में नहीं थे। उनका सेवा-योजन स्थानीय प्राधिकारी करते थे एवं वे पदच्युत कर सकते थे।[1] वे नियमानुसार पूर्णकालिक अधिकारी न थे अपितु आयुर्विज्ञों के रूप में स्वतन्त्र चिकित्सक थे। यह समझना सरल है कि स्थानीय सम्पत्ति के स्वामियों के विरुद्ध कठोर कार्यवाही उनके व्यक्तिगत हितों के विरुद्ध हो सकती थी।

विगत सत्तर-अस्सी वर्षों में बहुत से अधिनियम पारित हुए हैं। उन्होंने गृह विषयक विधि को सुदृढ़तर बनाने की अपेक्षा संशोधित किया है। यह सब होने के पश्चात् भी अधिकांश बड़े नगरों में मलिन गृह सम्पत्ति बहुत थी। इसके अतिरिक्त श्रमिक वर्गों के हेतु आवास स्थान की वास्तविक न्यूनता थी एवं १९१४-१८ के युद्ध के पश्चात् इतनी विषम हो गई कि शासन का ध्यान आकर्षित कर सकी। निजी निर्माण को प्रोत्साहन देने के हेतु राजकीय आर्थिक सहायता प्रदान की गई एवं स्थानीय प्राधिकारियों को ऐसे भवन निर्मित करवाने के आदेश दिए गए जो श्रमिक वर्ग के उपयुक्त भाटकीयों को ऐसे भाटक पर दिये जायँ जिनसे स्थानीय अधिकारियों को यदि हानि हो तो उसकी पूर्ति स्थानीय करों से हो जाय। कुछ वर्षों की अवधि में कई लाख भवन निर्मित हो गए किन्तु मलिन बस्तियों की समस्या का हल शेष था।

इस बुराई की और लोकरुचि का अभाव इसके स्वरूप के प्रति उदासीनता की अपेक्षा इसकी मात्रा के प्रति अज्ञान के कारण था। जैसे-जैसे समस्या की महत्ता एवं गम्भीरता सुविदित हुई लोकमत जाग्रत किया गया एवं मलिन बस्तियों के निरसन के हेतु पंचवर्षीय योजना प्रस्तुत की गई। दुर्भाग्यवश

---

१. भैषजिक स्वास्थ्य-अधिकारियों को अब पदच्युति से संरक्षण प्राप्त है। उन्हें स्वास्थ्य मन्त्रालय की सहमति बिना सेवा-मुक्त नहीं किया जा सकता।

१९३९ में युद्धारम्भ ने इसे स्थगित करना अनिवार्य कर दिया एवं शत्रु के वायु आक्रमणों से गृह विध्वंस ने निवास-गृह की न्यूनता में अत्यधिक वृद्धि कर दी। युद्ध के पश्चात् शासन ने भवन-निर्माण कार्यक्रम प्रारम्भ कर दिया जिसका उद्देश्य नगरों एवं ग्रामों में प्रत्येक परिवार के हेतु सामान्य गृह की व्यवस्था करना था। यह स्पष्ट है कि कार्य इतना विशाल है कि इसकी समाप्ति से पूर्व बहुत वर्ष समाप्त हो जायेंगे।

१९११ में अस्वस्थता के हेतु राष्ट्रीय आगोप की स्थापना श्रमिक वर्गों को विभिन्न रूपों में लाभप्रद सिद्ध हुई है। योजना के समालोचकों का कथन है कि इसने छद्म-रोग की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया है एवं इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस प्रकार की घटनायें हुई हैं। किन्तु इतने विशाल परिमाण की योजना में कुछ दोषों का रहना अवश्यम्भावी है। किन्तु आय की हानिजनित भयंकर दुष्परिणामों के अपशमन के हेतु श्रमिकों को रुग्णावस्था के समय धन देकर कुछ किया गया एवं इस योजना के अन्तर्गत भेषज व्यवस्था ने बहुत से व्यक्तियों के उपचारार्थ व्यावसायिक दक्षता की व्यवस्था की जिन्हें पूर्वकाल में इसका अभाव था क्योंकि वे इसके हेतु व्यय करने की स्थिति में नहीं थे। कुछ विशेष परिस्थितियों में, जहाँ आवश्यक हो, यह योजना अतिरिक्त सुविधायें भी प्रदान करती है।

लोक-स्वास्थ्यकारी कार्यों के क्षेत्र का विस्तार निरन्तर वृद्धि की ओर दृष्टि-गोचर होता है। उच्च शिशु मृत्यु-संख्या की ओर बहुत वर्षों से ध्यान आकर्षित था एवं १९०७ में जन्म होने के चालीस घण्टों में स्थानीय भैषजिक स्वास्थ्य अधिकारी को सूचित करना अनिवार्य करते हुए एक अधिनियम पारित किया गया। इस प्रकार स्वास्थ्य निरीक्षक के लिये शिशु के माता-पिता को उसके लालन-पालन के सम्बन्ध में सहायता एवं सलाह देने के हेतु बुलाना सम्भव हो गया। इसलिए कि मातृ मरण संख्या कम हो सके। प्रसविकाओं को दक्ष प्रशिक्षण की व्यवस्था के प्रयत्न किये गए एवं प्रसविकाओं के प्रमाणीकरण की पद्धति १९०२ में प्रारम्भ की गई। लोक-स्वास्थ्यकारी कार्यों की एक और शाखा यक्ष्मा रोग का चिकित्सा है। जिला परिषदें एवं जिला पौर परिषदें एवं १९२१ से अपने क्षेत्रों में इस रोग से पीड़ित व्यक्तियों की चिकित्सा के हेतु उत्तरदायी रही है।

१९१९ में स्थानीय शासनमण्डल का स्थान स्वास्थ्य मन्त्रालय ने ग्रहण कर लिया। स्थानीय शासनमण्डल के स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्त अधिकार तथा इसी प्रकार के अन्य अधिकार जिनका प्रयोग अन्य विभाग जैसे शिक्षामण्डल एवं गृह कार्यालय करते थे नूतन मन्त्रालय को हस्तान्तरित कर दिये गए। यह व्यवस्था कर दी गई कि इङ्गलैण्ड एवं वेल्स के किसी शासकीय विभाग के अधिकार एवं कर्त्तव्य जो लोक स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले अथवा प्रासङ्गिक विषयों से सम्बद्ध दृष्टिगोचर होते थे, स्वास्थ्य मन्त्रालय को हस्तान्तरित किये जा सकते थे। इस परिवर्तन का प्रभाव लोक-स्वास्थ्य से सम्बद्ध सब विषयों को एक केन्द्रीय प्राधिकारी के निर्देशन में लाना था एवं इस प्रकार कार्यों की द्विरावृत्ति का निवारण करना था जो इस परिवर्तन पर व्यवहार किये जाने से पूर्व थी।

१९४६ में संसद् ने राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा अधिनियम पारित किया जिसने इस विषय में अब तक किये गए प्रयत्नों से सर्वाधिक व्यापक रूप में संव्यवहार किया। जो सेवाएँ स्थापित की गई थीं वे इङ्गलैण्ड एवं वेल्स में बिना किसी प्रभार के प्रत्येक व्यक्ति को उपलब्ध थीं। व्यय की पूर्ति न्यूनाधिक मात्रा में राष्ट्रीय आगोप योजना के अन्तर्गत अभिदानों में से, स्थानीय उपशुल्कों में से अनुदानों से एवं कोष से की जानी थी। (कुछ विशेष परिस्थितियों में रोगी से भी प्रभार लिया जा सकता था यथा उदाहरणार्थ चिकित्सालय में अलोक कक्ष में रहने के कारण एवं ऐसा करने के इच्छुक किसी व्यक्ति के हेतु उन्मुक्त था जो अपनी स्वयं की इच्छानुकूल चिकित्सक को बुलवाने एवं जैसा उपर्युक्त है उसे धन देने को इच्छुक हो।) इस अधिनियम द्वारा अपेक्षित स्वास्थ्य-सेवाओं में (सामान्य एवं विशेषज्ञ) भेषजवृत्तिकों द्वारा उपचार, चिकित्सालयोपचार, प्रसूति कार्य, टीके लगाना, नेत्रोपचार एवं दन्त-चिकित्सा सम्मिलित थी। अधिनियम में स्वाभाविक तथा बहुत से विशेष एवं प्राविधिक नियम थे एवं यह स्वीकार किया गया कि इसके प्रवर्त्तन की सफलता स्वास्थ्य मंत्रालय एवं भैषजिक तथा दन्त व्यवसायों के मध्य मधुर सम्बन्ध स्थापित होने पर निर्भर करती है। यह एक ऐसा विषय है जो लेखन काल तक भी विवादास्पद था।

तीसवाँ अध्याय

आँग्ल अधिकोषण पद्धति

इटली के नगरों में से अधिकांश मध्य युग में महत्त्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र थे अतः यह जानकर कोई आश्चर्य नहीं होता कि इनमें से कुछ अधिकोषण व्यवसाय होता था। सार्वजनिक अधिकोष, वे जिनमें ११५७ एवं जिनोवा में १३४५ में स्थापित किये गए एवं फ्लारेन्सीय निजी अधिकोष विशेषकर बार्डी, पेरुज्जी[1] एवं मेडिसी के अधिकोष—इतने महत्त्वपूर्ण थे कि योरोप के बहुत से भागों में अपना व्यवसाय करते थे। सोलहवीं एवं सत्रहवीं शताब्दी में व्यापार-वृद्धि के परिणामस्वरूप महाद्वीप के अन्य भागों—विशेषकर १६०६ में एम्स्टर्डम में तथा हैम्बर्ग में १६१६ में कधिकोष व्यवसाय स्थापित हो गया तथा अठारहवीं शताब्दी तक योरोप के अधिकांश महानगरों में अधिकोष स्थापित हो चुके थे।

आँग्ल अधिकोषण के इतिहास के मध्ययुग तक भी अनुसंधान के कुछ प्रयत्न किये गये हैं। अधिकोषण के विषय में जैसा इस शब्द का आधुनिक अर्थ है[2] यह दृढ़तापूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह इतने प्राचीन काल में भी विद्यमान था। यद्यपि यहूदी गण १२६० में आँग्ल प्रदेश से अपने निष्कासन से पूर्व उच्च व्याज पर कुसीद व्यवसाय करते थे तथा उत्तर मध्ययुग में सम्राट् समय-समय पर सुसम्पन्न व्यापारियों एवं हान्स व्यापारियों तथा अभिसाहसिक व्यापारियों जैसे निगमों से ऋण व्यवहार करते थे। किन्तु ऐसे व्यवहारों को अधिकोषण का प्रारम्भिक रूप तक मानना कठिन है।

सुधारपूर्व के युग में कुसीद पर नागरिक विधि एवं धर्म विधि के अन्तर्गत समान रूप से प्रतिबन्ध था। ट्यूडर काल में इस विषय में आँग्ल देश में मत परिवर्तन हुआ। किसी व्यापारी से ऋण पर जिसका ऋण लेने वाला व्यक्ति व्यापार में उपयोग करके लाभ अर्जित कर सकता हो, व्याज लेना, एतद्पश्चात्

---

१. बार्डी एवं पेरुज्जी ने एडवर्ड तृतीय एवं सिसिली नरेश को ऋण दिया एवं उनका धन डूब गया।

२. साख का संगठन।

अनैतिक नहीं रह गया। १५४५ में पारित एक अधिनियम के अन्तर्गत व्याज को कुसीद से भिन्न मानकर ब्याज लेना वैधानिक घोषित कर दिया। यद्यपि इस अधिनियम का १५५२ में परिवर्तन हुआ, १५७१ में इसका पुनर्जीवन हो गया एवं १६२४ के अधिनियम के अन्तर्गत आठ प्रतिशत को उच्चतम ब्याज दर स्वीकृत कर लिया गया। जब तक ब्याज देना पूर्णतया निषिद्ध था अधि-कोषण व्यवसाय जैसा इसे वर्तमान में समझा जाता है पूर्णतया असम्भव था। इसकी वैधानिकता के पश्चात् अधिकोषण विकासोन्मुख होने में स्वतन्त्र था।

निक्षेप अधिकोषण[1] ब्याज पर ऋण देने की दृष्टि से निक्षेप प्राप्त करना— आंग्ल देश में सत्रहवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ। विभिन्न प्रकार के वणिक् ऋण देने में समर्थ हो सकते थे किन्तु सामान्यतया वे व्याज देने की अपेक्षा अपनी व्यापारिक क्रियाओं के क्षेत्र की वृद्धि के हेतु अपनी आन्तरिक पूँजी को अधिक लाभप्रद रूप में लगाने में समर्थ थे। वास्तव में कई बार अनुग्रह स्वीकृत करने की अपेक्षा उन्हें इसकी आवश्यकता हो सकती थी। स्वर्णकार इस विषय में अन्य वणिकों से भिन्न थे। उनकी वस्तुओं की माँग सीमित थी। कभी-कभी जैसे महान् विद्रोह के समय सामन्तगण क्रय करने की अपेक्षा पट्टों को द्रवित करवा रहे थे। इसलिए स्वर्णकार सदैव ही अपनी व्यापारिक संस्थाओं में अधिक पूँजी लगाकर वृद्धि करने में समर्थ न थे एवं व्याज पर धन देने को तत्पर थे। हेनरी अष्टम के समय से वे अन्य वणिकों की सुविधा के हेतु विभिन्न देशों के चलित्रों में व्यापार करते हुए सर्राफों के रूप में कार्य करते थे। चार्ल्स प्रथम के समय से उहोंने अपने ग्राहकों से अभियाचन पर प्रतिशोधन की प्रतिज्ञा पर धन राशि सुरक्षित रखने के हेतु लेना प्रारम्भ किया। महान् विद्रोह के संत्रस्त काल में इस प्रथा का पर्याप्त विकास हुआ।

---

१. आधुनिक काल में अधिकोषों का वर्गीकरण निक्षेप अधिकोष एवं निर्गमन अधिकोष के रूप में किया जाता है। प्रथम-निक्षेप पर धन प्राप्त करते हैं, (कभी-कभी ब्याज भी देते हैं) जो सूचना देने अथवा मांगने पर प्रदाय होता है। वे उसका एक अंश सामान्य माँगों की पूर्ति के हेतु रखकर शेष से आदेशों (हुण्डियों) का पूर्वापहार करते थे अथवा प्रतिभूति पर ऋण देते थे। निर्गमन अधिकोष वह होता है जो माँग पर प्रदाय अर्थ पत्र निर्गमित करता है। इससे सभी सम्भाव्य माँगों की पूर्ति के हेतु एक उचित स्वर्ण कोष रखने की आशा की जाती

स्वर्णकारों ने शीघ्र ही यह अनुभव किया कि यह सम्भाव्य नहीं है कि उनके पास निक्षिप्त धन एक ही समय सम्पूर्ण रूप से प्रतिशोधन के हेतु आवश्यक हो अतः उन्हें सभी सम्भाव्य अभियाचनों की पूर्ति के हेतु केवल आवश्यक धन कोष में रखते हुए एक अंश ब्याज पर देना सम्भव प्रतीत हुआ। वे अभियाचन शोध्य अर्थ-पत्र निकालने लगे एवं जब उनकी अर्थ-पत्रों को स्वीकरण की क्षमता एवं इच्छा पर विश्वास दृढ़ हो गया, वे अपने निर्गमन में वृद्धि करने योग्य हो गये। इस प्रकार उनके पास इस प्रकार का अतिरिक्त चलित्र बहुत राशि में इच्छाधीन था। व्याज देने का प्रस्ताव करके वे निक्षेपों को आर्कषित करते थे एवं कालान्तर वे सम्राट् को ऋण देने लगे। १६७२ में चार्ल्स द्वितीय ने कोष से देय प्रतिशोध्य का स्वर्णकारों को शोधन बन्द कर दिया एवं उनके देय ऋणों पर केवल व्याज देने का दायित्व लिया।[1] इस शासकीय कार्य ने स्वर्णकारों के समक्ष कठिनाइयाँ उपस्थित कर दीं। वे अपने निक्षेपकों के अध्यर्थनों की पूर्ति करने में असमर्थ थे। अतः एक आर्थिक सङ्कट उपस्थित हो गया। किन्तु जिस पद्धति की उहोंने स्थापना की थी वह स्थापित रही।

स्वर्णकारों के आर्थिक संकार्य शासन द्वारा अधिनियमित एवं अनियंत्रित थे। यह एक ऐसी प्रवृत्ति थी जिसका युग भावनाओं से सामञ्जस्य नहीं था। अतः स्वर्णकारों की आलोचना की गई। वे निक्षेपकों को छः प्रतिशत तक व्याज देना स्वीकार कर रहे थे अतः केवल इससे भी उच्च दर पर देकर ही लाभ अर्जित कर सकते थे।[1] किन्तु अधिक व्याज केवल तब ही लिया जा सकता था जब प्रतिभूति अनिश्चित हो अतः इस आधार पर चलने वाला अधिकोष व्यवसाय सुदृढ नहीं हो सकता था। स्वर्णकारों के आलोचकों का यह

है। ये अर्थपत्र आदेशों के पूर्वापहार एवं प्रतिभूति पर ऋण देने के हेतु उपलब्ध रहते हैं एवं कोष मात्रा से अधिक मात्रा में निर्गमित अर्थपत्र इन उद्देश्यों के हेतु उपलब्ध धन की मात्रा में वृद्धि करते हैं। केवल बैंक आफ इङ्गलैंड ही इङ्गलैंड में निर्गमन अधिकोष है।

१. सन्निहित धन-राशि पौं० १३,२८,००० थी।

२. विधिनिहित अधिकतम व्याज की दर १६९२ में घटाकर ६% कर दी गई।

तर्क था कि अधिकोषण व्यवसाय राजकीय आज्ञा प्राप्त प्रमण्डलों के हाथों में होना चाहिये जिनका अपेक्षाकृत अधिक साधनों पर नियंत्रण हो एवं जिसमें अपेक्षाकृत अधिक लोक-विश्वास हो। ऐसे प्रतिष्ठापनों द्वारा माँगी जाने वाली व्याज की दर स्वर्णकारों की दर से कम होगी अतः व्यापार के हेतु अधिक साख उपलब्ध होगी।

१६९४ में एक स्काटिश मनुष्य विलियम पेटरसन द्वारा प्रस्तावित रूप-रेखा के आधार पर बैङ्क आफ इङ्गलैंड की स्थापना की गई। जिस प्रमण्डल का उस समय निर्माण किया गया था उसने शासन को १२,००,००० पौं० धन-राशि उधार देने का दायित्व लिया। धन-राशि पर आठ प्रतिशत व्याज दिया जाना था एवं ४,००० पौं० प्रति वर्ष प्रबन्ध व्यय के रूप में प्रदाय थे। प्रमण्डल को अधिकोषण व्यवसाय चलाने अर्थात् अर्थपत्रों के निर्गमन, आदेशों के पूर्वापहार, प्रतिभूतियों पर ऋण देने, एवं निक्षेप ग्रहण की राजाज्ञा प्रदान की गई।

अधिकोष शासन को दी गयी ऋण-राशि की मात्रा तक अर्थ-पत्रों का निर्गमन करता था। समय-समय पर इसने और ऋण लेने में सहायता की तथा १६९६ में इसने रजतमुद्रा के पुनर्टङ्कण में सहयोग प्रनान किया। चलित्र के अस्थायी अभाव ने स्वर्णकारों को अधिकोष पर धावा करने के हेतु संगठन का सुअवसर प्रदान कर दिया। उन्होंने इसके अर्थ-पत्र वृहद् परिमाण में क्रय करके अधिकोष में निष्क्रमण के हेतु प्रस्तुत कर दिये। अधिकोष के पास माँग की पूर्ति कर सकने जितनी यथेष्ट मुद्रा नहीं थी। इसने प्रतिदान के सद्भावी अध्यर्थनों का केवल कठिनाईं उत्पन्न करने के हेतु प्रस्तुत किये गये अध्यर्थनों से विभेद करने का प्रयत्न किया तथा इसने पूर्वोक्तों पर देय धन-राशि का १५% प्रदान कर दिया तथा अपरोक्तों के प्रतिदान को तब तक के लिए स्थगित कर दिया जब तक टङ्कशाला से टङ्क की पूर्ति न हो जाय।

बैंक आफ इङ्गलैंड को केवल सीमित समय के लिए राजलेख प्रदान किया गया था एवं इसका समय-समय पर पुनर्नवन कर दिया जाता था। अधिकोष के संचालकगण राज लेख की अवधि के विस्तार के हेतु उचित समय में पत्र-व्यवहार करने को सदैव साधन रहते थे एवं कुछ अवसरों पर वे नवीन सुविधाएँ बलात् लेने के हेतु शासकीय अनिवार्यताओं का लाभ भी उठाते थे। इन

सुविधाओं एवं इसके राजलेख के दीर्घण के प्रतिफलस्वरूप यह शासन को उपहार एवं समधिक ऋण देता था।

१७०८ में यह अधिनियमित किया गया कि छः साझेदारों से अधिक के किसी अन्य अधिकोष की अर्थ-पत्रों के निर्गमन के विशेष अधिकार के साथ स्थापना नहीं होगी। इस प्रकार बैंक आफ इङ्गलैंड को संयुक्त पूँजी अधिकोषण का अधिकार प्रदान कर दिया गया। क्योंकि यद्यपि अन्य संयुक्त पूँजी प्रमण्डल निक्षेप अधिकोषण का कार्य कर सकते थे। अर्थ-पत्रों का निर्गमन अधिकोषण सामान्यतया इतना आवश्यक समझा जाता था कि १८२६ में इस नियम में शिथिलन के पश्चात् तक ऐसे किसी अधिकोष का निर्माण नहीं हुआ। १७०८ के पश्चात् लगभग सवा शताब्दी तक बैंक आफ इङ्गलैंड के केवल मात्र प्रतिद्वन्द्वी निजी अधिकोषक-स्वर्णकार एवं उनके उत्तराधिकारी थे। इसकी शक्ति एवं प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई एवं १७५१ से इसे राष्ट्रीय ऋण का पूर्ण प्रबन्ध सौंप दिया गया।

यह नहीं मान लेना चाहिये कि इस प्रकार बैंक आफ इङ्गलैंड को प्रदत्त संयुक्त पूँजी अधिकोषण का एकाधिकार इस देश के अधिकोषण विकास के पूर्णतया हित में था। इसने लगभग सवा शताब्दी तक निजी से संयुक्त पूँजी अधिकोषण के संक्रमण को विलंबित कर दिया एवं यह संभव है कि यदि बैंक आफ इंगलैंड को अन्य संयुक्त पूँजी संस्थाओं की प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ता तो यह अन्य प्रान्तीय नगरों में अपनी शाखाएँ खोलकर अधिकोषण सुविधाओं की अभिवृद्धि के हेतु अधिक सक्रिय होता।

तथापि इस प्रकार स्थापित पद्धति औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व देश की आवश्यकताओं के हेतु अपर्याप्त नहीं थी। १७५० से पूर्व अधिकोषण व्यवसाय प्रमुख रूप से लन्दन में सीमित था। यद्यपि कुछ अधिकोष देश में स्थापित हो चुके थे। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तत्कालीन औद्योगिक विस्तार के साथ-साथ देश के सभी भागों में अधिकोषण की वृद्धि हो रही थी। यदि संयुक्त पूँजी अधिकोषण इस समय वैधानिक होता तो तत्कालीन अधिकोषण विकास दृढ़तर आधारों पर अग्रसर हुआ होता। इस काल के कुछ निजी अधिकोष सुव्यवस्थित थे एवं विश्वास के अधिकारी थे किन्तु उस समय का अधिकाँश अधिकोषण व्यवसाय निम्न स्तर एवं सीमित साधन वाले व्यक्तियों के

हाथों में था ।

अर्थ-पत्रों का निर्गमन अब भी अधिकोषण व्यवसाय की एक मार्मिक विशेषता थी। कई व्यापारियों ने व्यवसाय के लघु रूप में माँग पर प्रदाय अर्थ-पत्रों को चालित कर अधिकोषण को अन्य क्रियाओं से संयोजित कर लिया था। जब तक निर्गमन अधिकोषिक की साख श्रेष्ठ थी एवं उसके अर्थ-पत्र निर्बाध प्रचलित थे, कोई विशेष हानि नहीं होती थी। किन्तु यदि किसी समय उसकी शोध-क्षमता पर संशय उत्पन्न हो जाय तो उसके अर्थ-पत्र शोधन के हेतु प्रस्तुत कर दिये जाते थे। उसकी उनको सिकारने की असफलता का परिणाम बहुत से व्यक्तियों को हानि एवं नाश में होगा। सुदृढ़तर व्यवस्थित निजी अधिकोषों को भी कभी-कभी घावों का सामना करना पड़ता था एवं प्रायः अत्यधिक हानि के बिना अपनी प्रतिभूतियों के शीघ्रतापूर्वक रोककरण की असमर्थता के कारण वे शोधन स्थगित करने को बाध्य हो जाते थे। अर्थ-पत्रों के निर्गमन के विनियमन की सन्तोषप्रद पद्धति की परिकल्पना उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल के अधिकोषण की महान् समस्याओं में से एक थी।

१७९३ में १८२५ तक कई आर्थिक संकट आये एवं प्रत्येक अवसर कई देशीय अधिकोषों की विफलता से उल्लेख्य रहा। १७९७ में फ्रांसीसी आक्रमण के भय के कारण बैंक आफ इङ्गलैंड पर लोग टूट पड़े एवं इस संस्था के स्वर्ण-कोष को ऐसा गम्भीर संकट उत्पन्न हो गया कि शासन ने इसे अपने अर्थ-पत्रों के शोधन को बन्द करने का अधिकार दे दिया। बीस वर्ष से अधिक तक बैंक आफ इङ्गलैंड के अर्थ-पत्रों की स्वर्ण में परिवर्तनीयता बन्द रही। इनका (इस आशा से कि अन्त में रोक-शोधन पुनः आरम्भ हो जायगा) निर्बाध चलन होता रहा एवं कुछ वर्षों तक उनके मूल्य में अति अल्प ह्रास हुआ। नैपोलियनिक युद्ध के अन्त काल में उनके मूल्य में विचारणीय कमी हुई तथा एक समय पाँच पौंड के अर्थ-पत्र का मूल्य स्वर्ण में पौं० ३. ११. शि० से अधिक न था। अधिकोष द्वारा रोक-शोधन के पुनरारम्भ के औचित्य पर १८१० में लोक-सदन की एक समिति ने विचार किया तथा उस समय कुछ कार्यवाही नहीं की गयी किन्तु १८१९ में सर राबर्ट पील

की अध्यक्षता में एक समिति ने निर्णय किया कि पुनरारम्भ में अधिक विलम्ब नहीं किया जाना चाहिये। १८२१ में अर्थ-पत्रों का स्वर्ण में सामान्य स्वीकरण पूर्ण चलनावस्था में था।

१८१५ में पुनः शान्ति स्थापन के पश्चात् संयुक्त पूँजी अधिकोषण के विधानीकरण के पक्ष में सशक्त आन्दोलन उठ गया। इसके समर्थकों का तर्क था कि वर्तमान प्रणाली में उत्पन्न दोष निजी अधिकोषों में अधिकाँश की दुर्व्यवस्था, अधिकोषों द्वारा दुस्साहसपूर्ण परिकल्पन एवं अनुपयुक्त प्रतिभूति पर ऋण देने के कारण थी। यह अनुभव किया गया कि संयुक्त पूँजी संस्थाओं के संचालक—वे मनुष्य जो अपनी नीति के सम्बन्ध में, जिसका वे अनुसरण करते हों, भागीदारों के प्रति उत्तरदायी होंगे, इस प्रकार की त्रुटियों के सम्भवतः कम शिकार होंगे। १८२३ में शासन द्वारा बैंक आफ इंगलैंड से इस सम्बन्ध में व्यवहार किया गया, उसके राजलेख की अवधि को १८४३ तक बढ़ाने का प्रस्ताव किया गया। यदि यह अपने एकाधिकार को लन्दन एवं उसके आस-पास पैंसठ मील के क्षेत्र तक सीमित करने की सहमति दे दे जिससे इस क्षेत्र के बाहर प्रान्तीय नगरों में अन्य संयुक्त पूँजी अधिकोष स्थापित किये जा सकें। कोई तात्कालिक कार्यवाही नहीं की गई एवं १८२५ में अन्य आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया। १८२४ में व्यापार में समृद्धि हो रही थी। सभी ओर अत्यधिक परिकल्पन एवं अति विश्वास था, अर्थ-पत्रों का अत्यधिक मात्रा में निर्गमन किया गया अतः समवसाद प्रारम्भ हो गया। छः सप्ताह में सत्तर से अधिक अधिकोष बन्द हो गये। कार्यवाही में अब कोई देर नहीं की जा सकती थी।

बैंक आफ इंगलैंड के समक्ष एकाधिकारों के अन्तर्गत प्राप्त अधिकारों का सम्पूर्ण देश में शाखाएँ खोलकर सक्रिय उपयोग करने अथवा १८२३ के प्रस्तावानुसार ६५ मील के परे अपने अधिकारों के समर्पण करने का विकल्प रखा गया। इसने प्रथम विकल्प का पूर्ण परित्यागन करते हुए द्वितीय विकल्प को चुना। अतः १८२६ में अर्थपत्र निर्गमित करने के अधिकार के साथ लन्दन में पैंसठ मील दूर किसी स्थान पर अन्य संयुक्त पूँजी अधिकोषों की स्थापना को अधिकृत करने के हेतु एक विधेयक पारित किया गया। इस प्रकार बैंक का एकाधिकार निर्धारित क्षेत्र में सीमित हो गया किन्तु इसके परे व्यवसाय

चलाना मना नहीं था। आगामी वर्षों में ही इसने बहुत से प्रान्तीय नगरों में इस प्रकार नवीन अधिकृत अधिकोषों से प्रतिस्पर्धा करते हुए अपनी शाखाएँ स्थापित कर लीं। इस हेतु कि स्वर्ण की पुष्कल मात्रा प्रचलन में रह सके, पाँच पौंड से अल्प मूल्यों के अर्थ-पत्रों का निर्गमन निषिद्ध कर दिया गया।

१८२६ के अधिनियम से बैंक आफ इंगलैंड की एकाधिकारी स्थिति पर कुछ गम्भीर प्रभाव नहीं हुआ, क्योंकि देश का आर्थिक व्यवसाय लन्दन में केन्द्रित था। इसे अन्य अधिकोषों के बैंक आफ इंगलैंड के साथ सम्बन्ध की समस्या के अन्तिम एवं सन्तोषप्रद हल के रूप में नहीं माना जा सकता। अतः १८३३ में एक अन्य विधेयक पारित किया गया। संयुक्त पूँजी अधिकोषों को लन्दन अथवा पैंसठ मील के अन्तर्गत अन्यत्र व्यापार करने की आज्ञा थी यदि वे अर्थ-पत्रों का निर्गमन न करें। उन्हें अपने लन्दन कार्यालय अथवा अपने लन्दनस्थ अभिकर्त्ता द्वारा प्रदाय अर्थ-पत्रों के निर्गमन की भी आज्ञा दे दी गयी यदि निर्गमन कार्यालय क्षेत्रीय सीमा से परे हो। उसी अधिनियम द्वारा बैंक आफ इङ्गलैण्ड के अर्थ-पत्रों को बैंक के भवन के उन भागों के अतिरिक्त जो उनकी निष्कृति के हेतु अलग कर दिये गये थे, विधि-ग्राह्य कर दिया गया। यह उपबन्ध बैंक द्वारा अन्य अर्थ-पत्र निर्गमित कर अपने अर्थ-पत्रों की निष्कृति को रोकने मात्र के हेतु था। तथापि देशीय निर्गम अधिकोष अपने स्वयं के अर्थ-पत्रों की बैंक आफ इंगलैंड के अर्थ-पत्रों से निष्कृति कर सकते थे।

इस अधिनियम के पारण के पश्चात् कई महत्त्वपूर्ण अधिकोषों का निर्माण हुआ। लन्दन एण्ड वेस्टमिंस्टर बैंक १८३४ में, लन्दन ज्वाइन्ट-स्टाक बैंक १८३६ में, यूनियन तथा लन्दन एण्ड काउन्टी बैंक १८३९ में स्थापित किये गये। इन्हें तथा इस प्रकार की संस्थाओं के अधिकोषण जगत् में अपनी स्थिति श्रेष्ठ करने में कुछ कठिनाइयाँ थीं। इन्हें बैंक आफ इंगलैंड तथा विद्यमान निजी अधिकोषों के विरोध का सामना करना पड़ता था तथा उन्हें प्रथम कर समाशोधन गृह का प्रवेश अस्वीकृत कर दिया जाता था। वे अभियोग लगाने अथवा लगाये जाने की असमर्थता की वैधानिक निर्योग्यता से ग्रस्त थे जो एक बाधा थी जो १८३८ तक नहीं हटायी गयी एवं वे अर्थ-पत्र निर्गमित करने में असमर्थ थे। उनकी कार्यवाही की सीमितता ने उन्हें अधिकोषण

के निक्षेप-कार्य पर एवं अपने ग्राहकों को धनादेश पद्धति का पूर्व उपयोग प्रोत्साहित करने पर निर्भर कर दिया जो एतत्पश्चात् अधिकोषण की महत्त्व-पूर्ण विशिष्टता बन गयी है।

अर्थ-पत्रों के निर्गमन की मात्रा नियन्त्रित करने की समस्या असमाधित रह गयी। इस विषय पर तर्क-वितर्क १८१० की लोक-समिति के समय चल रहे थे। इस विषय पर दो विचार-धाराएँ विकसित हो गयीं। चलित्र सम्प्रदाय की धारणा थी कि स्वर्ण में परिवर्तनीय मात्रा से अधिक अर्थ-पत्रों का निर्गमन किया जाना चाहिये। अर्थ-प्रबन्धकों को जो इस दृष्टिकोण के समर्थक थे, भय था कि यदि विनिमय की प्रतिकूल दिशा के परिणामस्वरूप धातु का निर्यात कर दिया गया तो चलित्र के रिक्त स्थान की पूर्ति के हेतु अर्थ-पत्रों का निर्गमन किया जा सकता है। जब तक केवल स्वर्ण पर आधारित अर्थ-पत्र प्रचलन में रखने की स्वीकृति देकर कठोर नियन्त्रण रखा जाय। अधिकोषण सम्प्रदाय का विचार था कि जब तक अर्थ-पत्र परिवर्तनीय हों तब तक अधिनिर्गमन नहीं होता। यह स्पष्टतः एक स्वतः सिद्ध बात थी। इस आपत्ति का कि अधिकोषों ने वास्तव में कुछ बार ऐसे अर्थ पत्रों का निर्गमन किया था जिनकी वे निष्कृति करने में असमर्थ थे, यह उतर दिया जाता था कि निर्गमन की मात्रा का निर्धा-रण व्यापार की युक्तियुक्त आवश्यकताओं के अनुसार निर्धारित किया जाना चाहिये। तथापि अधिकोषण सम्प्रदाय इसे सुस्पष्टतः सीमांकित करने में अस-मर्थ था। यह स्पष्ट है कि सुरक्षा एवं सावधानी जो अधिकोषण के अति महत्त्वशाली गुण थे, अपने विपक्षियों की अपेक्षा चलित्र सिद्धान्तियों के पक्ष में थे एवं उनके विचार सर राबर्ट पील पर अभिभावी रहे।

१८४४ में अधिकोष राजलेख अधिनियम उन सिद्धान्तों को तै करने को जिन पर भविष्य में अधिकोष पत्रों का निर्गमन निर्भर था, उनकी निष्कृति में अधिक सुरक्षा की व्यवस्था करने तथा बैंक आफ इङ्गलैंड के अतिरिक्त अन्य अधिकोषों द्वारा अर्थ-पत्रों के निर्गमन को सीमित करने को पारित किया गया। बैंक आफ इङ्गलैंड को दो भागों में विभक्त किया जाता था—निर्गमन विभाग तथा अधिकोषण विभाग। प्रथम का सम्बन्ध अर्थ-पत्रों के निर्गमन से था एवं द्वितीय को सामान्य अधिकोषण व्यवसाय तक सीमित रहना था। अधिकोष को निर्गमन विभाग में दी गई प्रतिभूतियों के आधार पर पौं० १,४०,००,००० के

मूल्य के अर्थ-पत्रों के निर्गमन की स्वीकृति दी गई थी। इन प्रतिभूतियों में पौं० १,१०,१५,००० का राजकीय ऋण भी सम्मिलित किया जाना था। पौं० १,४०,००,००० से अधिक कोई भी अर्थ-पत्र तभी निर्गमित किये जा सकते थे जब कोष[1] में उतने ही मूल्य का धातु संचित कर लिया जाय। कोई भी व्यक्ति निर्गमन विभाग से २२ कैरेट स्वर्ण के विनिमयस्वरूप पौं० ३, १७ शि० ९ पैं० प्रति औंस की दर से अर्थ-पत्र माँग सकता था।[2] अधिकोषण विभाग में तात्कालिक आवश्यकताओं से अधिक प्राप्त टंक अथवा धातु को अर्थ-पत्रों के विनिमय में निर्गमन विभाग को हस्तांतरित करना होता था। अतएव सामान्यतया अधिकोषण विभाग अपने ग्राहकों को स्वर्ण न देकर असाधारण धन एवं अल्प धन राशि के अतिरिक्त अर्थ-पत्र देते थे तथा जिन्हें स्वर्ण की आवश्यकता होती वे निर्गमन विभाग से अर्थ-पत्रों के विनिमय में प्राप्त कर सकते थे। अधिकोष को प्रति सप्ताह कोष में स्वर्ण की मात्रा एवं प्रचलित अर्थ-पत्रों का मूल्य निर्देशन करने वाला विवरण प्रकाशित करना होता था।[3] लन्दन में किसी अन्य अधिकोष को अर्थ-पत्रों के निर्गमन का विशेषाधिकार न था किन्तु देशीय अधिकोषों की विचारणीय संस्था को ऐसा

---

१. अधिकोष पौंड १,४०,००,००० से अधिक निर्गमन को स्वर्ण अथवा रजत धातु से समाश्रित कर सकता था, यदि रजत धातु की मात्रा सम्पूर्ण धात्विक कोष के २०% से अधिक न हो। इसने १८५३ से इस अधिकार का उपयोग नहीं किया है। अर्वाचीन वर्षों में विश्वासाश्रित निर्गम के समाश्रय रूप में विधि-विहित प्रतिभूतियों का एक अंश रजत टंक की अमुक मात्रा बन गयी है।

२. अधिकोष को प्रस्तुत करने वाले व्यक्ति के व्यय पर धातु के सम्परीक्षण का अधिकार था।

३. निम्नलिखित जो मंगलवार, १३ मई १९२० को प्रकाशित हुआ था। १९१४-१८ के युद्धकालीन एक पारूपिक अधिकोष विवरण है।

निर्गम विभाग १२ मई १९२०

निर्गमित अर्थ-पत्र पौंड १३,०४,४२,२४५	शासकीय ऋण पौंड १,१०,१५,१००
	अन्य प्रतिभूतियाँ पौंड ७४,३४,९००
	स्वर्ण तथा रजतटंक पौंड ११,१९,९२,२४५
पौंड १३,०४,४२,२४५	पौंड १३,०४,४२,२४५

करने का अधिकार न था। उनका अधिकार अक्षुण्ण[1] रहा किन्तु वे २४ अप्रेल १८४४ को सप्ताहान्त के बारह सप्ताह पूर्व निर्गमित औसत राशि से अधिक धन-राशि के अर्थ-पत्रों का किसी भी समय निर्गमन नहीं कर सकते थे। निर्गमन के विशेषाधिकार का अवसान हो जाना था यदि देशीय अधिकोष किसी अन्य अधिकोष में समामेलित हो गया हो अथवा लन्दन में अपना कार्यालय खोल लिया हो, अथवा दिवालिया हो गया हो अथवा उसने अपने अर्थ-पत्रों का निर्गमन स्थगित कर दिया हो। १८४४ के अधिनियमान्तर्गत अधिकृत इस प्रकार की धन-राशि अनुमानतः ८६,००,००० पौंड थी एवं यह उपबन्धित कर दिया गया कि जब देशीय अधिकोष के अर्थ-पत्रों का प्रचलन समाप्त हो जाय तो बैंक आफ इङ्गलैंड अपने विश्वासाश्रित निर्गम में (धात्विक आधार पर न होकर प्रतिभूतियों के आधार पर) व्ययगत निर्गम का दो-तिहाई मात्रा में अधिक धन-राशि से वृद्धि कर सकता था।

न किसी नवीन अधिकोष को न विद्यमान अधिकोषों के समामेलन को निर्गमन का अधिकार प्राप्त था। अधिनियम के निर्याताओं का स्पष्ट अभिप्राय देशीय निर्गमन को इसके अन्तिम परिशमन को दृष्टि में रखते हुए करना था। इस लक्ष्य की प्राप्ति १८२१ में हुई[2] जिसके परिणामस्वरूप बैंक आफ इङ्गलैंड तब १,९७,५०,००० पौंड मूल्य के अर्थ-पत्र प्रतिभूतियों के आधार पर प्रचलित करने का अधिकारी हो गया।

१८४४ के पश्चात् नवीन अर्थ-पत्रों के मुद्रण द्वारा देश में चलित्र की धन-राशि में वृद्धि असम्भव हो गई क्योंकि अधिनियम द्वारा आरोपित विश्वासाश्रित सीमा से परे निर्गमित प्रत्येक अर्थ-पत्र के हेतु सममूल्य की स्वर्ण-राशि अधिकोष के वज्रकक्ष में सञ्चित करनी पड़ती थी। देश को अपने आप को एक लोचहीन चलित्र पर छोड़ने अथवा अर्थ-पत्रों के निर्गमन के अतिरिक्त

---

१. लगभग २८० अधिकोष अपना अर्थ-पत्रों के निर्गमन का विशेषाधिकार ग्रहण करते रहे।

२. निजी निर्गम अधिकोषों में अन्तिम—समसेंट शायर विलिंगटन का फाक्स, फाउलर एण्ड कम्पनी लिमिटेड १९२१ में लायड्स बैंक लि. में समामेलित हो गया एवं इस प्रकार अपना विशेषाधिकार खो दिया।

प्रसार के अन्य साधनों की प्रकल्पना करना था। यह समस्या धनादेशों के[1] व्यापक प्रयोग से हल हो गयी तथा यह सम्भव है कि विशाल परिमाण में शोधन के हेतु अर्थ-पत्रों की अपेक्षा धनादेशों के महत्त्व में वृद्धि उस तत्परता का कारण है जिससे देशीय अधिकोषों ने अपने विशेषाधिकारों का अवसान स्वीकार कर लिया।

यह आशा की गई थी कि १८४४ का अधिनियम आर्थिक संकटों की उस पुनरावृत्ति को असम्भव बना देगा जो शताब्दी के प्रारम्भ काल में समय-समय पर उत्पन्न होते रहे हैं। इसने पूर्ण रूप से इस लक्ष्य की प्राप्ति नहीं की। १८४७, १८५७ एवं १८६६ इन तीन अवसरों पर अधिनियम का प्रवर्तन अर्थपत्रों के विश्वासाश्रित निर्गमन में एक अस्थायी वृद्धि की स्वीकृति देकर स्थगित करना आवश्यक समझा गया। १८५७ के अतिरिक्त केवल प्राधिकृति की घोषणा को पर्याप्त समझा गया तथा अधिकोष में प्रदत्त अधिकारों का उपयोग नहीं किया। १८६६ के पश्चात् १९१४ तक ऐसा कोई संकट उत्पन्न नहीं हुआ।

अधिक अर्वाचीन काल में वित्त जगत् में बैंक आफ इङ्गलैण्ड द्वारा अभिधृत स्थिति केवल वही नहीं रही है जिसकी १८४४ के अधिनियम निर्माताओं ने अपेक्षा की थी। यह जिसे केन्द्रीय अधिकोष कहना चाहिये वह हो गया है। इसे अर्थ-पत्रों के निर्गमन का एकाधिकार प्राप्त है, यह राष्ट्रीय ऋण का प्रबन्ध करता है और यह स्थानीय प्राधिकारियों एवं अधिराज्य तथा उपनिवेश शासनों के निधिपत्रों के निर्गमन से प्रायः सम्बद्ध रहता है। यह आंग्ल शासन से निकटतः सम्बद्ध है जिसे यह वित्त-नीति सम्बन्धी विषयों पर सलाह देने में समर्थ है। यह अधिकोषों का अधिकोष है तथा अन्य अधिकोष अपने कोष का अधिकांश भाग इसमें विक्षेप करते हैं। इन कोषों का बैंक आफ इङ्गलैण्ड में संकेन्द्रण आँग्ल वित्त-प्रणाली की स्थिरता में अभिवृद्धि करता है।

---

१. धनादेश पद्धति सत्रहवीं शताब्दी में ज्ञात थी एवं अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक अति व्यापक प्रयोग में थी। उन्नीसवीं शताब्दी में धनादेशों के प्रयोग ने असीमित मात्रा वाली वैकल्पिक पत्र मुद्रा प्रदान की। यह एक तथ्य है जो मूल ग्रन्थ में वर्णित संकटों का आंशिक कारण भूत है।

१८२६ एवं १८३३ के अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित संयुक्त पूँजी अधिकोषण मण्डल सीमित दायित्व सिद्धान्त की प्राधिकृति से पूर्वस्थापित हो गये थे। ऐसी संस्थाओं के अंशधारी साझेदारी व्यवसाय के साझियों के समान इस रूप में थे कि वे उन प्रमण्डल के ऋणों के हेतु जिनसे वे सम्बद्ध थे अपनी समस्त सम्पत्ति तक व्यक्तिशः उत्तरदायी थे। प्राविधिक रूप से १८२६ के अधिनियम ने केवल १७०८ के अधिनियम द्वारा स्थापित अधिकोषण व्यवसाय में साझेदारों की संख्या की सीमा (छः तक) हटा ली थी। जब १८५५ में सीमित दायित्व का सिद्धांत विधिविहित स्वीकार्य हो गया तो ऐसे प्रमण्डलों की स्थापना सम्भव हो गई जिसके अंशधारी अपने द्वारा धारित पूर्णदत्त अंशों के धन से अधिक कुछ भी धन के हेतु व्यक्तिशः उत्तरदायी नहीं थे। यह प्रथमतः अधिकोषण मण्डलों पर व्यवहृत नहीं होता था किन्तु इसके क्षेत्रान्तर्गत १८५८ में इन्हें ले लिया गया।

संयुक्त पूँजी के अधिकोषण में सीमित दायित्व के सिद्धान्त के प्रयोग ने कई शाखाओं वाली वृहद् व्यापार-संस्थाओं की स्थापना सम्भव कर दी। अधिकांश नगरों में विशाल अधिकोष शेष निजी अधिकोषों से प्रतिद्वन्द्विता लीन थे एवं उपर्युक्तों के निरसन में केवल समय का प्रश्न था। विशाल अधिकोषों के निजी अधिकोषों से अधिक साधन एवं अधिक प्रतिष्ठा थी। इन पर अधिक विश्वास था क्योंकि ये आर्थिक झंझावातों से कठिनता से ही संकटापन्न होते थे जो लघु संस्थाओं के सन्निपात को यथेष्ट शक्तिशाली थे। कालान्तर में अधिकांश निजी अधिकोषों का संयुक्त पूँजी अधिकोषों ने अन्तर्लयन कर लिया जिनकी वे शाखाएँ हो गये।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से अधिकोषों के समामेलन की निरंतर प्रवृत्ति रही है। देश के अधिकोषण व्यवसाय का अधिकांश बैङ्क आफ इङ्गलैंड एवं पाँच अन्य संस्थाएँ—बर्क्लेज, लॉयड्स, मिडलैण्ड, वैस्ट मिन्स्टर एवं नेशनल प्राविंशियल संचालित करती हैं। अवशिष्ट अधिकोषों में से कुछ लघु एवं स्थानीय प्रतिष्ठावान् हैं तथा अन्य यथा विलियम्स डीकंस बैंक महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु 'पञ्चविशाल' जिनमें से प्रत्येक का जन्म बहुत से लघु अधिकोषों के समामेलन से हुआ है अन्य सभी से अधिक महत्त्वशाली हैं एवं वें अपनी

शाखाओं द्वारा देश के सभी भागों में व्यापार संचालन करते हैं। विदेशों एवं आंग्ल अधिराज्यों में उनके बहुत से कार्यालय अथवा अभिकरण हैं।

देश के अधिकोषण व्यवसाय का संचालन समाशोधन पद्धति बिना सरलता-पूर्वक नहीं हो सकता था। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विभिन्न अधिकोषों के लेखक धनादेशों के विनिमय के हेतु चेञ्ज एले में मिला करते थे, केवल आधिक्य का ही स्वर्ण में परिशोधन होता था। १७७५ में ही एक कक्ष भाटक पर ले लिया गया था जिसमें व्यवसाय किया जा सकता था एवं उन्नीसवीं शताब्दी में समाशोधन गृह, जिनका विकास अल्पविकसित प्रारम्भ से हुआ था, महत्त्वपूर्ण एवं वास्तव में आवश्यक हो गये। समाशोधन व्यवसाय[1] अब इतना जटिल है कि इसे चार अनुभागों में संगठित किया गया है। नगर समाशोधन का संबंध केवल लन्दन के समाशोधन-गृह से अल्पपरिधि के अधिकोषों से होता है। राजधानी समाशोधन नगर की एक निश्चित परिधि में स्थापित शाखाओं के नाम लिखे गये धनादेशों के प्रति उत्तरदायी है। देशीय समाशोधन सुदूर क्षेत्रों से लन्दन अधिकोषों द्वारा प्रदाय धनादेशों से सम्बन्धित है। विशाल नगरों में स्थानीय व्यवसाय से सम्बद्ध प्रान्तीय समाशोधन गृह विद्यमान हैं।

१९१४ के यूरोपीय महायुद्ध के प्रारम्भ से उत्पन्न परिस्थितियों के परिणामस्वरूप इस देश की चलित्र पद्धति में अति गम्भीर आपरिवर्तन हुए। अधिकोषों पर अति गम्भीर घावों की आशङ्का थी एवं किसी भी अवस्था में आर्थिक लेन-देन जो युद्ध-काल में आवश्यक हो, इतने विशाल परिमाण में सम्भाव्य था कि विद्यमान चलित्र परिस्थिति का सामना करने को अपूर्ण होता। अतः चलित्र के एक नये रूप की प्रकल्पना करना था। अगस्त १९१४ में पारित चलित्र एवं अधिपत्र अधिनियम[2] के अन्तर्गत एक पौंड दस शिलिंग

---

१. अब इस समय ग्यारह समाशोधनाधिकोष हैं। समाशोधन गृह की सदस्यता का 'पंचविशाल' एवं मार्टिन्स, काउण्ट्स, ग्लिनविल्स, नेशनल, डिस्ट्रिक्ट एवं विलियम डीकन्स उपयोग करते हैं। अन्य अधिकोषों को समाशोधन कोषों में से किसी न किसी के द्वारा अभिकरण से कार्य करवाना पड़ता है।

२, चलित्र एवं अधिपत्र अधिनियम के अन्तर्गत एक पौंड दस शिलिंग अर्थपत्रों के निर्गमन के हेतु "चलार्थ पत्र" खाते की स्थापना की गयी। ४,६२'५

के अङ्कित मूल्य के चलार्थ पत्रों का, जिन्हें सामान्यतः कोषागार पत्र कहा जाता था, निर्गमन किया जाना था जो असीमित मात्रा तक विधि-ग्राह्य थे। वे अधिपत्र नहीं थे किन्तु वे अधिपत्रों के निर्गमन के उद्देश्यों में से बहुतों की पूर्ति करते थे। वे जनता द्वारा सम्भवतः इसीलिये शीघ्र ग्राह्य थे कि वे बैंक आफ इङ्गलैण्ड द्वारा स्वर्ण में परिवर्तनीय थे। (इस परिवर्तन का कोई वास्तविक उपयोग नहीं था, क्योंकि व्यक्तियों द्वारा स्वर्ण-मुद्रा तथा धातु का निर्यात एवं मुद्रा का द्रवण निषिद्ध था।) जैसे-जैसे परिचलन में आया हुआ स्वर्ण अधिकोषों में पहुँचता था, इसका पुनः निर्गमन नहीं होता था किन्तु यह बैंक आफ इङ्गलैंड की ओर प्रवाहित होता आ रहा था जिसकी सञ्चिति में इस प्रकार पुष्कल वृद्धि हुई थी। बैंक आफ इङ्गलैण्ड में राष्ट्रीय स्वर्ण-राशि के इस एकीकरण ने आर्थिक पद्धति की दृढ़ता में वृद्धि की। १९१४ के अधिनियम ने कोषागार पत्रों के हेतु उपबन्धित स्वर्ण समाश्रय की मात्रा के सम्बन्ध में कोई विशेष नियम उपबन्धित नहीं किया। परिचलन में आये हुए अर्थ-पत्रों की मात्रा में समय-समय पर परिवर्तन होते रहते थे जो अन्ततः[१] जनवरी १९२१ को ३६७६'२६ लाख पौं० थी। इस विशाल धन के हेतु उपबन्धित समाश्रय की मात्रा सम्पूर्ण धन के १५% से २०% तक थी।

युद्ध-काल में विदेशी विनिमय[१] की ग्रेट ब्रिटेन के विरुद्ध सन्तुलन की प्रवृत्ति

लाख पौंड मूल्य के ऐसे अर्थ-पत्रों का थोक बैंक आफ इंगलैंड के अधिपत्रों के विनिमय में तथा ५२'५ लाख पौंड का एक और थोक रजत मुद्रा के विनिमय में निर्गमित किया गया। ये अधिपत्र (जो स्वर्ण में परिवर्तनीय थे) एवं रजत मुद्रा समाश्रय के रूप में रखे गये जिससे चलार्थ पत्रों का निर्गमन ६१५ लाख पौंड तक स्वर्ण एवं रजत मुद्रा पर समाश्रित हो गया तथा इस सीमा से ऊपर निर्गमन विश्वासाश्रित था। ये सब अर्थपत्र बैंक आफ इंगलैंड के कोषागार में निक्षिप्त करवा दिये गये जिसने इन्हें इस खाते में जमा कर लिया। क्योंकि शासन को खाते में से धन को व्यय करने का अधिकार था यह एक ऐसा कोष हो गया जिस का किसी सीमा तक प्रसार किया जा सकता था एवं जिसमें से राज्य को बिना व्याज धन निकालने का अधिकार था।

१. विदेशी विनिमय प्रक्रिया के विशद ज्ञान के हेतु पाठक को विषय पर उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकों का निर्देश ग्रहण करना चाहिए।

बन गयी थी क्योंकि जो कारण (नौवहन एवं आर्थिक सेवाओं तथा कोयले एवं निर्मित वस्तुओं का निर्यात) सामान्य काल में सन्तुलन बनाये रखते थे, वे अल्प प्रभावशील रह गये थे जबकि दूसरी ओर आयात के परिमाण में तटस्थ देशों—विशेषतः संयुक्त राज्य से युद्ध-सामग्री की विशाल मात्रा में वृद्धि होती जा रही थी। कुछ वर्षों तक अमेरिकन विनिमय को पौंड स्टर्लिङ्ग से ४·७६५ डालर पर उब्दन्धित कर दिया गया किन्तु यह संयुक्त राज्य से विशाल ऋण राशि के समझौते एवं ग्रेट ब्रिटेन द्वारा धारित अमेरिकन प्रतिभूतियों के अमेरिका में विक्रय पर ही सम्भव हुआ। युद्ध के पश्चात् यह निर्णय किया गया कि अमेरिकन विनिमय अपना स्तर निर्धारित कर ले तथा दो तीन वर्षों तक इसमें तीव्रतापूर्वक कमी होती गयी यहां तक कि अन्त में एक पौंड स्टर्लिंग की क्रय शक्ति ३·२२ डालर से अधिक नहीं थीं।

इसी बीच ब्रिटिश शासन ने १६१६ में पत्र चलित्र में मुद्रा संकोच की नीति का श्रीगणेश करने का निर्णय किया। १५ दिसम्बर १६१६ के एक कोषागार वृत्त में यह घोषणा की गयी कि भविष्य में किसी वर्ष में चलार्थ पत्रों का अधिकतम विश्वासाश्रित निर्गमन गत वर्ष के वास्तविक विश्वासाश्रित निर्गमन से अधिक नहीं होगा। यदि किसी वर्ष वास्तविक निर्गमन उस वर्ष के स्वीकृत अधिकतम से कम हो तो आगामी वर्ष के अधिकतम में कमी कर दी जायगी। इस प्रकार निर्गमन में प्रति वर्ष कमी करना तो सम्भव हो गया किन्तु वृद्धि सम्भव नहीं रही। तथापि यह अवलोकनीय है कि यह वैधानिक उपबन्ध न होकर केवल नीति की घोषणा थी। चार वर्षों (१६२०-४) में परिचलन में आये चलार्थ पत्रों की मात्रा में ७०० लाख पौंड की कमी हो गयी थी। इस धन के अर्थ-पत्रों का प्रत्याहरण एवं विलोपन कर दिया गया।

मुद्रा संकुचन की इस तीव्र एवं निरन्तर नीति का एक प्रभाव यह हुआ कि अमेरिकन विनिमय में सुधार हुआ तथा जनवरी १६२४ में पौंड डालर के युद्ध-पूर्व के सन्तुलन पर समुत्थित हो गया। इसकी शक्ति संधृत हो गयी तथा स्वर्ण-निर्यात पर निषेध को हटाने एवं परिणामस्वरूप स्वर्णमान स्थापित करने का प्रश्न पुनः उपस्थित हो गया।

संक्षेप में इस समस्या को इस प्रकार कहा जा सकता है। जब विदेशी विनिमयों के अनुपात में पौंड स्टर्लिङ्ग का अवमूल्यन किया गया तो ब्रिटिश

व्यापारियों को आयातित वस्तुओं पर उससे अधिक देना पड़ता था जितना सम मूल्य पर देना पड़ता था। अतः खाद्य एवं कच्चे माल पर जो विदेशों से आता था उस पर कम व्यय करना होता यदि विनिमय दर युद्ध-पूर्व स्तर पर संधृत होती। यह स्वयमेव हो जाता यदि स्वर्ण-निर्यात की स्वीकृति होती क्योंकि परिवर्तन की किसी भी विपरीत प्रवत्ति का स्वर्ण-निर्यात से सन्तुलन एवं संशोधन हो जाता। किन्तु यदि विपरीत परिस्थिति किसी समय पुनश्च उग्र एवं दीर्घकालीन हो जाय तो स्वर्ण का उत्सारण अधिक हो जायगा एवं देश की आर्थिक स्थिरता के प्रतिकूल होगा। और भी अधिकोष के स्वर्ण संचय में से निर्यात के हेतु स्वर्ण की प्राप्ति अधिपत्रों के समर्पण पर ही हो सकेगी एवं यदि अधिपत्रों (एवं संभवतः कोषागार पत्रों) को पुनः माँग पर स्वर्ण में परिवर्तनीय कर दिया गया तो अधिकोष के संचय में विशाल स्वर्ण-राशि के प्रत्याहार की संभावना हो जायगी एवं वह सामान्य परिचलन में आ जायगी। समस्या अपरिवर्तनशीलता के पृथुकर्क एवं रिक्त संचय के भीम भ्रमर के मध्य चलने की थी।

१९२५ के स्वर्णमान अधिनियम के अन्तर्गत निर्यात के हेतु अर्थ-पत्रों के विनिमय में छड़ों के रूप में स्वर्ण का प्रत्याहार स्वीकार कर लिया गया यदि किसी एक समय ली जाने वाली न्यूनतम मात्रा चार सौ औंस ट्राय शुद्ध स्वर्ण हो। प्रति औंस मूल्य एक पौंड स्टर्लिङ्ग के ११३ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण के अनुरूप हो। इस प्रकार प्रत्येक लेन-देन का मूल्य लगभग १,७०० पौं० था। इस प्रबन्ध से यह ध्वनित होता था कि जब स्वर्ण अन्ताराष्ट्रिय सौदों में समार्हता बनाये रखने के हेतु निर्यातार्थ उपलब्ध था, आँग्ल देश में परिचालित कोषागार-पत्र एवं अधिपत्र व्यावहारिक रूप में अपरिवर्तनीय थे।

यद्यपि इसने देश की आर्थिक प्रतिष्ठा में योगदान दिया किन्तु घटनाओं ने सिद्ध कर दिया कि युद्ध-पूर्व समार्हता पर स्वर्णमान का पुनः स्थापन अपरिपक्व था क्योंकि विभिन्न कारणों से पौण्ड स्टर्लिङ्ग डालर की अपेक्षा अपमूल्यित हो गया था। इस अपमूल्यन से निर्यात व्यवसायों में गम्भीर बाधायें उत्पन्न हो गई थीं जबकि आयातों को प्रोत्साहन मिला जिसके परिणामस्वरूप वृत्ति-हीनता की समस्या अत्यधिक गम्भीर हो गई। प्रश्न जटिल है एवं इसमें कई कारण सन्निहित हैं किन्तु इस कथन पर विवाद का कोई आधार

नहीं प्रतीत होता कि पौंड स्टर्लिङ्ग की कुछ युद्ध-पूर्व समाहृता बनाये रखने से आर्थिक मन्दी को योगदान मिला है तथा देश में आर्थिक स्थायित्व स्थापित करने के प्रयत्न में देश की औद्योगिक एवं व्यावसायिक समृद्धि का बलिदान कर दिया गया। यह आर्थिक स्थिरता भी स्थायी नहीं रह सकी एवं विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी के युग में स्वर्णमान का सितम्बर १९३१ में परित्याग कर दिया गया। पौंड स्टर्लिङ्ग के मूल्य को बनाये रखने के उद्देश्य से स्वर्ण का निर्यात समाप्त हो गया जब कि देश की पत्र मुद्रा अपरिवर्तनीय रह गई।

१९२८ के चलार्थ एवं अधिपत्र अधिनियम के अन्तर्गत यह निर्णय किया गया कि चलार्थ पत्रों को बन्द कर दिया जाय एवं उनके स्थान पर उतने ही मूल्य के अधिपत्रों का प्रचलन कर दिया जाय। बैंक आफ इंगलैण्ड को आवश्यक अर्थ-पत्रों के निर्गमन का प्राधिकार प्रदान कर दिया गया[1] एवं वह इस प्रकार देश की सम्पूर्ण पत्र मुद्रा के प्रति उत्तरदायी हो गया। "खाते" में संचित समाश्रय अधिकोष को हस्तान्तरित कर दिया गया जिसे अपने विश्वासाश्रित निर्गमन में चलार्थ पत्रों के अवशिष्ट विश्वासाश्रित निर्गमन के बराबर राशि से वृद्धि करने की प्राधिकृति थी। भविष्य के लिए विश्वासाश्रित निर्गमन की मात्रा २६ करोड़ पौं० हो गई। इस धन-राशि का निर्णय १९२८ में चलार्थ पत्रों की विश्वासाश्रित निर्गमित धन-राशि २,४५० लाख पौं० में (ऊपर निर्दिष्ट १५ दिसम्बर १९१९ के कोषागार वृत्त के अन्तर्गत) अधिकोष को पूर्व स्वीकृत विश्वासाश्रित निर्गमन राशि १९७.५ लाख पौं० युक्त करके लगभग ५० लाख पौं० घटाकर किया गया जो ग्रेट ब्रिटेन से आयरिश स्वतंत्र राज्य के पृथक् हो जाने के कारण प्रचलन से वापस लिये हुए अर्थ-पत्र थे; इस प्रकार यह संख्या प्राप्त हुई थी। इस मात्रा से अधिक सभी अर्थ-पत्रों के हेतु अधिकोष को स्वर्ण

१. एक पौंड दस शिलिंग मूल्य के अधिपत्र पाँच पौंड (तथा पाँच पौंड से अधिक मूल्य वाले) अधिपत्रों से इस रूप में भिन्न हैं कि वे बैंक आफ इंगलैंड द्वारा निष्क्रमण हेतु विधि ग्राह्य हैं। अधिकोष पाँच पौंड के अर्थ-पत्रों का निष्क्रमण एक पौंड के अधिपत्र के प्रदाय से कर सकता है। यद्यपि एक पौंड के अधिपत्र शोधन की प्रतिज्ञाओं के रूप में हैं तथापि ऐसा कोई माध्यम नहीं है जिसके द्वारा इसका शोधन किया जा सके।

स्थिति से परिलक्षित नहीं होते थे जैसा विनिमय समानीकरण कोष की स्थापना से पूर्व था।

जनवरी १९३९ में २,००० लाख पौंड स्वर्ण के प्रत्याहार से अधिकोष के संचय में ३,२६० लाख पौंड से ह्रास होकर १,२६० लाख पौंड रह गया एवं इसे अर्थपत्रों के विश्वासाश्रित निर्गमन में २,३०० लाख पौंड से (जो ३१ दिसम्बर १९३८ को था) वृद्धि करके ४,००० लाख पौंड करने का अधिकार प्रदान कर दिया गया। किन्तु अधिकोष में स्वर्ण-धातु का मूल्य अब भी ८४ शि० ११ पें० प्रति उत्तम औंस था जो बाजार मूल्य से अत्यधिक कम था। १९३९ के प्रारम्भ काल में एक चलित्र एवं अधिपत्र अधिनियम में अधिकोष एवं कोषागार को संचित स्वर्ण का मूल्यन बाजार में प्रचलित मूल्य के बराबर करने का अधिकार प्रदान किया एवं १ मार्च १९३९ को इसका मूल्यन १४८ शि० ५ पें० प्रति उत्तम औंस कर दिया गया। इस प्रकार संचय के मूल्य का १,२६० लाख पौंड से २,२६० लाख पौंड अधिलेखन कर दिया गया तथा परिणामस्वरूप प्राधिकृत विश्वासाश्रित निर्गमन ४,००० लाख पौंड से घटाकर ३,००० लाख पौंड रह गया।

सितम्बर १९३९ में अधिकोष के स्वर्ण सञ्चय के विनिमय समानीकरण कोष को हस्तान्तरण के पश्चात् अधिकोष के पास केवल नाममात्र की स्वर्ण मात्रा रह गई थी अतः हस्तान्तरित राशि के अनुरूप विश्वासाश्रित निर्गमन में वृद्धि का प्राधिकार प्रदान कर दिया गया; यह ३,००० लाख पौंड से बढ़कर ५,८०० लाख पौंड हो गया। आगामी कुछ वर्षों में होने वाले युद्ध-व्यय में वृद्धि के कारण उपलब्ध चलित्र की मात्रा में वृद्धि करना आवश्यक हो गया एवं विश्वासाश्रित निर्गमन में प्रति कुछ महीनों पश्चात् (सामान्यतः ५०० लाख पौंड की धन-राशि से) आवृद्धि होती रही यहां तक कि दिसम्बर १९४७ में यह १४,५०० लाख पौंड हो गई।[1] १९४८ के प्रारम्भिक सप्ताहों में यह राशि कम होकर ५०,०००,००० पौंड के तीन गुना रह गई तथा मार्च, १९४८ में यह राशि १,३००,०००,००० पौंड रही।

---

१. निम्नलिखित जो वृहस्पतिवार २१ अगस्त १९४७ को प्रकाशित किया गया था १९३९-४५ के युद्धोपरान्त काल का एक प्रारूपिक अधिकोष प्रविवरण है।

उससे स्पष्ट है कि बैंक ग्राफ इङ्गलैंड तथा कोषागार के मध्य दीर्घकाल से निकट सम्बन्ध रहे हैं एवं १९४६ के प्रारम्भ में बैंक ग्राफ इङ्गलैंड का औपचारिक रूप से राष्ट्रीयकरण कर लिया गया एवं यह राजकीय संस्था बन गयी। अधिकोष एवं कोषागार के सम्बन्धों पर इस परिवर्तन का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है तथा यह कहना सम्भवतः सत्य होगा कि सामान्य कार्य-विधि में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। अधिकोष के सर्वाधिकारी लार्ड कैटो के शब्दों में बैंक ग्राफ इङ्गलैंड राष्ट्रीयकरण अधिनियम ने अब तक दीर्घकाल तक विद्यमान रूढि एवं व्यवहार को वैधानिक प्राधिकृति प्रदान कर दी है।

अवधेय (नोट):—जनवरी १९४७ से ग्रेट ब्रिटेन की रजत मुद्रा का क्रमिक प्रत्याहार हुआ एवं ताम्ररूपक (७५% ताम्रयुक्त २५% रूपक) के टंकों को इनके स्थान पर प्रतिस्थापित किया गया। नवीन टंकों का वही मूल्य भार एवं परिमाण होना था जो प्रतिस्थापित टंकों का था। प्रतिस्थापन की प्रक्रिया केवल मन्थर गति से ही हो सकती थी एवं यह आशा की जाती थी कि कुछ वर्षों तक दोनों प्रकार के टंकों का सहपरिचालन होगा। यह अवलोकनीय है कि जहाँ १९१४-१८ के युद्ध का अनुसरण देश के स्वर्ण टंकण के प्रत्याहार से हुआ था, १९३९-४५ के युद्ध का अनुसरण रजत टंकण की समाप्ति से हुआ।

निर्गमन विभाग, २० अगस्त १९४७

	पौंड		पौंड
परिचालित अर्थ-पत्र	**१,३९,९४,१७,३९२**	**शासकीय ऋण**	**१,१०,१५,१००**
अधिकोषण विभाग में अर्थ-पत्र	**५,०८,३०,४४०**	**अन्य शासकीय प्रतिभूतियाँ**	**१,४३,८३,७१,४०३**
		अन्य प्रतिभूतियाँ	**६,०५,२७४**
		स्वर्ण टंकों के अतिरिक्त अन्य टंक	**८,२२३**
			१,४५,००,००,०००
		विश्वासाश्रित निर्गमन	
		स्वर्ण टंक एवं धातु	**२,४७,८३३**
	१,४५,०२,४७,८३३		**१,४५,०२,४७,८३३**

इक्तीसवाँ अध्याय

सामान्य मूल्य गतियाँ

आँग्ल देश में मूल्य परिवर्तनों के इतिहास का वर्णन करने से पूर्व मूल्य विषयक सैद्धान्तिक पक्ष पर भी कुछ विचार करना चाहिये। इस पुस्तक में इसके मूल सिद्धान्तों के उल्लेख के अतिरिक्त लिखना असम्भव है तथा सामान्य मूल्यों के सिद्धान्त के और अधिक प्रतिपादनार्थ पाठक को अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों पर उपयुक्त ग्रन्थों का अवलोकन उचित है।

प्रथमतः पाठक को स्मरण रखना चाहिये कि १९१४-१८ के महायुद्ध का सर्वाधिक प्रभाव विश्व की मुद्रा-प्रणालियों पर हुआ यथा चलित्रों के अप-मूल्यन तथा अवमूल्यन के कारण मूल्य गतियों में तीव्र उतार-चढ़ाव, स्वर्णमान की पुनः स्थापना व उसका परित्याग, युद्ध-ऋण तथा क्षति-पूर्ति के फलस्वरूप ऋणदाता एवं ऋणी राष्ट्रों की परिवर्तित स्थिति एवं युद्ध-पूर्व के मुद्रा सिद्धान्त की इन परिस्थितियों का विश्लेषण करने की असमर्थता। यद्यपि जैसा हम देखेंगे, उन्नीसवीं शताब्दी में भी मूल्यों में उतार-चढ़ाव हुए थे किन्तु उस काल को द्रुत एवं व्यापक परिवर्तनशील युद्धोपरान्त काल की अपेक्षा स्थिरता का काल कहा जा सकता है अतः इसकी मूल्य गतियों का स्पष्टीकरण सामान्यतः सरल है। १८१६ से १९१४ तक ग्रेट ब्रिटेन की मुद्रा प्रणाली स्वर्ण पर आधारित थी।[1] चलित्र के कई रूप हुए तथा स्वर्ण मुद्रा[2] अधिपत्र, धनादेश, विकर्ष, हुण्डियाँ, आदि सब शोधनार्थ प्रयुक्त होते थे। पत्र-मुद्रा के समस्त रूप स्वर्ण से सम्बद्ध थे तथा यह अनुमान कर लिया गया था कि उनका कभी भी स्वर्ण में विनिमय किया जा सकता था।[3] यदि इन समस्त विपत्रों

१, कुछ देशों में चलित्र चाँदी पर आधारित है। भूतकाल में कुछ शासनों में सोना एवं चाँदी पर आधारित चलित्र-द्विधातुमान प्रणाली स्थापित करने के प्रयत्न किये हैं।

२. चाँदी तथा काँसे के सिक्के केवल "सीमित" टंक हैं। उनका उपयोग केवल लघु शोधनों के हेतु होता है एवं वे सीमित परिमाण तक वैध हैं।

३. पुस्तक के लेखन के समय ग्रेट ब्रिटेन ने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया है। इसकी अपनी अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा है जिसका स्वर्ण से विनिमय नहीं किया जा सकता।

के धारक कभी एक ही दिन अपने अधिपत्रों, धनादेशों एवं हुण्डियों का स्वर्ण माँग लेते तो बैंक आफ इङ्गलैण्ड की निधि में इतना अधिक स्वर्ण उपलब्ध नहीं होता कि वह अन्य अधिकोषों के दायित्वों की पूर्ति कर सके। स्वर्ण की ऐसी कभी सम्पूर्ण माँग कभी नहीं हुई। यदि अधिकोषों पर ऐसे धावों के प्रारम्भ का भी संकेत होता तो बैंक आफ इङ्गलैण्ड अपने कोष की रक्षा के हेतु उपाय कर सकता था तथा करता । तथापि चूँकि पत्र-मुद्रा के धारक यदा-कदा स्वर्ण माँग सकते थे अतः ऐसी आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु बैंक को अपने कोष में पर्याप्त स्वर्ण रखना आवश्यक था अतः प्रचलित पत्र-मुद्रा की राशि एवं कोष में स्वर्ण की राशि के मध्य एक अनुपात बनाये रखना पड़ता था। यदि कोष में स्वर्ण की मात्रा में वृद्धि हो जाती तो पत्र-मुद्रा का प्रसार किया जा सकता था। यदि कोष कम हो जाता तो पत्र-मुद्रा पर प्रतिबन्ध अनिवार्य था। इसका अर्थ यह है कि प्रचलन में चलित्र की राशि प्रचलन में आये हुए स्वर्ण तथा स्वर्ण-कोष पर निर्भर थी।

किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु के अर्घ तथा स्वर्ण की एक ज्ञात मात्रा का अनुपात है। ग्रेट ब्रिटेन में उन्नीसवीं शताब्दी में स्वर्ण की यह ज्ञात मात्रा सावरेन थी। यह बाईस टंच स्वर्ण का ट्राय औंस के चतुर्थांश से अल्पाँश अधिक भार वाला टंक था। यह कहना कि एक वस्तु का मूल्य एक पौंड है इस बात पर बल देना था कि वस्तु के अर्घ तथा स्वर्ण की ज्ञात मात्रा का अनुपात समान है। मूल्यों का सामान्य स्तर प्रचलित चलित्र की सम्पूर्ण राशि तथा विनिमयार्थ उपलब्ध वस्तुओं एवं सेवाओं की सम्पूर्ण मात्रा का अनुपात है।

चूँकि मूल्य निरपेक्ष नहीं होता प्रत्युत दो वस्तुओं के मध्य अनुपात प्रकट करता है अतः स्पष्ट है कि मूल्य में परिवर्तन अनुपात की किसी भी राशि में होने वाले परिवर्तनों के कारण हो सकते हैं। उत्पादन की मात्रा में वृद्धि अथवा प्रचलित चलित्र की मात्रा में ह्रास होने के कारण मूल्य गिर सकते हैं तथा विलोमतः मूल्य में वृद्धि हो सकती है।

ऐसा कभी नहीं होता कि सभी मूल्यों में एक ही समय तथा एक ही दर से परिवर्तन हो। कुछ वस्तुओं के मूल्यों में प्रायः लगभग प्रतिदिन घटा-बढ़ी

होती है। ऐसे परिवर्तन विचाराधीन वस्तुओं से सम्बद्ध कुछ विशेष अथवा अस्थायी कारणों से हो सकते हैं। पुष्कल उपज से गेहूँ के मूल्यों में तथा इस कारण रोटी के मूल्य में गिरावट हो सकती है। साथ ही साथ विश्व के किसी भाग में पशु-रोग के विस्फोट के कारण मांस के मूल्य में वृद्धि हो सकती हे। फैशन में परिवर्तन—यथा कपास के स्थान पर कृत्रिम रेशम के उपयोग—के कारण इन वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन हो सकता है। ऐसी परिस्थितियों में से जो केवल कुछ वस्तुओं से सम्बद्ध होती हैं, सामान्य मूल्य स्तर विशेष रूप से प्रभावित नहीं होता।

इन विशेष परिवर्तनों के अतिरिक्त मूल्यों की सामान्य अभिसीमा की प्रवृत्ति परिवर्तनशील होती है जो कभी ऊपर की ओर होती है तो कभी नीचे की ओर। तथापि यह नहीं दृष्टिगोचर होता कि सभी मूल्य समानतः परिवर्तित होते हैं। बढ़ते हुए मूल्यों के काल में कुछ मूल्य अन्य मूल्यों की अपेक्षा अधिक तीव्रता से बढ़ते हैं, साथ ही कुछ वस्तुओं के मूल्य गिर भी सकते हैं। जब सामान्य मूल्य स्तर गिरता है तो कुछ मूल्य अन्य मूल्यों की अपेक्षा अधिक शीघ्रतापूर्वक गिरते हैं जबकि कुछ मूल्य गिरते ही नहीं हैं। कुछ विशेष अपवादों के उपरान्त भी मूल्यों की सामान्य अभिसीमा में परिवर्तन मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन के कारण (तथा पूर्वकालानुसार यदि चलित्र स्वर्ण पर आधारित हो तो उसका अभिप्राय स्वर्ण के मूल्य में परिवर्तन होता है) समझा जा सकता है।

सामान्य मूल्य गतियों के सम्बन्ध में इन परिणामों को इस बात पर बल देते हुए संक्षिप्त किया जा सकता है कि मूल्य मुद्रा की माँग तथा पूर्ति में अनुपात से निर्धारित किये जाते हैं। मुद्रा की पूर्ति प्रचलित चलित्र होती है (पूर्व काल में जिसकी मात्रा प्रचलित अथवा कोषस्थ स्वर्ण पर निर्भर थी) तथा मुद्रा की माँग विक्रयार्थ उपलब्ध वस्तुओं एवं सेवाओं की मात्रा द्वारा प्रकट की जाती है। तथापि इस धारणा के साथ कि अन्य विशेष कारक अपरिवर्तित रहते हैं इस सिद्धान्त का सामान्य सत्य लगभग अविवादास्पद है। मुद्रा के प्रचलन की शीघ्रता पर ध्यान देना चाहिये क्योंकि प्रचलन की शीघ्रता का वही प्रभाव होता है जो मात्रा में वृद्धि का होता है। जनसंख्या का परिमाण दूसरा कारण है। चलित्र की मात्रा में आनुपातिक वृद्धि न होते हुए जनसंख्या में

वृद्धि का वही प्रभाव होता है जो प्रचलित मुद्रा की मात्रा में ह्रास का होता है, क्योंकि प्रति व्यक्ति औसत राशि कम हो जाती है। जनसंख्या के घनत्व को भी दृष्टि में रखना चाहिए क्योंकि ग्रामीण तथा नागरिक जनसंख्या के अनुपात से मूल्य प्रभावित हो सकते हैं क्योंकि ग्रामों की अपेक्षा नगरों में धन का अधिक शीघ्रतापूर्वक व्यय किया जाता है।

मूल्यों के इतिहास के अध्ययन का अधिकाँश महत्त्व सामान्य मूल्य-स्तर में होने वाले परिवर्तनों के प्रभाव पर विचार करने में हैं। इन प्रभावों में से कुछ का निर्देश किया जा सकता है। उनका विभिन्न कालों में विशेष प्रयोग यथावसर कर दिया जायगा। प्रथम प्रभाव मूल्य-स्तर में परिवर्तन से सम्बद्ध अनौचित्य तथा अन्याय है। मुद्रा कई कार्य करती है जिनमें एक अर्थ का सञ्चय भी है। यदि एक मनुष्य अपने श्रम से १०० पौं० अर्जित करता है तो वह समाज से अपने प्रयत्नों के प्रतिफलस्वरूप १०० पौं० मूल्य की वस्तुओं अथवा सेवाओं अथवा दोनों को प्राप्त करने का अधिकारी है। वह इन वस्तुओं अथवा सेवाओं का एक साथ उपयोग करना वांच्छित नहीं समझता। सम्भवतः वह उन्हें अपनी वृद्धावस्था के हेतु सञ्चित रखना चाहता है। किन्तु कालान्तर में मुद्रा का मूल्य परिवर्तित हो सकता है तथा मूल्यों का सामान्य स्तर ऊँचा या नीचा हो सकता है। प्रथम अवस्था में उसे नैतिक अधिकार की अपेक्षा कम प्राप्त होगा जबकि दूसरी अवस्था में अधिक मिलेगा।[1] किसी भी अवस्था में पूर्ण न्याय नहीं होता। उसे अथवा सामान्यतः समाज को कुछ अंशों तक दोष सहन करना होता है। एक आदर्शतः निर्मित समाज में मूल्यों में कोई घटा-बढ़ी नहीं होगी।

यदि मूल्यों के सामान्य स्तर में उतार-चढ़ाव पूर्णतः समान होते तो कोई गम्भीर प्रभाव नहीं होते। यदि किसी विस्मय से सभी मूल्य, भृति, ऋण आदि एक साथ द्विगुणित कर दिये जायँ तो कोई भी न श्रेष्ठतर होगा न निकृष्टतर। किन्तु ऐसा कभी नहीं होता। कुछ मूल्य दूसरों की अपेक्षा अधिक ऊँचे तथा अधिक शीघ्रता से बढ़ते हैं। भृति मूल्य की अपेक्षा अधिक मन्थर गति से

---

१. जैसा इस अध्याय में अन्यत्र निर्दिष्ट किया गया है, राष्ट्रीय ऋण का वास्तविक भार १९२० की अपेक्षा १९३८ में अत्यधिक था जबकि मूल्य पूर्वापेक्षा ऊँचे थे।

बढ़ती है तथा विलोमतः मूल्यों की अपेक्षा अधिक मन्थर गति से गिरती है।[1] सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि बढ़ते हुए मूल्य उन व्यक्तियों के लिये लाभदायक हैं जिन्हें स्थायी परिव्यय का शोधन करना होता है यथा भाटक[2] स्थायी बन्धक पर व्याज, किन्तु भृति अर्जन करने वालों (उपर्युक्त कारण से), व्यवसायी व्यक्तियों जिनका शुल्क परम्परानुसार स्थायी होता है तथा ऐसे मनुष्यों पर विपरीत प्रभाव होता है जिनकी आय स्थायी व्याज दर वाली प्रतिभूतियों से होती है। इन वर्गों पर गिरते हुए मूल्यों का विलोम प्रभाव होता है।

बढ़ते हुए मूल्य उद्योग के हेतु लाभप्रद समझे जाते हैं। वे आशावाद की भावना प्रोत्साहित करते हैं जिससे नवीन व्यवसाय तथा व्यापार के नवीन मार्ग शीघ्रतापूर्वक खुल जाते हैं। पूर्वस्थापित व्यवसायों में उत्पादक एक निश्चित काल के लिये अपने व्यवसाय के प्रबन्ध, कच्चे माल, श्रम तथा ऊपरी लागत तथा उस काल में अपनी वस्तुओं के विक्रय से होने वाली आय का अनुमान करता है। दोनों राशियों के बीच का अन्तर उसका सम्भाव्य लाभ होता है। बढ़ते हुए मूल्यों के युग में जिस काल के हेतु अनुमान लगाया जाता है उसमें कुछ वृद्धि हो सकती है। कच्चे माल का क्रय उस समय किया जाता है जब मूल्यों का एक प्रमाप प्रचलित होता है किन्तु उत्पत्ति का विक्रय उस समय होता है जब एक उच्चतर मूल्य प्रमाप प्रचलित होता है। इस प्रकार अनुमानाधिक अतिरिक्त लाभ होगा। इस प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पादक को अधिकतम संभव उत्पत्ति के लिये प्रोत्साहित करती हैं। वह अपने यन्त्रों का पूर्ण-काल तक उपयोग करेगा, अधिकतम संभव मनुष्यों का सेवायोजन करेगा तथा संभवतः उन्हें अधिक कार्य के हेतु वेतन भी देगा। वह केवल तात्कालिक माँग के हेतु ही नहीं अपितु सञ्चयार्थ भी उत्पन्न करेगा क्योंकि यदि मूल्य-वृद्धि बनी रहती है तो उसे अपने सञ्चय का एक-दो वर्ष में अधिक श्रेष्ठ मूल्य मिलेगा

१. भृति के विभिन्न तत्त्वों पर निर्भर रहने के कारण ये संकलन सदैव व्यवहृत नहीं होते।

२. पूर्व अध्याय में यह निर्दिष्ट किया जा चुका है कि मूल्यों में जो व्यापक वृद्धि हुई है उससे पट्टेदारों को अत्यधिक लाभ हुआ है क्योंकि पट्टेदारी-भाटक स्थिर था।

और इससे उसके अधिकोष से लिये अधिविकर्ष के व्याज की पूर्ति से भी अधिक प्राप्ति हो जायगी। सेवा-योजन विपुल हो जायगा। यह ऐसी परिस्थिति होती है जिसमें भृति की अपेक्षा मूल्यों में अधिक तीव्र वृद्धि के कारण श्रमिकों को अस्थायी हानि की कुछ अंशों तक क्षति-पूर्ति कर सकती है। वास्तव में यह श्रम की बढ़ी हुई माँग होती है जो अन्ततः भृति में वृद्धि का कारण होती है और जो श्रमिकों को मूल्य वृद्धि के कारण होने वाली आंशिक हानि की पूर्ति में सहायक होती है।

इस तर्क का विलोम अनिवार्यतः सत्य नहीं है। वास्तव में अनुमान यह करना चाहिए कि गिरते हुए मूल्यों का परिणाम उत्पादक को अपनी उत्पत्ति पर अनुमानित आय की अपेक्षा प्राप्ति कम होगी तथा यदि गिरावट अधिक तीव्र हुई तो उसका लाभ पूर्णतः समाप्त हो सकता है। वह अपने व्यवसाय को सीमित करेगा, कुछ श्रमिकों को सेवा-मुक्त करेगा तथा अन्य श्रमिकों को अल्पकाल के लिये कार्य पर रखेगा किन्तु यदि गिरावट दीर्घकालीन होती है तो उसे इस परिस्थिति का सामना करने के लिए केवल नकारात्मक उपायों की अपेक्षा कुछ अन्य उपायों का उपयोग करने के लिए बाध्य होना होगा। वह अपनी उत्पादन पद्धति में आमूल परिवर्तन करेगा। अदक्ष यन्त्रों को वह निकृष्ट कर देगा तथा उसके स्थान पर आधुनिकतम सज्जा का प्रतिस्थापन करेगा। वह ऊपरी लागत का परिनिरीक्षण करेगा तथा नवीन साधनों की खोज करेगा। वह प्रत्येक संभव उपाय से अधिक दक्ष तथा मितव्ययी उत्पादन से गिरते हुए मूल्यों के प्रभावों का प्रतिरोध करने का प्रयत्न करेगा। अतएव गिरते हुए मूल्यों को भी चढ़ते हुए मूल्यों के समान ही दीर्घकाल में उत्पादन को प्रोत्साहित करने की प्रवृत्ति समझना सम्भव है।

सामान्य मूल्य-स्तर में परिवर्तन की मात्रा का माप सूचनाँकों के संकलन द्वारा किया जा सकता है। असम्बद्ध वस्तुओं[1] की विशाल मात्रा के मूल्य का समायोजन किया जाता है। इनकी मासिक, वार्षिक अथवा और अधिक अन्तर

---

१. सूचीगत वस्तुओं का असम्बद्ध होना कुछ महत्वपूर्ण है। यदि ऐसी वस्तुओं का आधिक्य हो जाता है जिनमें बहुत कम अन्तर होता है तो सूची में संतुलन का अभाव रहता है तथा प्राप्त परिणाम विश्वस्त नहीं होते।

से संगणना की जा सकती है तथा परिणामों की तुलना की जा सकती है। गणना में से एक को आधार मान लिया है जिससे दूसरों की तुलना की जाती है तथा इसे अंक १०० प्रदान किया जाता है। अन्य अवसरों पर प्राप्त परिणामों का कौन से अंक प्रतिनिधित्व करें यह निश्चय करना एक सरल गणित का प्रश्न है। इस पद्धति से चढ़ाव-उतार की मात्रा का कुछ प्रमाप सम्भव है। किन्तु मूल्य विभिन्न जिलों में परिवर्तित होते हैं, समय-समय पर वस्तु की श्रेष्ठता में परिवर्तन होते रहते हैं। इस प्रकार उनके मूल्यों की तुलना अमान्य हो जाती है। फैशन में परिवर्तन से कुछ वस्तुओं का प्रयोग समाप्त हो जाता है तथा नवीन आविष्कृत वस्तुएँ प्रयुक्त होने लगती हैं। ऐसे कारणों से सूचनांक दूरकालीन अवधियों में सामान्य मूल्य-स्तर की तुलना के हेतु उपयुक्त नहीं हैं। भृति में वृद्धि या ह्रास की गणना के हेतु तो यह पू ेतः असंतोषप्रद आधार है। किन्तु मूल्य गतियों के माप के हेतु किसी श्रेष्ठ पद्धति की प्रकल्पना नहीं की गई है।

उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व सूचनांकों के विषय में ज्ञान था (इनकी सर्वप्रथम गणना का प्रयत्न १७६८ में सर जार्ज शुकबर्ग ने किया था) तथा शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक यह सामान्य चलन में नहीं आये। इनसे यह प्रकट होता है कि यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी में मूल्य परिवर्त्तनों का पूर्ण ज्ञान था तथापि उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व हमारा एतद्विषयक ज्ञान अल्प ही था।

जैसे इन पृष्ठों में बार-बार इङ्गित किया जा चुका है, मध्ययुगीन आर्थिक क्रियाओं में से अधिकांश का धन से कोई भी सम्बन्ध न था। केवल मध्ययुग के अन्तिम चरण की ओर ही धन का प्रयोग दैनिक व्यापार में सामान्य व्यवहार में आया। धन का प्रयोग नगरों—विशेषकर बाजारों एवं मेलों में होता था किन्तु मध्ययुग के सूचनांकों का संकलन केवल तभी सम्भव है जब अभिलेख अधिक पूर्ण एवं क्रमिक हों जितने वे अब हैं।

एक ओर मध्ययुगीन मूल्यों की विशेषता[1] स्थायित्व थी तो दूसरी ओर

---

१. वर्तमान काल की तुलना में मध्ययुगीन मूल्य बहुत नीचे थे। 'Black Death' से पूर्व प्रचलित मूल्य-स्तर का इस तथ्य से ज्ञान हो जाता है कि आधे पेंस से एक दर्जन अण्डे अथवा तीन गैलन मदिरा का क्रय किया जा सकता था।

उनमें अति तीव्र परिवर्तन होते थे। इस पहेली का हल अति सरल है। सामान्य स्तर के स्थायित्व में बाधक कोई घटना नहीं हुई। प्रचलित मुद्रा की मात्रा में दीर्घकाल में भी विशेष परिवर्तन नहीं हुआ एवं यदि स्वल्प सा परिवर्तन हुआ भी तो वह जनसंख्या में मन्थर गति से होने वाली वृद्धि से प्रतिसन्तुलित हो गया। न वस्तुओं का उत्पादन ही इतने विशाल परिमाण में हुआ कि उससे मूल्य-स्तर पर प्रभाव होता। जनसंख्या, चलित्र एवं उत्पादन में घटा-बढ़ी न होने के कारण सामान्य मूल्य-स्तर दीर्घ काल तक अपरिवर्तित रहा। उपर्युक्त अति तीव्र परिवर्तन स्थानीय एवं सामयिक होते थे। सन्देश वहन कठिन होने के कारण स्थानीय उपज की विपुलता या अभाव तीव्र किन्तु अस्थायी मूल्य गतियों में परिलक्षित होते थे जिनका सामान्य मूल्य-स्तर पर शायद ही कोई प्रभाव पड़ता हो।

चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सामान्य मूल्यों में कुछ गति दृष्टिगोचर होती है। शतवर्षीय युद्ध में आँग्ल सफलता का परिणाम बन्दी फ्राँसीसी सामन्तों तथा श्रीपतियों के निष्क्रयण के कारण धन की मात्रा में वृद्धि के रूप में हुआ। 'Black Death' से जनसंख्या में तथ परिणामतः देश के उत्पादन में ह्रास हुआ। इन दो कारणों से चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मूल्यों में वृद्धि हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि भृति (श्रम का मूल्य) में वस्तुओं की अपेक्षा अधिक अवलोकनीय वृद्धि हुई। तथापि भृति के अतिरिक्त यह वृद्धि पन्द्रहवीं शताब्दी में शायद ही बनी रही हो।

मध्य ट्यूडर काल की विशेषता मूल्य में अत्यधिक वृद्धि तथा भृति में अपेक्षाकृत अल्प-वृद्धि थी जो इस सिद्धान्त की पुष्टि करती थी कि मूल्य की अपेक्षा भृति में अल्प वृद्धि होती है। वृद्धि का कारण मुख्यतः हैनरी अष्टम द्वारा सिक्के के आन्तरिक मूल्य में कमी (अधिकुप्यन) करना था, किन्तु कुछ अंशों तक वृद्धि प्रत्येक अवस्था में अनिवार्य थी। स्पेनिश लोगों द्वारा अमेरिका की खोज एवं विदोहन के परिणामस्वरूप योरोप में वहुमूल्य धातुओं—विशेषकर चाँदी का विशाल मात्रा में आयात होने लगा। अटलांटिक पार करके चाँदी स्पेन को आती थी किन्तु अन्ततः यह पश्चिमी योरोप के समस्त देशों में फैल जाती थी। एलिजाबेथ काल तक इसने आँग्ल मूल्य-स्तरों पर व्यापक प्रभाव डालना प्रारम्भ कर दिया था। यह ऊर्ध्व गति सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक

बनी रही।[1]

सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से अठारहवीं शताब्दी के उतरार्द्ध तक कोई मूल्य वृद्धि नहीं हुई तथा कई वस्तुओं के मूल्य में ह्रास दिखायी दिया। मूल्य वक्र पर इस दिशा में कई तत्त्वों का प्रभाव हुआ। अमेरिका से चाँदी के आयात में सापेक्षिक तथा निरपेक्ष दोनों रूप में ह्रास हो रहा था जो बढ़ती हुई जन-संख्या के अनुपात तथा साकल परिमाण दोनों में कम हो रहा था। इसके अति-रिक्त विभिन्न ईस्ट इण्डिया कम्पनियों की गतिविधियों के कारण प्रवाह पूर्व की ओर बढ़ रहा था। भारत में योरोपीय वस्तुओं के विक्रय का प्रयत्न करने पर भी योरोप को आने वाली पौर्वात्य वस्तुओं की अधिकतर मात्रा का शोधन सोने तथा चाँदी में करना पड़ता था। कालान्तर में पश्चिमी योरोप तथा इंग्लैंड द्वारा इस प्रकार खोयी धन-राशि अति विशाल रही होगी।[2] इस परि-

१. जेम्स प्रथम तथा चार्ल्स प्रथम की वित्तीय कठिनाइयों का यह भी एक कारण था। क्योंकि वे अपना काम नहीं चला सकते थे अतः उन्हें अनुदान प्राप्त करने के लिए संसद् की बैठकें बुलाना अनिवार्य हो जाता था। ऐसी प्रार्थनाओं पर सम्भवतः रोष प्रकट किया जा सकता था। संसद् सदस्य राजकीय अपव्यय के विषय में शिकायत करते थे तथा सम्राट् की कठिनाइयों का दोष अलोकप्रिय मन्त्रियों पर थोप सकते थे। इस प्रकार सम्राट् तथा संसद् के मध्य विरोध भावना उत्पन्न हुई जिसके अन्तिम परिणामस्वरूप महान् विद्रोह हुआ। यह अनुमान करना अति ध्यान देने योग्य है कि यदि यह समय गिरते हुए मूल्यों का होता तो आँग्ल इतिहास की गति किस प्रकार परिवर्तित हो गई होती।

२. कई शताब्दियों तक भारत ने विशाल मात्रा में चाँदी तथा सोना ग्रहण किया। सर बेमफील्ड फुलर लिखते हैं कि सोने और चाँदी का आयात नियमतः व्यक्तिगत सञ्चय कोषों में अदृष्ट हो जाता है। भारत ने अपने व्यापार का उप-योग पाश्चात्य देशों से सदैव बहुमूल्य धातु प्राप्त करने के हेतु किया है। प्लिनी के काल से भी पूर्व तक से भारतीय व्यापार इससे सम्बद्ध सोने तथा चाँदी की हानि के कारण भर्त्सना का पात्र रहा है। भारतीय जनता ने योरोप की वस्तुओं को कभी उतना आकर्षक नहीं पाया जितनी भारतीय वस्तुएँ योरोपीय परिवारों को रही हैं एवं वे सदैव आंशिक रोकड़ी शोधन की आशा करते रहे हैं। बहुमूल्य धातुओं का ग्रहण शताब्दियों से निरन्तर रहा है तथा मनुष्यों के सञ्चय कोष सामूहिक रूप में अति विशाल होंगे।

स्थिति का दूसरा कारण अठारहवीं शताब्दी में होने वाली वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि थी। विचाराधीन काल में चलित्र की पूर्ति उत्पादन में वृद्धि का साथ देने में असमर्थ रही। इसका परिणाम मूल्यों की गिरती हुई प्रवृत्ति हुआ। भृति तथापि उसी प्रकार स्थायी रही तथा इस काल के एक विचारणीय भाग तक इसमें वृद्धि भी हुई। अठारहवीं शताब्दी के उतरार्द्ध में खाद्यान्नों के मूल्य में कुछ वृद्धि अवलोकनीय है। ग्रेट ब्रिटेन की जनसंख्या में इस अर्द्ध शताब्दी में लगभग पचास प्रतिशत वृद्धि हुई तथा इस काल में होने वाले कृषि सुधारों के उपरान्त भी खाद्यान्नों के उत्पादन में होने वाली वृद्धि जनसंख्या में होने वाली वृद्धि का साथ न दे सकी एवं परिणाम खाद्यान्नों की मूल्य वृद्धि हुआ।

१७९३ से १८१५ तक लगभग निरन्तर युद्ध होते रहे एवं इस संवर्ष के प्रभाव शान्ति स्थापना के पश्चात् भी दीर्घ काल तक अनुभव होते रहे। १७९३ से १८२० तक तीस वर्ष से भी अल्पकाल में सामान्य मूल्य-स्तर द्विगुणित हो गया था तथापि इस काल में सर्वाधिक अवलोकनीय घटा-बढ़ी हुई। ग्रेट ब्रिटेन को वाध्य होकर अपनी तीव्रता से बढ़ती हुई जनसंख्या की समस्त अथवा लगभग समस्त आवश्यकताएँ आयात पर निर्भर रहे बिना पूर्ण करनी पड़ती थीं। कृषि-क्षेत्र में निरन्तर वृद्धि की जा रही थी, भाटक में वृद्धि हो रही थी तथा उसके साथ-साथ खाद्यान्नों के मूल्य में वृद्धि हो रही थी। फसल की उपज में प्रतिवर्ष अन्तर होता था तथा अनाज का भाव उल्लेखनीय सीमा तक ऊँचा-नीचा होता रहता था। युद्ध काल उल्लेखनीय औद्योगिक प्रगति का काल था। यन्त्रों का उपयोग व्यापक हो रहा था, तथा उत्पादन की मात्रा में तीव्रता से वृद्धि हो रही थी। इस परिस्थिति से खाद्यान्नों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के मूल्य में मन्दी को सहायता मिली।

१७९७ में बैंक आफ इङ्गलैण्ड ने अपने अधिपत्रों का निष्क्रमण स्थगित कर दिया तथा १८१९ तक अधिपत्रों के निर्गमन का अधिकोषस्थ स्वर्ण कोष से सम्बन्ध नहीं हुआ। ग्रेट ब्रिटेन में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा चलती रही जिसमें अपरिमित मात्रा तक वृद्धि की जा सकती थी तथा चलित्र की मात्रा में इस वृद्धि का मूल्य में वृद्धि होने पर प्रत्यक्ष प्रभाव हुआ। कुछ देशों में तथा उनके इतिहास के विभिन्न कालों में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा की स्थापना से तीव्र

'descensus werno' का प्रारम्भ अङ्कित किया है जिसका परिणाम मूल्य में प्रचण्ड वृद्धि तथा अन्त में पत्र-मुद्रा का विमुद्रीकरण हुआ है। हमारे इतिहास के इस युग की परिस्थितियां कभी नियन्त्रण से बाहर नहीं हुईं। स्वर्ण की तुलना में अधिपत्रों का मूल्य समय-समय पर बदलता रहा है किन्तु उन्तीस प्रतिशत से अधिक अवक्षीणन कभी नहीं हुआ। इसका अर्थ यह है कि पाँच पौण्ड के अर्थ-पत्र से उतनी ही वस्तुओं का क्रय किया जा सकता था जिनका मूल्य ३ पौं० ११ शि० होता यदि अर्थ-पत्र माँग पर स्वर्ण में परिवर्तनीय बने रहते। यह मूल्यों में अत्यधिक गम्भीर वृद्धि का द्योतक है।

१८२० के पश्चात् मूल्यों के इतिहास पर अधिक विस्तार में विचार किया जा सकता है क्योंकि विद्यार्थी को अधिक शुद्ध सूचना उपलब्ध है जो सूचनाङ्कों के क्रम में दी हुई है। १८२० से १८४९ तक मूल्यों की गतियों की सामान्य प्रवृत्ति नीचे की ओर, १८४९ से १८७३ तक ऊपर की ओर, १८७३ से १८९६ तक नीचे की ओर, १८९६ से १९१४ तक ऊपर की ओर, १९१४ ले १९२० के युद्ध-काल में तेजी से ऊपर की ओर, १९२० से १९३९ तक नीचे की ओर तथा १९३९ से ऊपर की ओर रही है। प्रत्येक काल पर क्रमशः विचार किया जायगा एवं प्रत्येक पर विचार करते समय इसी क्रम का अनुसरण किया जायगा। उपर्युक्त अनुपात के दो तत्त्वों चलित्र तथा उत्पादन पर ध्यान रखा जायगा एवम् प्रत्येक की मात्रा को प्रभावित करने वाली परिस्थितियों का अभिलेख किया जायगा। इसके अतिरिक्त किसी काल में होने वाले मूल्य परिवर्तनों का समस्त राष्ट्र की सभृद्धि तथा विशेषकर श्रमिक वर्गों पर होने वाले परिणाम का उल्लेख भी किया जायगा।

निम्नलिखित सारिणी[1] में उन प्रत्येक वर्षों के सामान्य मूल्यों का

---

१. सांख्यिकी (पत्रिका) ने जेवन्स तथा सावरबेक द्वारा प्रारम्भ किए हुए थोक मूल्यों के सूचनाङ्कों की पद्धति का व्यापक रूप में उपयोग किया। जेवन्स ने १८५१ तक के वर्षों के अङ्कों का सङ्कलन किया। सेवर बेक ने इस कार्य को आगे बढ़ाया तथा उसने १८६६ को आधार वर्ष लिया। यहाँ दी गयी सारिणियाँ १९०० को आधार वर्ष लेकर बनायी गयी हैं अतः वास्तविक अङ्कों में आनुपातिक परिवर्तन कर लिये गये हैं। सङ्कलनकर्ताओं ने अपना कार्य ६० वस्तुओं के उल्लिखित मूल्यों पर आधारित किया था। इनमें से कुछ का संविलयन करके ४५ विभिन्न मूल्य अनुपात बना दिये गये थे।

सूचनाङ्क[1] दिया गया है जिनमें मूल्यवक्र की दशा में परिवर्तन हुए हैं। इस प्रकार प्रत्येक काल में होने वाले परिवर्तनों का प्रतिशत निर्धारित किया जा सकता है। (१९०० के मूल्य-स्तर को १०० माना जा सकता है।)

सांख्यिक सूचनाङ्क			व्यापार विभाग सूचनाङ्क		
वर्ष	सूचनाङ्क	%घटा-बढ़ी	वर्ष	सूचनाङ्क	%घटा-बढ़ी
१९०० = १००			१९०० = १००		
१८२०	१७२				
१८४९	१०७	—३८			
१८७३	१४८	+३८		१५३	—
१८९६	८१	—४५		८८	—४२
१९१४	११३	+३९		११७	+३३
१९२०	३३३	+१९६		३५८	+२०६
१९३९	—	—		१६४	—५४

१८२०-४९ काल में मूल्यों में एक-सी गिरावट नहीं रही। सूचनाङ्कों पर विशद विचार से प्रकट होता है कि कभी-कभी स्वल्प-सी वृद्धि हो जाती थी। गिरावट का कारण तत्कालीन औद्योगिक प्रसार को दृष्टि में रखते हुए चलित्र

व्यापार विभाग के थोक मूल्यों के सूचनाङ्क १८७१ से प्रारम्भ होते हैं। कई वर्षों तक ये ४५ वस्तुओं के मूल्यों पर आधारित रहे। १९१२ में इन्हें बढ़ाकर ४७ कर दिया गया एवम् १९२० में १५०। सांख्यिकी पद्धति से इन सारिणियों में विचारणीय वस्तुओं की संख्या, प्रभाव की पद्धति, तथा मूल्यों की सूचना एकत्रित करने की पद्धतियों में अन्तर है। इन दो पद्धतियों से प्राप्त परिणाम अत्यधिक मात्रा में समान हैं एवं जो पुष्टि वे एक दूसरे की करते हैं वह इस दृष्टि से मूल्य-वान है कि इनसे निकाले गये परिणाम विश्वस्त हैं।

१. यह अवलोकनीय है कि ये सूचनाङ्क थोक मूल्यों से सम्बन्धित हैं। फुटकर मूल्यों में परिवर्तन थोक मूल्यों में परिवर्तनों के अनुसार होते हैं किन्तु नियमतः अधिक दूरगामी नहीं होते। अतः जीवन-यापन व्यय में इतने अधिक परिवर्तन नहीं हुए जितने इस सारिणी से अनुमानित हो सकते थे। श्रम मन्त्रालय के सुप्रसिद्ध जीवन यापन-व्यय सूचनाङ्क फुटकर मूल्यों पर आधारित हैं तथा इनमें भाटक तथा स्थानीय कर आदि वस्तुएँ सम्मिलित हैं।

की अपूर्णता था। नयी दुनिया के स्पेनिश तथा पुर्तगाली उपनिवेशों में विद्रोह के पश्चात् केन्द्रीय तथा दक्षिणी अमेरिका से योरोप को चलित्र की पूर्ति और भी कम हो गयी। १८३०-३९ के काल में पूर्ति के एक नवीन स्रोत का उपयोग किया गया। रूस में स्वर्ण विपुल मात्रा में उत्पन्न किया जाने लगा था किन्तु १८४०-४९ के उत्तरार्द्ध तक भी रूस से आयातित स्वर्ण की मात्रा मूल्य वक्र को प्रभावित करने में समर्थ नहीं हो सकी एक समय कुछ अंश तक धात्विक चलित्र की पूर्ति पत्र-मुद्रा से निजी अधिकोषों द्वारा निर्गमित अधिपत्रों के रूप में हुई किन्तु १८२५ में इन संस्थाओं में बहुतों के असफल हो जाने के पश्चात् अर्थ-पत्रों का प्रचलन घट गया एवम् १८४४ में अधिकोष राजाज्ञा अधिनियम पारित हो जाने से इस स्रोत से चलित्र में अधिक योग की सम्भावनाएं समाप्त हो गईं। इस काल के अन्तिम भाग में धनादेशों का उपयोग अधिक सामान्य हो गया किन्तु मूल्यों के ह्रास को रोकने के हेतु यह पूर्णत: व्यापक नहीं था। तथापि ४०-४९ में ह्रास में मन्थरता लाने का श्रेय धनादेश पद्धति के प्रसार तथा रूस में स्वर्ण के उत्पादन को है।

दूसरी ओर इस सम्पूर्ण काल में उत्पादन में वृद्धि हो रही थी। औद्योगिक क्रान्ति में अन्य देशों का ग्रेट ब्रिटेन ने जो नेतृत्व प्राप्त कर लिया था उसका उत्पादकगण लाभ उठा रहे थे। यन्त्रों का व्यापक उपयोग हो रहा था तथा उनमें निरन्तर सुधार हो रहे थे। हस्कीसन तथा पील के प्रशुल्क सुधार व्यापार के हेतु लाभदायक थे जिसमें रेलों के निर्माण से और भी वृद्धि हुई। हस्कीसन द्वारा परिवहन अधिनियमों में संशोधनों से विदेशी व्यापार का विकास हुआ तथा डाक सम्बन्धी सुविधाओं ने भी इसी दिशा में कार्य किया।

गिरते हुए मूल्यों के काल की विशेषता श्रमिक वर्गों को अत्यधिक कष्ट रही है। भृति, जो पहिले ही क्षुधा-स्तर पर प्रतीत होती थी, बार-बार गिरती गई तथा श्रमिक संघ-कार्य से कोई सुधार नहीं हुआ। वृत्तिहीनता अति-विशाल परिमाण में हो गई जिसका रेलवे निर्माण के कारण श्रम की माँग से उपशमन किया गया। यद्यपि मूल्य गिरे तथापि गिरावट खाद्यान्नों में न्यूनतम थी जो निर्धन व्यक्तियों के लिये अति महत्त्वपूर्ण थी। अत: श्रमिकों को गिरावट का कोई लाभ अनुभव नहीं हुआ। सम्भवत: उनको इसका ज्ञान ही न था।

१८४९-७३ का युग बढ़ते हुए मूल्यों का था। १८५७ तक वृद्धि उचित रूप से समान थी। १८५८ में तीव्र गिरावट आयी। किन्तु यह गिरावट केवल अस्थायी थी तथा मूल्य पुनः बढ़ गये। १८६०-६९ में कोई परिवर्तन नहीं हुआ किन्तु १८७०-७३ के मध्य और भी वृद्धि हुई।

स्वर्ण प्रदाय की विशेषता १८४८ में केलीफोर्निया तथा १८५१ में आस्ट्रेलिया में स्वर्ण की खोज थी। कई वर्षों तक २५०,००,००० पौंड स्टर्लिङ्ग की औसत राशि की प्रति वर्ष विश्व की स्वर्ण-पूर्ति में वृद्धि हो जाती थी। इन देशों तथा रूस से ग्रेट ब्रिटेन को स्वर्ण की विशाल राशि आती थी। अतः बैंक आफ इङ्गलैण्ड के कोष में वृद्धि के परिणामस्वरूप यह संस्था अपनी कटौती की दर कम कर सकी। व्यावसायिक तथा औद्योगिक संस्थानों को सस्ती मुद्रा उपलब्ध हो गई। सीमित दायित्व के सिद्धान्त के संयुक्त पूँजी अधिकोषण पर प्रयोग से अधिकोषण पद्धति के विकास में सहायता मिली तथा धनादेशों के अधिक सामान्य प्रयोग से चलित्र की मात्रा में वृद्धि हो गई।

कई परिस्थितियों ने उत्पादन वृद्धि को बनाये रखने में योगदान दिया जो विगत काल में दृष्टिगोचर हुई थी। १८५३ तथा १८६० में ग्लेडस्टन ने व्यापारिक स्वतन्त्रता के अन्तिम प्रतिबन्ध हटा लिये थे। १८५५ में संयुक्त पूँजी प्रमण्डलों पर सीमित दायित्व के सिद्धान्तों के प्रयोग से औद्योगिक एवं व्यावसायिक संस्थापनों में पूँजी की विशाल मात्रा का उपयोग सम्भव हो गया। इस काल में कोयले तथा लोहे का उत्पादन तीव्रता से बढ़ा तथा १८५५-५६ में बिसीमर विधि की खोज के पश्चात् इस्पात के उत्पादन में वृद्धि हुई। रेलवे प्रणाली अब अच्छी तरह स्थापित हो गई थी तथा वाष्प यन्त्र सामान्य हो गया था। किन्तु जो सम्पत्ति उत्पन्न की जा रही थी उसका अधिकांश भाग दूसरी ओर युद्ध में नष्ट हो गया क्योंकि यह योरोप तथा उत्तरी अमेरिका में युद्ध-काल था यद्यपि ग्रेट ब्रिटेन ने जिस एक महत्त्वपूर्ण सङ्घर्ष में भाग लिया वह क्रीमियाँ युद्ध था। इसके अतिरिक्त खाद्य का उत्पादन विश्व के कुछ भागों में कम उपजों तथा अमेरिका एवं आस्ट्रेलिया में ऐसे मनुष्यों द्वारा क्षेत्रों के परित्याग से प्रभावित हुआ जो स्वर्ण-क्षेत्रों की मृग-मरीचिका के कारण आकर्षित हुए थे। सम्पूर्णतः इस काल के प्रारम्भिक

भाग में उत्पादन में वृद्धि हो रही थी किन्तु वह चलित्र की वृद्धि की समगामी नहीं हुई अतः मूल्य बढ़ गये। १८६०-६९ में चलित्र तथा उत्पादन के अनुपात में अत्यल्प परिवर्तन हुए तथा मूल्य स्थायी बने रहे। १८७०-७३ के मध्य साख की स्फीति हो गयी तथा रूसी-फ्रांसीसी युद्ध से और भी मूल्य बढ़ गये।

यह ग्रेट ब्रिटेन की महान् समृद्धि का युग था। देश के व्यापार का तीव्रता से प्रसार हो रहा था। वृत्ति-हीनता घट कर न्यूनतम हो गयी, भृति बढ़ गयी तथा श्रमिक वर्गों की स्थिति पूर्वापेक्षा अधिक श्रेष्ठ हो गयी। कुछ अंश तक कार्यकालीन परिस्थितियों में सुधार, श्रमिक संघ कार्य तथा कारखाना अधिनियम के कारण हुआ। यह सोचा जा सकता था कि भृति में वृद्धि की मूल्य वृद्धि के कारण प्रतिपूर्ति हो गयी थी। किन्तु मूल्य वृद्धि व्यावसायिक कच्चे माल तथा निर्धनों के सामान्य उपयोग में न आने वाली वस्तुओं में हुई थी तथा खाद्यान्नों के मूल्यों में वृद्धि अन्य वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि की अपेक्षा बहुत कम थी।

१८७३-९६ की अवधि में मूल्य उल्लेखनीय स्तर तक गिरे। सेवर बैंक की सारिणी के अनुसार १८७३ का सूचनाङ्क १४८ था तथा १८९६ का केवल ८१ जो ४५ प्रतिशत गिरावट बताता था। व्यापार विभाग के एतत्कालीन अङ्क जो कुछ भिन्न योजना पर संगठित किये गये थे १५३ तथा ८८ हैं जो ४३ प्रतिशत गिरावट के द्योतक हैं। अतएव दोनों सारिणियों में पूर्णतः सामंजस्य है। केवल १८८० में गिरावट अति तीव्र होने के साथ-साथ निरन्तर धीरे-धीरे होती रही। तथा १८८८-९१ के अल्पकाल में अस्थायी रूप से रोकी जा सकी। सम्पूर्ण काल की विशेषता इतनी तीव्र औद्योगिक व्यापारिक तथा कृषिजन्य मन्दी थी कि इसका सामान्यतः महान् मन्दी के रूप में उल्लेख किया जाता है. एवं इस परिणाम पर पहुँचने से रुकना असम्भव है कि मन्दी तथा मूल्यों की गिरावट में निकट सम्बन्ध रहा है।

गिरावट का कारण चलित्र तथा उत्पादन के अनुपात के दोनों कारकों में गड़बड़ था जिन पर मूल्य-स्तर निर्भर करता था। कई वर्षों तक स्वर्ण की पूर्ति विश्व की आवश्यकताओं को तृप्त करने में अपूर्ण रही। यद्यपि औद्योगिक पद्धतियों के विकास, भूमि तथा समुद्र पर यान्त्रिक परिवहन के प्रसार के कारण औद्योगिक उत्पादन की मात्रा में निरन्तर वृद्धि होती रही।

१८७०-९८ में तीन महत्त्वपूर्ण देशों की चलित्र नीति से विश्व की स्वर्ण-

राशि के वितरण पर गम्भीर प्रभाव हुआ। जर्मनी द्विधातुमानी देश था[1] किन्तु नव निर्मित जर्मन साम्राज्य में एक धातुमान स्थापित कर दिया गया। १८७३ के पश्चात् जर्मनी में केवल स्वर्ण की ही प्रामाणिक मुद्रा का टङ्कण हो सकता था अतः आगामी कुछ वर्षों में इसने स्वर्ण का विशाल मात्रा में आयात किया। फ्रांस नाम मात्र को द्विधातुमान वाला देश रहा[2] किन्तु वास्तव में उसका टङ्कण स्वर्ण पर ही आधारित था तथा एतदुद्देश्य से वह अति विशाल मात्रा में स्वर्ण का आयात करता था। गृह-युद्ध के पश्चात् संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा अपना ली थी जो १८७८ में स्वर्ण में परिवर्तनीय हो गयी। अतः केलीफोर्निया का स्वर्ण योरोप को और अधिक निर्यात नहीं हुआ जो तब संयुक्त राज्य के कोषागार में ही संचित हो जाता था तथा उसे इसके अतिरिक्त विश्व के अन्य भागों से भी स्वर्ण की कुछ मात्रा प्राप्त होती थी। जर्मनी, फ्राँस और संयुक्त राज्य में स्वर्ण की इस अति विशाल माँग के कारण ग्रेट ब्रिटेन के लिये अत्यल्प स्वर्ण रह जाता था।[3] अतः इस काल में बैंक आफ इङ्गलैण्ड का स्वर्ण कोष स्थायी रहा। जो अल्प सी मात्रा का आयात होता था वह स्वर्णकारों की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा टङ्कण की छीजन की पूर्ति को ही पर्याप्त नहीं होता था। अतः बढ़ते हुए व्यापार की आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु कुछ भी शेष नहीं बचता था। विश्व की स्वर्ण की खानों के उत्पादन में भी कुछ गिरावट आयी जो १८८०-९

---

१. द्विधातुमानी देशों के समक्ष जो महान् कठिनाई रही है वह स्वर्ण तथा चाँदी के मध्य यथार्थ अनुपात स्थापित करना है। यदि किसी का भी अपमूल्यन हो जाय तो ग्रेशम के नियम के सिद्धान्तानुसार उसकी अदृश्य होने की प्रवृत्ति होती है। यदि मूल्य का यथार्थ अनुपात खोजकर स्थापित कर भी लिया जाय तो भी किसी भी धातु के बाजार-मूल्य में किसी भी परिवर्तन से यह गड़बड़ हो सकती है जिसके साथ अपमूल्यवान धातु अदृश्य होने लगेगा। इस कारण द्विधातुमान पद्धतियाँ निरन्तर एक धातुमान की ओर प्रवृत्त हो रही थीं।

२. फ्रांस में पांच फ्रेंक का चाँदी का सिक्का प्रामाणिक मुद्रा रहा किन्तु १८७८ के पश्चात् उसका कभी टङ्कण नहीं हुआ। १८७८ में लेटिन सङ्गठन के सभी देश व्यवहारतः एक धातुमान वाले हो गये।

३. इस सम्पूर्ण काल में भारत को स्वर्ण का प्रवाह चलता रहा।

के प्रारम्भ काल में २,००,००,००० पौं० वार्षिक से अधिक न था। विश्व के स्वर्ण-कोष में एक ही वर्ष में बढ़ने वाली मात्रा से कोई विशेष अन्तर नहीं होता तथापि यह मननीय है कि पूर्ति उस समय घट रही थी जब वृद्धि अपेक्षित थी। इस काल में बैंक ग्राफ इङ्गलैण्ड की स्वर्ण-कोष में वृद्धि की असफलता से साख के प्रसार में रुकावट हो गयी। तथापि धनादेशों के अधिक व्यापक प्रचार के कारण यह अवशमित हो गयी।

इस काल में विश्व के कई भागों में वस्तुओं का उत्पादन अत्यधिक था। योरोप तथा अमेरिका में नवीन कोयला-क्षेत्र खोल लिये गए तथा कोयले की निकाले जाने वाली मात्रा में प्रतिवर्ष वृद्धि होती गई। लोह तथा अन्य खनिजों के उत्पादन में भी वृद्धि हुई तथा इस्पात उत्पादन को गिलक्राइस्ट थामस पद्धति के विकास से अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। वस्त्र-व्यवसाय के कच्चे माल कपास, ऊन तथा रेशम का निरन्तर वृद्धिगत मात्रा में उत्पादन हो रहा था। यही काल था जिसमें विश्व के विभिन्न भागों में यान्त्रिक परिवहन के विकास के प्रभाव का अनुभव हुआ। रेलों तथा वाष्पयानों से उपरिनिर्दिष्ट वस्तुओं के शीघ्र तथा सस्ते परिवहन की सुविधाएँ हो गईं। इसके अतिरिक्त विश्व के बहुत से भागों में ग्रेट ब्रिटेन को सस्ते खाद्यान्न के प्रवाह में वृद्धि हुई। संयुक्त राज्य, कनाडा, अर्जेण्टायना, भारत और आस्ट्रेलिया से गेहूँ तथा आस्ट्रेलिया दक्षिणी तथा उत्तरी अमेरिका से गौ मांस, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड से भेड़ का मांस, आसाम तथा सीलोन से चाय एवं ऐसी अन्य वस्तुओं यथा चावल, आलू, सूअर का मांस, मक्खन तथा पनीर की विशाल मात्रा से आँग्ल बाजार ऐसे मूल्यों पर पट गये जो प्रतिवर्ष धीरे-धीरे गिर रहे थे।

कुछ और भी परिस्थितियाँ विचारणीय हैं जिन्होंने ग्रेट ब्रिटेन में मूल्यों को प्रभावित किया। सम्भवतः शक्कर की अपेक्षा किसी भी अन्य खाद्यान्न पर इतनी अधिक सीमा तक मूल्य नहीं गिरे जिसे कुछ महाद्वीपीय देशों में निर्यात व्याजि प्रणाली के अन्तर्गत उत्पन्न किया जा रहा था। उत्पादकों को राजकीय प्रोत्साहन ने आँग्ल बाजार कब्जे में करने के हेतु सामर्थ्य प्रदान किया। इससे इस देश के निवासियों को ऐसे मूल्य पर शक्कर का क्रय करना सम्भव हो गया जो लागत मूल्य से भी नीचा था। इस सस्ती शक्कर से ही मिठाई तथा बिस्कुट उद्योग की स्थापना की गई। भारतीय वस्तुओं के मूल्य में ह्रास होने

का एक अतिरिक्त कारण रुपये के मूल्य में गिरावट था।[१] चाय, कपास तथा गेहूँ जैसी भारतीय वस्तुओं के हेतु दिये जाने वाले मूल्यों में इससे समानुपातिक ह्रास हो गया।

मूल्य-स्तरों में उपर्युक्त जैसे उल्लेखनीय परिवर्तनों के अनिवार्यतः महा महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले। कृषि को अत्यधिक हानि हुई। अत्यधिक पूँजी नष्ट हो गयी तथा कई सहस्र एकड़ भूमि अकृष्ट हो गयी। औद्योगिक व्यवसायों को भी हानि हुई। लाभांश कुछ भी नहीं अथवा बहुत कम दिये गये। कम दक्ष तथा अपूर्ण साधनयुक्त व्यवसायों को दिवालिया हो जाना पड़ा तथा जिनका प्रबन्ध श्रेष्ठतर था, जिनके पास पूँजी की निधि थी, जिन पर वे निर्भर रह सकते थे उन्हें परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार पुनर्गठन करना पड़ा। लौह व्यवसाय में इस्पात के उत्पादन में प्रगति जनित नवीन परिस्थितियों का सामना करने के हेतु पूँजी की विशाल राशि को निकृष्ट करना पड़ा। भाटक में गिरावट हो जाने के कारण पोतवहन को हानि हुई तथापि आँग्ल व्यपारिक पोत सर्वश्रेष्ठ रहा। औद्योगिक एवं व्यापारिक व्यवसायों में जिन व्यक्तियों ने पूंजी विनियोजित की थी उन्हें निम्नतर आय से ही सन्तुष्ट रहना पड़ता था अतः बहुतों ने राजकीय ऋण-पत्रों पर व्याज की सुनिश्चितता को श्रेष्ठतर समझा जिनका मूल्य धीरे-धीरे बढ़ गया था।[२]

---

१. १८७३ में जर्मनी तथा १८७८ में फ्रांस द्वारा चाँदी के विमुद्रीकरण के कारण इस धातु की माँग में कमी तथा इसके स्वर्ण में उद्धृत मूल्य में कमी हो गई। भारत आदि कुछ देशों में रजतमान विद्यमान था। अतः चाँदी के मूल्यों में परिवर्तन से इन देशों की विनिमय दरों पर विपरीत प्रभाव पड़ा। १८७३ से पूर्व धीरे-धीरे रुपये का मूल्य लगभग २ शि० था किन्तु आगामी बीस वर्षों में इसका मूल्य गिरता रहा तथा १८९३ में इसका मूल्य १ शि० और १ पें० के कुछ अंश के लगभग था। भारतीय व्यापार में लगे हुए व्यापारी (१० रु० की अपेक्षा) २० रु० मूल्य का माल १ पौं० में क्रय कर सकते थे तथा आँग्ल देश में उसी अनुपात में सस्ता बेच सकते थे।

२. यह उन महान् कारणों में एक था जिन्होंने श्री गॉशेन को १८८८ की महान् परिवर्तन योजना सम्भव बना दी जिसके अन्तर्गत संवार्षिकीयों पर व्याज घटा कर

श्रमिक वर्गों पर मिश्रित प्रभाव पड़ा। मन्दी का परिणाम मितव्ययिता हुआ जिसका रूप कभी-कभी श्रमिकों की सेवा-मुक्ति अथवा उन्हें अल्पकालीन कार्य पर रख देना था। वृत्ति-हीनता एक गम्भीर सामाजिक समस्या बन गयी अतः इस समस्या के कारणों का अन्वेषण करने एवं एतदर्थ हल प्रस्तावित करने के हेतु समय-समय पर आयोगों तथा समितियों की नियुक्तियाँ की गयीं। भृति में गिरावट आयी किन्तु गिरावट मूल्यों की अपेक्षा धीमी थी। कुछ व्यवसायों में यह स्वल्प थी तथा कुछ व्यवसायों में तो भृति बढ़ गयी।[1] वास्तविक भृति (अपने उपार्जित धन से जितनी वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा का एक श्रमिक क्रय कर सकता है) में निरन्तर वृद्धि हुई जिससे भृति की नकदी दरों में कुछ गिरावट के उपरान्त भी श्रमिक वर्ग श्रेष्ठतर थे। इस कथन की एक से अधिक प्रकार से जाँच की जा सकती है। यह पाया गया है कि इस काल में खाद्यान्नों का प्रति व्यक्ति औसत उपभोग स्वल्प सा बढ़ा तथा "विलासिता" की वस्तुओं यथा चाय, कहवा, सूअर के मांस तथा मक्खन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त निर्माण-समितियों, सहकारी समितियों तथा इसी प्रकार के संगठनों में विनियोजित धन की मात्रा बढ़ी जो इस बात की परिचायक थी कि बहुत से मनुष्यों को अपनी तात्कालिक आवश्यकताओं के हेतु आवश्यकता से अधिक आय हो रही थी अतः वे बचा सकते थे। कई वस्तुएँ जिन्हें दारिद्रय सीमा पर रहने वाले मनुष्य विलासिता समझते

तीन प्रतिशत से पौने तीन प्रतिशत तथा पन्द्रह वर्ष पश्चात् २$\frac{1}{2}$% कर दिया जाना था।

१. निर्माण-व्यापार, कोयला खनन, अभियान्त्रिकी, वस्त्र उद्योगों तथा कृषि में भृति के सूचनाङ्कों का अधिकृत सङ्कलन किया गया है। वे १८८० तक के हैं तथा उनसे प्रकट होता है कि १८८०-६ काल में भृति में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। १८८०-३ में स्वल्प वृद्धि के पश्चात् १८८३-६ में स्वल्प-सा ह्रास हुआ। १८८६ से १९१४ तक सामयिक अस्थायी प्रगतिरोधों के उपरान्त भी धीमी वृद्धि रही है तथापि यह अवलोकनीय है कि ये सूचनाङ्क वास्तविक उपार्जन पर न होकर भृति की दर पर आधारित थे। अल्प काल अथवा वृत्ति-हीनता की अवधियों का कोई विचार नहीं किया गया था।

थे यथा साइकिल, दैनिक पत्र-पत्रिकाएँ, वाद्य यन्त्र तथा इसी प्रकार की अन्य वस्तुएँ श्रमिक परिवारों में सामान्यतया मिल जाती थीं।

१८९६ से १९१४ के मध्य का काल बढ़ते हुए मूल्यों का काल रहा है। १९०० में तीव्र वृद्धि तथा एतद्पश्चात् १९०१ में तत्सम्बद्ध गिरावट एवं १९०६-७ में अन्य वृद्धि की प्रवृत्ति तथा १९०८-९ में उसकी प्रतिक्रिया के अतिरिक्त वृद्धि क्रमिक थी। १९१३ तक ऊपरी गति की शक्ति समाप्त प्रतीत होती थी। तथा १९१२, १९१३ एवं १९१४ के सूचनाङ्क समान थे।

मूल्यों में वृद्धि का कारण स्वर्ण के उत्पादन में महान् वृद्धि था। ट्रान्सवाल में निम्न श्रेणी के खनिज की खोज की गयी तथा सायनाइड पद्धति के प्रयोग से रेण्ड की खानों पर सलाभ कार्य सम्भव हो गया।[१] विश्व के अन्य भागों में स्वर्ण का उत्पादन होता रहा। दक्षिण अफ्रीका में स्वर्ण की खोज तथा १९१४-१८ के युद्धारम्भ के बीच अट्ठाईस वर्षों में विश्व के संचय में

---

१. यह अनुमान किया गया था कि विटवाटर्सरेण्ड के खनिज में एक टन में केवल आधा औंस ट्राय स्वर्ण था। स्वर्ण समस्त पिण्ड में लघु कणों में फैला हुआ था। अतः खनिज के मूल्य से कम लागत पर खनन ने एक समस्या उत्पन्न कर दी थी जो सायनाइड प्रक्रिया के प्रयोग से हल हो गयी। प्रक्रिया के पूर्ण विवरण के हेतु पाठक को खनन तथा धातुशोधन पर उपयुक्त ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिये। खनिज को पीसा जाता है तथा पुनः उसका चूर्ण कर लिया जाता है जिस पर वायु की विद्यमानता में ३% पोटाशियम सायनाइड घोल का प्रयोग किया जाता है। एक जटिल रासायनिक प्रक्रिया के कारण स्वर्ण घुल जाता है जो पोटाशियम स्वर्ण सायनाइड बन जाता है। स्वर्णमिश्रणयुक्त स्वच्छ तरल को विद्यमान अघुलनशील वस्तुओं से पावन पीड़ से अलग कर लिया जाता है तथा इसमें रांगा मिला दिया जाता है। जो रासायनिक प्रक्रिया होती है उसमें स्वर्ण निस्सादनार्थ रह जाता है तथा उसके स्थान पर रांगा आ जाता है जिससे पोटाशियम जिङ्क सायनाइड बन जाता है। (स्वर्ण सायनाइड से स्वर्ण-प्राप्ति की अन्य पद्धति विद्युतदंशन की है) इस प्रकार खनिज में से ९०% से अधिक स्वर्ण की प्राप्ति हो जाती है। प्रक्रिया के सफलतापूर्वक कार्य करने के हेतु सशक्त दलन तथा पेशन यन्त्रों का उपयोग अपेक्षित है तथा केवल सस्ते देशी श्रम के सेवायोजन से ही लाभ हो सकता है। एक टन खनिज से आधे पौंड खनिज

१,६०,००,००,००० पौंड मूल्य स्वर्ण की वृद्धि हो गयी थी जो विश्व के इतिहास में किसी अन्य काल में इतने ही समय में प्राप्त मात्रा से अतिविशाल परिमाण में अधिक था ।[1] कालान्तर में यह नवीन स्वर्ण जर्मनी, फ्रांस, संयुक्त राज्य, ग्रेट ब्रिटेन आदि समस्त महत्त्वपूर्ण औद्योगिक देशों में आया । इन सभी देशों में साख मुद्रा का अति विचारणीय मात्रा में प्रसार था ।

उत्पादन में निरन्तर वृद्धि होती रही किन्तु सम्पूर्णतः यह चलित्र में वृद्धि के समान ही नहीं बढ़ा अतः मूल्यों के सामान्य स्तर में धीरे-धीरे वृद्धि हो गई। उत्पादन के सम्बन्ध में वृद्धि खाद्यान्नों में सर्वाधिक अवलोकनीय थी । विश्व के समस्त भागों में नवीन क्षेत्रों को कृष्ट बनाया जा रहा था तथा खाद्य को सुरक्षित रखने के हेतु नवीन प्रक्रियाओं का प्रयोग किया जा रहा था । अतएव इस काल में खाद्यान्नों में मूल्य वृद्धि सामान्य मूल्य वृद्धि की अपेक्षा बहुत कम थी[2] तथा कुछ वस्तुओं के मूल्यों में तो वृद्धि हुई ही नहीं ।

यह महान् सामान्य समृद्धि का युग था । बढ़ते हुए मूल्यों से उत्पादन को बहुमुखी प्रोत्साहन मिला । नवीन व्यवसायों के हेतु पूँजी उपलब्ध थी तथा चलित्र की बढ़ी हुई मात्रा से लोगों के हाथों में आवश्यक क्रय-शक्ति हो गई

की (उपरिपव्यय को सम्मिलित करते हुए) लागत लगभग ३० शि० होती थी तथा स्वर्ण का मूल्य लगभग दो गिन्नी होता था । अर्वाचीन वर्षों में औद्योगिक सुधारों तथा मितव्ययिताओं से उस खनिज पर भी सलाभ कार्य सम्भव हो गया है जिसमें चतुर्थांश ट्रॉय औंस से भी कम स्वर्ण होता है । स्वर्ण विश्व के अधिकांश भागों में चट्टानों में अल्प मात्रा में बताया जाता है तथा जैसे-जैसे निम्न श्रेणी के खनिज पर सलाभ कार्य सम्भव होगा, वैसे ही यह आशा की जाती है कि स्वर्ण की पूर्ति में निरन्तर वृद्धि होती रहेगी ।

१. यह मात्रा अमेरिका की खोज तथा रेण्ड की खानों के प्रारम्भ के मध्य चार शताब्दियों में समस्त विश्व में स्वर्ण के समस्त उत्पादन की मात्रा के बराबर थी । इसका यह अर्थ नहीं कि तीस वर्ष से कम समय में स्वर्ण के विश्व संचय की मात्रा द्विगुणित हो गयी थी क्योंकि इस अनुमान में १४६२ से पूर्व प्रयुक्त स्वर्ण की मात्रा पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है ।

२. १६०२ में ग्रेट ब्रिटेन में निर्यात व्याजि प्राप्त शक्कर का आयात निषिद्ध कर दिया गया अतः इसके लय में अत्यधिक वृद्धि हो गई ।

जिससे वे उन वस्तुओं को खपाने में समर्थ हो सके जो उत्पन्न की जा रही थीं। श्रमिक वर्ग निरन्तर सम्पन्न बने रहे, भृति में वृद्धि हुई यद्यपि यह मूल्य वृद्धि के समान शीघ्रतापूर्वक नहीं हुई तथा यह युक्ति दी गई है कि यह भृति के वास्तविक मूल्य में गिरावट की निर्देशक है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि खाद्यान्नों के मूल्य में तुलनात्मक स्वल्प वृद्धि हुई थी तथा श्रमिक वर्ग के व्यय का सर्वाधिक भाग खाद्यान्नों पर होता है। भाटक में, जो श्रमिक के आय व्ययक का दूसरा महान् पद होता है, विशेष वृद्धि का कोई प्रमाण नहीं है। यद्यपि वृत्ति-हीनता की मात्रा विचारणीय थी तथापि पूर्वकाल की अपेक्षा यह कम थी एवं १९११ में वृत्ति-हीनता आगोप की स्थापना से इसके सर्वाधिक दुष्प्रभावों के मोचन में सहायता मिली। सामान्यतः किसी अंश तक निश्चय के साथ इस बात की अभिपुष्टि नहीं की जा सकती कि इस काल में श्रमिक वर्गों की स्थिति निकृष्टतर हो गई।

१९१४-२० के युद्ध-काल की विशेषता इस देश तथा अन्य देशों में विगत शांति की शताब्दी में अवलोकनीय वृद्धि से अति अपरिमित मूल्य वृद्धि हो जाना था। ग्रेट ब्रिटेन के चलित्र में ऐसी पत्र-मुद्रा की विशाल मात्रा के निर्गमन से मुद्रा-प्रसार किया गया जो प्रारम्भ में नाममात्र को स्वर्ण में परिवर्तनीय थी किन्तु कालान्तर में व्यवहारतः अपरिवर्तनीय हो गई। चलित्र के इस नवीन प्रकार की स्थापना की आवश्यकता सौदों के उस विशाल परिमाण के कारण हुई जिनसे शासन का सम्बन्ध था। यह मूल्यों में वृद्धि लाने वाला एक महत्त्व-पूर्ण तत्त्व था जो इस युग की विशेषता रही है। युद्ध-काल में दक्षिणी अफ्रीका की स्वर्ण की खानों की उत्पादन-क्षमता में गिरावट हुई किन्तु अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा को दृष्टि में रखते हुए मूल्यों के निर्धारण में स्वर्ण एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व नहीं रहा।

सैनिक तथा नौसैनिक उद्देश्यों के अतिरिक्त उत्पादन की सीमितता के कारण उन वस्तुओं की कमी हो गई जिनकी सामान्यतः अधिक माँग होती थी। खाद्यान्न भी सीमित परिमाण में थे क्योंकि विश्व के अन्य भागों से पूर्ति सामान्य स्रोतों से कम हो गई थी अथवा पूर्णतः काट दी गई थी। आँग्ल द्वीपों की जर्मन घेराबन्दी से पोतों तथा माल के आगोप की लागत में वृद्धि हो गई। इन सब तत्त्वों ने और अधिक मूल्य वृद्धि में योग दिया।

कई कारणों से विगत कालों से वास्तविक तुलना करना कठिन है। कुछ वस्तुओं के मूल्य पूर्णतः नाम मात्र के थे क्योंकि पूर्ति अनुपलब्ध थी। अन्य वस्तुओं के मूल्य अवास्तविक थे क्योंकि शासन फुटकर मूल्य निश्चित कर रहा था एवं थोक व्यापारियों को व्यापार में हानि की पूर्ति के हेतु सहायता दे रहा था। कई वस्तुओं की किस्में खराब हो गईं स्थानापन्न वस्तुओं का बहुधा प्रयोग किया जाने लगा। कुछ खाद्य-वस्तुओं का समभाजन कर दिया गया तथा प्रति व्यक्ति खरीदी जा सकने वाली मात्रा सीमित कर दी गई। मूल्य वृद्धि को कई मनुष्यों ने सतर्क दृष्टि से देखा तथा व्यापार विभाग द्वारा निकाले गये सूचनांकों में भूतकाल में किसी भी समय की अपेक्षा अधिक रुचि ली गई। ये सारिणियाँ जिनका मासिक संकलन किया जाता था यह संकेत करती थीं कि जुलाई १९१४ से जुलाई १९२० तक सामान्य मूल्य-स्तर तिगुना हो गया था। प्राचीन पद्धति के अन्तर्गत जिससे १९०० का मूल्य-स्तर तुलना का आधार माना गया था व्यापार विभाग का १९१४ का सूचनांक ११७ था तथा १९२० का ३५८ (इसी काल के सांख्यिक अंक ११३ तथा ३३३ थे) तथापि भावी संगणन[1] के हेतु जुलाई १९१४ के मूल्य-स्तर को आधार मानना व्यावहारिक हो गया। वार्षिक सूचनांकों के हेतु १९१३ को आधार माना गया।

श्रमिक वर्गों पर मूल्य-वृद्धि के प्रभाव का अनुमान करना कठिन है। इस काल में वैधुर्य, रोग, विकलाङ्ग होने, नाड़ी कम्पन, घटी हुई जीवन शक्ति से अगणित मात्रा में कष्ट सहन करने पड़े किन्तु इसमें से अधिकांश युद्ध के कारण थे तथा मूल्य-वृद्धि से इनका सम्बन्ध नहीं था। वृत्ति-हीनता वास्तव में नहीं थी एवं नागरिक व्यवसायों में श्रमिकों का इतना अभाव था कि जिन स्थानों पर सामान्यतः पुरुष लिये जाते हैं उन पर स्त्रियों को लिया गया। भृत्ति में अत्यधिक वृद्धि हुई यद्यपि यह विभिन्न व्यवसायों में असमान थी। सामान्यतः यह सम्भव है कि मूल्य-वृद्धि से व्यवसायी व्यक्तियों तथा लेखकों की अपेक्षा श्रमिक वर्गों को कम कष्ट उठाना पड़ा क्योंकि उनके वेतन में उसी मात्रा में वृद्धि नहीं हुई थी जितनी शारीरिक श्रमिकों की भृति में हुई थी।

---

१. "युद्ध-पूर्व मूल्य" पद को, जो दो युद्धों के बीच सामान्य प्रयोग में था सामान्यतः जुलाई १९१४ में प्रचलित मूल्य का निर्देशक समझा जाता था।

१९२० के पश्चात् मूल्य गिरे। सूचनांक, जो १९१३ के आधार पर १९२० में ३०० से अधिक था आगामी वर्ष गिरकर २०० से नीचे हो गया। १९२१ के पश्चात् गिरावट कम तेज थी तथा १९२४ में एक अस्थायी वृद्धि दिखाई दी। तथापि गिरावट निरंतर चलती रही एवं १९३२ में व्यापार विभाग का थोक मूल्य सूचनांक १९२४ का केवल ६१% तथा सांख्यिक सूचनांक ५८% था। (फुटकर मूल्यों में यद्यपि गिरावट उल्लेखनीय थी तथापि इतनी नहीं थी।) युद्धोपरांत काल में मूल्यों में गिरावट का कारण एक ओर मुद्रा संकोच के उपायों पर व्यवहार तथा दूसरी ओर उत्पादन में विविध दिशाओं में महत्त्व-पूर्ण वृद्धि के कारण चलित्र तथा उत्पादन के अनुपात में सुधार था (जिस पर सामान्य मूल्य-स्तर निर्भर होता है।) जैसा इस पुस्तक में अन्यत्र उल्लेख किया गया है १९२० और १९२४ के मध्य प्रचलित अर्थ-पत्रों की मात्रा में लगभग ७,००,००,००० पौं० ह्रास हुआ तथा अर्थ-पत्रों की इतनी मात्रा को प्रत्याहरण करके नष्ट कर दिया गया। साथ ही बहुत से महत्त्वपूर्ण उद्योगों की परिस्थि-तियों का पुनर्निरीक्षण किया गया, उन्हें नवीन सज्जा से सज्जित किया गया, नवीन प्रक्रियाओं का प्रयोग किया गया, उप-पदार्थों के नवीन उपयोगों की खोज की गई। परिणामतः उत्पादन में वृद्धि एवं साथ-साथ चलित्र की मात्रा में ह्रास उन तत्त्वों में से थे जो मूल्यों में होने वाली गिरावट का कारण था।

१९२० के पश्चात् स्वर्ण के उत्पादन में पुनः वृद्धि हुई[1] किन्तु अपरिवर्त-नीय पत्र-मुद्रा के निरन्तर चलन से मूल्य निर्धारण में स्वर्ण की पूर्ति पूर्वापेक्षा कम महत्त्वपूर्ण रह गयी। १९२५ में स्वर्णमान पुनः स्थापित कर दिया गया किन्तु स्वर्ण का बैंक आफ इङ्गलैंड से कुछ विशेष परिस्थितियों में ही (जिनका अन्यत्र उल्लेख कर दिया गया है) प्रत्याहरण हो सकता था एवं चलित्र का अधिकांश भाग व्यवहारतः अपरिवर्तनीय ही रहा। परिस्थितिवश १ सितम्बर १९३१ में स्वर्ण मान बन्द कर दिया गया।

दो युद्धों के बीच मूल्यों के महान् गिरावट के कुछ परिणामों पर विचार किया जा सकता है। वृत्ति-हीनता विशाल परिमाण में थी जो १९३९ में युद्धा-

१. १९३२ में विश्व की स्वर्ण की खानों में से निकाले गये स्वर्ण के साकल मूल्य का १०,००,००,००० पौंड (८४ शि० ११ पें० प्रति स्वच्छ औंस की दर से) अनुमान किया गया था।

रम्भ के उपरान्त भी समाप्त नहीं हुई। मूल्यों में गिरावट के साथ-साथ लागत में भी गिरावट न आने से उत्पादकों को बाध्य होकर अपने संस्थापनों के वैज्ञानिकीकरण अर्थात् पुनस्सङ्गठन, ऊपरी लागत में कमी, भृति में कमी तथा नवीन यन्त्रों के प्रयोग द्वारा अधिक सस्ते उत्पादन के प्रयत्न करने पड़े और इससे अधिक वत्तिहीनता हुई। युद्ध-काल में स्फीत भृति की तीव्र प्रतिक्रिया हुई तथा भृति में कमी से औद्योगिक अशान्ति हो गयी। मूल्यों में गिरावट का और प्रभाव राष्ट्रिय ऋण के वास्तविक भार में वृद्धि हुआ। करोड़ों पौंड उस समय उधार लिये गये थे जबकि एक पौंड उस समय की अपेक्षा बहुत कम क्रयशक्तिवान् था जब सामान्य मूल्य-स्तर गिर गया था। परिणामतः मूल्यों में गिरावट राजकीय प्रतिभूतियों के धारकों के बहुत हित में थी।[1]

१९३९-४५ के युद्ध-काल में सामान्य मूल्य-स्तर में पुनः वृद्धि हुई किन्तु विगत युद्ध के समान विशाल परिमाण में नहीं हुई। जीवन-यापन व्यय सूचनाङ्क जो सितम्बर १९३९ में युद्धारम्भ के समय (जुलाई १९१४ को १०० मानते हुए) १५५ था, बढ़कर १९४१ में १९६ तथा आगामी वर्ष २०० हो गया किन्तु युद्धान्त तक २०२ तथा १ जनवरी १९४७ तक २०४ हुआ। खाद्य की लागत में और भी कम वृद्धि हुई तथा युद्ध के अन्त तक सूचनाङ्क १६८ था। इसका कारण यह था कि खाद्यान्नों के फुटकर मूल्य प्रशासनिक आज्ञा से स्थायी कर दिये गये थे। खाद्य की वास्तविक लागत उत्पादकों एवं थोक विक्रेताओं को अत्यधिक राजकीय सहायता के अनुदान से प्रच्छन्न हो गयी।

---

१. कुछ वर्षों पूर्व फ्रांक के लगभग २ पेंस मूल्यन, इसके बाद आधे पेंस के लगभग और पुनर्मूल्यन तथा जनवरी १९४८ में फार्दिंग से स्वल्पाधिक मूल्य (१ पौंड स्टर्लिंग के ८६४ फ्रांक) पर स्थायीकरण से फ्रांसीसी ऋण के वास्तविक भार में कमी हो गई।

बत्तीसवाँ अध्याय

आगोप (बीमा)

यह सम्भव है कि मानवी क्रिया का कोई भी रूप हानि, क्षति अथवा सम्भाव्य दायित्व से मुक्त नहीं है। कोई मनुष्य जो सायंकाल भ्रमणार्थ निकले वह रात्रि के आगमन तक टाँग टूट जाने के कारण चिकित्सालय में हो सकता है। अथवा यदि वह शारीरिक क्षति से बच जाता है तो घर आने पर वह उसे प्रज्वलित पाता है। गली में बिना ध्यान रखे छोड़ी हुई मोटर अथवा साइकिल की चोरी हो सकती है अथवा वह किसी दुर्घटनाग्रस्त हो सकती है जिसका परिणाम अन्य पुरुष द्वारा बहुत बड़ा दावा हो सकता है। सैंकड़ों प्रकार से हानि का भय है। हानि-भय का निरसन नहीं किया जा सकता किन्तु इसके परिणाम का अल्पीकरण करने के उपाय किये जा सकते हैं। आधुनिक काल में एक बुद्धिमान मनुष्य के लिये अपने हानि-भय का भार आगोपक पर हस्तान्तरित करके महत्त्वपूर्ण आर्थिक हानि का निवारण अधिकाधिक सामान्य हो गया है।

आगोप इस सिद्धान्त पर आधारित है कि घटनाओं की वारंबारता का, जिनमें हानि, क्षति अथवा सम्भाव्य दायित्व सन्निहित है, मापन किया जा सकता है। ऐसा उन अवस्थाओं की विशाल संख्या को लेकर किया जाता है जिनमें विचाराधीन घटना घट सकती है तथा सम्बद्ध व्यय के साथ वास्तव में घटना होने की संख्या का निश्चय करके कुछ अंशों तक शुद्ध रूप से इसके घटने की सम्भावना का निश्चय किया जाता है। (स्पष्टतः सम्भाव्य घटनाओं की विचाराधीन संख्या जितनी अधिक होगी, हानि-भय का अनुमान उतना ही शुद्ध होगा)। यदि यह ज्ञात हो कि अनपेक्षित घटना होने की सम्भावना सहस्रांश है एवं यदि इस घटना से सौ पौंड की हानि हो तो यह अनुमान करना उचित प्रतीत होता है कि उन हजार मनुष्यों में से प्रत्येक, जिन पर यह जोखिम है, एक कोष में दो शिलिंग देने को उद्यत होगा जो मिलकर सौ पौण्ड हो जायगा तथा उस अभागे मनुष्य की जिसे वास्तव में क्षति हुई है इस धन से क्षति-पूर्ति हो जायगी। प्रत्येक मनुष्य जो इस प्रकार हानि-भय से आगोपित होता है, नगण्य-सी हानि (अधिशुल्क) उठाने को प्रस्तुत रहता है ताकि उसे भविष्य में अपरिमित सम्भाव्य हानि न उठाने का निश्चय हो जाय। उपर्युक्त उदाहरण वास्तव में अति

सरलीकृत है। व्यवहार में अधिशुल्क में कार्य-व्यय वहनार्थ एवं रक्षित कोष संचनार्थ कुछ और जोड़ा जाना चाहिये अतः अधिशुल्क निर्धारित करते समय कभी-कभी अन्य कारकों का भी ध्यान रखा जाता है। किन्तु अधिशुल्क की गणना का मुख्य आधार सांख्यिकीय सूचना होती है। आगोप इस प्रकार हानि-भय के विस्तरण से अधिक कुछ नहीं है।[1]

आगोप विविध प्रकार का होता है। समुद्र-आगोप समुद्रों में होने वाले पोतों एवं उनके माल का आगोप इटली के महान् बन्दरगाहों पर सम्भवतः चौदहवीं शताब्दी में ही होता था एवं एलिजाबेथ के समय या इससे भी पूर्व यह इस देश में सामान्य था। आँग्ल देश में अति प्रारम्भिक अग्नि आगोप कार्यालयों का सत्रहवीं शताब्दी के उतरार्द्ध में प्रारम्भ प्रतीत होता है। यद्यपि जीवन-आगोप के संविदे यदाकदा सोलहवीं एवं सत्रहवीं शताब्दियों में हुए प्रतीत होते हैं तथापि अठारहवीं शताब्दी तक इस प्रकार का आगोप व्यापक नहीं हुआ। उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दियों में जिसे दुर्घटना आगोप कहते हैं उसका विकास हुआ है। यह शब्द इतना व्यापक है कि इसमें व्यक्तिगत दुर्घटना (जिसमें रुग्णता एवं विशेष रोग सम्मिलित हैं), सन्धिभेद, नियोक्ता का दायित्व, मोटर, विश्वस्तता प्रत्याभूति एवं लोकदायित्व समाविष्ट हैं। वाष्पित्र, काचपट्ट तथा पशुधन का भी दुर्घटना आगोप किया जा सकता है।

उपर्युक्त कथन से यह विचार उत्पन्न हो सकता है कि ऐसा कोई हानि-भय नहीं है जिससे आगोप द्वारा रक्षण नहीं किया जा सकता यह वास्तव में सत्य नहीं है। ऐसी कई प्रकार की हानियाँ हैं जिनका कोई आगोप नहीं हो सकता। केवल भावात्मक मूल्य का आगोप नहीं हो सकता। हानि अथवा क्षति आर्थिक निर्धारणक्षम होनी चाहिये। मृत सन्तान का केशगुच्छ माता की सर्वाधिक मूल्यवान निधि हो सकता है जिसका त्याग करने को वह किसी अवस्था में प्रस्तुत न हो। तथापि उसका मौद्रिक मूल्य कुछ नहीं है, इसका

---

१. १६०१ के अधिनियम में हानि-भय-विस्तरण के निम्न लाभ दिए गए हैं—
यह अधिनियम बताता है कि जिस प्रकार किसी जहाज के गुम हो जाने अथवा तबाह हो जाने पर उसकी हानि किसी एक व्यक्ति विशेष पर न पड़ कर सभी व्यक्तियों पर पड़ती है, चाहे वे यात्रा करते हों अथवा न करते हों, उसी प्रकार इस अधिनियम का प्रभाव उन सभी व्यक्तियों पर होता है जो मुहिम करते हों या न करते हों। अतः यह अधिनियम सभी को, विशेषकर नवयुवकों को, स्वेच्छानुसार तथा स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने को प्रोत्साहित करता है।

मूल्य विशुद्ध भावनात्मक है अतः आगोप का विषय नहीं है। न ऐसी अस्पष्ट प्रकृति के क्षतिभयों का आगोप किया जा सकता है जिनकी सीमा निर्धारित करने का कोई साधन न हो। एक व्यवसायी को उसका भवन जल जाने से लाभ का हानि-भय होता है अतः इसका आगोप हो सकता है क्योंकि उसकी सामान्य लाभ-राशि का उसकी खाता बहियों से निश्चय हो सकता है एवं आग लगने की सम्भावना का पता प्रमण्डल में विद्यमान सांख्यिकीय प्रमाणों से लग सकता है। व्यापारी की शोभाचार में परिवर्तन, नवीन प्रतिद्वन्द्वी के उदय अथवा उन विदेशों में जहाँ वह वस्तुओं का निर्यात करने का अभ्यस्त है राजनीतिक अशान्ति के कारण व्यापार के उच्चावचनों से लाभ का हानि-भय हो सकता है किन्तु शोभाचार की अनिश्चितता, प्रतिद्वन्द्वी संगठनों के उदय की सम्भावनाओं अथवा यथा दक्षिणी अमेरिकी गणतंत्रों में, क्रांतिकारी आन्दोलनों की बारंबारता की कोई सांख्यिकीय सूचना विद्यमान नहीं होती तथा यह विषय इतने अस्पष्ट हैं कि कोई आगोप प्रमण्डल अथवा अभिगोपक हानि-भय की मात्रा के अनुमान से अधिक स्पष्ट अधिशुल्क नहीं बता सकता। व्यवहार में ऐसे क्षति-भयों का आगोपन नहीं होता क्योंकि ये उन सिद्धान्तों के अनुरूप नहीं होते जिन पर आगोप आधारित है।

आगोप व्यवसाय पर वैधानिक मर्यादाएँ भी हैं। कोई भी आगोप की सहायता से किसी अवैधानिक कार्य से लाभ नहीं उठा सकता। कोई मनुष्य जो सन्धिभेद करने का विचार कर रहा हो और पकड़े जाने का अनुभव करता हो अपने कारावास काल में अपनी पत्नी को साप्ताहिक धन-दान की व्यवस्था की दृष्टि से आगोप नहीं करा सकता। एक सिद्धदोष हत्यारे को जिसने पहिले अपने बलि के जीवन का आगोप करवा लिया है (जिसमें सम्भवतः उसका आगोप्य-हित होता है) अपने अपराध से लाभ नहीं हो सकता। (वास्तव में वह मृत्यु-दण्ड भोगने का भागी हो सकता है किन्तु वह प्रास्थगित हो जाता है एवं कारावास-दण्ड ही भोगता है तो भी मुक्ति के पश्चात् वह अपने बलि के सम्बन्ध में आगोपशोधन प्राप्ति से प्रतिषिद्ध रहेगा)।

आगोप की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मर्यादा आगोप्य-हित की अपेक्षा है। कोई भी आगोप-संविदा तब तक वैध नहीं जब तक वह व्यक्ति जिसके हित में आगोप किया जाता है उस घटना से हानि का भागी न हो जिसका आगोप किया गया है। यदि किसी मनुष्य को सम्पत्ति के नष्ट हो जाने, दायित्व के हो

जाने अथवा किसी अन्य व्यक्ति की मृत्यु के कारण हानि होती है तथा सम्पत्ति के रक्षण, दायित्व की अनुपस्थिति अथवा अन्य व्यक्ति के जीवित रहने से लाभ होता है तो वहाँ आगोप्य हित होता है। गृह-स्वामी को अपनी सम्पत्ति में आगोप्य-हित होता है क्योंकि इसके नष्ट हो जाने पर उसे हानि होती है, पत्नी को पति के जीवन में आगोप्य-हित होता है क्योंकि उसकी मृत्यु के पश्चात् वह उसे भविष्य में भरणपोषण नहीं प्रदान कर सकेगा एवं एक पौतिक को स्पष्टतः अपने पोत में आगोप्य-हित होना है। किन्तु कोई भी किसी अन्य पुरुष के गृह का अग्नि आगोप लेख प्राप्त नहीं कर सकता जिसमें उसका कोई हित न हो, न किसी अपरिचित का जीवन प्रगोप करवाया जा सकता है जिसकी मृत्यु से उसे कोई आर्थिक हानि नहीं हो, न किसी ऐसे पोत का सामुद्रिक आगोप लेख हो सकता है जो उसका न हो। ऐसे संविदे बाजी होंगे जिसमें प्रस्तावक आगोप प्रमण्डल से बाजी लगाता है कि अग्नि, मृत्यु या नौ-भंग होगा अतः शोधन बाध्य नहीं हो सकता।

सामुद्रिक आगोप जिसका उपर्युक्त कथनानुसार आरम्भ उत्तर-मध्यकाल में इटली के प्रमुख व्यापारिक नगरों में हुआ था आँग्ल देश में ट्यूडर काल में पूर्णतः स्थापित हो गया था। व्यापारी लुम्बार्ड स्ट्रीट में सामुद्रिक आगोप व्यवसाय के हेतु मिलते थे जहाँ इटेलियन अधिकोष गृहों के कार्यालय थे। आगोप के प्रतिबन्ध एवं निबंधन गोपलेख में सविवरण उल्लिखित नहीं होते थे तथा उन्हें "लुम्बार्ड स्ट्रीट व्यापारियों की प्रथाओं के अनुसार" समझा जाता था। ये प्रथायें व्यापार-विधि का भाग थीं जिसका पूर्ववर्ती अध्याय में निर्देश किया जा चुका है। व्यापार-विधि आँग्ल देश की विधि नहीं थी, वास्तव में यह किसी देश की विधि नहीं थी। यह वाणिज्य विषयों से सम्बद्ध एक प्रकार की अन्तराष्ट्रिय विधि थी जिसे किसी भी ईसाई देश में जहाँ व्यापारी व्यापार के हेतु एकत्रित होते थे, मान्यता थी तथा उस पर पत्र-व्यवहार किया जाता था। इङ्गलैंड में सामुद्रिक आगोपजनित मामले नावाधिकरण न्यायालय में प्रस्तुत किये जाते थे तथा व्यापारिक-विधि के, जिसके हेतु विचार के उभय पक्ष अभ्याह्वान करते थे, आँग्ल विधि का कोई भाग न होने के कारण न्यायालय विशेष मामलों में निःसंशय रूप से परामर्शकों के रूप में लुम्बार्ड स्ट्रीट व्यापारियों को बुला लेता था।

१७७५ में रायल एक्सचेंज में (जिसे सर थामस ग्रेशम ने अभी ही बनाया था) प्रागोप मण्डल स्थापित किया गया। सभी सामुद्रिक गोपलेखों का मण्डल से पंजीकरण करवाना आवश्यक था जिसके आयुक्त, जो मण्डल पर नियंत्रण रखते थे, विवादों के हल में विवाचन न्यायालय के रूप में काम करते थे। इसके परिणामस्वरूप उन अभियोगों की संख्या में कमी हो गयी जो नावाधिकरण न्यायालय में प्रस्तुत होते थे। तथापि यह प्रतीत होता था कि आयुक्तों की वैधानिक शक्तियां अपूर्ण थीं एवं उनके निर्णयों पर व्यवहार नहीं किया जा सकता था। १६०१ में एक परिनियम द्वारा उनकी शक्तियों को परिभाषित कर दिया गया तथा १६६२ में उन्हें अधिक सशक्त कर दिया गया।

सत्रहवीं शताब्दी के उतरार्द्ध से प्रगोपमण्डल के महत्त्व का ह्रास होने लगा। सामुद्रिक आगोप लेखों का इसमें सदैव पंजीकरण नहीं करवाया जाता था तथा मण्डल से बाहर व्यवसाय की प्रथा को अन्ततः वैधानिक मान्यता प्रदान कर दी गयी। इसके अतिरिक्त सामुद्रिक आगोप से सम्बद्ध व्यापारिक विधि के विशिष्ट लक्षणों को क्रमशः न्यायाधीशों के निर्णय द्वारा आंग्ल सामान्य विधि में समाविष्ट कर लिया गया तथा यह प्रक्रिया अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक चलती रही। आयुक्तों का विवाचन न्यायालय के रूप में कार्य कम महत्त्व-पूर्ण रह गया तथा विवाद सामान्य विधि-न्यायालयों के समक्ष प्रस्तुत किये जाने लगे। साथ ही अठारहवीं शताब्दी में आयुक्तों के न्यायालयों का लोप हो गया। १७२२ तक इनकी विद्यमानता का ज्ञान है तथा १७७४ के एक विवरण से परिलक्षित होता है कि इस काल तक इसका अवसान हो गया था।

१६६३ में लागोस की खाड़ी में फ्रांसीसी आक्रमण के परिणामस्वरूप स्मरना पोत के विध्वंस से अधिगोपकों को भारी हानि उठानी पड़ी जिनमें से कुछ अपने दायित्वों की पूर्ति नहीं कर सकते थे। इसके फलस्वरूप सामुद्रिक आगोप व्यवसाय के हेतु व्यक्तिगत अधिगोपकों की अपेक्षा अतिविशाल पूँजी वाले प्रमण्डल अथवा प्रमण्डलों की स्थापनार्थ आन्दोलन हुआ।[1] इस समय

---

१. यह अभिज्ञात होगा कि यह आन्दोलन व्यापार के सिद्धान्तों के अनुरूप था जो इस समय प्रचलित थे। स्वर्णकारों के अधिकोषण कार्यों का स्थान लेने को न होकर उनके पूरक के रूप में बैंक आफ इङ्गलैंड की स्थापना इसका समानान्तर रूप है।

कोई कार्यवाही नहीं की गई किन्तु १७२० में ११,५२,००० पौंड पूँजी वाले रायल एक्सचेंज ऐश्योरेंस तथा २०,००,००० पौंड जितनी विशाल पूँजी से लन्दन एक्सचेंज इन दो प्रमण्डलों को संसदीय अधिनियम द्वारा प्राधिकृत किया गया। १७२० के आर्थिक सन्निपात (दक्षिणी सामुद्रिक बुद्बुद) से इन प्रमण्डलों के अंशदाताओं को उतनी पूँजी की व्यवस्था करना असम्भव हो गया जितनी का उन्होंने वचन दिया था अतः प्रमण्डलों ने अपना कार्य सङ्कटों में प्रारम्भ किया। तथापि वे जीवित रहे एवं समृद्ध हो गये। उन्हें अन्य संयुक्त पूँजी प्रमण्डलों के विरुद्ध सामुद्रिक आगोप व्यवसाय में एकाधिकार प्राप्त था यद्यपि अधिगोपकों के एकल अथवा साझेदारी व्यवसाय के विरुद्ध ऐसा नहीं था। १७२१ में दोनों प्रमण्डलों को अनुपूरक शासपत्र मिल गये जिसने उन्हें सामुद्रिक आगोप के अतिरिक्त जीवन प्रगोप तथा अग्नि आगोप व्यवसाय करना प्राधिकृत कर दिया।

अठारहवीं शताब्दी में कॉफ़ी-गृहों में जो लन्दन के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन का विशिष्ट लक्षण थे बहुत व्यवसाय किया जाता था एवं अधिगोपक गण द्वारा सामुद्रिक आगोप व्यवसाय एडवर्ड लॉयड के कॉफी-गृह किया जाता था जो मूलतः टॉवर स्ट्रीट में था किन्तु एतद् पश्चात् लुम्बार्ड स्ट्रीट तथा एबचर्च लेन में था। १७३४ में लॉयड सूची का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया जिसमें पोतों के गमनागमन की सूचियाँ तथा व्यापारियों एवं अधिगोपकों को लाभप्रद समाचार होते थे। १७६९ में लायड्स ने पोप्स हैड़ ऐली में स्थानान्तर किया तथा दो वर्ष पश्चात् ही रॉयल एक्सचेंज में पट्टे पर कमरे ले लिये गये। यह संगठन अब लीडन हाल स्ट्रीट में लायड्स भवन में अपने ही भवन में अवस्थित है।

अधिगोपकों के व्यवसाय के अतिरिक्त उपर्युक्त दोनों प्रमण्डलों का एकाधिकार उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक चलता रहा। शताब्दी के प्रारम्भ में अन्य संस्थाओं के हेतु राजलेख प्राप्त करने को (जिसके हेतु संसद् के विशेष अधिनियमों की आवश्यकता थी) प्रयत्न किये गये। १८१० में ५० लाख पौंड जितनी पूँजी से सामुद्रिक आगोप व्यवसाय के हेतु एक प्रमण्डल स्थापित करने का प्रस्ताव किया गया। प्रवर्तकों का तर्क था कि दोनों विशेषाधिकृत प्रमण्डल आँग्ल व्यापारिक पोत के स्वल्पांश से अधिक का आगोप नहीं करते तथा

बहुत सा आगोप व्यवसाय अन्यत्र किया जाता है अतः यदि नवीन प्रमण्डल स्थापित हो जाय तो न केवल यह इस व्यवसाय का अधिकांश प्राप्त कर लेगा अपितु विदेशी आगोप के विशाल परिमाण को आकर्षित किया जा सकेगा। उसी वर्ष सामुद्रिक आगोप की स्थिति पर विचार करने के हेतु लोक-सदन की एक प्रवर-समिति नियुक्त की गयी। यह ज्ञात हुआ कि शासप्राप्त प्रमण्डल सामुद्रिक आगोप व्यवसाय का केवल चार प्रतिशत करते हैं एवं इनकी क्रियाएँ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अभिगोपकों के कार्यों से अधिक नहीं हैं। इसने इनके एकाधिकार समाप्त करने का प्रस्ताव किया किन्तु एतदुद्देश्यीय विधेयक लोक-सभा में १८११ में परास्त हो गया। १८२४ में ही १७२० का विधेयक विखण्डित किया गया।

दो विशेषाधिकृत प्रमण्डलों के एकाधिकार की समाप्ति के पश्चात् असंख्य प्रमण्डलों की स्थापना हुई जो सामुद्रिक आगोप का तथा अन्य सब प्रकार के आगोप व्यवसाय का विशिष्टीकरण करते थे। इन प्रमण्डलों द्वारा किये जाने वाले व्यवसाय की मात्रा अति विशाल थी तथा एक बार तो यह प्रतीत होने लगा था कि लॉयड्स का महत्त्व घट जायगा तथा अधिगोपकों की संख्या तब तक घटती रहेगी जब तक स्वल्पांश या कोई नहीं रह जायँगे। ऐसा एकाधिक कारणों से नहीं हुआ। प्रथमतः आगोप व्यवसाय के साकल परिमाण में ·· रन्तर वृद्धि होती रही (जिनमें से अधिकांश विदेशों से था) जिससे यह सबके लिए यथेष्ट था। इसके अतिरिक्त लॉयड्स को सुदीर्घ स्थापित सम्बन्धों का लाभ था, पौतिक संस्थाओं की, जिन्होंने पीढ़ियों से लॉयड्स के सदस्यों से सामुद्रिक आगोप व्यवसाय किया था, इसे नवीन स्थापित प्रमण्डलों को देने में रुचि नहीं थी। तीसरे, लॉयड्स के अधिगोपकों में से अधिकांश उत्साही मनुष्य थे जो संयुक्त-पूँजी प्रमण्डलों के समक्ष समर्पण को प्रस्तुत न थे एवं उन्होंने व्यवसाय के हेतु उत्साहपूर्वक प्रतिद्वन्द्विता की एवं अपने कार्यों के आगोप के सभी वर्गों तक व्यापक बनाकर इस स्पर्द्धा को अपने प्रतिद्वन्द्वियों के द्वार पर पहुँचा दिया।

लन्दन की १६६६ की महान् अग्नि के पश्चात् अग्नि से विनाश से घरों के आगोप की कई योजनाएँ बनाई गईं। इन योजनाओं में से एक लन्दन नगर के निगम ने प्रवर्त्तित की किन्तु इसका एक पूर्व-स्थापित निजी प्रमण्डल

ने इतना उग्र विरोध किया कि नगर परिषद् ने अपने प्रस्तावों का परित्याग कर दिया एवं अपने ग्राहकों को उनका अधिशुल्क लौटा दिया। जिस निजी प्रमंडल ने नगर-परिषद् का विरोध किया था वह फायर आफिस था। यह १६८० में स्थापित हुआ था एवं इसने बड़े समृद्ध व्यवसाय का निर्माण किया था तथा १७१२ में इसने अपना नाम फेनिक्स परिवर्तित कर लिया (यह स्पष्टतः अग्नि आगोप कार्यालय का सर्वाधिक उचित पद है।) उत्तर वर्षों में इसका ह्रास हो गया, इसकी अधिशुल्क आय दावों की पूर्ति में अपूर्ण रही तथा अठारहवीं शताब्दी के अन्त से पूर्व इसका लोप हो गया।[1] अन्य निजी प्रमण्डल—फ्रैंडली सोसायटी १६८३ में स्थापित किया गया एवं तृतीय हैंड-इन-हैंड १६६३ में स्थापित हुआ। इन प्रमण्डलों में अधिशुल्कों की दर तथा अध्यर्थन-पूर्ति की उनकी व्यवस्था में कुछ अंशों तक अन्तर थे किन्तु यह उल्लेखनीय है कि उनके काष्ठ-गृहों के शुल्क ईंट निर्मित गृहों से द्विगुणित थे। हैंड-इन-हैंड कार्यालय बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों तक चलता रहा जब यह कर्मशियल यूनियन में सम्मिलित हो गया।

इन सत्रहवीं शताब्दी के आगोप कार्यालयों ने अपने कार्यों को भवनों के आगोप तक सीमित रखा। साज-सामान तथा वहनीय वस्तुओं के आगोप का व्यवसाय अठारहवीं शताब्दी से आरम्भ हुआ। अन्य प्रमण्डल जो समय-समय पर स्थापित होते रहे दोनों—भवन तथा उसकी अन्तर्वस्तुओं का आगोप करने को प्रस्तुत रहते थे।

औद्योगिक क्रांति के कारण यन्त्रों तथा साज-सज्जा पूर्ण सहस्रों कारखानों की स्थापना हुई तथा भांडागारों का निर्माण किया गया जिनमें कच्चे माल तथा निर्मित वस्तुओं की विपुल राशि संचित होती थी। अग्नि आगोप की माँग अनिवार्यतः औद्योगिक विकास के साथ बढ़ी, बहुत से नवीन कार्यालय स्थापित हुए तथा अनुभव को दृष्टि में रखते हुए क्षति-भय का विस्तृत वर्गीकरण किया गया।[2]

---

१. इसे भ्रम से वर्तमानकालीन फोनिक्स नहीं समझना चाहिए।

२. समय-समय पर नवीन कारकों की उत्पत्ति के साथ हानि-भय के वर्गीकरण का संशोधन स्वाभाविक है जिसमें एक ओर अधिकाधिक अग्नि-भय तथा दूसरी ओर उसके निवारण अथवा शमन की विकसित पद्धतियाँ हैं।

जीवन प्रगोप सामुद्रिक, अग्नि तथा दुर्घटना आगोप से इस रूप में भिन्न है कि आगोपित घटना–मृत्यु निश्चय ही होगी। पोत बन्दरगाह पर सुरक्षित आ सकता है तथा सम्भवतः आ जाता है, अग्नि तथा दुर्घटना का होना असम्भाव्य है किन्तु जीवन प्रगोप का केवलमात्र अनिश्चित तत्त्व वह तिथि है जिस पर मृत्यु होगी। अधिशुल्क निर्धारित करने के हेतु जो आगोपक एवं आगोपित दोनों ही के लिए उचित हो विश्वस्त मृत्यु तालिकाओं का संकलन आवश्यक है। मृत्यु की विशाल संख्या पर विचार करके यह सुनिश्चयन सम्भव हो जाता हैं कि आयु के प्रत्येक वर्ष पर होने वाली मृत्यु की सम्भावना क्या है तथा लिंग-भेद नागरिक एवं ग्रामीण तथा विभिन्न व्यवसायों में लीन मनुष्यों के आधार पर भिन्न-भिन्न तालिकाओं का संकलन किया जा सकता है। अति प्राथमिक मृत्यु तालिकायें सत्रहवीं शताब्दी के अन्त के निकट एक ज्योतिषी एडमंड हेली ने संकलित की थीं एवं विगत शताब्दी काल में कई नवीन तालिकाएँ बनाई गईं।[1]

कुछ जीवन प्रगोप लेख, जो एलिजाबेथ के शासन-काल में लिये गए थे, सुरक्षित रखे गये हैं। वे आधुनिक जीवन प्रगोप लेखों से इस रूप में भिन्न थे कि वे केवल अल्पकाल—सामान्यतः एक वर्ष के लिए—होते थे। वर्ष के पश्चात् प्रगोप व्यपगत हो जाता था यदि उसका आगामी वर्ष के लिए अभिनवीकरण न करवाया जाय।[2] ऐसे प्रगोप आधुनिक जीवन प्रगोप की अपेक्षा अग्नि तथा

---

१. मृत्यु-तालिकाओं को सदैव के लिए उपयुक्त नहीं समझा जा सकता, उन्हें समय-समय पर संशोधित किया जाना चाहिए। चिकित्सा विज्ञान की प्रगति, बाल-मृत्यु में कमी तथा नगरों एवं ग्रामों में जीवनावस्था में सुधार वे कारण हैं जिनका दीर्घ जीवनकारी प्रभाव हुआ है।

२. वर्तमानकालीन जीवन प्रगोप लेख सम्भवतः व्यपगत हो सकता है यदि अधिशुल्क न दिया जाय। यद्यपि ऐसा बहुत कम होता है क्योंकि अधिकांश जीवन प्रगोप लेखों में अहरण उपबन्ध होता है। किन्तु आगोपक तथा आगोपित के मध्य केवल एक संविदा प्रति वर्ष चलता रहता है तथा आयु वृद्धि के साथ अधिशुल्क वृद्धि नहीं होती। किन्तु इन प्रारम्भिक गोप लेखों में प्रत्येक नवीकरण एक नवीन संविदे के रूप में होता था जिसके हेतु आयु में वृद्धि के कारण प्रत्येक अधिशुल्क मांगा जा सकता था।

दुर्घटना आगोप के अधिक सदृश थे। सामुद्रिक आगोप लेखों की भाँति जीवन प्रगोप लेखों का भी रायल एक्सचेन्ज में प्रगोपमण्डल में पंजीकरण करवाना पड़ता था तथा ऐसा प्रतीत होता है कि ये सामुद्रिक आगोप से निकटतः सम्बद्ध होंगे। अल्पकालीन जीवन प्रगोप लेख कभी-कभी ऋणशोधनार्थ (जिनका उपयोग विदेशी व्यापार में होता था) ऋणी की मृत्यु की अवस्था में प्रतिभूति के रूप में लिये जाते थे तथा भूमध्यसागर में व्यापार करने वाले पोताध्यक्षों का काँर्सेयर्स द्वारा बन्दीकरण तथा धन देकर छुड़वाने के हेतु रखे जाने से आगोपित करवाया जाना असामान्य नहीं था।

अठारहवीं शताब्दी तक भी सम्पूर्ण जीवन प्रगोप सामान्य नहीं हुआ। औद्योगिक क्रान्तिकालीन व्यापारी व निर्माता समाज के धनी एवं महत्त्वपूर्ण वर्ग में थे। उनका जीवन-स्तर ऐसा था कि यदि कुछ विशेष व्यवस्था न की गयी तो उनकी मृत्यु के पश्चात् उनका परिवार उसे बनाये नहीं रख सकते थे। ऐसे मनुष्यों को जीवन प्रगोप में विशेष आकर्षण था। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ऐसी असंख्य समितियों का निर्माण किया गया जिनके कोष में प्रत्येक मनुष्य नियमित अभिदान करता था तथा जिसमें से उसकी मृत्यु की अवस्था में उसकी विधवा स्त्री को एक धन-राशि मिलती थी जो अभिदत्त वर्षों की संख्या के अनुसार न्यूनाधिक होती थी। १७०६ में स्थापित एमीकेविल सोसायटी १७५७ तक इसी प्रकार चलायी जाती रही तथा इस काल तक इसके पास सदस्य की मृत्यु पर निश्चित न्यूनतम शोधन की प्रत्याभूति योग्य पुष्कल निधि संचित हो गयी थी।

१७५६ में स्थापित इक्वीटेबल सोसायटी ने "एक वर्ष अथवा आगोपित के कई वर्षों के आनुपातिक अधिशुल्क पर कुछ निश्चित वर्षों अथवा सम्पूर्ण जीवन" के आगोपन का प्रस्ताव किया (यदि आगोपक आठ वर्ष से छोटा अथवा सड़सठ वर्ष से बड़ा न हो)। आगामी वर्ष समिति की निगमन के राजलेख की प्रार्थना का एमीकेबल सोसायटी तथा साथ ही रॉयल एक्सचेन्ज एवं लन्दन एश्योरेंस ने भी विरोध किया। ये दो प्रमण्डल मुख्यतः सामुद्रिक आगोप से सम्बद्ध थे तथा इनका जीवन प्रगोप कार्य अल्पकालीन गोपलेखों के निर्गमन तक सीमित था। विरोध असफल हुआ तथा राजाज्ञा प्रदान नहीं की गयी

इससे पूर्व मृत्यु होने पर उस समय) पर एक निश्चित धन प्रदाय हो जाता है, गृह-क्रय से सम्बद्ध गोपलेख जिसके अन्तर्गत मनुष्य उस शेष दायित्व की समाप्ति की व्यवस्था करता है जो अपने गृह का मूल्य प्रभागों में शोधित करते हुए शोधन की समाप्ति से पूर्व मृत्यु के कारण रह जाता है तथा उस गोपलेख का उल्लेख किया जा सकता है जिसके अन्तर्गत इसके धारक की निर्धारित आयु होने पर उसके समक्ष एक साथ समस्त राशि अथवा शेष जीवन पर्यन्त निवृत्ति वेतन का विकल्प रखा जाता है।

औद्योगिक प्रगोप का भी विस्मरण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार का प्रगोप श्रमिकों को व्यापक हो गया है। जो मनुष्य सामान्य जीवन प्रगोप से सम्बद्ध विशाल वार्षिक अधिशुल्क प्रदान नहीं कर सकते वे आगोपित मनुष्य की मृत्यु के समय अन्त्येष्टि व्यय के हेतु यथेष्ट धन की प्राप्ति के हेतु (अधिकर्त्ता को जो इनके घर जाता है) कुछ पेंस साप्ताहिक अधिशुल्क प्रदान कर सकते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से पूर्व तक शारीरिक क्षति के आगोप का प्रारम्भ नहीं किया गया था। इस प्रकार का आगोप प्रारम्भ करने वाले प्रमण्डलों का सम्बन्ध विशेषतः रेल दुर्घटनाओं से था। यह मर्यादा दीर्घकाल तक नहीं रही तथा दुर्घटना आगोप प्रमण्डल किसी दुर्घटनात्मक कारण से न केवल मृत्यु अपितु शारीरिक क्षति का भी आगोप करते थे।

दुर्घटना आगोप के उन विविध रूपों का, जिनका गत सौ वर्षों में विकास हुआ है, विस्तृत वर्णन अनावश्यक है। सन्धि-भेद, गृह-भेदन, स्तेय अथवा चोरी से सम्पत्ति की हानि अथवा क्षति, अन्य पुरुषों की सम्पत्ति को क्षति अथवा दुर्घटनात्मक शारीरिक क्षति के वैधानिक दायित्व से सम्बद्ध सार्वजनिक दायित्व अथवा मोटर दुर्घटना, काचपट्टों के टूटने अथवा अन्य घटनाओं में अन्य पुरुष दायित्व के सम्बन्ध में गोपलेख प्राप्त किये जा सकते हैं।

एक प्रकार का आगोप विश्वस्तता प्रत्याभूति का होता है जो शारीरिक अथवा सम्पत्ति की क्षति से अति परे होते हुए भी दुर्घटना आगोप की श्रेणी में है। ऐसी स्थिति में होने वाले मनुष्यों को जिन्हें अपार विशाल धन-राशि में व्यवहार करना होता है, किसी मित्र को प्रत्याभूत बनने को प्रेरित करके अथवा आगोप प्रमण्डल की प्रतिभूति अपनी ईमानदारी की प्रतिभूति देनी हो सकती है। अधिशुल्क के बदले में प्रमण्डल उस समस्त धन-हानि की पूर्ति का दायित्व

लेता है जो उस मनुष्य की बेईमानी के कारण हो सकती है जिसकी विश्वस्तता की प्रतिभूति दी गई है।

१८२४ में १७२० के अधिनियम के विखण्डन के पश्चात् निर्मित कुछ प्रमण्डल महत्त्वपूर्ण हुए जिनके पास पूँजी एवं निधि की विशाल राशि थी एवं जो अपना व्यवसाय दृढ़ सिद्धान्तों पर चलाते थे जबकि अन्य इतने श्रेष्ठ नहीं चलते थे एवं, जैसा कभी-कभी होता था, यदि वे प्रस्तावित सुविधाओं के बदले असामान्य निम्न अधिशुल्क स्वीकार करने को उद्यत हो जाते थे तो यह स्पष्ट था कि वे अन्त में दिवालिये हो जायँगे। कुछ तो प्रारम्भ से ही निर्विवाद रूप से प्रतारक थे। यह सुविदित हो गया कि जनता के हेतु कुछ संरक्षण की प्रकल्पना करना आवश्यक था अतः एतदर्थ अधिनियम माला पारित की गई।

१८७० के जीवन प्रगोप प्रमण्डल अधिनियम के अन्तर्गत यह उपबन्धित किया गया कि जीवन-प्रगोप प्रारम्भ करने वाले प्रमण्डलों का व्यापार विभाग में २०,००० पौंड निक्षेप होना चाहिये। यह निक्षेप तब तक वापिस नहीं लौटाया जायगा जब तक प्रमण्डल की अधिशुल्क से सञ्चित जीवन प्रगोप निधि ४०,००० पौंड नहीं हो जाती। उन प्रमण्डलों को जीवन प्रगोप व्यवसाय के हेतु पृथक् निधि रखनी पड़ती थी जो जीवन प्रगोप के साथ अन्य प्रकार का आगोप व्यवसाय करते हों। खातों को विहित रूप में रखा एवं प्रकाशित किया जाना था जिससे उन सब व्यक्तियों को प्रमण्डल की वित्तीय स्थिति स्पष्ट हो जाय। जिनकी इनमें रुचि हो। नवीन प्रमण्डलों के हेतु प्रति पाँच वर्ष तथा विद्यमान प्रमण्डलों के लिए प्रति दस वर्ष में एक स्वतन्त्र जीवनांकिक से वित्तीय स्थिति का अन्वेषण कराया जाना था।

१९०९ में एक अत्यधिक व्यापक प्रगोप प्रमण्डल अधिनियम पारित किया गया जो (सामुद्रिक के अतिरिक्त) अधिकांश प्रकार के आगोपों से सम्बन्धित था। किये जाने वाले आगोप व्यवसाय के विभिन्न वर्गों के सम्बन्ध में २०,००० पौंड का पृथक् निक्षेप होता था (यद्यपि कुछ अपवाद एवं आपरिवर्तन स्वीकृत थे) तथा नियमानुसार निक्षेप प्रत्यावर्त्य नहीं था। प्रत्येक वर्ग के व्यवसाय के हेतु पृथक् निधि रखनी होती थी यद्यपि यह मान लिया गया था कि पृथक्

निधियों का पृथक् विनियोजन आवश्यक नहीं था।[1] अधिनियम में खाते रखने तथा चिट्ठा प्रस्तुत करने के विषय में तथा कई अन्य विषयों से सम्बद्ध और उपबन्ध थे। अधिनियम आगोप प्रमण्डलों पर लागू होता था किन्तु लॉयड्स या ऐसे ही अन्य मण्डलों के सदस्य अधिगोपकों पर लागू नहीं होता था जिनके स्थायित्व एवं विश्वसनीयता के संरक्षणार्थ विशेष नियम बनाये गये थे। १९०९ के अधिनियम के विस्तृत विनियमों के उपरान्त भी आगामी वर्षों में कई प्रमण्डल असफल रहे अतः कुछ संशोधित अधिनियम पारित किये गये।

सड़क यातायात अधिनियम १९३० ने उपबन्धित किया कि मोटर आगोप व्यवसाय के सम्बन्ध में पृथक् निक्षेप किया जाय।

आगोप के सम्बन्ध में लोक-रक्षणार्थ विधि को आगोप प्रमण्डल अधिनियम १९४६ द्वारा संशोधित एवं सुदृढ़ किया गया। अधिनियम अधिकतम संभव रूप में व्यापक था क्योंकि यह (सर्वप्रथम बार) सामुद्रिक एवं वायु आगोप सहित सभी प्रकार के प्रमुख आगोप व्यवसायों से सम्बद्ध था। इसके अन्तर्गत प्रत्येक आगोप प्रमण्डल की न्यूनतम ५०,००० पौं० परिदत्त पूँजी होना अपेक्षित था। इसने सम्पन्नता की कसौटी यह बनायी कि प्रमंडल की सम्पत्ति उसके दातव्य धन से ५०,००० पौं० अधिक अथवा अपने वार्षिक अधिशुल्क के दशमांश में से जो अधिक हो उसके बराबर होनी चाहिए। दीर्घ-काल से यह अनुभव किया जा रहा था कि सुरक्षात्मक दृष्टि से निक्षेप-प्रणाली असन्तोषप्रद एवं अपूर्ण थी तथा यह तब तक प्रभावोत्पादक नहीं हो सकती जब तक निक्षेप की मात्रा अत्यधिक नहीं बढ़ा दी जाय। साथ ही निक्षेप प्रणाली से पूँजी अवरुद्ध हो जाती है जिसका व्यवसाय के लाभार्थ उपयोग किया जा सकता है। क्योंकि अधिनियम में आगोप प्रमंडलों की सम्पन्नता का निश्चय करने के हेतु अन्य उपबन्ध बनाये गए थे अतः यह निश्चय किया गया कि नवीन प्रमंडलों से निक्षेप की अपेक्षा समाप्त कर दी जाय एवं विद्यमान प्रमंडलों को उसका परिहार स्वीकृत किया जाय। व्यापार विभाग को प्रगोप प्रमंडल (समापन) अधिनियम १९३३ एवं १९३५ के अन्तर्गत किसी प्रमण्डल

---

१. यह सुविधा अबुद्धिमत्तापूर्ण सिद्ध हुई क्योंकि पृथक् कोष रखने का लाभ पर्याप्त मात्रा तक कम हो गया।

की सम्पन्नता अथवा विपन्नता निश्चय करने के हेतु कुछ अधिकार पहिले ही प्राप्त थे तथा १९४६ के अधिनियम द्वारा इन अधिकारों को व्यापक बना दिया गया।

१८७० एवं १९४६ के अधिनियमों के बीच निकलने वाले शताब्दी के तीन चरणों में आगोप प्रमण्डलों के प्रति राज्य के दृष्टिकोण में उल्लेख्य परिवर्तन हुआ है। प्रथम अधिनियम आगोप व्यवसाय में निम्नतम हस्तक्षेप एवं उस प्रकार का विनियमन था जो उस समय प्रस्तुत किया जा सकता था जब राज्य निर्बाध सिद्धान्त प्रबलतर होता जा रहा था। यह आगोप के केवल एक वर्ग पर लागू होता था एवं इसके अन्तर्गत शासन अन्य किसी आगोप प्रमण्डल की न सम्पन्नता को प्रमाणित करता था न किसी असम्पन्न प्रमण्डल को व्यवसाय चालू रखने से रोकता ही था। इसका प्रयोजन प्रमण्डल के कार्यों के उतने ही अंश तक प्रकाशन से था जिससे जनसामान्य यह निर्णय कर सके कि उससे व्यवहार करना कहाँ तक उनके हित में होगा? १९४६ तक आर्थिक क्रियाओं के प्रति राजकीय नीति के रूप में राज्य निर्बाध नीति पूर्णतः अविश्वसनीय हो गई थी एवं उस वर्ष का प्रगोप प्रमण्डल अधिनियम न केवल लगभग सभी प्रकार के आगोप व्यवसाय पर लागू होता था किन्तु इसका प्रयोजन अधिकतम सम्भव निश्चय करना था कि आगोप व्यवसाय सम्पन्न होना चाहिए। इस प्रकार यह उन साधनों सम्बन्धी उपबन्धों तक सीमित न था जिनसे जन सामान्य आगोप सम्बन्धी निर्णय कर सकें अपितु इस प्रकार बनाया गया था कि उन्हें सर्वाधिक संरक्षण प्राप्त हो।

अर्वाचीन समय तक आगोप स्वैच्छिक था। मनुष्यों को अमुक प्रकार के क्षति-भय होते थे एवं उन्हें स्वयमेव निर्णय करना होता था कि वे वित्तीय हानि से आगोपित होंगे अथवा नहीं। अर्वाचीन वर्षों में अमुक क्षति-भयों का आगोप अनिवार्य हो गया है। कोयला खानों के राष्ट्रीयकरण से पूर्व उनके स्वामियों को कर्मकार प्रतिकर अधिनियमों के अन्तर्गत अपने दायित्व के सम्बन्ध में खनिकों का दुर्घटना आगोप अनिवार्य कर दिया गया था। वायुयान के स्वामी को भविष्य में यात्रियों अथवा अन्य व्यक्तियों का दुर्घटना आगोप करना होगा। इन अनिवार्य आगोपों में अन्य पुरुष मोटर आगोप सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। इसके अन्तर्गत मोटर यान के स्वामी को (कुछ अपवादों के अतिरिक्त) अपने यान से

किसी व्यक्ति की मृत्यु अथवा शारीरिक क्षति के सम्बन्ध में आगोप करना अनिवार्य है।

कभी-कभी ऐसा हुआ है कि जिनसे आगोप करवाया गया है उन प्रमण्डलों की असफलता के कारण अन्य पुरुष मोटर आगोप अपने उद्देश्यों की पूर्ति में असफल रहा है। आगोप प्रमण्डल की असफलता होते हुए भी वहित्र का स्वामी अन्य पुरुष को हुई किसी भी क्षति के लिए उत्तरदायी रहा है किन्तु यदि वह साधन सम्पन्न नहीं रहा है तो क्षतिग्रस्त मनुष्य को कोई क्षति-पूर्ति प्राप्त नहीं हुई है। यह अत्यधिक असम्भाव्य है कि बड़े प्रमण्डल असफल हो जायेंगे किन्तु अनिवार्य अन्य पुरुष मोटर आगोप के कुछ प्रथम वर्षों में ही पाँच छोटे प्रमण्डल असफल हो गये। आगोप प्रमण्डलों एवं अधिगोपकों ने इस कठिनाई का हल निकाल लिया। एक आगोपक मंडल का निर्माण किया गया जिसे सम्बद्ध हलों द्वारा इतना यथेष्ट धन प्रदान किया जाता था कि वह अप्रभावशाली आगोप अथवा आगोप न होने की स्थिति में क्षतिग्रस्त पक्षों को न्यायालयों द्वारा निर्णीत समस्त धन-राशि का शोधन कर दे।[1] इस प्रकार यदि दुर्घटना-ग्रस्त मनुष्य को मोटर के स्वामी अथवा उसके आगोप प्रमण्डल से क्षति-पूर्ति प्राप्त नहीं हो सकती तो वह आगोपक प्रमण्डल से प्राप्त कर सकता है (जो अब मोटर आगोपकालय कहलाता है)।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य आगोप एवं राष्ट्रीय वृत्तिहीनता आगोप १९११ में स्थापित किये गये। योजना में अधिकांश शारीरिक एवं कई अशारीरिक श्रमिकों को सम्मिलित कर लिया गया। नियोक्ताओं एवं श्रमिकों को अंशदान देना होता था तथा कुछ सहायता राज्य से भी मिल जाती थी। राष्ट्रीय आगोप का वास्तविक प्रबन्ध अधिकांशतः अनुमोदित समितियों के हाथों में था जिनमें से बहुत सी दीर्घ काल से सेवा करने वाली मैत्री समितियाँ थीं जो कई वर्षों से स्वैच्छिक रूप से अपने सदस्यों के हेतु अस्वस्थता आगोप योजनायें चला रही थीं। राष्ट्रीय आगोप की मौलिक योजना का विभिन्न क्षेत्रों में समय-समय पर प्रसार होता रहा एवं १९४६ में एक राष्ट्रीय आगोप अधिनियम पारित किया गया जिसके अन्तर्गत समस्त लाभ (रुग्णता, वृत्तिहीनता, मातृत्व, वृद्धावस्था, सेवा-निवृत्ति,

---

१. यह कैसल समिति के इस सुझाव के पश्चात् किया गया कि एक केन्द्रीय निधि की स्थापना की जानी चाहिए।

विधवा सेवानिवृत्ति, मृत्यु अनुदान एवं अन्य लाभ) ५ जुलाई १९४८ से व्यवहार में आने वाली एक ही योजना के अन्तर्गत ले लिये गये। इस योजना के अन्तर्गत सोलह से पैंसठ वर्षों के बीच की आयु वाले अधिकांश मनुष्यों के लिए अंशदान प्रदाय हैं यद्यपि सेवायोजित, स्वसेवायोजित, एवं वृत्तिहीन मनुष्यों तथा प्रत्येक वर्ग में दोनों लिंगों के लिए अंशदान की भिन्न-भिन्न दरें थीं। इस योजना का प्रशासन सीधा राष्ट्रीय आगोप मन्त्रालय द्वारा मुख्यतः एतदुद्देश्य से स्थापित स्थानीय कार्यालयों द्वारा होता था। अनुमोदित समितियाँ इस कार्य में राज्य से अब और सम्बद्ध नहीं हैं।

आँग्ल आगोप प्रमण्डलों के कार्य ग्रेट ब्रिटेन तक सीमित नहीं हैं। वे अन्य देशों से अग्नि, दुर्घटना तथा सामुद्रिक आगोप व्यवसाय बहुत अधिक मात्रा में करते हैं। जीवन प्रगोप क्षेत्र में वे विदेशों में इतने अधिक प्रसिद्ध नहीं हैं। यह विदेशी व्यवसाय रूस को छोड़ कर विश्व के प्रत्येक देश से सम्बन्धित है तथा यह उल्लेखनीय है कि इसका विशाल भाग संयुक्त राज्य से है। (लॉर्ड बूल्टन द्वारा) यह कहा गया है कि जीवन प्रगोप के अतिरिक्त अन्य विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में आँग्ल आगोप प्रमण्डलों को सोलह करोड़ पौं० अधिशुल्क प्राप्त होता है। इसमें से बहुत कुछ तो अध्यर्थनों के परिशोधनार्थ प्रदान कर दिया जाता है तथा सब अध्यर्थनों के परिशोधन के पश्चात् शेष धन राष्ट्र के अनभिलिखित निर्यात में महत्त्वपूर्ण अंशदान देता है।

तेतीसवाँ अध्याय

राज्य निर्बाध नीति का प्रचलन

कई सौ वर्षों तक सभी प्रकार की आर्थिक क्रियायें सर्वप्रथम स्थानीय एवं राष्ट्रीय भावना के विकास के साथ राष्ट्रीय नियन्त्रणाधीन थीं। उन सिद्धान्तों के अन्तर्गत आर्थिक क्रियाओं का निरीक्षण अठारहवीं शताब्दी तक (एवं कुछ रूप में उन्नीसवीं शताब्दी तक) निरन्तर रहा जो सामान्यतया व्यापारवाद शब्द के अन्तर्गत आते थे। अठारहवीं शताब्दी में नियन्त्रण की क्षमता में विश्वास-ह्रास हो गया एवं एडम स्मिथ की शिक्षाओं के प्रभावान्तर्गत "बाहुल्य नीति" ने "शक्ति नीति" का स्थान ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया। एक शताब्दी अथवा उससे भी अधिक समय तक ग्रेट ब्रिटेन की सामान्य आर्थिक नीति नकारात्मक प्रकृति की थी जो सामान्यतया राज्य निर्बाध नीति के नाम से प्रसिद्ध थी जिसका इन पृष्ठों में अनेक बार पूर्वोल्लेख किया जा चुका है।

कुछ दिशाओं में (केवल आर्थिक ही नहीं) राज्यनिर्बाध-सिद्धांत दी वैल्थ आफ नेशन्स (राष्ट्रों की सम्पत्ति) के प्रकाशन से अति पूर्व ही प्रचलित था। १६८९ में ही सहनशीलता अधिनियम का पारण राज्य द्वारा राष्ट्र के धर्म को नियन्त्रित करने की अपनी नीति के त्याग का सूचक था।[1] १६९५ में प्रकाशन पर से पत्रावेक्षण समाप्त कर दिया गया। १६८९ से १७६१ तक उदारवादी प्राधान्य में शिल्पकार परिनियम पर सामान्य व्यवहार समाप्त हो गया, अधिकार-प्राप्त प्रमण्डलों का विदेशी व्यापार में एकाधिकार समाप्त होने लगा एवं औपनिवेशिक व्यापार सम्बन्धी नियमों का कठोरता से पालन नहीं किया गया।

---

१. यह त्याग सम्पूर्ण नहीं था क्योंकि सहनशीलता न रोमन कैथोलिकों पर लागू होता था न ऐक्यवादियों पर जब कि भिन्न मतावलम्बी प्रोटेस्टेंटों पर अनर्हताएँ लागू रहीं जो लगभग दो शताब्दी तक पूर्णतया समाप्त नहीं की गयीं तथापि सहनशीलता अधिनियम इस विषय में राष्ट्रिय नीति के नवीन दिशा में परिवर्तन का चिह्न है।

राज्य निर्बाध नीति का दार्शनिक आधार यह कल्पना थी कि स्वतन्त्र बन्धनहीन प्रतियोगिता के प्रयोग से व्यक्ति को अधिकतम लाभ प्राप्त हो सकता था एवं यदि उन्हें अपने व्यवहार में नियन्त्रण एवं बंधन से मुक्त कर दिया जाय तो वे ऐसी कार्य-विधि अपनायेंगे जो उनके सर्वाधिक हित में हो। यह भी कल्पना की गयी कि प्रत्येक मनुष्य द्वारा अपने सर्वाधिक हितकारी कार्यों के अनुसरण का अनिवार्य परिणाम सम्पूर्ण समाज के अधिकतम लाभ के रूप में होगा। इस अनुमान की सत्यता को पूर्ण रूप से नहीं स्वीकार करना चाहिये, वास्तव में इसकी असत्यता इस परिलक्षण से स्पष्ट हो जाती है कि मुक्त एवं भयङ्कर प्रतिद्वन्द्विता पर आधारित समाज में जो एक मनुष्य के लिए हितकर है वह सामान्यतया अन्य व्यक्तियों के हितों में घातक होता है। इस प्रकार समाज को होने वाला साकल लाभ उनके सहयोग के परिणामस्वरूप प्राप्त लाभ से कम होता है।[1] किन्तु जब इस साध्य की सत्यता को स्वयंसिद्ध मान लिया गया तब आर्थिक क्रियाओं पर राजकीय नियन्त्रण की निरन्तरता को राष्ट्र के सच्चे हितों के प्रतिकूल समझा गया। राज्य का कर्त्तव्य तटस्थ हो जाना एवं आर्थिक हितों के संघर्ष में कोई भाग न लेना था, यह प्रत्याशित था कि राजकीय कार्यवाही कुछ प्रमुख कार्यों तथा बाह्य आक्रमण से राष्ट्र की रक्षा तथा आन्तरिक व्यवसाय की स्थापना तक ही सीमित रहेगी।

राज्य निर्बाध नीति इस सीमा तक ग्रेट ब्रिटेन में कभी प्रचलित नहीं थी किन्तु औद्योगिक क्रान्तिकालीन राजकीय नीति को सक्षम प्राचीन आँग्ल आर्थिक विचारधारा ने गम्भीर रूप से प्रभावित किया।[2] जब कारखानों का आविर्भाव हुआ उस समय उनके निर्माण एवं साज-सज्जा पर नियन्त्रण-हेतु कोई प्रयत्न नहीं किया गया एवं उनमें श्रमिकों की अवस्था पर कोई विनिमयन न था। काम

---

१. राज्यनिर्बाध दर्शन के इस दृष्टिकोण को वास्तव में व्यापारवाद की पुष्टि नहीं समझना चाहिये जिसकी इस पुस्तक में अन्यत्र आलोचना की जा चुकी है। न व्यापारवाद को सामाजिक संगठन का आदर्श आधारभूत माना जा सकता है न ही राज्य निर्बाध नीति को।

२. इस एवं आगामी कण्डिकाओं में निरूपित अधिकांश विषयों पर अन्य अध्यायों में विशद विवेचन किया गया है।

के घंटे, भृति, स्वास्थ्यकर परिस्थितियाँ, सुरक्षा एवं सुविधा ऐसे विषय थे जिन से राज्य अपना कोई सम्बन्ध नहीं समझता था। दोषों का अस्तित्व स्वीकार्य था किन्तु यह अनुभव किया जाता था कि औद्योगिक विकास की मन्थर गति के साथ ही इसका उपचार भी हो सकेगा। हस्तक्षेप स्वयमेव दोषपूर्ण होगा क्योंकि यह उत्पादक को अपने व्यवसाय के संचालन में बाधा डालने वाला होगा एवं यद्यपि यह आंग्ल देश के सभी कारखानों के स्वामियों पर समान रूप से प्रयुक्त हो सकेगा तथापि इससे उन्हें अन्य देशों के उद्योगपतियों के विरुद्ध प्रतियोगिता में अहित होगा। तथापि कालान्तर में यह मान लिया गया कि नियोक्ता की स्वतंत्रता का अर्थ श्रमिकों को दासता की ओर अग्रसर करने वाली परिस्थिति होगी क्योंकि सेवायोजन की शर्तों पर मोल-भाव करने में नियोक्ता एवं श्रमिकों की स्थिति समान नहीं थी। श्रमिकों के कुछ वर्गों को अपनी सेवायोजन की शर्तों को निश्चित करने के हेतु राजकीय संरक्षण की आवश्यकता थी अतः एक कारखाना अधिनियम की संहिता का प्रादुर्भाव हुआ। किन्तु कारखाना अधिनियम के क्रमिक प्रसार का सैद्धान्तिक आधार पर विरोध किया गया एवं दीर्घकाल तक यह अनुभव किया गया कि उन्हें इसके अतिरिक्त किसी आधार पर न्याय संगत नहीं माना जा सकता कि उनका प्रयोग केवल ऐसे वर्गों के हेतु ही होगा जो प्राकृतिक रूप से अपने स्वहित रक्षण में असमर्थ हों।

नगरों एवं ग्रामों की गृह-समस्या को भी इसी दृष्टिकोण से देखा गया। यह अनुभव किया गया कि श्रमिक वर्गों के हेतु गृह-व्यवस्था वैयक्तिक उपक्रम द्वारा लाभदायक परिकल्पन के रूप में ली जानी चाहिये। राज्य इसमें कोई भाग नहीं ले सकता था। राज्य स्वास्थ्य एवं स्वच्छता के हेतु नियमों के विविधान तक भी हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। अतः जिन गृहों का उस समय निर्माण किया गया उनमें स्थान, संवातन तथा स्वच्छता की न्यूनतम व्यवस्था थी एवं भाटक इतना अधिक मांगा जाता था कि वह निर्धन के शोषण का अधिकतम हो सकता था।

परिवहन के नूतन साधनों की व्यवस्था पर भी वही नियम प्रयुक्त होते थे। शुल्क पथ प्रन्यासों ने शुल्क सड़कों को बनाये रखा एवं निजी प्रमण्डलों ने नहरों का निर्माण किया, राज्य ने न सहायता दी न प्रतिबन्ध लगाया। यही

रेलों के निर्माण एवं संचालन के विषय में था । रेलों का लाभप्रद परिकल्पना के रूप में निर्माण करने वाले प्रमण्डलों के निर्माण में व्यक्तिगत पूँजी का विनियोग किया गया था । राज्य ने कार्य में कोई सहायता न दी एवं यद्यपि परिवहन के इस नवीन साधन के महत्त्व को दृष्टि में रखते हुए कुछ अंश तक राजकीय नियन्त्रण अपरिहार्य सिद्ध हुआ तथापि इसका द्विविधा एवं अत्यधिक अनिच्छापूर्वक धीरे-धीरे प्रयोग किया गया ।

१७९३ एवं १८१५ के मध्य दो अल्पकालिक मध्यान्तरों के अतिरिक्त ग्रेट ब्रिटेन फ्रांस से युद्धरत था। इस देश की युद्धकालीन परिस्थिति की संक्षिप्त रूप रेखा मात्र आवश्यक है । जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि हो रही थी एवं एक दीर्घकालीन युद्ध में जन-हानि को देखते हुए इसे उस समय सन्तोष-प्रद समझा गया । कृषि समृद्धिशाली स्थिति में थी, बाड़ाबन्दी सामान्य हो रही थी, नूतन पद्धतियों का प्रयोग हो रहा था एवं भोजन की अधिक प्रदाय की व्यवस्था की अनिवार्यता के कारण अब तक अनुर्वर भूमि भी कृष्ट हो गयी। अनाज का मूल्य बढ़ गया, कृषक समृद्ध हो गये, भाटक में वृद्धि हो गयी एवं भूस्वामी धनी हो गये । साथ ही साथ उद्योगों का विकास हो रहा था। जल शक्ति अथवा वाष्प-चालित यन्त्र सामान्य प्रयोग से आने लगे एवं सस्ती निर्मित वस्तुओं—विशेषकर वस्त्रों के उत्पादन में प्रति वर्ष वृद्धि होती रही । नैपोलियन के ग्रेट ब्रिटेन के निर्यात व्यापार को नष्ट करने के प्रयत्नों के उपरान्त भी इसी की तीव्रता वृद्धि से होती रही ।[1]

युद्ध के उतरार्द्ध काल में तस्कर व्यापार आरंभ होने वाले अंश के

---

१. नैपोलियन यह अनुभव करते हुए, कि उसका आँग्ल प्रतिरोध नौ-सैनिक शक्ति पर आधारित है एवं ग्रेट ब्रिटेन अपनी नौसेना का पोषण व्यापारिक लाभ में से करता है, इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यदि आंग्ल व्यापार नष्ट कर दिया जाय तो ग्रेट ब्रिटेन को अपनी नौ सेना में कमी करनी पड़ेगी ' उसका विचार था कि यदि आँग्ल निर्यात विभिन्न करा दिया जाय जबकि आयात बना रहे तो व्यापार-सन्तुलन ग्रेट ब्रिटेन के विपरीत होगा एवं उसकी स्थिति ऐसी आर्थिक संकटापन्न हो जायगी कि वह प्रसन्नतापूर्वक शान्ति के हेतु सन्धि कर लेगा ।

१८०६ में जब वह बर्लिन में था, उसने बर्लिन उद्घोषणा प्रकाशित की एवं आगामी वर्ष मिलान में उसने एक राजाज्ञा प्रकाशित की । इन घोषणाओं से महा

अतिरिक्त आंग्ल वस्तुओं के हेतु यूरोपीय बाजार बन्द हो गया एवं अनुज्ञा पत्र के अन्तर्गत आयात की आज्ञा हो गयी। तथापि नवीन बाजारों की खोज की गयी एवं आँग्ल उपनिवेशों तथा मध्य एवं दक्षिणी अमेरिका में स्थापित नवीन प्रजातन्त्रों से बृहद व्यापार स्थापित हो गया।

द्वीपीय पद्धति का आरम्भ हुआ। नैपोलियन ने आँग्ल द्वीपों को घेरे की स्थिति में होने की घोषणा की एवं फ्रांस तथा उसके मित्रराष्ट्रों का व्यापार इस देश से निषिद्ध कर दिया। उसने और आदेश दिया कि विश्चुला से एड्रियाटिक तक के सभी यूरोपीय बन्दरगाह आँग्ल जलयानों के हेतु निषिद्ध होंगे एवं सभी तटस्थ पोतों को जो आँग्ल बन्दरगाहों पर रुकते हुए महाद्वीप आवेंगे उन्हें उपहार के रूप में समपहृत कर लिया जायगा जिससे आँग्ल वस्तुएँ किसी तटस्थ ध्वज के संरक्षण में यूरोप न आने पावें। आँग्ल माल, जहां कहीं भी प्राप्त हो, नष्टकर दिया जाय। आँग्ल प्रत्युत्तर परिषद-देशों के रूप में थे जिनके अन्तर्गत फ्रांस एवं उसके मित्रराष्ट्रों के बन्दरगाहों को घेरे की स्थिति में घोषित कर दिया गया था। तटस्थ जलयानों का महाद्वीप जाना निषिद्ध कर दिया गया एवं उस मार्ग पर जाने वाले जलयानों को आँग्ल बन्दरगाहों की ओर मोड़ लिया जाता था। सारभूत शब्दों में नैपोलियन ने आदेश दिये कि महाद्वीप आँग्ल वस्तुओं का कथन करे एवं ग्रेट ब्रिटेन ने यह निश्चय किया कि यदि महाद्वीप आंग्ल वस्तुओं का क्रय नहीं करता तो वह किसी अन्य देश की वस्तुओं का भी क्रय नहीं कर सकता।

यह व्यापारिक युद्ध नैपोलियन के पतन तक चलता रहा। महाद्वीपीय पद्धति के कारण आँग्ल वस्तुओं के हेतु यूरोपीय बन्दरगाह बन्द होने से आँग्ल व्यापार को अति हानि हुई एवं यद्यपि ग्रेट ब्रिटेन के विरुद्ध घेरे को क्रियान्वित करने का कोई पोत नहीं था तथापि आँग्ल व्यापारिक नौवहन को निजी पोधकों की विशाल संख्या ने अति हानि की। किन्तु ग्रेट ब्रिटेन द्वारा महाद्वीप के प्रति घेरे से फ्रांसीसीयों एवं नैपोलियन के आधीन अन्य राज्यों की और भी अधिक हानि एवं कष्ट सहन करने पड़े। इस काल तक आँग्ल औद्योगिक सर्वोच्चता ऐसी स्थापित हो गयी थी कि महाद्वीप पर आँग्ल वस्तुओं की अत्यधिकता थी अतः अत्यधिक मात्रा में तस्कर व्यापार चलता था। नैपोलियन को विभिन्न प्रकार की आँग्ल वस्तुओं के आयात हेतु अनुज्ञा पत्र देने पड़ते थे। नैपोलियन की प्रारम्भिक विजयों का परिणाम नवीन प्रजा को समृद्धि एवं सुशासन के रूप में मिला। अब महाद्वीपीय पद्धति के कारण विशेषकर निम्न एवं अति मध्यम वर्ग को होने वाली कठिनाइयों ने उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न की एवं अति व्यापक रोष फैलाया जो उसके एवं उसके शासन के विरुद्ध घृणा के रूप में पनपा।

इस काल के आरम्भ में आँग्ल निर्यातों का वार्षिक मूल्य ३,२०,००,००० पौं० एवं अन्त में ५,८०,००,००० पौं० था।

राष्ट्रिय ऋण एवं करभार में वृद्धि के उपरान्त भी युद्धारंभ की अपेक्षा अन्त में राष्ट्र अधिक धनी था किन्तु इसकी सम्पत्ति का वितरण अति असमान था। वणिक एवं निर्माता, भूस्वामी एवं कृषक सम्पत्तिशाली हो गये। जन-सामान्य निर्धनता एवं निराश्रृतता तक की परिस्थिति में थे। देश में श्रमिक वर्गों को भत्ता-प्रणाली के व्यापक प्रयोग से जीवित मात्र रखा जाता था एवं कारखानों के नगरों में उस भृति के हेतु जिसे केवल क्षुद्र पारिश्रमिक माना जा सकता है लम्बे समय तक श्रान्ति एवं शक्ति-हीनता-जनक परिस्थितियों के अन्तर्गत कार्य करते थे। जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, कोई भवन विनियम प्रवर्तमान न थे एवं जो कुटीर कारखानों के श्रमिक दल के आवास के हेतु निर्मित हुए थे उनमें स्वास्थ्य एवं स्वच्छता रक्षणार्थ अति प्रारम्भिक अपेक्षाओं का अभाव था। दो अथवा तीन कोष्ठों वाली कुटीरों को पार्श्वानु पार्श्व एवं पृष्ठानुपृष्ठ आधार पर सँकरी अधम गलियों में संकुलित कर दिया गया था जो कालान्तर में निकृष्टतम मलिन बस्तियाँ बन गयीं। जलोत्सारण एवं जल प्रदाय अपूर्ण थे, संस्पर्शजनित रोग अति सामान्य थे। उच्च मृत्यु संख्या व्याप्त थी।

युद्ध के पश्चात् मन्दी आयी एवं उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक न्यूनाधिक अंश में चलती रही। महाद्वीपीय बाजार आँग्ल व्यापार के हेतु पुनः उन्मुक्त हो गये किन्तु यूरोपीय देश युद्ध से ऐसे आर्थिक श्रान्त हो गये थे कि वे आँग्ल वस्तुओं का क्रय करने में असमर्थ थे। देशीय माँग भी कम हो गई एवं उत्पादक अपनी उत्पत्ति का विक्रय करने में असमर्थ हो गये। कारखानों ने अपने उत्पादन में कमी कर दी, कुछ तो पूर्णतः बन्द हो गये शेष ने अल्पकाल कार्य करना प्रारम्भ किया। सेनाओं एवं शस्त्रागारों से मनुष्यों को सेवा-मुक्त कर दिया गया। जो उद्योगों में कार्य करने के इच्छुक थे जहाँ कर्मचारियों की पहिले ही छँटनी की जा रही थी। भृति कम हो गयी एवं वृत्तिहीनता की समस्या उत्पन्न हो गई जो एक पीढ़ी तक चलती रही।

कर-भार अधिक एवं राष्ट्रिय ऋण अभूतपूर्व स्तर पर था। आय-कर के परित्याग के कारण परोक्ष कर को उच्च स्तर पर बनाये रखना अनिवार्य

हो गया एवं कई सौ वस्तुओं पर अधिक आशुल्क सारिणी पर कठोरतापूर्वक पालन किया गया। इस प्रकार व्यापार के सामान्य प्रसार में बाधा पड़ी, एवं फुटकर मूल्यों में वृद्धि हो गई। अनाज अधिनियम से कृषकों के हितों को न्यूनतम लाभ हुआ जबकि रोटी का मूल्य उच्च स्तर पर होने के कारण निर्धनों को अधिकतम कठिनाइयाँ हो गईं। भत्ता-प्रणाली की निरन्तरता के कारण देश के सभी भागों में दारिद्रय शुल्क अधिक था। श्रमिकों पर सभी दिशाओं में विपरीत प्रभाव पड़ा। विशेषकर भोजन का मूल्य उच्च रहा[1] जबकि भृति कम थी एवं सेवायोजन अनिश्चित था।

पुनः समृद्धि की ओर प्रगति के कुछ लक्षण दृष्टिगोचर होने से पूर्व कुछ निकले। तथापि कुछ कारण आँग्ल देश के पक्ष में थे जिनने इसे अन्ततः मन्दी से समुत्थान योग्य बना दिया। यन्त्रों के व्यापक प्रयोग एवं श्रम के अल्प मूल्य के कारण अल्प मूल्य में निर्यात के हेतु निर्मित वस्तुओं का उत्पादन संभव हो गया। शान्ति स्थापना के कुछ वर्षों में ही चलित्र में स्थायित्व आ गया एवं अधिपत्र मुद्रा जो १८९७ के पश्चात् अपरिवर्तनीय हो गयी थी पुनः स्वर्ण में प्रदाय हो गयी। सम्पत्ति तथा आय पर कर-भार निम्नतम था अतः औद्योगिक विस्तार के हेतु पूँजी उपलब्ध हो गयी। यद्यपि कुछ अंशों तक सामाजिक एवं राजनीतिक असन्तोष विद्यमान था एवं प्रकट भी हो गया था तथापि यह कभी भी विद्यमान व्यवस्था की सुरक्षा को भयङ्कर सङ्कटपूर्ण परिस्थिति उत्पन्न कर देने वाले अंशों तक नहीं पहुँचा।

कई वर्षों तक श्रमिक वर्गों को समृद्धि के समुत्थान में से अंश प्राप्त नहीं हुआ। सम्पन्न व्यक्ति उनके भाग्य के प्रति उदासीन अथवा अज्ञानी नहीं थे किन्तु तत्कालीन प्रचलित आर्थिक सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए यह विचार था कि उनकी दशा में सुधार की आशा नहीं की जा सकती। भृति कोष सिद्धान्त में विश्वास यह प्रकट करता था कि भृति में सामान्य वृद्धि के सभी प्रयत्न असफल होंगे एवं जहाँ तक वर्गीय वृद्धि का प्रश्न है उसकी प्राप्ति किसी अन्य वर्ग के हितों में बाधा डालकर रही होगी। जनसंख्या पर माल्थस

---

१. यद्यपि १८२०-४९ का युग मूल्यों की गिरावट का युग था तथापि खाद्यान्नों के मूल्य में न्यूनतम गिरावट आयी थी।

द्वारा प्रतिपादित एवं कालान्तर में सामान्य रूप से स्वीकृत विचार इस प्रकार के थे कि वे सामान्य जीवन-स्तर के विकास के किसी भी प्रयत्न को निरुत्साहित करते थे। यह धारणा बन गयी थी कि मनुष्यों की सुविधाओं में वृद्धि एवं समक्ष आने वाली कठिनाइयों में कमी से जन-सख्या में वृद्धि होगी। जन-संख्या की वृद्धि से सेवा-योजन में प्रतिस्पर्द्धा बढ़ेगी एवं श्रमिकों की संख्या जितनी अधिक होगी उतना ही भृति कोष में उनका भाग कम होगा जिसके वे अधिकारी हैं। ऐसे उदार व्यक्ति जो कष्टों से मुक्ति दिलाते थे इस विचार से हिचकिचाने में बाध्य हो जाते थे कि उनकी विद्यमान स्थिति में किसी भी प्रकार के सुधार से ऐसी स्थिति में प्रत्यावर्तन हो जायगा जो पहिले से निकृष्टतर हो सकती है।

तथापि श्रमिक वर्गों की स्थिति विचारशील मनुष्यों के मस्तिष्क में उद्विग्नता-कारक थी। इनमें से अधिकांश जो इस बात से आश्वस्त थे कि राज्य निर्बाध-नीति सैद्धान्तिक रूप से शुद्ध है तथा श्रमिकों के हेतु राज्य के क्रियाशील हस्तक्षेप के परिणाम भयङ्कर होने के अतिरिक्त अन्य नहीं हो सकते वे यह अनुभव करते थे कि तत्कालीन विद्यमान स्थिति अत्यन्त असन्तोषपूर्ण थी। उनमें से कुछ के विचारानुसार यह राज्य निर्बाध सिद्धान्त के प्रयोग के कारण नहीं थी किन्तु उनके प्रयोग की अपूर्णता के कारण थी जो दोषपूर्ण था अतः आर्थिक क्रियाओं की जिन दिशाओं में अब भी राष्ट्रिय विनियमन विद्यमान था उसकी समाप्ति के हेतु एक आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। १८२४-२५ में संयोजन नियमों में शैथिल्य, १८२५ में यन्त्रों के निर्यात एवं उत्पादन पर से प्रतिबन्ध की समाप्ति तथा १८३४ में भत्ता-प्रणाली का उन्मूलन उन्हीं व्यक्तियों के पक्ष-पोषण के फलस्वरूप हुआ जो इस विचारधारा वाले थे। हस्किस्सन ने इसी कारण आयात-निर्यात शुल्क में कमी कर दी। इसी प्रकार नौ-वहन नियमों को शिथिल एवं अन्ततः विखण्डित कर दिया गया। उन्मुक्त व्यापार के प्रारम्भ के हेतु महान् आन्दोलन जो १८४२ से १८६१ तक चला एवं जिनमें अनाज अधिनियमों का विखण्डन सम्मिलित था राज्य निर्बाध नीति के सिद्धान्तों के प्रयोग की पूर्णता एवं विजय का द्योतक है।

आर्थिक क्रियाओं पर राजकीय नियन्त्रण के सम्पूर्ण उन्मूलन के हेतु आन्दोलन के साथ ही साथ लार्ड एशले (पश्चात् अर्ल आफ शैफ्ट्सबरी) के नेतृत्व में

एक मानवतावादी दल का विकास हो रहा था। इनका उच्च चरित्र अति विश्वस्त था एवं इनकी अभिजात्य स्थिति एवं अति समृद्धि उन सब शंकाओं का निवारण करती थी कि इनकी रुचि सामाजिक समस्याओं के प्रति केवल उच्चतम आदर्शों से प्रेरित थी। मानवतावादी उस निष्कर्ष को चुनौती देने के हेतु कटिबद्ध थे जो विद्यमान आर्थिक दृष्टिकोणों से निकाला गया था। उनका कहना था कि सामाजिक परिस्थितियों में सुधार के हेतु प्रयत्न किये जाने चाहियें। सुधार के हेतु उस समय किये गए प्रयत्न भीरु एवं अन्वीक्षात्मक थे इस कारण दूरगामी परिवर्तनों के अधीर पक्षपातियों ने उनकी समालोचना की। किन्तु अन्ततः सुधार के प्रयत्न मात्र ही साहसपूर्ण थे। धीरे-धीरे शीघ्रता करना अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण था। सुधार अन्धकार में कदम रखना था एवं यदि कदम अधिक महत्त्वपूर्ण न हो तो अर्थशास्त्रियों द्वारा पूर्व सूचित दुष्परिणाम निकलने पर प्रत्याकर्षण सम्भव था।

१८३३ से १८५० के मध्य कई कारखाना अधिनियम पारित किये गये जिसका प्रभाव वस्त्र कारखानों के श्रमिकों की परिस्थिति के विनियमन का क्रियाकार स्थापित करना एवं एतद्‌पश्चात् शताब्दी में अन्य व्यवसायों में इसके विस्तार की नींव डालना था। १८४२ में खनन व्यवसाय में व्याप्त परिस्थितियाँ भी इसके अन्तर्गत आ गयीं। १८३३ में कारखानों एवं १८५० में खानों से विधि पालन करवाने के हेतु निरीक्षकों की नियुक्ति की गयी। शिक्षा को, जो अब तक पूर्णतः निजी एवं पूर्त्त उपक्रमों पर आश्रित थी, राज्य से १८३३ में शाला भवन निर्माण के हेतु २०,००० पौं० वार्षिक अनुदान की स्थापना के रूप में कुछ अल्प प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। १८३९ में वृद्धि करके इसे ३०,००० पौं० कर दिया गया, एवं इन प्रतिष्ठानों द्वारा प्राप्त दक्षता की जाँच करके विवरण प्रस्तुत करने को शिक्षणालय निरीक्षकों की नियुक्तियाँ की गयीं। १८४८ में यथा आवश्यकता स्थानीय स्वास्थ्यमण्डलों की स्थापना के अधिकार के साथ केन्द्रिय स्वास्थ्यमण्डल की स्थापना की गई। इन स्थानीय मण्डलों को अभाव वाले स्थानों पर एक दक्ष जल प्रदाय एवं जलोत्सरण नालियों की व्यवस्था करने को कदम उठाना था। जनसामान्य के स्वास्थ्य पर इस क्रियाकार से अति विचारणीय प्रभाव हुआ। इसके एवं इसके पश्चात् अन्य लोकस्वास्थ्य विधेयकों के परिणामस्वरूप मृत्यु संख्या तेजी से घट गई है एवं यह

दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े बिना नगरों में विशाल परिमाण में मनुष्यों की साथ-साथ रहने की समस्या हल हो गई है।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक आर्थिक मन्दी का सुदीर्घ काल निश्चित रूप से समाप्त हो गया था एवं महान् समृद्धि का युग प्रारम्भ हो गया था। प्राचीन अर्थशास्त्र के प्रतिपादकों की अन्धकारपूर्ण प्रत्याशाएँ सफलीभूत नहीं हुईं। निर्धनों की स्थिति के स्तर में वृद्धि के सकारात्मक प्रयत्नों का परिणाम परिस्थिति की अधिक विषमता में नहीं हुआ। वृत्तिहीनता की मात्रा में विचारणीय कमी हो गयी थी। रेलों के निर्माण एवं एतद्पश्चात् कार्य ने सहस्रों मनुष्यों को रेलों पर ही तथा लौह, कोयला, यन्त्र एवं अन्य व्यवसायों में वृत्ति की व्यवस्था की जो रेलों की आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बद्ध थे। यद्यपि आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में विकास सामान्यतः राज्य निर्बाध दर्शन की श्रेष्ठता का प्रतिसमर्थन समझा जाता था तथापि मानवतावादियों का दावा था कि उनकी सामाजिक दुष्प्रथाओं के हल की सफलता राज्य को भविष्य में और भी कार्य करने को आह्वान करने का औचित्य प्रकट करेगी एवं ऐसी राजकीय कार्यवाही राष्ट्रीय समृद्धि से असम्बद्ध नहीं होगी।

उन्नीसवीं शताब्दी का तृतीय चरण जिसका पूर्व पृष्ठों में आँग्ल कृषि के स्वर्ण-काल के रूप में अवलोकन किया जा चुका है, आँग्ल उद्योग एवं व्यापार का भी स्वर्ण-युग था। कैलीफोर्निया एवं आस्ट्रेलिया में स्वर्ण की खोज से मूल्यों के सामान्य स्तर में वृद्धि हुई जिसने व्यापार एवं व्यवसाय को प्रोत्साहित किया। इस काल में जलीय एवं स्थलीय यान्त्रिक परिवहन के विकास के कारण विनिमय में सुविधाएँ उत्पन्न हो गईं। उद्योग के कुछ क्षेत्रों में ग्रेट ब्रिटेन न केवल सर्वप्रमुख था अपितु उसने उत्पादन पर एकाधिकार कर लिया था। वह १८५४ से १८५६ तक क्रीमियन युद्ध में लगा रहा किन्तु इसके अतिरिक्त उसका केवल लघु युद्धों से सम्बन्ध था जबकि यूरोप के राष्ट्रों में से कुछ का ध्यान मुख्यतः युद्ध की ओर था। बिस्मार्क के युद्ध १८६४ से १८७१ के मध्य हुए जिनका उद्देश्य जर्मन साम्राज्य की स्थापना करना था। फ्रांस नैपोलियन तृतीय के शासन में बहुत से सैन्य अभियानों में लीन था तथा इटली उस संघर्ष में रत था जिसका अंतिम परिणाम इसका पूर्णतः एकीकरण हुआ। अन्य देश अपनी आर्थिक प्रणालियों को ग्राह्य विविध रूपों की रचना करने में

लीन थे। मुक्तिदाता ज़ार एलेक्जेण्डर द्वितीय के शासन में रूस ने अपने भूसक्त दासों को मुक्ति प्रदान की। इस प्रक्रिया से उसकी कृषि-पद्धति में आमूलचूल पुनर्संगठन अनिवार्य हो गया। अब्राहम लिंकन के नेतृत्व में संयुक्त राज्य ने अपने दासों की मुक्ति का संकल्प किया। यह एक ऐसा आन्दोलन था जो गृह-युद्ध के पश्चात् ही पूर्ण हो सका जिसमें यह निर्णय करना था कि संघ परस्पर संगठित रहेगा अथवा नहीं। अपने व्यापार एवं व्यवसाय की अभिवृद्धि करने तथा विश्व के प्रत्येक भाग से व्यापारिक सम्पर्क स्थापित करने के हेतु ग्रेट ब्रिटेन उन परिस्थितियों का लाभ उठाने की स्थिति में था जिसने उनके प्रतिद्वन्द्वियों का ध्यानान्तरण कर दिया था। इस काल में ग्रेट ब्रिटेन की समृद्धि पूर्व सुस्थापित दृष्टिकोण का समर्थन करती प्रतीत होती थी कि निरंतर समृद्धि का रहस्य राज्य निर्बाध नीति के सिद्धान्तों पर व्यवहार में निहित था।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में समृद्धि के पश्चात् मन्दी आयी। परिवर्तन आकस्मिक हुआ एवं मंदी व्यापक हो गयी। १८७३ से १८८६ के मध्य निकृष्टतम प्रभावों का अनुभव हुआ। १८८६ के पश्चात् कुछ सुधार अवलोकनीय हुए, किन्तु शताब्दी के लगभग अन्त तक ऐसा नहीं हुआ जिससे प्रतीत हो कि महान् मंदी समाप्त हो गयी। कृषि में महान् मंदी का वर्णन अन्य अध्याय में किया जा चुका है एवं उसका और उल्लेख अनावश्यक है। किन्तु कुछ ऐसे कारक अवलोकनीय हैं जिनने उद्योग एवं व्यापार में मन्दी में योग दिया।

जर्मनी, फ्रांस एवं संयुक्त राज्यों में होने वाले चलित्र परिवर्तनों ने, जिनका अन्यत्र उल्लेख किया जा चुका है, मूल्यों के अत्यधिक ह्रास में सहायता प्रदान की जिसका सभी प्रकार की कृषि, व्यापारिक एवं औद्योगिक क्रियाओं पर प्रतिकूल प्रभाव हुआ। दक्षिणी अफ्रीका में निम्न श्रेणी के सलाभ खनन की सम्भावनाओं के अन्वेषण का परिणाम शताब्दी के अन्तकाल में इस स्रोत से स्वर्ण के विशाल प्रदाय के उत्पादन में हुआ। इससे अन्ततः उपरोक्त देशों की मुद्रा-नीति के विपरीत प्रभावों का सन्तुलन हो गया।

यूरोप महाद्वीप में उन्नीसवीं शताब्दी का अन्तिम चरण सामान्यतः शांतिपूर्ण था अतः राष्ट्रों ने औद्योगिक प्रसार की ओर ध्यान दिया। यह स्थिति विशेषतः नवनिर्मित जर्मन साम्राज्य की थी जिसमें जर्मन उद्योग एवं व्यापार

की वृद्धि के हेतु महान् कार्य किये गये थे । इस विकास में राज्य निर्बाध दर्शन को कोई स्थान न था क्योंकि उद्योग एवं व्यवसाय को राज्याश्रय प्राप्त था। १८७९ में जर्मनी ने उच्च संरक्षण की नीति का श्रीगणेश किया तथा उदाहरण का अन्य देशों ने अनुसरण किया जो फलतः ब्रिटिश व्यापार के प्रतिकूल रही ।

इस काल में पोतवहन व्यवसाय में मन्दी का वर्णन अन्य अध्याय में किया जा चुका है किन्तु इसके कारणों का संक्षेप में पुनरावर्तन किया जा सकता है । कई प्रकार के प्रभावशाली प्लवित नौप्रवर्त में वृद्धि हुई । स्वेज़ नहर के खुल जाने से पूर्व के व्यापारिक मार्ग छोटे हो गये एवं पूर्व काल में जितना समय पोत एक यात्रा में लेते थे उतने ही समय में वे दो अथवा तीन यात्राएँ कर सकते थे। वाष्प-पोत जो व्यापक प्रयोग में आ रहे थे, उन दुर्घटनाओं अथवा विलम्बों के प्रभाव से मुक्त थे जो वायुपोतों के समक्ष होते थे । उनकी यात्राओं का अति परिशुद्धता से काल विनियमन किया जा सकता था । ये वायु-पोतों की अपेक्षा विशाल थे, अधिक भार वहन करते थे एवं उनका प्रयोग अधिक मितव्ययतापूर्ण था। पोतों के निर्माण में लौह के स्थान पर इस्पात एवं नवीन प्रकार के नौ गन्त्रों के विकास ने नवनिर्मित पोतों की भार-वहन क्षमता में वृद्धि की। कुछ वर्षों तक महासागरों पर नौ-वहन की मात्रा विश्व व्यापार की आवश्यकताओं की अपेक्षा बहुत अधिक थी। भाटकों का स्तर इतना निम्न हो गया कि पोत को कार्यशील रखना मात्र ही लाभप्रद रहा एवं बहुत से प्राचीन पोतों को रद्द कर दिया गया । इसका ग्रेट ब्रिटेन की समृद्धि पर गम्भीर प्रभाव पड़ा, क्योंकि उसके अनमिलिखित निर्यात का विचारणीय भाग विश्व के सभी भागों में उसके पोतवहन के उपयोग के फलस्वरूप प्राप्त भाटक के कारण था ।

इस्पात के उत्पादन में प्रौद्योगिक परिवर्तनों का भी, जिनका वर्णन अन्य अध्याय में किया गया है, ग्रेट ब्रिटेन पर विपरीत प्रभाव पड़ा । लौह-उद्योग में विशाल परिमाण में पूँजी का विनियोग किया गया था एवं इसमें से अधिकांश को रद्द कर देना पड़ा । जब इस्पात के निर्माण की अपिधम विधि का आविष्कार हुआ। उद्योग का अति हानि उठाकर पुनर्संगठन किया गया एवं क्योंकि भास्विकेतर खनिजों का आयात करना आवश्यक था, इसे उपयुक्त खनिज़ के

बाहुल्य का लाभ और आगे नहीं रहा। इसका लौह-उत्पादन पर भी एकाधिकार न रह गया जिसका इसने शताब्दी के आरम्भ में उपयोग किया था। पैठिक इस्पात निर्माण की गिल क्राइस्ट थॉमस पद्धति की खोज के पश्चात् इसे लॉरेन के ऋजु पलाइम खनिज पर आधारित जर्मन इस्पात उद्योग एवं संयुक्त राज्यों के विकासोन्मुख इस्पात उद्योग की प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ा। इसके अतिरिक्त इस्पात लौह की अपेक्षा अधिक टिकाऊ था। इस्पात पोत, इस्पात रेल-पथ एवं इस्पात सगन्त्र लौह निर्मितों की अपेक्षा अधिक समय तक चलते थे तथा प्रतिस्थापन की माँग भी कम थी। साथ ही ग्रेट ब्रिटेन के प्रतिद्वन्दियों को पूँजी के अपव्यय का सामना नहीं करना पड़ा जो ब्रिटिश उद्योग को पुनर्गठन के समय हुआ था। वे ब्रिटेन से समान स्तर पर प्रतिद्वन्दिता में भाग लेने योग्य हो गये।

उद्योगों एवं व्यवसायों में आने वाली मन्दी के कारणों पर विचार-विनिमय करने एवं उपाय सुझाने के हेतु राजकीय आयोगों, संसदीय समितियों, व्यापारियों, श्रम-संगठन अधिकारियों, नौ-वहन विशेषज्ञों एवं अर्थशास्त्रियों के सम्मेलनों की समय-समय पर स्थापना की जाती रही। यहाँ उन सब पर विचार करना आवश्यक नहीं है जो उपरिव्यय को कम करने, उत्पादन की पद्धतियों का पुनर्नवन करने, भृति में कमी करने तथा द्विधातु चलित्र प्रणाली स्थापित करने को प्रस्तावित किये गये थे, जिससे मन्दी को अभिभूत किया जा सके एवं देश में समृद्धि पुनर्स्थापित हो सके। किन्तु राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्री तथा उसी प्रकार व्यवसायी यह स्पष्टतः अवलोकन कर सकते थे कि ग्रेट ब्रिटेन द्वारा अपनायी गयी राज्य निर्बाध-नीति उसके प्रतिद्वन्दियों में संस्तवनीय नहीं थी। अन्य देशों में राज्य विभिन्न प्रकार से आर्थिक क्रियाओं में सहायता प्रदान करता था। यह तर्क दिया जाता था कि जो जर्मनी तथा संयुक्त राज्य के लिये श्रेष्ठ है वह ग्रेट ब्रिटेन के लिये निकृष्ट नहीं हो सकता। इस भावना का प्रसार हो रहा था कि जो जर्मन साम्राज्य शासन जर्मन उद्योग एवं व्यापार के लिये कर रहा है वही आँग्ल शासन को उद्योग एवं व्यापार के हेतु करना चाहिये। आँग्ल राजनयिकों ने इस दृष्टिकोण को प्रथम बार ही में नहीं स्वीकार कर लिया तथापि राज्य निर्बाध नीति का अन्त समीप था।

चौंतीसवाँ अध्याय

राज्य निर्बाध नीति का पतन

यह पहिले ही उल्लेख किया जा चुका है कि औद्योगिक क्रान्ति काल में तथा इसके पश्चात् कई वर्षों तक ग्रेट ब्रिटेन के आर्थिक विकास पर व्यापारियों, उत्पादकों, अर्थशास्त्रियों तथा राजनयिकों में आर्थिक क्रियाओं के शासकीय विनियमन के महत्त्व पर सामान्य अविश्वास रहा है। १७६३-१८१५ के फ्रांसीसी युद्धों के पश्चात् आने वाली मन्दी से ग्रेट ब्रिटेन का समुत्थान एवं समृद्धि सामान्यतया आँग्ल राजनयिकों की उस विषय में हस्तक्षेप न करने की बुद्धिमत्ता को समारोप्य है जो उनसे संबद्ध नहीं समझे जाते। किन्तु यह सुखद दृष्टिकोण उस मन्दी के कारण भङ्ग हो गया जो शताब्दी के अन्तिम वर्षों की विशिष्टता रही है अतः कुछ व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आर्थिक नीति की विद्यमान धारणाओं में संशोधन किया जाना चाहिये। अन्य देशों में राजकीय सहायता तथा प्रोत्साहन से उद्योग एवं व्यापार का प्रसार हो रहा था अतः यह अनुभव किया गया कि आँग्ल व्यापारियों तथा उत्पादकों की आँग्ल शासन को सहायता करनी चाहिये।

यह व्यापारवाद की पुनःस्थापना की ओर कदम नहीं था। व्यापारवादी आदर्श ऐसे सुव्यवस्थित सीमित व्यापार की कल्पना करता था जो निश्चित राजकीय नियन्त्रण में हो एवं राष्ट्र की सुरक्षा में योगदान की दृष्टि से किया जाता हो; व्यक्तियों की समृद्धि का केवल वैकल्पिक महत्त्व था। अब जो आवश्यक थी वह भिन्न प्रकार की राजकीय कार्यवाही थी यथा नियमन एवं नियंत्रण की अपेक्षा सहायता, सहारा एवं सुरक्षा। सस्तापन एवं बाहुल्य अब भी आर्थिक प्रयत्नों के अभीष्ट थे तथा उद्योग का प्रसार एवं व्यापार की मात्रा में वृद्धि अब भी राष्ट्रिय समृद्धि के लक्षण थे।

तथापि राज्य निर्बाध सिद्धान्त का धीरे-धीरे सन्निपात हुआ। देश के जनमत का अत्यधिक विशाल परिमाण इस सिद्धान्त का विरोधी था कि आँग्ल उद्योग एवं व्यापार को राजकीय सहायता प्राप्त हो तथा विशेषत: आयातित

खाद्यान्नों अथवा निर्मित वस्तुओं पर किसी प्रकार का संरक्षणात्मक तटकर लगाया जाय।[1] क्रमागत शासन भी प्रचलित होने को अनिच्छुक थे। तथापि विगत पचास या साठ वर्षों में आर्थिक क्षेत्र में राजकीय कार्यवाही के परिमाण में निरन्तर वृद्धि हुई है।

इस कार्यवाही के विविध रूप रहे हैं एवं उनमें से अधिकांश का वर्णन अन्य अध्यायों में पहिले ही किया जा चुका है। पाठक उसका पुनः स्मरण कर लें जो उन विभिन्न उपायों के विषय में पूर्वोल्लेख किया जा चुका है जिनसे राज्य लोक-स्वास्थ्य का रक्षण करता है। कारखाना विधान पर व्यवहार को कई नवीन उद्योगों तक व्यापक बनाना, भयानक व्यापारों के हेतु विशेष नियमों का निर्माण तथा कारखाना विधि के १९०१ में संहिता-बंधन का विषद वर्णन अन्यत्र किया जा चुका है।

श्रमिकों की अवस्था के सम्बन्ध में कुछ और उपाय किये गये। १८९३ के आपण काल अधिनियम द्वारा सहायकों को अत्यधिक कार्य काल से संरक्षण प्रदान किया गया तथा आपण सेवकों को साप्ताहिक अर्द्धावकाश का सिद्धान्त १९०४ के शीघ्र संवरण अधिनियमान्तर्गत स्वीकार कर लिया गया।[2] श्रमिकों के कुछ विशेष वर्गों को अति न्यून शोधन-प्रस्वेदन की समस्या पर कार्यवाही की गयी। सामन्त सदन की एक समिति ने १८८८ में इस प्रश्न पर जाँच की एवं १८९१ के कारखाना अधिनियम के अन्तर्गत कारखानों तथा कर्मशालाओं के अभिधारकों को कारखाना एवं स्वच्छता निरीक्षकों के प्रयोगार्थ अपने बाह्य श्रमिकों की सूचियाँ रखना आवश्यक

---

१. १९०३ में श्री जोज़ेफ चेम्बरलेन ने आयातित निर्मित वस्तुओं एवं खाद्यान्नों पर शुल्क स्थापित करने का सुझाव दिया एवं प्रस्तावित किया कि औपनिवेशिक उत्पादन पर अधिमान्य शुल्क स्वीकार कर लिया जाय। यद्यपि सभी नहीं तथापि अनुदार दल के कई सदस्यों ने अपने आपको श्री चैम्बरलेन की नीति से सम्बद्ध कर लिया। १९०६ के सामान्य निर्वाचन में अनुदारदलियों की करारी हार हुई। नवीन संसद् के सदस्यों का चतुर्थांश से कम अनुदारदली थे।

२. १९०४ के अधिनियम ने एक प्रथा को वैधानिक संमोदन प्रदान किया है। स्वयमेव स्वेच्छिक आधार पर अति प्रचलित थी। इसका प्रभाव कम उदार नियोक्ताओं को अन्य नियोक्ताओं के साथ चलने को बाध्य करना था।

हो गया; १८९५ के अधिनियम में यह आदेश था कि ये सूचियाँ निरीक्षकों को प्रेषित कर दी जानी चाहिएँ। इन्हीं अधिनियमों ने और आदेश दिये कि नियोक्ताओं को दी जाने वाली भृति दर का विवरण देना चाहिये। इस प्रकार के उपायों को प्रस्वेदन के अड्डों से निपटने के प्रारम्भिक प्रयत्न समझा जा सकता है किन्तु इनका कोई प्रभाव नहीं हुआ प्रतीत होता। अतः १९०० में सर चार्ल्स डिल्क ने शासन को कुछ व्यवसायों के हेतु भृति-मण्डलों की स्थापना के हेतु प्रेरित करने का प्रयत्न किया। तथापि १९०६ तक इस विषय में वास्तव में जनमत जागृत नहीं किया। गया जिस सन् में डेली न्यूज़ ने "प्रस्वेदित" उत्पत्ति की प्रदर्शनी संगठित की। एतद्पश्चात् लोक-सदन ने इस विषय में अन्वेषण के हेतु एक प्रवर-समिति की स्थापना की जिसने १९०८ में कुछ उद्योगों में भृति विनियमन के पक्ष में प्रतिवेदन दिया। इस तर्क का कि इनमें से कुछ उद्योग अधिक भृति शोधन में समर्थ नहीं हैं समिति ने जिन शब्दों में उत्तर दिया वह उल्लेखनीय है कि "यदि किसी व्यवसाय से इतनी यथेष्ट आय नहीं होती कि जो इसका उपार्जन करते हैं उन्हें जीवन की अनिवार्यताएँ किसी प्रकार सुलभ हो सकें···तो यह शोषक व्यवसाय है एवं इसकी निरन्तरता सामान्य लोक-हित के विपरीत है"। १९०९ के व्यापार-मण्डल अधिनियम के अन्तर्गत कुछ अनुसूचित व्यवसायों में व्यापारमण्डल स्थापित किये जाने थे जहाँ भृति दर असामान्यतः निम्न हो। व्यापारमण्डल इन मण्डलों में सदस्यों की नियुक्ति नियोक्ताओं तथा सेवाओं द्वारा दी गयी सूचियों में से करता था तथा कभी वह अपनी ओर से भी अतिरिक्त सदस्य नियुक्त कर देता था।[1] व्यापारमण्डल को किसी व्यवसाय में न्यूनतम भृति निर्धारित करने का पूर्ण अधिकार था जो वैधानिक रूप में पालनीय थी। चार व्यवसाय शृंखला निर्माण; मंजूषा निर्माण, किनारी निर्माण तथा पूर्व-निष्पन्न वस्त्र-निर्माण १९१० में अनुसूचित किये गये तथा १९१३ में योजना में छः अन्य व्यवसायों को और सम्मिलित कर लिया गया। १९१८ में पारित एक और व्यापारमण्डल अधिनियम के अन्तर्गत किसी भी उद्योग में जहाँ भृति विनियमन का अदक्ष संगठन दृष्टिगोचर हो व्यापारमण्डल स्थापित करने का

---

१. व्यापारमण्डल अधिनियमों के अन्तर्गत व्यापारमण्डल के कार्यों को अब श्रम मन्त्रालय को हस्तान्तरित कर दिया गया है।

प्राधिकार मिल गया। व्यापारमण्डलों को काम के घंटों एवं अन्य कार्यकारी परिस्थितियों से निपटने का अधिकार था। कालान्तर में लगभग चालीस व्यापार-मण्डल स्थापित हो गये। इस पद्धति का प्रयोग विशेषतः उन उद्योगों में किया गया जहाँ श्रमिक संघवाद या तो था नहीं अथवा प्रभाव ही न था एवं यदि इससे वह सब प्राप्त नहीं हुआ जो प्रस्वेदित श्रमिकों के हेतु आकांक्षित था इसने उन्हें श्रम के क्षेत्र में बन्धनहीन प्रतिद्वन्दिताजनित निकृष्टतम प्रभावों से कम से कम रक्षण तो प्रदान किया है।

आलोच्य अवधि में श्रमिक वर्गों में जीवन की सुरक्षा में वृद्धि के हेतु कई क्रियाकारों का अधिनियमन किया गया। ऐसे विधान के पारित होने से पूर्व उन श्रमिकों को उनका कोई दोष न होते हुए भी अकिञ्चन बना दिया जाता था जो गम्भीर, उद्यमी एवं सदाचारी होते थे। १८८० में एक नियोक्ता दायित्व अधिनियम पारित किया गया जिसके अन्तर्गत किसी भी श्रमिक के जब वह कार्य कर रहा हो दुर्घटनाग्रस्त हो जाने पर वह अपने नियोक्ता से क्षति-पूर्ति का अधिकारी हो जाता है। यदि दुर्घटना होने का कारण नियोक्ता अथवा किसी अन्य व्यक्ति द्वारा जो प्रबंधक अथवा कार्य देशक के रूप में कार्य कर रहे हों, प्रमाद हो। यह अधिनियम पूर्णतः प्रभाव-हीन रहा क्योंकि न्यायालयों में यह निर्णय किया जा चुका था कि सेवायोजित इसके उपबंधों से मुक्ति का संविदा कर सकते थे।[1] १८९६ के श्रमिक क्षति-पूर्ति अधिनियम ने निर्दिष्ट किया कि प्रमादविषयक किसी प्रश्न का विचार न करते हुए सेवा योजनोत्पन्न दुर्घटना की समस्त अवस्थाओं में क्षति-पूर्ति देय होनी चाहिए; मुक्ति संविदा प्रतिबन्धित हो गया तथा अधिनियम प्रभावशील हो गया। इसी विषयक एक और अधिनियम १९०६ में पारित किया गया।[2]

१९०९ में वृद्धावस्था निवृत्तिवेतन की स्थापना तथा १९११ में वृत्ति-

---

१. मुक्ति संविदा, जब सेवायोजन प्रारम्भ हो उस समय यह स्वीकार कर लेने की प्रथा थी कि दुर्घटना घट जाने की स्थिति में अधिनियम का लाभ नहीं उठाया जायगा। नियोक्ता कभी-कभी उन व्यक्तियों को सेवायोजन अस्वीकार कर देते थे जो ऐसे समझौते पर हस्ताक्षर करने को अनिच्छुक होते थे।

२. नियोक्ताओं के लिये आगोप से १८९६ एवं १९०६ के अधिनियमान्तर्गत होने वाली जोखिम लेना सामान्य हो गया।

हीनता तथा रुग्णावस्था की राष्ट्रिय आगोप योजनाओं की स्थापना से जीवन के दुर्दैव के विरुद्ध श्रमिक के संरक्षण में और अधिक योगदान प्राप्त हुआ है।[1] वृत्तिहीनों की समस्या का हल भी १६०५ के वृत्तिहीन श्रमिक अधिनियम द्वारा जिसने स्थानीय प्राधिकारियों को सार्वजनिक निर्माण में सेवायोजन की योजनाएँ प्रारम्भ करने की स्वीकृति दी थी तथा १६०६ में श्रम विनियमों (जिनका पुनर्नामकरण सेवायोजन विनिमय हुआ) की स्थापना द्वारा किया गया।[2]

उन्नीसवीं शताब्दी की लगभग समाप्ति तक श्रम-विवादों का निपटारा सदैव ऐसा विषय समझा जाता था जिससे नियोक्ताओं एवं सेवायोजितों ही का संबन्ध था तथा जिससे शासन को संभवतः कोई अर्थ न था। हड़तालें एवं तालाबन्दी अन्त तक चलाई जाती थी। बीसवीं शताब्दी में यह स्वीकार किया गया कि कुछ महत्त्वपूर्ण उद्योगों के सम्बन्ध में श्रम-विवाद में कम से कम तृतीय दल-जनता की भी रुचि होती थी। उदाहरणार्थ यह सुस्पष्ट था कि कोयला खानों में काम रुकने से सामान्य जनता को असुविधा उत्पन्न हो जायगी तथा कोयला खान श्रमिकों एवं स्वामियों की भाँति ही लगभग प्रत्येक उद्योग पर प्रभाव होगा अतः यह धारणा रही कि राष्ट्र के प्रतिनिधि रूप में शासन को औद्योगिक विवाद में हस्तक्षेप करने का अधिकार था। अन्य आधारों पर भी हस्तक्षेप का औचित्य प्रकट किया जा सकता था। यह धारणा ही सम्भवतः नहीं हो सकती थी कि स्वामी एवं श्रमिक के मध्य विवाद का उचित हल उस समय निकाला जा सकता था जबकि निर्णायक कारण श्रमिकों पर आश्रितों का क्षुधा-पीड़न हो। १८६६ में समझौता अधिनियम द्वारा व्यापारमण्डल को हस्तक्षेप करने

---

१. दुर्घटना के कारण श्रमिक को क्षति-पूर्ति तथा वृत्ति-हीनता एवं रुग्णावस्था के आगोप व्यय में योगदान के नियोक्ता के दायित्व इस सिद्धान्त की स्थापना प्रकट करते हैं कि औद्योगिक अपघात उद्योग पर ही भार होने चाहिएँ।

२. इन संस्थापनों को कभी-कभी केवल उन कार्यालयों के रूप में समझा जाता है जहाँ वृत्ति-हीनों को "संभिक्षा" (अपनाम) प्रदान की जाती है। इनका वास्तविक उद्देश्य नियोक्तायों तथा सेवायोजितों को मिलाने वाले अभिकरणों के रूप में कार्य करने का था तथा वे अब भी इसी प्रकार व्यापक रूप में प्रयुक्त हो रहे हैं।

का अधिकार प्रदान किया गया यदि श्रम-विवाद के विवादी मध्यस्थता अथवा व्यवहार द्वारा समझौता करने को इससे प्रार्थना करें। १६०८ में और कदम उठाये गए जबकि कुछ उद्योगों में नियोक्ता एवं श्रमिकों में से तालिकायें स्थापित की गईं जिससे विवाद के समय इन तालिकाओं में से पञ्च न्यायालय के सदस्यों की नियुक्ति की जा सके। १६१४-१८ के युद्ध-काल में युद्ध-सामग्री उत्पन्न करने वाले संस्थानों में विवादों से बचने का महत्त्व इतना सुविदित था कि इन उद्योगों में अनिवार्य मध्यस्थता स्थापित कर दी गई एवं युद्ध सज्जा मन्त्री को ऐसे निर्णय देने का अधिकार प्रदान कर दिया गया जो सभी सम्बद्ध संस्थानों पर वैधानिक रूप से लागू हो।

१६१६ की ह्विटले समिति ने श्रम विवादों के हल की अपेक्षा उनके निवारण के हेतु सुझाव दिये। इसने न ताले-बन्दी अथवा हड़तालों के निषेध का न अनिवार्य मध्यस्थता की स्थापना प्रस्तावित की किन्तु इसने सभी महत्त्वपूर्ण उद्योगों में संयुक्त औद्योगिक परिषदों की स्थापना का समर्थन किया। ऐसी परिषदों में दोनों दलों का उचित प्रतिनिधित्व होता था तथा विवादास्पद प्रश्न इसके समक्ष प्रस्तुत किये जाते थे एवं यह आशा की जाती थी कि अधिकांश अवस्थाओं में वाद-विवाद से समझौता हो सकेगा तथा इस प्रकार हड़ताल अथवा तालेबन्दी के आश्रय ग्रहण का निवारण हो सकेगा। इस पद्धति को १६१६ के औद्योगिक न्यायालय अधिनियम द्वारा वधानिक स्वीकृति प्रदान कर दी गई।

विचाराधीन काल में राज्य ने लोक-शिक्षा के विकास एवं प्रसार पर अत्यधिक ध्यान दिया। १८७० के प्रारम्भिक शिक्षा अधिनियम के पारण द्वारा शिक्षण की राष्ट्रीय पद्धति की स्थापना का प्रयत्न किया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत उन सब स्थानों पर जहाँ शाला स्थान अपूर्ण हों शालामण्डल स्थापित किये गए एवं कुछ वर्षों पश्चात् बालकों की शाला में उपस्थिति अनिवार्य कर दी गई। १८६१ में प्रारम्भिक शिक्षण लगभग निःशुल्क था एवं १८८६ से प्रौद्योगिक शिक्षण को प्रोत्साहन दिया गया। १६०२ के शिक्षा अधिनियम ने शिक्षामण्डलों का उन्मूलन कर दिया तथा उनकी सम्पत्ति एवं कार्यों का हस्तान्तरण वैधानिक समितियों को जो शिक्षा समितियाँ कहलाती थीं, जिला परिषदों, पौर तथा अपौर परिषदों एवं नगर जिला परिषदों को कर दिया गया। इसी अधिनियम के अन्तर्गत नगरपालिका एवं जिला माध्यमिक शालाएँ स्थापित

की गई तो एतद्पश्चात् आँग्ल शिक्षण-पद्धति का उल्लेखनीय लक्षण रही हैं। १६१८ में पारित एक और शिक्षण अधिनियम ने इस पद्धति में सुधार की व्यवस्था दी। १६४४ के शिक्षण अधिनियम के अन्तर्गत सोलह वर्ष की आयु पर किसी अनिश्चित तिथि पर शाला में पूर्ण नियमित उपस्थिति अनिवार्य कर दी गई।

इस स्थल पर यह सम्भव है कि छात्र की यह तर्क करने की मनोवृत्ति हो जाय कि अब तक वर्णित राजकीय कार्यवाही की ऐसी प्रकृति नहीं थी जो आँग्ल उद्योग, व्यापार एवं कृषि को उन्नीसवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण में होने वाली मन्दी से बचाने तथा अन्य देशों की राजकीय सहायता प्राप्त तीव्र प्रतिद्वन्दिता का सामना करने में सहायक हो सके। जिन उपायों का निर्देष किया गया है वे नियोक्ता वर्ग पर अतिरिक्त भारवाही दृष्टिगोचर हो सकते हैं। तथापि इस प्रश्न पर और अधिक विचार से इस निर्णय पर पहुँचा जा सकता है कि श्रमिक वर्ग समूह की स्थिति में सुधार से उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि होगी जिसके परिणामस्वरूप अधिक भृति, आगोप अधिशुल्क तथा एतद् प्रकार के अन्य व्यय से भी अधिक संतुलन श्रमिक द्वारा उत्पादन में वृद्धि से हो जायगा। एक श्रमिक जो काम के घंटे अधिक होने के कारण अपना दैनिक कार्य अल्पाशित एवं अनुत्साही होकर तथा भृति हानि के भय के कारण अस्वस्थ होते हुए भी कार्य करता है एक उत्साही, स्वस्थ एवं सुपुष्ट मनुष्य की अपेक्षा कहीं अल्प लाभकर है। और भी राष्ट्रीय स्वास्थ्य आगोप के स्थापन से पूर्व अधिकांश अधिक सहृदय नियोक्ताओं की प्रवृत्ति अपने श्रमिकों को रुग्णावस्था में पूर्ण अथवा आंशिक भृति शोधन की थी तथा जहाँ तक वे इस प्रकार आचरण करते थे, वे अपने अल्प विचारशील प्रतिद्वन्दियों की अपेक्षा हानि में रहते थे। अब उन पर राष्ट्रीय आगोप अधिशुल्क का भार अधिक नहीं है एवं उनके प्रतिद्वन्दियों को उस पर आने को बाध्य किया गया है। न राज्य व्यय से समाज के सभी वर्गों तक शिक्षा-प्रसार उद्योग पर क्षति-पूर्तिहीन भार है क्योंकि शिक्षित श्रमिक अपने अशिक्षित पूर्वगामी की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् एवं परिणामतः अधिक दक्ष होता है।

किन्तु आलोच्य काल में राजकीय कार्यवाही सामाजिक एवं औद्योगिक परिस्थितियों में उत्थान तक ही सीमित नहीं रही एवं आँग्ल कृषि, उद्योग एवं

व्यापार में सहायता प्रदान करने की दृष्टि से भी सीधी कार्यवाही की गई। कृषि के लाभार्थ राजकीय कार्यवाही सीमित क्षेत्र तक थी। कृषकों द्वारा अपेक्षित कार्यवाही—आयातित गेहूँ पर शुल्क लगाया जाना—कई वर्षों तक व्यवहृत राजनीति के क्षेत्र से परे था। किन्तु कृषिमंडल की स्थापना, कृषक भाटकियों का सुधार की क्षति-पूर्ति बिना अधिनिष्कासन, क्षेत्र पशुओं में व्याप्त संस्पर्श जनित रोगों के निवारण अथवा निरोध के हेतु स्वास्थ्य सम्बन्धी विनियमों पर व्यवहार, कृषि शिक्षण को प्रोत्साहन तथा कृष्टि भूमि पर उपशुल्क शोधन से मुक्ति (जिन उपायों का इस पुस्तक में अन्यत्र वर्णन किया गया है) यह प्रकट करते थे कि क्रमागत शासन कृषि की असन्तोष-प्रद स्थिति के प्रति सजग थे एवं सहायतार्थ जो कुछ व्यवहार्य दृष्टिगोचर होता था वैसा करने के इच्छुक थे।

आँग्ल व्यापार की सहायतार्थ राजकीय कार्यवाही ने अनुचित प्रतिद्वन्द्विता से संरक्षण का रूप लिया। पण्यचिह्न अधिनियम १८८७ के अन्तर्गत ग्रेट ब्रिटेन में आयातित विदेशी निर्मित वस्तुओं के उत्पादक देश का नाम सूचित करना अनिवार्य हो गया जिससे विदेशी वस्तुओं का आँग्ल उत्पादन जैसा विक्रय न किया जा सके। व्यापार चिह्नों की अनुकृति अवैधानिक कर दी गयी। १९०७ के एकस्व अधिनियम द्वारा विदेशी उद्योगपतियों द्वारा ग्रेट ब्रिटेन में एकस्व प्राप्ति किन्तु अन्यत्र वस्तुओं का निर्माण होकर यहाँ भेजे जाने की प्रथा पर कार्यवाही की गयी; जब तक ऐसी स्वीकृति थी तब तक आँग्ल निर्माताओं पर ऐसी वस्तुओं में प्रतिद्वन्द्विता करने में बन्धन था। इन अधिनियम ने उपबन्धित कर दिया कि यदि चार वर्ष की अवधि में इस देश में उत्पादन प्रारम्भ न किया जाय तो ऐसे एकस्वों का व्यवसाय हो जाना चाहिये। व्यापारियों एवं निर्माताओं को व्यापारमण्डल पत्रिका द्वारा ऐसी सूचनायें प्रदान करने के हेतु जो आँग्ल व्यापार के विकास में लाभप्रद हों, १९०० में व्यापारमण्डल के व्यापारिक सूचना-विभाग की स्थापना की गयी। व्यापारमण्डल को ऐसी सूचनायें विश्व के विभिन्न भागों में आँग्ल हितों के प्रतिनिधित्व के हेतु नियुक्त वाणिज्य दूत प्रदान करते थे। १९१७ में व्यापारिक सूचना विभाग का स्थान वैदेशिक व्यापार विभाग ने ग्रहण कर लिया जो अधिक व्यापक कार्य करता था एवं विदेश कार्यालय तथा व्यापारमण्डल के संयुक्त नियन्त्रणाधीन था।

आँग्ल साम्राज्य के प्रति ग्रेट ब्रिटेन के दृष्टिकोण की अपेक्षा अन्य किसी भी दिशा में राज्य निर्बाध सिद्धान्तों का त्याग इतना उल्लेखनीय नहीं था। प्राचीन उपनिवेश पद्धति अमरीकी उपनिवेशों से सम्बन्धित होने के कारण अप्रतिष्ठित हो गयी थी एवं यद्यपि औपनिवेशिक व्यापार पर से विनियमन के औपचारिक स्थगन के पूर्व कई वर्ष समाप्त हो गये तथापि सम्पूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश भाग में औपनिवेशिक साम्राज्य को एक भार—बोझ समझा जाता था जो ग्रेट ब्रिटेन की सम्पत्ति के स्थान पर दायित्व थे। १८७० के पश्चात् उपनिवेशों के प्रति ग्रेट ब्रिटेन के परिवर्तित दृष्टिकोण के एक से अधिक कारण थे। यान्त्रिक परिवहन के विकास—रेलों एवं वाष्पपोतों—से आँग्ल साम्राज्य के विभिन्न भागों के मध्य यातायात सुलभ हो गया एवं उपनिवेशों के एक दूसरे से तथा ग्रेट ब्रिटेन के वास्तविक अन्तर में न्यूनता हो गयी।[1] रेलों के निर्माण से महाद्वीपी आन्तरिक भागों में प्रवेश एवं बनावट सम्भव हो गयी जिससे अठारहवीं शताब्दी की भाँति उपनिवेशन लघुद्वीपों, तटीय संकरे मैदानों एवं विशाल नदियों के तटों तक सीमित नहीं रहा। पुनश्च, अन्य राष्ट्र भी विशेषतः उष्ण कटिबन्ध में समुद्र पार अधीन देशों की प्राप्ति के हेतु प्रयत्नशील थे जिससे उन्हें अपने उद्योगों के हेतु कच्चा माल प्रदाय हो सके तथा निर्मित वस्तुओं के हेतु बाजार मिल सके। अफ्रीका के हेतु संलोड़न उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हुआ तथा ग्रेट ब्रिटेन के पूर्वधारित उपनिवेशों के समान ही उपनिवेश प्राप्त करने की अन्य देशों की उत्सुकता ने आँग्ल लोगों में आँग्ल साम्राज्य की क्षमता का अनुभव करने में जागरूक बना दिया।

आँग्ल साम्राज्य में सम्मिलित जो क्षेत्र हैं उन्हें अधिकांशतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक ओर बहुत से वे अधिराज्य हैं जिनमें मुख्यतः गोरों की बस्ती है;[2] दूसरी ओर बहुत से वे क्षेत्र हैं जिनमें अर्द्धसभ्य या पूर्णतः आदिम जातियाँ रहती हैं जिन पर आँग्ल राज्यपाल व अधिकारी शासन करते हैं।

---

१. यथा एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा में लगे समय से नापा जाता है।

२. दक्षिण अफ्रीका संघ में स्थानीय जनसंख्या श्वेतजन संख्या से अत्यधिक विशाल मात्रा में अधिक है।

ये चार "श्वेत" अधिराज्य मुख्यतः पृथ्वी के शीतोष्ण कटिबन्ध में स्थित हैं तथा उनकी जलवायु ऐसी है कि आँग्ल मनुष्य वहाँ बस सकते हैं एवं नवीन परिवार बसा सकते हैं। किसी समय ये राज्य आँग्ल शासन के नियन्त्रण एवं पर्यवेक्षण में थे किन्तु जैसे-जैसे जनसंख्या में वृद्धि हुई एवं साधनों का विकास हुआ उन्हें स्वशासन के अधिकार प्रदान कर दिये गये। १८७५ से पूर्व कनाडा तथा न्यूफाउण्डलैण्ड, अन्तरीपोपनिवेश एवं न्यूज़ीलैण्ड तथा पश्चिमी आस्ट्रे-लिया के अतिरिक्त समस्त आस्ट्रेलिया में उत्तरदायी शासन स्थापित हो चुके थे। उपर्युक्त कथनानुसार जब राज्य निर्बाध दृष्टिकोण सशक्त हो रहा था, इन विदेशस्थ अधीन देशों में कम रुचि रह गयी थी एवं यह धारणा हो रही थी कि इन्हें स्वशासन की जो इतनी व्यापक मात्रा प्रदान कर दी गयी है वह ग्रेट ब्रिटेन से पूर्णतः पृथकत्व की भूमिका मात्र है तथा वे कुछ ही वर्षों में अमेरिकन उपनिवेशों के उदाहरण का अनुसरण करते हुए स्वतन्त्र गणराज्य बन जायेंगे। सम्भवतः ऐसा दृष्टिकोण स्वाभाविक था तथापि यह दोषपूर्ण था। अमेरिकन उपनिवेशों से वञ्चित होने का कारण इस प्रकार का अत्यधिक नियन्त्रण लगाया जाना था जिनका उपनिवेशकों ने विरोध किया तथा ऐसी धारणा बना लेने का वास्तव में कोई आधार नहीं था कि नियन्त्रण के लगभग सम्पूर्ण स्थगन का वैसा ही परिणाम होगा जब तक वास्तव में आँग्ल शासन व जनता की रुचि प्रदर्शित किये जाने के अभाव के परिणामस्वरूप विलगाव न हो जाय। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में राज्य-निर्बाध दृष्टिकोण का जो अब तक प्रचलित था, अधीन उपनिवेशों में रुचि पुनर्जागरण से पूर्व परित्याग कर दिया गया।

कुछ काल तक समाचारपत्रों एवं राजनीतिक रङ्गमंच पर साम्राज्यीय संघ की सम्भावना पर अति प्रकल्पना थी। १८६७ में कई प्रान्तों ने सङ्घबद्ध होकर कनाडा अधिराज्य का निर्माण किया तथा १९०० में आस्ट्रेलिया में छः विभिन्न उपनिवेश, जिनमें से प्रत्येक में स्वशासन था आस्ट्रेलियन समधिराज्य के रूप में शृंखलाबद्ध हो गये। क्या ग्रेट ब्रिटेन तथा अधिक महत्त्वपूर्ण उपनिवेशों के साथ एक राजनीतिक इकाई के निर्माण के हेतु किसी प्रकार का संघनिर्माण सम्भव नहीं था? इस आदर्श को मूर्त्त रूप देने में इतनी महान् कठिनाइयाँ थीं कि किसी उत्तरदायी राजनीतिज्ञ ने राजनीतिक संघ के विषय में निश्चित

प्रस्ताव नहीं दिये। तथापि १८८७ में जब लन्दन में रानी विक्टोरिया की जयन्ती मनायी गयी थी उस समय अधिकांश उपनिवेशों के प्रधान मन्त्री उपस्थित थे एवं ये महानुभाव परस्पर मिलकर सामान्य हितों के प्रश्न पर विचार-विनिमय कर सके। यह प्रथम औपनिवेशिक सम्मेलन था तथा अन्य दस वर्ष पश्चात् हीरक जयन्ती के अवसर पर किया गया। १९०२ में सम्राट् एडवर्ड के राज्यारोहण से औपनिवेशिक सम्मेलन का तृतीय अवसर प्राप्त हुआ तथा इन सम्मेलनों का लाभ इतना सुविदित हो गया कि भविष्य में किसी महान् राजकीय समारोह के अवसर की प्रतीक्षा किये बिना कुछ अंशों तक नियमितता से ऐसे सम्मेलन होने चाहिएँ। १९०७ में हुए एक और सम्मेलन में यह निर्णय किया गया कि औपनिवेशिक प्रधानमन्त्रियों के सम्मेलन को साम्राज्यीय सम्मेलन नाम दिया जाय तथा यह प्रति चतुर्थ वर्ष हो। युद्ध काल में इस प्रबन्ध में कुछ बाधाओं के अतिरिक्त कई वर्षों तक इसका पालन किया गया। १९१४-१८ के युद्ध-काल में एक साम्राज्यीय युद्ध-परिषद् समय-समय पर हुआ करती थी जिसमें विभिन्न अधिराज्यों के प्रतिनिधि बुलाये गये थे।

तथापि यद्यपि आँग्ल साम्राज्य[1] के स्वशासित भागों का प्रधानमन्त्रियों के सामयिक न्यूनाधिक अनौपचारिक सम्मेलनों के अतिरिक्त, जिनके निर्णयों का कहीं कोई वैधानिक प्रभाव नहीं था, निकटतर राजनीतिक ऐक्य सम्भव नहीं था, अधिराज्यों का आपस में तथा ग्रेट ब्रिटेन से निकटतर आर्थिक ऐक्य की ओर बढ़ने के हेतु कार्यवाही करना व्यवहार्य प्रतीत हुआ। १८९८ में साम्राज्यीय पेनी डाक-व्यय की स्थापना से संचार में विकास प्रारम्भ हुआ जिसके पश्चात् दूरलेख तथा दूरभाष के हेतु साम्राज्यीय संदाम का विकास हुआ एवं और

---

१. साम्राज्यीय संघ, जैसा उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में समझा जाता था निश्चित ही सन्निकट नहीं आया है, इसके विपरीत वह प्रतिसरित हुआ है। आंग्ल साम्राज्य के प्रमुख निर्माणकारी भागों का तब तक कोई संघ नहीं बनाया जा सकता जब तक प्रत्येक सदस्य अपने स्वातन्त्र्य के एक भाग का त्याग न करे। १९३१ के वैस्टमिंस्टर परिनियम ने स्वीकार किया कि स्व-शासित अधिराज्य एक दूसरे से तथा ग्रेट ब्रिटेन के पूर्ण समकक्ष हैं। इस विधि का प्रभाव यह है कि अधिराज्य पूर्ण स्वातन्त्र्योपभोगी हैं। वे साम्राट् के केवल वैसे ही अधीन हैं जैसे ग्रेट ब्रिटेन सम्राट् के है।

अर्वाचीन वर्षों में साम्राज्यीय नभवाणी की स्थापना से हुआ।

व्यापारमण्डल का व्यापारिक सूचना-विभाग, जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, उपनिवेशों एवं विदेशों से आंग्ल व्यापार वृद्धि के हेतु सक्रिय था। १६०८ में मुख्य अधिराज्यों में रहने को साम्राज्यीय व्यापार आयुक्तों की नियुक्ति की गयी जिनका कार्य व्यापारमण्डल के द्वारा अपने-अपने क्षेत्रों में आँग्ल उत्पादन की संभाव्य माँग के विषय में आँग्ल निर्माता एवं व्यापारी को सलाह देना था। सर्वप्रथम चार वाणिज्यायुक्त नियुक्त किये गये थे जिनकी संख्या में बाद में अति वृद्धि कर दी गयी। दूसरी ओर विदेशों में नियुक्त वाणिज्य दूतों को अधिराज्यीय एवं औपनिवेशिक तथा आँग्ल व्यापार के हितों को प्रोत्साहित करने के निर्देश दिये गये।

१६०० में औपनिवेशिक ऋणपत्र अधिनियम के पारण से उपनिवेश शासनों को अति सुविधा प्रदान कर दी गयी। उपनिवेश-शासन ऋणपत्र न्यासि-ऋणपत्र[1] सूची में सम्मिलित कर लिये गये, परिणामतः उपनिवेश-शासन लन्दन मुद्रा बाजार से अत्यधिक नीची दर पर ऋण लेने की स्थिति में हो गये।

कई वर्षों तक अन्तर्साम्राज्यीय व्यापार में अधिमान्य प्रशुल्क लागू करने के प्रयत्न किये गये। अधिराज्यों ने संरक्षणात्मक प्रकृति का आयात-शुल्क लगाकर अपने उद्योगों के विकास का प्रयत्न किया था अतः उनकी अवस्था में विदेशी व्यापार की अपेक्षा साम्राज्यीय व्यापार पर निम्न प्रशुल्क-स्थापन अपेक्षाकृत सरल विषय था। किन्तु ग्रेट ब्रिटेन अपने उपनिवेशों को कोई अधिमान प्रदान

---

१. ऋण-पत्रों के वरण में प्रन्यासियों को, जिन पर द्रव्य विनियोजन का भार होता है, विधि के अनुसार प्रतिभूतियों की सूची तक, जिन्हें प्रन्यासी सूची कहा जाता है, सीमित रहना पड़ता है (जब तक उन्हें प्रन्यास की शर्तों के अनुसार अन्यथा आदेश न हों) क्योंकि विनियोजनार्थ प्रन्यास धन की राशि अति विशाल होती है, इस सूची के केवल कुछ ऋण-पत्रों तक सीमित कर दिये जाने का प्रभाव उनकी मूल्य-वृद्धि एवं परिणामतः उपार्जनीय व्याज में कमी होता है, औपनिवेशिक शासन ऋण-पत्रों के प्रन्यासी सूची में सम्मिलित किये जाने के परिणामस्वरूप ये शासन व्याज प्रभार में में से लाखों रुपये प्रति वर्ष बचाने योग्य हो गये।

नहीं कर सकता था[1] क्योंकि उसके यहाँ कोई संरक्षणात्मक प्रशुल्क नहीं था। १९०३ में ग्रेट ब्रिटेन के उपनिवेश मन्त्री जोज़ेफ चेम्बरलेन ने आयातित खाद्यान्नों एवं निर्मित वस्तुओं पर संरक्षण प्रशुल्क लगाने का प्रस्ताव किया जिससे उपनिवेशों को अधिमान्यता प्रदान की जा सके किन्तु कई वर्षों तक जनमत परिवर्तित करने के कार्य में कोई महत्त्वपूर्ण प्रगति नहीं की गयी। सर्वप्रथम १८९७ में ग्रेट ब्रिटेन को कनाडा ने अधिमान्यता प्रदान की एवं कुछ वर्षों पश्चात् अन्य अधिराज्यों ने कनाडा के उदाहरण का अनुसरण किया। वर्तमान व्यवहृत अधिमान्यताएँ साम्राज्य के विभिन्न भागों के सम्बन्ध में परस्पर लागू होती हैं।

१९१४-१८ के युद्ध-काल में ग्रेट ब्रिटेन की अपनी पूर्णतः निर्बाध व्यापार नीति को आर्थिक की अपेक्षा अन्य कारणों से त्यागना पड़ा। आयातित वस्तुओं के कई वर्गों (जिनमें मोटर कार, चलचित्र पट्टिकायें, घण्टे एवं घड़ियाँ सम्मिलित थीं पर शुल्क लगा दिये गए जिन्हें सामान्यतः मेक्कन्ना शुल्क कहा जाता था जिससे इन वस्तुओं के व्यापार की मात्रा में कमी हो सके। यह विदेशी विनिमय में सुधार एवं विलासी प्रकृति की वस्तुओं के व्यापार में रत नौवहन की मात्रा में कमी करने के दोहरे उद्देश्य से किया गया था। इन शुल्कों को युद्ध के पश्चात् भी रहने दिया गया एवं १९१९ में तृतीयांश अधिमान्यता प्रदान की गई यदि वे औपनिवेशिक उत्पादन हों। औपनिवेशिक तम्बाकू, चीनी, चाय, एवं अन्य वस्तुओं पर भी अधिमान्यता प्रदान की गयी जिन पर राजस्वार्थ शुल्क लगाया गया था। १९३१ के शरत्काल में ग्रेट ब्रिटेन संरक्षण की नीति पर प्रत्यावृत्त हो गया तथा १९३२ में ओटावा में साम्राज्यीय आर्थिक सम्मेलन के पश्चात् औपनिवेशिक मूल की वस्तुओं पर अधिमान्यता तालिका बना ली गई।

आँग्ल साम्राज्य के उष्णदेशीय प्रान्तों में पश्चिमी द्वीपसमूह के द्वीप, मध्य एवं दक्षिणी अमेरिका, मलाया तथा अफ्रीका महाद्वीप के विशाल भाग सम्मिलित हैं। इनमें से कुछ प्रदेश नेताओं के बसने को उपयुक्त नहीं हैं तथा इनके

---

१. यद्यपि कई वर्षों तक ग्रेट ब्रिटेन ने अपने उपनिवेशों को कोई प्रत्यक्ष व्यापारिक अधिमान्यता प्रदान नहीं की तथापि इन्हें औपनिवेशिक ऋण-पत्र अधिनियम के अन्तर्गत बहुमूल्य वित्तीय अधिमान्यता प्राप्त थी।

यूरोपीय निवासियों में केवल वे अधिकारी हैं जिनका सम्बन्ध शासन-संचालन से हैं यथा सार्वजनिक निर्माणाधिकारी अभियान्त्रिक, धर्म-प्रचारक एवं अधि-कोशों तथा व्यापार गृहों के प्रतिनिधि आदि। ऐसे व्यक्ति उष्ण देश में कई वर्षों तक रह सकते हैं किन्तु वे वहाँ स्थायी घर नहीं बसाते। वे यदाकदा अवकाश-काल ग्रेट ब्रिटेन में व्यतीत करते हैं एव अपने सेवा-काल के पश्चात् पुनः इस देश को आ जाते हैं। ये उष्णदेशीय अधीन राज्य ग्रेट ब्रिटेन के लिए अति मूल्यवान हैं क्योंकि ये उसे ऐसी वस्तुएँ प्रदान करते हैं जो अन्यथा अनुप-लब्ध होतीं अथवा अन्यत्र अत्यल्प मात्रा में अति कठिनता से प्राप्त होतीं। ऐसे खाद्यान्न जैसे चाय, कहवा, कोको, चीनी, तेल एवं मसाले तथा आँग्ल उद्योगों के लिए ऐसा कच्चा माल यथा कपास, जूट, सन और रबर उष्ण क्षेत्रों से प्राप्त होते हैं। ग्रेट ब्रिटेन के उष्ण प्रदेश अधिकाधिक मात्रा में उसकी उत्पन्न वस्तुओं के लिए बाजार के रूप में हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी की समाप्ति के लगभग जब अफ्रीका के लिए दौड़ हो रही थी, ग्रेट ब्रिटेन अधिकृत रूप से भाग लेने में अनिच्छुक प्रतीत होता था। दो-तीन शताब्दी पूर्व जो नीति प्रचलित थी उसे पुनरुज्जीवित किया गया। प्रमंडलों की स्थापना की गई, जिन्हें सम्राट् के राजलेख के अन्तर्गत विशेषाधि-कार प्रदान किये गये एवं इन प्रमंडलों ने इनके विकास की दृष्टि से अफ्रीका एवं अन्यत्र स्थानों पर विशाल क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। ब्रिटिश नॉर्थ बोर्नियो कम्पनी (१८८१), रॉयल नाइजर कम्पनी (१८८६), ब्रिटिश ईस्ट अफ्रीका कम्पनी (१८८८) तथा ब्रिटिश साउथ अफ्रीका कं० (१८८९) उनमें से थे जिनका इस समय आविर्भाव हुआ। उन्होंने प्रदेशों पर अपने अधिकार स्था-पित कर लिये जिन्हें कालान्तर में साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। राज्य निर्बाध सिद्धान्तों के समर्थक इस नीति पर सैद्धान्तिक आधार पर आपत्ति नहीं कर सकते थे क्योंकि आँग्ल प्रभाव के इस प्रसार में निजी पूँजी एवं निजी साहस संलग्न थे। तथापि इन उपक्रमों के प्रारम्भ किये जाने के पश्चात् आँग्ल प्रतिष्ठा की हानि बिना प्रत्यावर्तन असम्भव था। यदि आँग्ल हितों पर किसी दिशा से संकट होता अथवा यदि विकास उस बिन्दु तक पहुँच गया हो कि क्षेत्र को प्रमंडल के नियन्त्रण में रहने देना और सम्भव न हो तो आँग्ल शासन को बाध्य होकर हस्तक्षेप करना तथा प्रमंडल की सहायता प्रदान करना अथवा

उसका स्थान ग्रहण करना पड़ता था।

बीसवीं शताब्दी काल में उष्णदेशीय अधीन देशों की ओर राज्य निर्बाध नीति कई रूपों में निरत कर दी गयी है। इन क्षेत्रों के आर्थिक विकास ने सड़कों, बन्दरगाह-कार्यों, सिंचाई-कार्यों, पुलों एवं सार्वजनिक भवनों पर धन व्यय अनिवार्य कर दिया है। एतद्उद्देश्यों के हेतु खुले बाजार से पूँजी प्राप्त करना सदैव सम्भव नहीं रहा है अतः आंग्ल शासन ने समय-समय धन दिया है अथवा उधार पर व्याज की प्रतिभूति दी है। इस प्रकार आँग्ल वित्तीय सहायता से आन्तरिक प्रदेश खुल गये हैं, ऊसर भूमि उपजाऊ हो गयी है, फसलें उत्पन्न की गयी हैं तथा व्यापार का विकास किया गया है।

भूतकाल में उष्ण प्रदेश श्वेतांगों के रहने के हेतु कुख्यात रूप से अस्वास्थ्यकर रहे हैं। विभिन्न प्रकार के उष्णदेशीय रोगों[1] से महान् नर-संहार हुआ है। विगत अर्द्ध शताब्दी में उष्णदेशीय औषध का अध्ययन किया गया है एवं उन अनुसंधान प्रयोगशालाओं के संभारण को राजकीय सहायता दी गयी है जिनमें उष्णदेशीय रोगों के कारणों एवं उनकी चिकित्सार्थ उपयुक्त उपायों का अन्वेषण किया जाता है। उपनिवेश कार्यालय को उष्ण देशों में स्वास्थ्य सम्बन्धी विषयों में सहायतार्थ एक सलाहकार परिषद् स्थापित कर दी गयी है। विशुद्ध चिकित्सा-कार्य के अतिरिक्त निवारक प्रकृति के कार्य यथा जलोत्सारण योजनाओं की स्थापना तथा मच्छरों के विरुद्ध आन्दोलन किये गये हैं।

उष्णदेशीय कृषि के विकास पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। आंग्ल रूई उत्पादक संघ को, जिसके कार्य का अन्यत्र वर्णन किया जा चुका है, किसी समय १०,००० पौ० प्रति वर्ष राजकीय अनुदान उन क्षेत्रों में कपास उत्पादन के परीक्षण करने के हेतु दिया जाता था जहाँ यह अत्र तक अज्ञात था। जलोत्सारण, सिंचाई, कटाई एवं परजीवियों से निपटने में विकसित प्रणालियों का प्रयोग चीनी तथा तम्बाकू जैसी उष्णदेशीय उपजों के सम्बन्ध में किया गया है तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के बीजों पर परीक्षण किये गये हैं।

---

१. ऐसे रोगों में पीत ज्वर, शीत ज्वर, शयन रोग, प्लेग तथा बेरी-बेरी सम्मिलित हैं।

जो कुछ लिखा गया है वह यह प्रकट करने को पर्याप्त है कि विशेषकर बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से आँग्ल प्रशासन में कितनी अधिक मात्रा में राज्य निर्बाध सिद्धान्तों का अवपतन हो गया है। १९३१ के वित्तीय एवं आर्थिक संकट के पश्चात् औद्योगिक एवं व्यापारिक क्रियाओं में राजकीय हस्तक्षेप पूर्वापेक्षा और भी अधिक सुस्पष्ट हो गया है। निर्बाध व्यापार-पद्धति का परि-त्याग कर दिया गया एवं आयात की मात्रा कम करने के हेतु सामान्य प्रशुल्क लगा दिया गया तथा उद्योग को सहायता देने की कार्यवाही की गयी। १९३९-४५ के युद्ध ने राष्ट्रीय जीवन के लगभग प्रत्येक पहलू पर निकटतम शासकीय नियन्त्रण अनिवार्य कर दिया है तथा युद्ध के पश्चात् उठाये गये कदम इस प्रकार के थे कि उनसे स्पष्ट होता था कि राज्य निर्बाध सिद्धान्तों का अन्तिम परित्याग कर दिया गया है।

पैंतीसवाँ अध्याय

१९३९-४५ के युद्ध के पश्चात्

क्योंकि ग्रेट ब्रिटेन १९३९ से १९४५ के मध्य जर्मनी एवं अन्य देशों से युद्ध-रत था, जिस संसद् का १९३५ में निर्वाचन हुआ था उसे जर्मन आत्म-समर्पण तक भंग नहीं किया गया। १९४५ में सामान्य निर्वाचन हुए एवं इसका परिणाम लोक-सदन में श्रमदली सदस्यों का विशाल बहुमत में निर्वाचन हुआ। युद्धकालीन प्रधान मन्त्री श्री चर्चिल ने त्यागपत्र दे दिया एवं श्री एटली के प्रधानमन्त्रित्व में श्रमिक शासन का निर्माण हुआ। नवीन शासन का तात्कालिक कार्य अर्थ-व्यवस्था को शान्तिकालीन आधार पर पुनःस्थापित करना था। इसके अतिरिक्त इसने देश के कुछ प्रमुख उद्योगों के राष्ट्रीयकरण कार्यक्रम तथा सामान्य जन के जीवन-स्तर के विकास के हेतु सामाजिक तथा अन्य कार्यों के हेतु अभियान किया। शासन के बहुत से कार्य अत्यधिक विवादास्पद थे। इस अध्याय में पक्ष अथवा विपक्ष में दिये गये तर्कों को प्रस्तुत करने का प्रयोजन नहीं है किन्तु शासनाधिकार की प्राप्ति के पश्चात् शासन ने जो कुछ प्रयत्न किये हैं उनकी केवल रूपरेखा मात्र का वर्णन करना है।

जब १९३९ में युद्ध प्रारम्भ हुआ उस समय आँग्ल उद्योग किसी भाँति युद्ध के लिए प्रस्तुत न था एवं सामान्यतः लाभदायक वस्तुओं के उत्पादन में रत कारखानों का युद्ध-सामग्री के निर्माण के हेतु अपरिवर्तन दो-तीन वर्ष तक पूर्णतः समाप्त नहीं हुआ। युद्ध के पश्चात् विपरीत प्रक्रिया की जानी थी। एटली शासन की धारणा थी कि देश के कुछ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण उद्योगों के सम्बन्ध में युद्ध-पूर्व की निजी साहस एवं नियन्त्रण की पद्धति की पुनरुस्थापना अवाञ्छनीय एवं अव्यवहार्य तक थी अतः यह निर्णय किया गया कि ऐसे उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय।

अन्य अध्यायों में बैंक आफ इङ्गलैंड के राष्ट्रीयकरण, जो अनधिकृत रूप से विद्यमान परिस्थितियों की औपचारिक स्वीकृति से अधिक कुछ नहीं था, एवं

कोयला खानों के राष्ट्रीयकरण जिसके हेतु खनिक कई वर्षों से इच्छुक थे एवं जिसे सैंके आयोग ने १६२० में ही प्रस्तावित किया था, का निर्देश किया जा चुका है।

अधिकांश राष्ट्रीयकरण प्रस्तावों में शासन ने जो सामान्य विधि प्रयुक्त की वह उद्योग पर नियन्त्रण रखने के हेतु सम्बद्ध मन्त्री द्वारा एक अध्यक्ष एवं कुछ सदस्यों के एक केन्द्रीय मण्डल की स्थापना थी जो सभी नियुक्त होते थे। कुछ उद्योगों में अपने-अपने क्षेत्रों पर तात्कालिक नियन्त्रण के हेतु केन्द्रीय मण्डल के अधीनस्थ कई अधरिक मण्डल स्थापित किये गये एवं मण्डलों से स्वतन्त्र विभिन्न हितों की प्रतिनिधि सलाहकार परिषदों की नियुक्ति की गयी जिससे मन्त्री महोदय विविध सम्भाव्य प्रश्नों पर उनके दृष्टिकोण का लाभ उठा सकें। कोयला खानों के राष्ट्रियकरण में इस पद्धति का अनुसरण किया गया (तथापि किसी क्षेत्रीय मण्डल की स्थापना नहीं हुई)। कोयले के घरेलू एवं औद्योगिक उपभोक्ताओं का प्रतिनिधित्व करने वाली सलाहकार परिषदों की नियुक्ति की गयी एवं सम्पूर्ण संगठन ईंधन एवं शक्ति मन्त्री के प्राधिकारान्तर्गत था।

विद्युत व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण के हेतु एक अध्यक्ष एवं ग्यारह अन्य सदस्यों वाले एक आँग्ल विद्युत प्राधिकरण की चौदह क्षेत्रीय मण्डलों के साथ स्थापना हुई। यह भी ईंधन एवं शक्ति मन्त्री के प्राधिकारान्तर्गत था। केन्द्रीय प्राधिकरण को विद्युत् प्रदाय का विकास करना था तथा क्षेत्रीय मण्डलों को इसे अपने-अपने क्षेत्रों में वितरित करने की व्यवस्था करना था। यह योजना अप्रैल १६४८ से व्यवहार में आ गयी।

परिवहन का १६४७ के परिवहन अधिनियमान्तर्गत राष्ट्रीयकरण कर लिया गया। एक अध्यक्ष एवं चार सदस्यों वाले आँग्ल परिवहन आयोग की परिवहन मन्त्री द्वारा नियुक्ति की जानी थी। इसे (वायु-परिवहन के अतिरिक्त) देश के सब प्रकार के परिवहन को ग्रहण कर लेना था एवं विशाल परिवहन संस्थानों की अनुवर्ती विभिन्न क्रियाएँ इनके नियन्त्रण में आ जानी थीं। मन्त्री द्वारा नियुक्त एक अध्यक्ष एवं चार से आठ सदस्यों वाले पाँच कार्यपालक निकायों को अपने-अपने क्षेत्रों में अधिक तात्कालिक नियन्त्रण रखना था; ये रेलवे कार्यपालिका, सड़क परिवहन कार्यपालिका, नौघाट एवं आन्तरिक जल-मार्ग कार्यपालिका, लन्दन परिवहन कार्यपालिका एवं प्रवास भवन कार्यपालिका

केबिल एण्ड वायरलेस लि० के हाथों में था राष्ट्रीयकरण कर लिया जाय। केबिल एण्ड वायरलेस लि० ऐसा प्रमण्डल था जिसके अधिकांश अंश पत्रधारक बहुत से समुद्रपार दूरसन्देश प्रमण्डल थे। (यह वास्तव में इन प्रमण्डलों का समामेलन था)। शासन ने, जिसके हाथों में द्वादशांश के लगभग अंश पत्र थे अंश-धारकों की क्षति-पूर्ति करते हुए शेष अंश पूँजी ग्रहण करने का निर्णय किया। संगठन राज्य-स्वामिक संस्था के रूप में विद्यमान रहने को था, इसके संचालकों की कोष द्वारा नियुक्ति होने को थी एवं यह महा-प्रेपपनि के नियन्त्रण के अन्तर्गत रहने को था।

देश के समस्त उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का शासन का अभिप्राय न था, किन्तु यह अनुभव किया गया कि निजी नियन्त्रण में छोड़े गये उद्योगों में से अधिकांश पूर्णतः दक्ष न थे। (यह उन उद्योगों के प्रबन्ध की अनिवार्यतः आलोचना न थी जिसमें युद्ध के परिणामस्वरूप विपरीत परिस्थितियों से बाधाएँ उत्पन्न हो गयी थीं)। बहुत से उद्योगों में नियोक्ता श्रमिक एवं अन्य हितार्थी अंशों का प्रतिनिधित्व करने वाले कर्मचारी दलों की स्थापना की। प्रत्येक कर्मकारी दल की स्पष्ट विशिष्टता यह थी कि इसका अध्यक्ष ऐसा व्यक्ति होता था जो जिस व्यवसाय से सम्बद्ध दल होता था उसके अतिरिक्त जीवन के किसी अन्य क्षेत्र में प्रतिष्ठित होता था। कर्मकारी दल का कार्य उद्योग में प्रवर्त-मान परिस्थितियों का अन्वेषण एवं इसके उत्पादनत था वितरण की पद्धति एवं संगठन में सुधार के प्रस्तावों एवं योजनाओं का परीक्षण करना था। कर्मकारी दलों की स्थापना सूती, बर्तन, साज-सामान, संपाश वस्त्र, बूट और जूता, आतस्य, वस्त्र-निर्माण, गलीचा, जूट, ऊन, चीनी मिट्टी, जौहरी एवं रजत पात्र, छुरी-काँटा, किनारी, काँच के बर्तन तथा दूध व्यवसायों में की गयी। काला-न्तर में वे व्यापारमण्डल के अध्यक्ष को विवरण देते थे। उनके कुछ सुझावों को सामान्य समझौते द्वारा एवं शेष को शासकीय आदेश द्वारा व्यवहृत किया जा सकता था जबकि कुछ और अन्यों के हेतु वैधानिक स्वीकृति की आवश्यकता होती थी।

शासन ने राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में कृषि का महत्त्व स्वीकार कर लिया एवं स्वदेशोत्पन्न खाद्य-सामग्री के उत्पादन के प्रसार एवं स्थायित्व तथा गव्य-शाला

के उत्पादन में वृद्धि करने के उपाय प्रस्तुत किये गए (जिनका पूर्व अध्याय में वर्णन किया गया है)।

श्री एटली का शासन केवल कुछ उद्योगों के राष्ट्रीयकरण एवं अन्य उद्योगों की क्षमता में वृद्धि से ही सम्बद्ध न था किन्तु सामाजिक सुधार की योजनाओं से भी था। १९४५ के कौटुम्बिक भत्ता अधिनियम ने, जो अगस्त १९४६ से लागू हुआ था, प्रथम सन्तान के पश्चात् प्रत्येक सन्तान के सम्बन्ध में परिवार की माता को साप्ताहिक धनदान के हेतु उपबन्ध किया। यह भत्ता तब तक देय था जब तक बालक चौदह वर्ष की आयु होने पर शाला छोड़ दे तथा यह सोलह वर्ष की आयु तक निरन्तर रहे यदि बालक तब भी शाला में अध्ययन कर रहा हो। राष्ट्रीय आगोप (औद्योगिक क्षति) अधिनियम १९४६ के अन्तर्गत उन श्रमिकों को जो क्षतिग्रस्त हो जायँ क्षति-पूर्ति तथा यदि सेवा योजन काल में उसकी मृत्यु हो जाय तो उसके आश्रितों को क्षति-पूर्ति की शर्तों में सुधार प्रस्तावित किये। अन्य महत्त्वपूर्ण अधिनियम यथा राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेबा अधिनियम, राष्ट्रीय आगोप अधिनियम, एवं राष्ट्रीय सहायता अधिनियम का पूर्ववर्ती अध्यायों में वर्णन हो चुका है।

जिन औद्योगिक एवं सामाजिक उपायों का अब तक वर्णन किया गया है वे यद्यपि महत्त्वपूर्ण थे किन्तु वे ऐसे देश की अर्थ-व्यवस्था की पुनरुस्थापना में अपने आप में अपूर्ण थे जिसके साधनों का युद्ध-काल में अपरिमित प्रसार हुआ। युद्ध से पूर्व ग्रेट ब्रिटेन के दृश्य आयात का मूल्य दृश्य निर्यात से अत्यधिक अधिक था किन्तु अदृश्य निर्यात से सन्तुलन पुनर्स्थापित हो जाता था जो विदेशों में विनियोजित आँग्ल पूँजी पर व्याज एवं लाभांश, आँग्ल व्यापारिक पोत द्वारा अन्य देशों की वस्तुएँ ले जाने की आय तथा आँग्ल अधिकोषों एवं अपहार गृहों द्वारा शेष विश्व को वित्तीय सेवाओं से उपार्जन के रूप में था। लन्दन विश्व का वित्तीय केन्द्र था, विभिन्न देशों की हुण्डियां लन्दन के नाम लिखी जाती थीं तथा लन्दन से निकलतीं थीं। युद्ध के वित्तीय भार का परिमाण विदेशों में आँग्ल विनियोजनों का विक्रय हुआ तथा शत्रु द्वारा आँग्ल व्यापारिक पोत के विशाल भाग को नष्ट कर दिये जाने के परिणामस्वरूप परिवहन व्यापार से होने वाली आय में न्यूनता हो गई।

यह स्पष्ट हो गया कि आँग्ल अदृश्य निर्यात का मूल्य कई वर्षों तक पूर्वापेक्षा अत्यधिक कम रहेगा तथा दृश्य आयात एवं निर्यात की खाई निर्यात में अत्यधिक वृद्धि करके पाटनी होगी। यह अपेक्षित नहीं हो सकता था कि इसकी प्राप्ति एकदम सम्भव हो सकेगी किन्तु निर्यात-व्यापार के हेतु वस्तुओं के उत्पादन के महान् प्रयत्न किये गये तथा ग्रेट ब्रिटेन के मनुष्यों को वस्तुओं के प्रदाय पर जो प्रतिबन्ध युद्ध-काल में विद्यमान थे वे युद्ध के पश्चात् भी निरन्तर रहे। ग्रेट ब्रिटेन को इस संक्रमण काल में सहायता देने के हेतु १६४६ में संयुक्त राज्य ने ३,७५,००,००,००० डालर का उधार स्वीकार किया। यह आशा की गयी थी कि यह उधार जिसे सामान्यतया अमेरिकन ऋण कहा जाता था पाँच वर्ष तक उपलब्ध होगा तथा इस अवधि के अन्त तक आँग्ल अर्थ-व्यवस्था पूर्णतः पुनः-स्थापित हो जायगी। किन्तु इस उधार के साथ दो दुर्भाग्यपूर्ण शर्तें जुड़ी हुई थीं। यह अभिसंविदित था कि ग्रेट ब्रिटेन अमेरिका से क्रय में कमी नहीं करेगा तथा साथ ही अधिराज्यों में भी इसकी वृद्धि करेगा तथा यह भी निश्चय किया गया कि १५ जुलाई १६४७ के पश्चात् ग्रेट ब्रिटेन विश्व के सभी देशों के हेतु डालर स्टर्लिंग विनिमय करेगा।

इन दो उपबन्धों का प्रभाव अत्यधिक गम्भीर हुआ। उधार अप्रत्याशित रूप से अति शीघ्रतर समाप्तप्राय हो गया एवं १६४७ के वसन्त में संयुक्त राज्य से कई आयातों में कमी करना आवश्यक हो गया (तम्बाकू, फिल्मों तथा अन्य वस्तुओं में) तथापि स्वीकृति शर्तों के अन्तर्गत राष्ट्रमण्डल के साधनों से इस न्यूनता की पूर्ति स्वीकार्य नहीं थी। १५ जुलाई १६४७ के पश्चात् अन्य देशों की माँग की पूर्ति के कारण डगमगाते आँग्ल डालर प्रदाय का और भी अधिक उत्सारण हुआ एवं अगस्त १६४७ में उधार के लगभग समाप्त-प्राय होने पर ग्रेट ब्रिटेन को स्टर्लिंग का डालर विनिमय स्थगित करना पड़ा।

इस अध्याय के लेखन के समय राष्ट्र के समक्ष अत्यधिक गम्भीर आर्थिक संकट विद्यमान है तथा इसका सामना करने के उपायों की शासन ने घोषणा कर दी है। यह स्पष्ट है कि आंग्ल जनता १६३६ में युद्ध-विस्फोट के पश्चात् से जिस मितोपभोगाधीन रही है वह कई वर्षों तक निरन्तर रहेगा। इस विश्वास का पूर्ण आधार है कि वे इन तात्कालिक कठिनाइयों का सामना करते

हुए उन पर विजय प्राप्त कर सकेंगे तथा कालान्तर में ग्रेट ब्रिटेन की समृद्धि पुनः पूर्णतः स्थापित होगी।

१९४८ में ग्रेट ब्रिटेन एवं पश्चिमी यूरोप के अन्य देशों को मार्शल योजना की शर्तों के अन्तर्गत और अमेरिकन सहायता प्रदान की गयी थी।

———